आचार्य तथा नाटिकाकार विश्वनाथदेवविरचित

साहित्यसुधासिन्धु

एवं

मृगाङ्कलेखा

(मूलसंस्कृतहिन्द्यनुवादटिप्पणयादिसंवलित, कृतियाँ)

प्रो० रामप्रताप

आचार्य विश्वनाथदेव के द्वारा सन् 1592 ई० में लिखित इस साहित्यसुधासिन्धु नामक ग्रन्थ का संस्कृतकाव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी आठ तरङ्गों में काव्य के विभिन्न घटकतत्त्वों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ विवेचन करते हुए प्रतिपादन किया गया है। रुद्रटकृतकाव्यालङ्कार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यरत्नाकर, अलङ्कार-कौस्तुभ, रसगङ्गाधर एवं काव्यालोक की भाँति इसमें भी प्रमुख काव्यसिद्धान्त परिष्कृत रूप में समाविष्ट हैं। इस ग्रन्थ की विषयप्रतिपादनशैली भी सारगर्भित एवं उत्कृष्ट है। यहाँ इसका समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसकी गणना चमत्कारसम्प्रदाय की प्रमुखतम कृतियों में की जाती है। इस पुस्तक का सम्पादन अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। इसकी विषयावतरणिका में सातवें चमत्कारसम्प्रदाय का क्रमिक विकास दिखाया गया हैं। हिन्दी भाषा में किये गये अनुवाद और टिप्पणियों के द्वारा इस दुरूह ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य विश्वनाथदेव की दूसरी कृति मृगाङ्कलेखा नाटिका में चार अङ्क हैं। इसका नायक कर्पूरतिलक नामक राजा है और नायिका मृगाङ्कलेखा है। प्रस्तुत अध्ययन में इसमें समाविष्ट रस अलङ्कारादि काव्यतत्त्वों की ओर ध्यान आकर्षित करने का भी प्रयास किया है। इन दोनों कृतियों के अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथदेव उत्तम कोटि के काव्यशास्त्रवित् आचार्य होने के साथ साथ प्रथम श्रेणी के कवि भी हैं। आचार्यत्व और कवित्व इन दोनों का मणिकाञ्चन-संयोग विश्वनाथदेव सरीखे किसी किसी मेधावी-व्यक्ति में ही देखने को मिलता है।

कश्चिदेव सहस्रेषु कदाचिज्जायते कविः।
कविषु विरलः कोऽपि दृश्यते काव्यतत्त्ववित्।।

रामप्रतापकृतकाव्यचमत्कार 3,52

ISBN : 978-81-7854-346-8 (Vol. 1)
ISBN : 978-81-7854-347-5 (Vol. 2)
ISBN : 978-81-7854-345-1 (Set)

₹ 3000 (Set)

आचार्य तथा नाटिकाकार विश्वनाथदेवविरचित

साहित्यसुधासिन्धु
एवं
मृगाङ्कलेखा

(मूलसंस्कृतहिन्द्यनुवादटिप्पण्यादिसंवलित कृतियाँ)

(भाग-2)

अनुवादक एवं व्याख्याकार

रामप्रताप

पूर्व आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष
स्नातकोत्तर संस्कृतविभाग एवं कलासङ्कायाध्यक्ष
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू तवी-180006
पूर्व प्रमुख अनुसन्धाता वि०वि० अनुदान आयोग
नई दिल्ली

BOOK EASTERN EBL LINKERS

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

हैड ऑफिस: 5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहरनगर, दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 9811232913

शोरूम: 4806/24 भरत राम रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
Website : www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2018

मूल्य : ₹ 3000 (Set)

ISBN : 978-81-7854-345-1 (Set)
ISBN : 978-81-7854-347-5 (Vol. 2)

साहित्यसुधासिन्धु एवं मृगाङ्कलेखा

अनुवादक एवं व्याख्याकार : **रामप्रताप**

टाईप सैटिंग : **क्रियेटिव ग्राफिक्स**, दिल्ली
मुद्रक : **आर. के. प्रिंट सर्विस**, दिल्ली-32

Ācārya Tathā Nāṭikākāra Viśvanāthadevaviracita

SĀHITYASUDHĀSINDHU
EVAM
MṚGĀṄKALEKHĀ

(Original Text, Hindi Translation, Introduction and Commentary etc.)

(Vol–2)

Translator & Commentator

RAMPRATAP

Ex Professor, Ex Head, P.G. Deptt. of Sanskrit
Ex Dean Faculty of Arts, The University of Jammu
Jammu Tawi, 180006
Ex Principal Investigator U.G.C. New Delhi

EASTERN BOOK LINKERS

DELHI : : (INDIA)

Publishers :

H. O. : **EASTERN BOOK LINKERS**
5825, New Chandrawal,
Jawahar Nagar, Delhi-110007
Ph. : 23850287, 9811232913

Show Room : 4806/24, Bharat Ram Road,
Daryaganj, New Delhi-110002
Ph. : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
Website : www.eblindology.com

First Edition : 2018

Rs. : ₹ 3000 (Set)

ISBN : 978-81-7854-345-1 (Set)
ISBN : 978-81-7854-347-5 (Vol. 2)

Sāhityasudhāsindhu Evam Mṛgāṅkalekhā

Translator & Commentator **Ram Pratap**

Printer : **R.K. Print Service, Delhi-32**

विषयानुक्रमणिका

शुभाशंसा—आचार्यविश्वनाथदेवः v-vi
आशीर्वचनानि—आचार्यो द्विजेन्द्रनाथमिश्रो निर्गुणः 1
शुभकामना 1-2
Foreword—*Prof. Ved Kumari Ghai* 3-4
नान्दीवाक्—मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः 5-6
निवेदन 7-10
विषयानुक्रमणिका 11-20
भूमिका- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी 21-28
Introduction 29-37
विषयावतरणिका 39-146
1. आचार्य विश्वनाथदेव का परिचय 39-42
I कृतित्व 39-40
II जीवनकाल 40-41
III विश्वनाथदेव नाम का औचित्य 41-42
2. मृगाङ्कलेखा का रचनाकाल और परिचय 42-47
3. मृगाङ्कलेखा और साहित्यसुधासिन्धु में समानतायें 47-51
(1) मङ्गलाचरण में साम्य 47-49
(2) ग्रन्थसमाप्ति में साम्य 49-50
(3) दोनों रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध श्लोक 50-51
(4) साहित्यसुधासिन्धु का रचनाकाल 51-58
(क) ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय 51-52
(ख) अन्तःसाक्ष्य के आधार पर साहित्यसुधासिन्धु की पूर्वापरसीमा 53-58
5. साहित्यसुधासिन्धु की वर्तमान हस्तलिखित प्रतियाँ 58-64
(क) जम्मू की हस्तलिखित प्रति 58-60

(ख) अलवर की हस्तलिखित प्रति	
(ग) तिरुपति की हस्तलिखित प्रति	60
तीनों प्रतियों का मूलप्रति से अन्तर तथा अमौलिकता	60-61
6. साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित विषय	61-64
7. साहित्यसुधासिन्धु के कुछ विचारणीय स्थल	64-68
8. साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित प्रमुख काव्यसिद्धान्तों की समीक्षा	68-72
I काव्यप्रयोजन	72-118
II काव्यहेतु	73-74
III काव्यलक्षण	74-75
प्रथम काव्यलक्षण	75-88
द्वितीय काव्यलक्षण	75-78
IV शब्दार्थकाव्यतावाद	78-88
काव्यलक्षण	88-109
शब्दार्थकाव्यतावाद के भेद	88-90
1. आस्वादव्यञ्जक शब्दार्थकाव्यतावाद	90-109
2. गुणालङ्कारविशिष्ट शब्दार्थकाव्यतावाद	91-98
शब्दार्थौ काव्यम् की सङ्गति	98-99
अदोषौ शब्दार्थौ की सङ्गति	99-100
सगुणौ (शब्दार्थौ) की सङ्गति एवं अनलङ्कृती पुनः क्वापि की सङ्गति	100-102
V अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद	103-109
VI काव्यभेद	110-114
VII व्यक्ति में सङ्केतग्रह	114-115
VIII चतुर्विधा लक्षणा	115
IX व्यञ्जना का ही एकमात्रवृत्तित्व	115
X रसनिष्पत्तिप्रक्रिया एवं रस	116
XI ध्वनिभेद	116
XII दोषों के परिनिष्ठित लक्षण एवं दूषकताबीज	117
XIII तीन गुण	117
	117

XIV सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव 117
XV चमत्कारसम्प्रदाय 117

चमत्कारसम्प्रदाय का क्रमिक विकास 118

प्राचीन आचार्य

भरत 119, आनन्दवर्धन 119, भट्टतौत 119–120 राजशेखर 120, कुन्तक 120–121 क्षेमेन्द्र 121–122 मम्मट 123–125 जयदेव 125

नवीन आचार्य

विश्वनाथ 125–126, विश्वेश्वर कविचन्द्र 126–127, कविकर्णपूर 127–130, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य 130–131, विश्वनाथदेव 131–135, पण्डितराज जगन्नाथ 135–139, हरिप्रसाद 139–143

अतिनवीन आचार्य

कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य, छज्जूराम शास्त्री, रेवाप्रसाद द्विवेदी, वायुनन्दन पाण्डेय, शिव जी उपाध्याय, कृष्णचन्द्र चतुर्वेद, वागीश्वर विद्यालङ्कार, रामप्रताप एवं राधावल्लभ त्रिपाठी। 144–146

प्रथम तरङ्ग

मङ्गलाचरण 147–150
काव्यप्रयोजन 150–153
काव्यलक्षण 153–164
परिनिष्ठित काव्यलक्षण 165–168
काव्य में सामान्यालङ्कार का महत्त्व 168–170
काव्य के भेद तथा उनके उदाहरण 170–180

द्वितीय तरङ्ग

शब्दलक्षण 181
शब्दभेद, अर्थभेद एवं व्यापारभेद 181–182
वाचकशब्द 182
आनन्त्य और व्यभिचार दोष 183
जाति और व्यक्ति में सङ्केत 183–189
लाक्षणिक शब्द 188–190
लक्षणा और उसके भेद 189–190
अव्यङ्ग्या लक्षणा का उदाहरण 190–192
सव्यङ्ग्या लक्षणा के लक्षण, भेद और उदाहरण 192–201
षड्विधा लक्षणा की अनुपपन्नता 201–202
नव्यों की चतुर्भेदा लक्षणा 202
व्यञ्जक शब्द का लक्षण और उदाहरण 202–204
व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों के मत का खण्डन 204–206
लक्षणावाद और उसका खण्डन 206–208
अनुमान में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का खण्डन 208–218
श्लेष में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का खण्डन 218–222

एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति की सत्ता मानने वाले नवीनों के मत का प्रतिपादन 222–225

अतिनवीनों के द्वारा अनुमान में व्यञ्जना का अन्तर्भाव और उसका खण्डन 225–232

तृतीय तरङ्ग

ध्वनि के चार भेदों के लक्षण और उदाहरण 233–237

रसस्वरूप 237–243

विभाव का लक्षण और भेद 243–244

अनुभाव 244–245

व्यभिचारिभाव का लक्षण 245

विभावनादिव्यापार और उनका फल 246–247

रत्याद्यवच्छिन्न और भग्नावरणचैतन्य की रसरूप में परिणति 247–250

साधारणीकरणव्यापार की रसनिष्पत्ति-हेतुता 250–251

कवि के भावों का ही काव्य में प्रतिबिम्बन 252–253

भाव, रसनिष्पत्ति और रत्यादिभावों का साधारणीकरण 253–257

रस के कार्य होने का निषेध 257–258

रस के ज्ञाप्य होने का निषेध 258

रस के कार्य और ज्ञाप्य होने का प्रतिपादन 258–260

रसास्वाद में व्यञ्जना की सहायता 260–261

स्थायिभाव 261–263

विभावादि की संयुक्तहेतुता का खण्डन मण्डन 263–268

रसों के भेद 268–269

सम्भोगशृङ्गार 269–271

विप्रलम्भशृङ्गार के भेद एवं उदाहरण 271

अभिलाषविप्रलम्भ 271

विरहविप्रलम्भ 271–272

ईर्ष्याविप्रलम्भ 272

प्रवासविप्रलम्भ 273

शापविप्रलम्भ 273–275

वीर के भेद 276

दानवीर 277

धर्मवीर 277

दयावीर 278

युद्धवीर 278

करुण 279

रौद्र 280

अद्भुत 280–282

भयानक 282

बीभत्स 282–283

हास्य 283–284

प्रेयान् 284–286

शान्त 286–287

दान्त 287–288

उद्धत 288

स्थायिभावों के भेद 289

रति 289

उत्साह 289

शोक 290

क्रोध 290–291

आश्चर्य (विस्मय) 291–292

भय 292

जुगुप्सा 293

हास 293-294
वात्सल्य 294-296
निर्वेद 296
धैर्य (स्थैर्य) 296-297
गर्व 297
चार ही रसों के रसत्व का प्रतिपादन 297
करुणादियों का रसत्वविषयक
पक्ष विपक्ष 297-304
सात्त्विकभावों के भेद 304
स्तम्भ 305
स्वेद 305
रोमाञ्च 306
स्वरभङ्ग 307-308
वेपथु 308
वैवर्ण्य 308-309
अश्रु 309-310
प्रलय 310
व्यभिचारिभावों के भेद 310-311
स्मृति 311-312
वितर्क 312
उत्कण्ठा 312
चिन्ता 313
चपलता 313-314
मति 314
गर्व 314-315
स्नेह 315
धृति 315-316
व्रीडा 316
अवहित्थ 316-317
मूढता 317
मद 317
हर्ष 317-318
अमर्ष 319-320
असूया 320-321
ईर्ष्या 321
विषाद 322
दैन्य 322-323
उग्रता 323-324
त्रास 324
शङ्का 325
गद 325-326
ग्लानि 326
उन्माद 327
सम्भ्रम 327-328
श्रम 328
निर्वेद 329
जाड्य 329
आलस्य 330
निद्रा 330
सुप्त 331
प्रबोध 332
असंलक्ष्यक्रमध्वनि 332-334
संलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद 334-337
ध्वनि के 51 भेद 337-340
ध्वनि के 7 भेद 340-341
सङ्कर तथा संसृष्टि के कारण ध्वनि के प्रचुर भेद तथा उदाहरण 341-349

चतुर्थ तरङ्ग

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यों के भेद 350-351
अगूढ 352
अपराङ्ग 352-356
वाच्यसिद्ध्यङ्ग 356-357

अस्फुट 357-358
सन्दिग्धप्राधान्य 358-359
तुल्यप्राधान्य 359-360
काक्वाक्षिप्त 360-361
असुन्दर 361
गुणीभूतव्यङ्ग्य की ध्वनि-सम्मितता 362
ध्वनि के वस्त्वादिभेद 362
शब्दचित्र और अर्थचित्र नामों का आधार 363-364

पञ्चम तरङ्ग

दोष का सामान्य लक्षण 365-366
दोष का परिनिष्ठित लक्षण 366-370
पददोषों के भेद 371
श्रुतिकटु 371-373
असाधु 374-376
असम्मत 376-379
असमर्थ 379-381
निहतार्थ 382-383
अनुचितार्थ 383-386
निरर्थक 386-387
अवाचक 387-389
अश्लील 389-391
सन्दिग्ध 391-392
अप्रतीत 392-394
ग्राम्य 394-395
नेयार्थ 395-400
क्लिष्ट 400-403
अविमृष्टविधेयांश 403-411
विरुद्धमतिकृत् 411-418
पदवाक्यपदांशगतदोष 418
च्युतसंस्कारादि की वाक्यदोषता के सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष 418-427
वाक्यमात्रगतदोषों के भेद 427
प्रतिकूलवर्ण 427-429
उपहतलुप्तविसर्ग 429-432
विसन्धि 432-437
हतवृत्त 437-439
न्यूनपद 439-441
अधिकपद 441-443
कथितपद 443-445
पतत्प्रकर्ष 445-446
समाप्तपुनरात्त 446-448
अर्धान्तरैकवाचक 448-451
अभवन्मतयोग 451-452
अनभिहितवाच्य 452-454
अस्थानस्थपद 454-457
सङ्कीर्ण 457-458
गर्भित 458-459
प्रसिद्धिहत 459-460
भग्नप्रक्रम 461-468
अक्रम 468-470
अमतपरार्थ 470-472
उपहतविसर्गादि का दोषाभावत्व 472-475
अर्थदोषों के भेद 475
अपुष्टार्थादि दोषों का अधिकपदादि-दोषों में अन्तर्भाव 475-490
दोषाभास 490-498
रसदोषों के भेद 498-499
व्यभिचार्यादियों का स्वशब्दवाच्यत्व 499-501
अनुभाव और विभाव की कष्टकल्पना 501
प्रतिकूलविभावादिग्रह 501-503

रस की बार बार दीप्ति	503-504	अङ्गी का अननुसन्धान	506-507
अकाण्डप्रथन	504	प्रकृतिविपर्यय	507-508
अकाण्डच्छेद	504-505	अनङ्ग का अभिधान	508-510
अङ्ग की अतिविस्तृति	505		

षष्ठ तरङ्ग

गुण का सामान्य लक्षण	511-514	उदारता	536-537
गुणों के भेद	514	ओज	538
माधुर्य	514-516	कान्ति	538-539
ओज	516-517	समाधि	539-541
प्रसाद	517-518	अर्थगुणों के भेद	541-542
गुणों की शब्दार्थवृत्ति	518-519	श्लेष	542-545
माधुर्यव्यञ्जकवर्ण	519-520	प्रसाद	546
ओजोव्यञ्जकवर्ण	520-522	समता	546-547
रीतियों के भेद	522-523	माधुर्य	547-548
गुणों की शब्दवृत्तिता के सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष	523-527	सौकुमार्य	548
शब्दगुणों के भेद	527-528	अर्थव्यक्ति	549-551
श्लेष	528	उदारता	551
प्रसाद	528-531	ओज	551-554
समता	531-533	कान्ति	554-555
माधुर्य	533-534	समाधि	555-557
सुकुमारता	534-535	काव्यपाक	557-559
अर्थव्यक्ति	535-536	तीन गुणों में दस गुणों के अन्तर्भाव का खण्डन	559-560

सप्तम तरङ्ग

शब्दालङ्कार का लक्षण	561	मधुरा	567
शब्दालङ्कारों के भेद	562	प्रौढा	567-568
श्लेषवक्रोक्ति	562	परुषा	568-569
काकुवक्रोक्ति	563-564	ललिता	569
अनुप्रास	564-565	भद्रा	569-570
अनुप्रास के भेद	565-566	छेकानुप्रास	570-571
वृत्तियों के भेद	566-567	वृत्त्यनुप्रास	571-573

पादानुप्रास	573	भाषाश्लेष	589-590
यमक	574-576	प्रकृतिश्लेष	590-591
पादयमक	576-577	प्रत्ययश्लेष	591-592
पादार्धयमक	577	विभक्तिश्लेष	593
एकाक्षरयमक	577-578	वचनश्लेष	593-594
अनेकाक्षरयमक	578	श्लेष का अन्य अलङ्कारों के साथ सम्बन्ध	594-596
शृङ्खलायमक	578	श्लेष की रसोपकारकत्वानिवार्यता का खण्डन	596-598
परिवर्तकयमक	578-579	चित्रयुक्	598
श्लेष	579-580	खड्गबन्ध	598-601
श्लेष का परिनिष्ठित लक्षण	580-581	द्व्यक्षरचित्रकाव्य	601-602
श्लेषभेद	582-584	पुनरुक्तवदाभास	603-605
वर्णश्लेष	584-585		
पदश्लेष	585-586		
लिङ्गश्लेष	586-589		

अष्टम तरङ्ग

अर्थालङ्कार का लक्षण	606	मालोपमा	628-629
अर्थालङ्कारों के भेद	606-607	रशनोपमा	629-630
उपमा	608-612	समस्तविषयोपमा	630
वाक्योपमा (पूर्णोपमा)	612-614	एकदेशविवर्तिन्युपमा	630-632
लुप्तोपमा	615	उत्प्रेक्षा	633-636
धर्मलुप्ता	615	संशय	636-639
धर्मवाचकलुप्ता	615	रूपक	639-645
उपमानलुप्ता	616	मालारूपक	645-646
वाचकलुप्तादि उपमाओं के उदाहरण	617-619	परम्परित रूपक	646-647
उभयोपमा	620	अपह्नुति	647-650
अनन्वयोपमा	621-622	श्लेष	651-652
कल्पितोपमा	622-623	समासोक्ति	652-653
असदुपमा	623-626	निदर्शना	653
श्रौती पूर्णोपमा	626-627	पदार्थनिदर्शना	653
आर्थी पूर्णोपमा	627	वाक्यार्थनिदर्शना	653-656
समासगा श्रौती	628	मालानिदर्शना एवं उपमानिदर्शना	656-657
समासगा आर्थी	628	अप्रस्तुतप्रशंसा	658-662

अभेदातिशयोक्ति 662
भेदातिशयोक्ति 663
यद्यर्थमूलातिशयोक्ति 663
कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययातिशयोक्ति तथा इन भेदों के उदाहरण 663-669
प्रतिवस्तूपमा 669-671
दृष्टान्त 671-674
दीपक 674
क्रियादीपक एवं कारक दीपक 674-676
मालादीपक 676-677
तुल्ययोगिता 677-679
व्यतिरेक 679-682
आक्षेप 682-683
वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप 683
उक्तविषयक आक्षेप 683-686
विशेषोक्ति 686-688
विभावना 689
अर्थान्तरन्यास 690
साधर्म्य से अर्थान्तरन्यास 690-691
वैधर्म्य से अर्थान्तरन्यास 692
यथासङ्ख्य 693-695
विरोधाभास 695-696
विरोधाभास के भेद 696-698
स्वभावोक्ति 699
स्वभावोक्ति के भेद 699-701
व्याजस्तुति 702-703
सहोक्ति 703-706
विनोक्ति 706-707
परिवृत्ति 707-708
भाविक 709-710
काव्यलिङ्ग 710
काव्यलिङ्ग के भेद 710-713
पर्यायोक्त 713-714
उदात्त 714-716
समुच्चय 716
सद्वस्तुयोगसमुच्चय 716-717
असद्वस्तुयोगसमुच्चय 718
सदसद्वस्तुयोगसमुच्चय 718
समुच्चय के अन्य भेद 719-720
पर्याय 720-721
अनुमान 721-723
परिकर 724
द्रव्यपरिकर 725
गुणपरिकर 726
क्रियापरिकर 726-727
जातिपरिकर 727
व्याजोक्ति 727-729
परिसङ्ख्या 729
परिसङ्ख्या के भेद 729-730
कारणमाला 730-732
अन्योन्य 732-733
उत्तर 733-734
सूक्ष्म 735-737
सार 737
असङ्गति 737-738
समाधि 739-740
सम 740-741
विषम 741
विषम के भेद 741-743
अधिक 743
अधिक के भेद 743-745
प्रत्यनीक 745-746
मीलित 746-747
एकावली 748-750
स्मृति 750-752

भ्रान्तिमान्	752-754	समता में यथासङ्ख्य का अन्तर्भाव	778
प्रतीप	754-755	उपमादोष	779-782
सामान्य	755-756	हीनत्व	779
विशेष	756	अधिकत्व	780-781
विशेष के भेद	757-759	लिङ्गभेद	781
तद्गुण	759-760	वचनभेद	781
अतद्गुण	760	असादृश्य	782
अतद्गुण के भेद	760-761	पुष्पिका	783-785
व्याघात	762-763	ग्रन्थसमयनिर्देश	786
संसृष्टि	763-767	सूत्रकारिकानुक्रमणिका	787-792
शब्दालङ्कारसंसृष्टि	763	सङ्ख्याविरहितकारिकानुक्रमणिका	793-794
अर्थालङ्कारसंसृष्टि	764	उदाहृतश्लोकानुक्रमाणिका	795-803
संसृष्टि की पृथगलङ्कारता के सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष	764-767	सङ्ख्याविरहितश्लोकानुक्रमणिका	803
सङ्कर	768	आकरग्रन्थानुक्रमणिका	804-805
व्यक्तसङ्कर	768-769	नामानुक्रमणिका	805
अव्यक्तसङ्कर	769-770	मृगाङ्कलेखा नाटिका	807-850
संशयसङ्करालङ्कार	771-772	मृगाङ्कलेखायामुदाहृतश्लोकानुक्रमणिका	851-853
कतिपय अलङ्कारों का उपमा में अन्तर्भाव	772-777	परिशिष्ट-1	854-860
विभावना में विरोधाभास का अन्तर्भाव	777	परिशिष्ट-2	861-862

संक्षेप

ज जम्मू (श्रीरणवीर संस्कृत रिसर्च इन्स्टिट्यूट रघुनाथ मन्दिर जम्मू में विद्यमान हस्तलिखित प्रति)

अ अलवर (राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान महल चौक अलवर में विद्यमान हस्तलिखित प्रति)

त तिरुपति (ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट श्रीवेङ्कटेश्वर यूनिवर्सिटी तिरुपति में विद्यमान हस्तलिखित प्रति)

पञ्चमस्तरङ्गः

कालिन्दीजलसम्भूत[1]नीलेन्दीवरसन्निभम् ॥80॥
ध्यायेऽहं कमलापीनकुचकेलिकरं महः।

अवसरसङ्गत्या दोषस्वरूपमाह–

यमुना के पानी में उत्पन्न हुए नीले कमल के (वर्ण के) सदृश (वर्ण वाले) लक्ष्मी के मांसल (मोटे तथा कठोर) स्तनों से क्रीड़ा करने वाले तेज अर्थात् कृष्ण भगवान् का मैं ध्यान करता हूँ॥ 80-81॥

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण के रूप में यह श्लोक रखा है। इससे प्रथम चार तरङ्गों तक पूर्वार्ध की समाप्ति एवं यहाँ से आगे उत्तरार्ध का प्रारम्भ समझा जा सकता है। यहाँ यह ग्रन्थ मङ्गलमध्य बना दिया गया हैं क्योंकि इसमें मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि भवन्ति इस वचन का अनुसरण किया गया है।

अवसर के औचित्यानुसार दोष के स्वरूप को ग्रन्थकार बतलाते हैं–

टि०–ग्रन्थकार ने पहली तरङ्ग में काव्यलक्षण, काव्य के भेद और उन भेदों के उदाहरण बताये हैं, द्वितीय तरङ्ग में अभिधादि शक्तियों का निरूपण किया है, तृतीय तरङ्ग में रस, रसनिष्पत्ति और ध्वनिभेदों का विशदीकरण है तथा चतुर्थ तरङ्ग में गुणीभूतव्यङ्ग्य का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यहाँ ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप धर्मी के बताने के बाद उनके धर्मों की हेयोपादेयता बतलाने के लिए पहले दोषों का निरूपण करना उचित समझा गया है। अब आचार्य विश्वनाथदेव इस तरङ्ग में पद, वाक्य और रससम्बन्धी दोषों का निरूपण कर रहे हैं। अवसरसङ्गत्या कहने से दूसरा अभिप्राय यह भी निकलता है कि पहली तरङ्ग (पृ० 1,7) में अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् इत्यादि इस सरस्वतीकण्ठाभरणप्रतिपादित काव्यलक्षण को ये आचार्य अपनी ओर से स्वीकार कर आये हैं। पिछली चार तरङ्गों में काव्य का स्वरूप तथा शब्द अर्थ एवं वृत्तियों के सम्बन्ध में विचार कर लिया है। इसके बाद

1. ज अ; जलसंसूत त

येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।। 81।।
सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्तिताः।

दृष्टो हि लोके सगुणोऽपि सालङ्कारोऽपि सदोषत्वेन ज्ञातो न यथा[1] चमत्करोति तथा काव्यमपि। वस्तुतस्तु रसापकर्षजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम्। अपकर्षश्च रत्यादृयवच्छिन्नस्यानन्दांशे आवरणस्यावस्थितिः।[2]

ननु च्युतसंस्कृत्यादिष्वव्याप्तिः, तज्ज्ञानस्य शाब्दबोधाप्रतिबन्धकतया रसापकर्षजनकज्ञानविषयत्वाभावात्।

'अदोषम्', 'गुणवत्' और 'अलङ्कारैरलङ्कृतम्' इन विशेषणों में सबसे पहला क्रम दोष का आने से इस तरङ्ग में दोषों का निरूपण किया जा रहा है।

इस (काव्य) के अलङ्कार और गुणों से युक्त होने पर भी इसमें जिनका ज्ञान हो जाने से (रसास्वादरूप) चमत्कार अच्छी तरह नहीं होता है वे दोष कहलाते हैं।। 81-82।।

लोक में गुणों से युक्त और अलङ्कारों से भूषित दीखता हुआ भी व्यक्ति जब किन्हीं दोषों से भरा हुआ ज्ञात होता है तो जैसे वह चमत्कार नहीं पैदा करता है वैसे ही (गुणों और अलङ्कारों से शोभित किन्तु दोषान्वित) काव्य भी (चमत्कार उत्पन्न नहीं करता है)।

टि०–दयादाक्षिण्यादि गुणों से युक्त और कटककुण्डलादि आभूषणों को धारण करने वाला व्यक्ति यदि सुरापानादि दुर्गुणों से युक्त होता है तो वह दूसरों को प्रभावित नहीं करता है। इसी प्रकार ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों और उपमादि अलङ्कारों से समन्वित काव्य यदि च्युतसंस्कृत्यादि दोषों से दूषित होता है तो वह सहृदयों को आनन्दित नहीं करता है।

(दोष का लक्षण) वास्तव में तो रस के आस्वाद में आवरण (रस की हानि या घटियापन) को उत्पन्न करने वाले ज्ञान का विषय होना दोष होता है अर्थात् जिसको जान लेने से काव्यनिष्ठ रसास्वाद में विघ्न पड़ता है वह दोष होता है। (दोष के इस लक्षण में दिये हुए अपकर्ष का अर्थ इस प्रकार है–) और रत्यादिभावों से संवलित चेतन आत्मा के आनन्दांश में आवरण (पर्दे) की उपस्थिति का होना अपकर्ष कहलाता है।

---

1. ज अ; तथा त
2. ज अ; रत्यादृयाविलस्यानन्दांशे त

उत्तिबिसेसो[1] कब्बो भासा[2] जा होइ सा होउ।
इत्यादि वाचो युक्त्या भावमात्रस्य काव्यत्वात्

(पूर्वपक्षी–)च्युतसंस्कृति (व्याकरणहीनत्व) विधेयाविमर्शादि दोषों में (रसापकर्षजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम् इस) दोषलक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि उनका ज्ञान शाब्दबोध में प्रतिबन्धक नहीं होता। इस कारण उनमें रस के अपकर्ष को उत्पन्न करने वाले ज्ञान की विषयता नहीं होती (इस प्रकार ऐसे स्थलों पर शाब्दबोध होने से रसास्वाद भी होता है)।

टि०–पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है–(यद्यपि प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः इत्यादि आगे दिये गये श्लोक सं० (5, 129) में अरविन्दनाभस्य पद का प्रयोग ही व्याकरणसम्मत है क्योंकि समासान्त अच् प्रत्यय लग जाने के बाद अरविन्दनाभि पद अरविन्दनाभ इस रूप में व्यवहृत होता है, तो भी जैसे अरविन्दनाभेः) व्याकरण की दृष्टि से असाधु पदों के प्रयोग से भी सामान्य व्यक्ति तक को शाब्दबोध हो जाता है और साथ ही वीरादिरसों के आस्वाद में भी ऐसे स्थलों पर किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता। इसी प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' (यहाँ पर स्तनतटम् उद्देश्य है और निःशेषच्युतचन्दनम् विधेय है इस कारण 'स्तनतटं निःशेषच्युतचन्दनम्' ऐसा प्रयोग होना चाहिए) विधेयाविमर्श दोष के इन उदाहरणों में भी शाब्दबोध होने के अनन्तर शृङ्गाररस के आस्वाद में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। इस प्रकार 'रसापकर्षजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम्' यह दोषसामान्य का लक्षण च्युतसंस्कृति और विधेयाविमर्श आदि दोषों पर अव्याप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से अशुद्ध पदों और अस्थान पर व्यवहृत पदों के प्रयोग के होने पर भी उनका अर्थ समझने में और उसके बाद होने वाली रसानुभूति में किसी प्रकार की बाधा (प्रतिबन्धकता) नहीं आती है। इस बात का समर्थन राजशेखर की आगे दी हुई इस प्रसिद्ध उक्ति 'उत्तिविसेसो' इत्यादि से भी हो जाता है।

क्योंकि 'उत्तिबिसेसो कब्बो भासा जा होइ सा होउ' (उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु) उक्तिविशेष (विशिष्ट प्रकार की उक्ति जो असाधारण चमत्कारपूर्ण) अर्थ का प्रतिपादक वचन है वह ही) काव्य कहलाती है भाषा जो हो सो हो अर्थात् भाषा कोई भी हो और कैसी भी शुद्ध और अशुद्ध भी हो तो उसका विशेष महत्त्व नहीं है इत्यादि इन युक्तियुक्त वचनों के कारण भावमात्र (उत्तम अभिप्राय वाले रत्यादिभावों से संवलित उक्तियों की सत्ता) का नाम ही काव्य है।

---

1. ज अ; उत्तिविशेसो त
2. ज अ; भाषा त

इति चेत् (न)[1] तज्ज्ञानस्यापि प्रतिबन्धकत्वमित्येके। वस्तुतस्तु तथा दोषत्वस्यैव[2] व्यवस्थाप्यत्वेनेष्टापत्तेः।

टि०–राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी के प्रथम जवनिका (पर्दे) के गिरने के बाद प्रस्तावना में सूत्रधार पारिपार्श्विक से पूछता हैं–'तत् किमिति संस्कृतं परिहत्य प्राकृतबन्धे प्रवृत्तः कविः?' यह तो बताइए कि संस्कृतभाषा को छोड़कर प्राकृत भाषा में कवि ने क्यों रचना की? इस पर पारिपार्श्विक उत्तर दे रहा है कि सर्वभाषाचतुर कवि ने यह स्वयं कहा है–

अत्थणिबेसा ते ज्जेब्ब सद्दा ते ज्जेब्ब परिणमंतावि।
उत्तिविसेसो कब्बो भासा जा होई सा होदु।।
(अर्थनिवेशास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि।
उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु।।)

प्राकृत भाषा से संस्कृत भाषा में बदले हुए भी शब्द वही रहते हैं और उनकी उन्हीं अर्थों में स्थिरता भी बनी रहती है। अर्थात् संस्कृत को बदल कर प्राकृत में रखे हुए शब्द थोड़े बदल तो जाते हैं किन्तु न तो वे स्वयं ही सर्वथा बदलते हैं और न उनका अर्थ ही बदलता है। उक्तिविशेष अर्थात् विशेष प्रकार की चमत्कार भरी भणिति (वचन) का नाम काव्य है भाषा चाहे जो हो। वह उक्ति संस्कृत में हो तो भी ठीक है और उसके प्राकृत में लिखे जाने पर भी कोई हानि नहीं है।

इस प्रकार यहाँ राजशेखर की 'उत्तिबिसेसो कब्बो भाषा जा होइ सा होदु' इस उपर्युक्त कारिकार्ध को प्रमाण मानकर पूर्वपक्षी का कहना है कि व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध (अत एव) च्युतसंस्कृति दोष से दूषित पदों तथा विधेयाविमर्श दोष से दूषित अर्थों के ज्ञान से रसध्वनि के अवबोध में बाधा नहीं होती है इस कारण 'रसापकर्ष०' आदि उक्त दोषसामान्य के लक्षण की च्युतसंस्कृति तथा विधेयाविमर्शादि दोषों में अव्याप्ति सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः काव्य में भावों (रस रूप में परिणत होने वाले रत्यादिस्थायिभावों या चमत्कार भरे वचनों) की प्रमुखता है भाषा की नहीं है।

(पूर्वपक्षी द्वारा उपर्युक्त रीति से भावमात्र की प्रधानता काव्य में होती है भाषा भले ही अशुद्ध हो) यदि यह कहा जाय, तो यह ठीक नहीं है। उस (विशिष्ट प्रकार की भावपूर्ण) उक्ति में (अशुद्ध भाषा और विधेयादि का गलत प्रयोग होने पर) ज्ञान की भी प्रतिबन्धकता (विघ्न–बाधा) आती है

---

1. संशोधित; ज अ त में नहीं
2. ज अ, तस्यादोषत्वस्यैव त

(पहले शाब्दबोध होने में कठिनता आती है और तदनन्तर रसास्वाद में भी विघ्न होता है) ऐसा कुछ (आचार्य) मानते हैं। वास्तव में तो वैसे (पूर्वाचार्यों के मत की भाँति) ही (च्युतसंस्कृत्यादि दोषों को) दोष के रूप में ही व्यवस्थित करने से (उन्हें रसापकर्षक मानने पर ही) प्रयोजनसिद्धि होती है (अतएव उन्हें दोष मानना ही उचित है यह सिद्धान्त पक्ष है)।

टि०–यहाँ च्युतसंस्कृति और विधेयाविमर्श दोषों से दूषित स्थलों पर भी शाब्दबोध और रसास्वाद हो जाता है इस पक्ष को पूर्वपक्षी ने उपस्थित किया है और इसके समर्थन में राजशेखर की काव्यमीमांसा के 'उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु' इस वचन को प्रमाण के रूप में रखा है। सिद्धान्ती ने अपनी ओर से कुछ कहने से पहले दूसरे आचार्यों के मत से पूर्वपक्षी के मत का खण्डन किया है। इन दूसरे आचार्यों का मत है कि च्युतसंस्कृत्यादि दोषों से दूषित 'उक्तिविशेष' के ज्ञान में प्रतिबन्धकता आती है और वहाँ सम्यक् रीति से शाब्दबोध नहीं होता। जब शाब्दबोध ही ठीक प्रकार से नहीं होता (क्योंकि श्रोता का सारा ध्यान उस स्थल की त्रुटि पर केन्द्रित हो जाता है) तो रसबोध या रसानुभूति में भी व्याघात आता है। तदनन्तर सिद्धान्ती अपनी ओर से यह व्यवस्था दे देते हैं कि इन आचार्यों की ओर से पूर्वपक्षी के मत का खण्डन ठीक है और इन दोषों को दोष ही मानना चाहिए शाब्दबोध में भले ही कोई कठिनाई इन दोषों के द्वारा न उपस्थित की जाती हो किन्तु रसास्वाद में ये निश्चित रूप से हानि पहुँचाते हैं।

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी के उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु इस वाक्य के दो भाग हैं–

1. उक्तिविशेषः काव्यम्, 2. भाषा या भवति सा भवतु। जहाँ तक उक्तिविशेषः काव्यम्–विशेष प्रकार की उक्ति ही काव्य होती है इस अंश का सम्बन्ध है सभी आचार्य इस बात को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं।

भामह का कथन है–

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।

यहाँ उनकी वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) 'उक्तिविशेषः काव्यम्' के बहुत निकट दिखाई पड़ रही है। वामन की 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' भी इससे दूर नहीं मालूम पड़ती। ध्वन्यालोक (4, 7 वृत्तिभाग) में उक्तिवैचित्र्य को काव्य का अपरिहार्य एवं

अनिवार्य तत्त्व माना गया है। आनन्दवर्धन ने वहाँ उक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है–'उक्ति र्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम् अर्थात् असाधारण अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वचन को उक्ति कहते हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने वैदग्ध्यभङ्गीभणिति र्वक्रोक्ति:' कहकर जिस वक्रोक्ति को सामने रखा है वह इस उक्तिविशेष से मिलती जुलती है। अन्य साधारण वाक्यों से विलक्षण इसी विशेष प्रकार की वर्णनशैली की ओर मिर्ज़ा ग़ालिब ने भी इङ्गित किया है–

यों तो देखे हैं सखुनबर अच्छे अच्छे।
सुनते हैं ग़ालिब का अन्दाज़े बयां और।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर 'उक्तिविशेष: काव्यम्' यह काव्य की परिभाषा सर्वमान्य कही जा सकती है भले ही इस उक्ति में चमत्कारजनकत्वमलङ्कारत्वम् (वैचित्र्यमेवालङ्कार:) इस मत को मानने वाले अलङ्कारवादी के अलङ्कार का समावेश माना जाय या ध्वनि या रस की स्थिति मानी जाय। किन्तु इसके 'भाषा या भवति सा भवतु' इस बाद के अंश को पूर्वपक्षी ने जबर्दस्ती अपनी बात को सिद्ध करने के लिए रखा है किन्तु प्रसङ्ग को देखते हुए इसका यह भाव कभी भी नहीं निकल सकता कि भाषा चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध हो किन्तु भाव की ही प्रधानता होती है। वस्तुत: वहाँ पारिपार्श्विक से सूत्रधार ने यह प्रश्न किया है कि संस्कृत भाषा में कवि ने कर्पूरमञ्जरी की क्यों रचना की। इसके उत्तर में परिपार्श्विक का कहना है कि कविता में उक्तिवैचित्र्य अवश्य होना चाहिए भाषा भले ही कोई भी क्यों न हो? चाहे वह संस्कृत हो या प्राकृत हो। वहाँ स्पष्ट ही 'भाषा या भवति सा भवतु' कहा है न कि यादृशी तादृशी अर्थात् जैसी वैसी (सही गलत) कहा गया है। इस कारण उक्तिवैचित्र्य को प्रकट करने वाली किसी भी भाषा के प्रयोग में कवि को छूट दी जा सकती है। किन्तु गलत प्रयोग करने की छूट देने का यहाँ अर्थ ही नहीं है। इस प्रकार उक्त वचन से यह सिद्ध नहीं किया सकता कि अशुद्ध शब्दों या अस्थान पर रखे हुए शब्दों के प्रयोग से रस में किसी प्रकार का विघ्न नहीं उपस्थित होता है। भाषा के अशुद्ध होने पर तो कही हुई बात का सारा ही सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार श्रोता को 'अपि त्वां भारो बाधति'? इस प्रश्न के उत्तर में कहना पड़ता है–

भारो न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते।

बाध्धातु का प्रयोग आत्मनेपद में ही होना व्याकरणसम्मत है। काव्य के श्रवणकाल में श्रोता का सम्पूर्ण ध्यान शब्दों की ओर ही रहता है। वे शब्द यदि किसी रूप में विशृङ्खलित होंगे तो वक्ता के तात्पर्य को समझने में श्रोता को अवश्य कठिनाई होगी

अथ प्राचां दोषविशेषानाह–

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।। 82।।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।। 83।।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव।

श्रुतिकटु पदं दुष्टमिति सम्बन्धः। क्रमेण लक्षणोदाहरणानि–

निष्ठुराक्षरमत्यन्तं बुधैः श्रुतिकटु स्मृतम्।। 84।।

वस्तुतस्तु मुख्यार्थापकर्षकत्वे सत्योजोव्यञ्जकत्वमेव तत्त्वम्। वीरादिष्वदुष्टतया

क्योंकि श्रोता का सारा ध्यान उस गलत शब्द के प्रयोग पर ही केन्द्रित हो जायेगा। उस स्थिति में विवक्षित अर्थ अर्थात् रस की प्रतीति में निश्चित रूप से व्यवधान होगा ही। इस कारण च्युतसंस्कृत्यादि दोषों को रसविघातक होने से दोष मानना उचित ही है।

इसके बाद प्राचीनों के द्वारा (मम्मटादि आचार्यों के द्वारा काव्यप्रकाश 7, 50-51 में बताये हुए) दोषों के भेद (ग्रन्थकार) बतलाते हैं–

1. श्रुतिकटु 2. च्युतसंस्कृति 3. अप्रयुक्त 4. असमर्थ 5. निहतार्थ 6. अनुचितार्थ 7. निरर्थक 8. अवाचक 9. तीन प्रकार का अश्लील 10. सन्दिग्ध 11. अप्रतीत 12. ग्राम्य 13. नेयार्थ (ये दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकार के होते हैं और) 14. क्लिष्ट 15. अविमृष्टविधेयांश 16. विरुद्धमतिकृत् (ये तीन दोष) केवल समास में ही होते हैं।। 82-84।।

यहाँ (कारिका में आये हुए दुष्टं पदम् का) अन्वय श्रुतिकटुपदं दुष्टम् इस प्रकार से है (और इसी प्रकार च्युतसंस्कृत्यादि दोषों के साथ ही पदं दुष्टम् ये जोड़ देने चाहिए जैसे च्युतसंस्कृतिपदं दुष्टम् इत्यादि)। इन दोषों के क्रमशः लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं–

1. श्रुतिकटु–अत्यधिक कठोर अक्षर वाले पद को बुद्धिमानों ने श्रुतिकटु कहा है।। 84।।

वास्तव में तो प्रधानभूत अर्थों (शृङ्गारादि कोमल रसों) के लिए हानिकर होने के साथ साथ केवल ओज का व्यञ्जक होना ही श्रुतिकटुत्व है (यदि केवल ओजोव्यञ्जकत्वमेव श्रुतिकटुत्वम् इतना ही श्रुतिकटु दोष का लक्षण माना जाए तो यह लक्षण वीरादियों में भी चला जायेगा)। वीरादि रसों में श्रुतिकटुत्व के दोष न बनने के कारण अतिव्याप्ति दोष को हटाने के

अतिप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम्। न च प्रतिकूलवर्णेनास्यान्यथासिद्धिरिति वाच्यम्। तस्य सर्वरसदोषतया अस्य शृङ्गार एवेति भेदात्। उपाधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसङ्कराच्च।

लिए ओजोव्यञ्जकत्वम् पद के साथ मुख्यार्थापकर्षकत्वे सति पर्यन्त विशेषण रखा है। (वीरादि रसों में ओजोगुणाभिव्यञ्जकता इन रसों के अनुकूल होने के कारण दोष न मानी जाकर गुण मानी जाती है। इस प्रकार श्रुतिकटुत्व वीरादि रसों में मुख्यार्थापकर्षक न होकर मुख्यार्थ रस का उत्कर्षक होता है)।

और प्रतिकूलवर्ण दोष से इस (श्रुतिकटु) दोष की अन्यथासिद्धि (अनावश्यक कारणता–व्यर्थता) की सिद्धि हो जाती है (इस प्रकार इस दोष को प्रतिकूलवर्णदोष के रूप में ही माना जा सकता है) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि प्रतिकूलवर्ण सारे रसों में दोष गिना जाता है और श्रुतिकटु केवल शृङ्गार रस में ही दोष माना जाता है यही श्रुतिकटु और प्रतिकूलवर्ण में भेद है। (इस प्रकार प्रतिकूलवर्ण दोष का क्षेत्र विस्तृत है क्योंकि वह सारे रसों में पाया जाता है और श्रुतिकटुत्व दोष केवल शृङ्गार रस में ही पाया जाता है) और (प्रतिकूलवर्ण के भीतर श्रुतिकटु का इसलिए भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता)।

टि०–ग्रन्थकार ने श्रुतिकटु को शृङ्गार रस में ही दूषक माना है। वस्तुतः करुण और शान्त रस में भी इसकी दूषकता मानी जाती है।

क्योंकि यहाँ उपाधेय वर्ण और पदों का सङ्कर होने पर भी (श्रुतिकटुत्व और प्रतिकूलवर्णत्व रूप) उपाधियों का सङ्कर नहीं है।

टि०–श्रुतिकटुत्व और प्रतिकूलवर्णत्व ये दोनों उपाधि (विशेषधर्म) हैं। श्रुतिकटुत्व दोष रूप उपाधि से युक्त अध्यैष्ट और कार्तार्थ्य जैसे पदों तथा प्रतिकूलवर्णत्व उपाधि से युक्त–

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर।।

काव्यप्रकाश 7, 208

इस पद्यस्थित कुण्ठ, कण्ठादि उपाधेयभूत इन पदों और वर्णों का सङ्कर हो जाता है। श्रुतिकटु दोष में रहने वाले पद, पदांश और वाक्य प्रतिकूलवर्ण दोष में भी रह सकते हैं और प्रतिकूलवर्ण में रहने वाले तत्तद्रसविरुद्ध या गुणविरुद्ध वर्ण श्रुतिकटु में रह सकते हैं। इस प्रकार इनका तो सङ्कर हो सकता है किन्तु श्रुतिकटुत्व रूप उपाधि

यथा–

अचूचुरच्चण्डि कपोलयोस्ते
कान्तिद्रवं द्राग्विशदः शशाङ्कः।। 127।।

यथा वा–

अद्यापि तां कनकपत्रसमानवर्णा–
मुत्तुङ्गकर्कशकुचार्पितचारुहाराम्।
काञ्चीनियन्त्रितनितम्बविशालबिम्बा–
मुद्दामनूपुरचलच्चरणां स्मरामि।। 128।।

दूषकताबीजं चात्र प्रतिबन्धकवर्णसत्त्वाद्रसोद्बोधप्रतिबन्ध एवेति।

श्रुतिकटु में ही रहती है और प्रतिकूलवर्णत्व रूप उपाधि प्रतिकूलवर्ण में ही रहती है अतः एक की उपाधि दूसरे में नहीं जा सकती। इस प्रकार इन दोनों में प्रत्येक की अपनी भिन्न उपाधि होने के कारण पार्थक्य है। इस कारण प्रतिकूलवर्ण के अन्तर्गत श्रुतिकटु दोष को नहीं माना जा सकता। सङ्कर का लक्षण है– परस्परभिन्नत्वे सति परस्पराश्रयत्वम् एक दूसरे से भिन्न होने पर भी एक दूसरे का आश्रय लेना सङ्कर होता है। जब दो भिन्न भिन्न वस्तुओं के कुछ धर्म तत्तत्पदार्थविशेष में रहें और कुछ दूसरे में भी चले जायें तो सङ्कर कहलाता है।

जैसे–

अरी कोपवती सुन्दरी! निर्मल चन्द्रमा ने तुम्हारे गालों के कान्तिरस (सौन्दर्य के रस) को जल्दी ही चुरा लिया था।। 127।।

टि०–यहाँ च्च, ण्ड, द्र जैसे कठोर और संयुक्ताक्षरों से युक्त रसापकर्षक पदों का प्रयोग होने से श्रुतिकटु पददोष है।

और जैसे–

सोने के पतरे के समान उजले रंग वाली, ऊँचे और कठोर स्तनों पर रखे हुए सुन्दर हार वाली, करधनी से बँधे हुए जघनों के विस्तृत घेरे से युक्त और बड़े बड़े नूपुरों से चञ्चल पदों से संवलित उस सुन्दरी को आज भी मैं याद कर रहा हूँ।। 128।।

टि०–यहाँ द्य, त्र, त्त्, ञ्च्, च्च्, न्त्र और द्द जैसे संयुक्ताक्षरों के संयोग से युक्त पदों के प्रयोग के कारण श्रुतिकटु पददोष है।

और यहाँ रसप्रतिबन्धक वर्णों के रहने के कारण रसोद्बोध में रुकावट होना ही इस श्रुतिकटु दोष होने का कारण है।

निन्दितं शब्दशास्त्रे यत्तदसाधु स्मृतं तथा।।85।।

यथा–

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः
शम्भो र्जटाजूटतटादिवापः।
मुखादिवाथ श्रुतयो विधातुः
पुरो निरीयुर्मधुजिद्ध्वजिन्यः।। 129।।

यथा वा–

कल्याणि पाणिपतितानि विना विचार-
मेतानि मोक्तुमुचितानि न मौक्तिकानि।
गुञ्जेति सञ्जनयते यदिह भ्रमं ते
हस्तारविन्दनयनोत्पलयोः प्रभैव।। 130।।

अत्रारविन्दनाभेरिति सञ्जनयते इति पदद्वयमसाधु।

---

2. असाधु–(च्युतसंस्कृति अर्थात् व्याकरण के नियमों से विरुद्ध होने से) जो व्याकरणशास्त्र में गर्हित होता है उसे असाधु कहते हैं।।85।।

जैसे–

विष्णु के अङ्गों से निकले हुए प्रजाजनों के समान, शिव के जटासमूह रूपी तट से निकले हुए गङ्गाजल की तरह और ब्रह्मा के मुख से निकले हुए वेदों की तरह मधु को हराने वाले कृष्ण भगवान् की (वे) सेनायें नगर से निकलीं।। 129।।

अथवा जैसे–

हे मङ्गलदायिनी सुन्दरी! हाथ में पड़े हुए इन मोतियों को बिना विचार किये छोड़ना उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ ये मोती तुम्हारे (मन के) भीतर ये तो रत्ती के फल हैं, इस रूप में जो भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे हैं वह तो वस्तुतः हाथ रूपी रक्तकमलों और नेत्र रूपी कमलों की (लाल नीली) चमक ही है (जिसके कारण तुम्हें भ्रम है)।। 130।।

यहाँ 'अरविन्दनाभेः' यह पद तथा सञ्जनयते यह पद व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हैं अतएव दोनों गलत हैं।

टि०–यहाँ अरविन्दनाभेः पद के स्थान पर अरविन्दनाभस्य पद होना चाहिए।

वस्तुतस्तु अत्रासाधुत्वज्ञानादन्वयबोधस्थगनमेव दूषकताबीजम्। तत्तु न घटते। साधुशब्दस्मरणादिना शक्तिभ्रमाच्छक्त्यैव वा अन्वयबोधात्। द्वित्रिक्षण-विलम्बस्याकिञ्चित्करत्वात्। अतएव भाषामात्रस्य काव्यत्वं घटते।

अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः (अष्टाध्यायी 5, 4, 75) इस सूत्र के द्वारा किये गये योगविभाग से समासान्त होता है। इस सूत्र के अन्यत्रापि दृश्यते इस वार्तिक के द्वारा समासान्त नाभि पद से अच् प्रत्यय हो जाता है। वहाँ ऊर्णनाभ और पद्मनाभ उदाहरण दिये हुए हैं तदनुसार यहाँ 'अरविन्दनाभस्य' पद का ही प्रयोग व्याकरणसम्मत है। इसी प्रकार यहाँ सञ्जनयते पद के स्थान पर सञ्जनयन्ते पद का प्रयोग व्याकरणसम्मत है क्योंकि मौक्तिकानि यह कर्तृपद बहुवचन में प्रयुक्त है अतः क्रिया भी बहुवचन में होनी चाहिए।

(पूर्वपक्षी) वास्तव में तो इस असाधु पददोष में असाधुत्व (व्याकरण लक्षणहीनता) का ज्ञान होने से अन्वयपूर्वक पदार्थज्ञान का रुक जाना ही दोष होने का कारण है।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जहाँ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध पद का प्रयोग होता है वहाँ उस अशुद्ध पद के साथ वाक्यस्थ दूसरे शुद्धपदों का अन्वय नहीं हो पाता। इस कारण वहाँ वाक्यार्थ का ज्ञान होना भी बन्द हो जाता है।

(सिद्धान्ती) यह बात (युक्ति की कसौटी पर) घटती नहीं है क्योंकि साधु (शुद्ध) शब्द के स्मरण आदि से वहाँ शक्ति के भ्रम से अथवा शक्ति (सङ्केत ग्रहण) से ही अन्वयपूर्वक शाब्दबोध हो जाता है और दो तीन क्षणों की देरी इस शाब्दबोध में किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाती। इसलिए प्राकृतभाषाओं में से (प्रत्येक भाषा) में विद्यमान अपभ्रंश शब्दों का काव्यत्व सिद्ध होता है।

टि०–पूर्वपक्षी ने बताया है कि व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध पद का वाक्यस्थ पदों के साथ अन्वय न होने से वाक्यार्थ का ज्ञान होना बन्द हो जाता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसे स्थलों पर भी अन्वयपूर्वक शाब्दज्ञान हो जाता है। गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि संस्कृतभाषा के व्याकरण विरुद्ध प्राकृतभाषीय पदों के स्मरण से श्रोता को साधु गोपद का स्मरण होता है। उस असाधु शब्द को भ्रमवश साधु समझ लिया जाता है। इस प्रकार की भ्रान्ति होने से या तो उस असाधु

आम्नातमपि कोशेषु नालङ्कारिकसम्मतम्।
यत्पदं कुकविप्रोक्तं तदसम्मतमुच्यते।। 86[1]।।

यथा–

यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा।। 131।।

ननु कथमत्र दूषकता। सत्यनुशासनसिद्धत्वे शाब्दसामग्र्याः परिपूर्णत्वेन तद्विलम्बे

पद में तत्सम्बद्ध दूसरे साधुपद की शक्ति मान ली जाती है या उसी असाधु की अपनी साधुपद जैसी शक्ति से अन्वयार्थ का बोध हो जाता है। जब श्रोता वक्ता के मुख से किसी असाधु पद को उच्चरित होते हुए सुनता है तो यह क्या कह दिया गया है इस रूप में विचार करते हुए 2–3 क्षण तक के लिए उस शब्द का अर्थ प्रतीत होना रुक जाता है किन्तु बाद में साधु शब्द के स्मरण से उसका अन्य पदों के साथ अन्वय होने पर शाब्दबोध हो जाता है। इस रीति से असाधु पदों का भी प्रयोग होने पर पदार्थज्ञान हो जाता है। ऐसे पदों के द्वारा रसाभिव्यक्ति हो जाने से काव्यत्व भी बना रहता है। इस प्रसङ्ग में दिखाया गया दूषकता बीज पूर्वपक्षी के द्वारा बताया गया है। ग्रन्थकार स्वयं इसका दूषकताबीज क्या मानते हैं इसे ये यहाँ स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।

3. असम्मत (अप्रयुक्त)–कोशों में पढ़ा गया भी जो पद साहित्यिकों के द्वारा पसन्द नहीं किया जाता कुत्सित कवियों से प्रयुक्त वह असम्मत नामक पददोष कहा जाता है।। 86।।

जैसे–

क्योंकि यह व्यक्ति सदा ही कठोर आचरण वाला दिखाई देता है इसलिए मैं समझता हूँ कि इसका (इष्ट)देव कोई पिशाच या राक्षस है।। 131।।

टि०–यहाँ दैवतः इस रूप में प्रयुक्त दैवत शब्द पुल्लिङ्ग में विद्यमान है अमरकोश (1, 1, 9) में वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् इस प्रकार का पाठ होने से उपर्युक्त रूप कोशसम्मत तो है क्योंकि वहाँ दैवतम्, दैवतः और देवता इन तीनों ही रूपों का विधान है परन्तु साहित्यिकों के द्वारा या तो इस शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में किया जाता है या स्त्रीलिङ्ग में। अतः यहाँ उसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में होने से असम्मत (अप्रयुक्त) नामक पददोष है।

(पूर्वपक्षी)–यहाँ (इस पुल्लिङ्ग दैवतः पद के प्रयोग में) दोषत्व कैसे हो

---

1. ज अ; मुच्यते त में परित्यक्त

मानाभावात्, कविसम्प्रदायप्रयुक्तत्वज्ञानस्याहेतुत्वाच्च। न हि शाब्दबोधे तदप्यपेक्षणीयं गौरवान्मानाभावाद् व्यभिचाराच्चेति चेत्, उच्यते।

सकता है? क्योंकि शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण और कोश से (दैवत शब्द के पुल्लिङ्गत्व की) सिद्धि होने पर शाब्दबोध की (प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति आदि) सामग्री के पूर्ण रूप में विद्यमान होने से शाब्दबोध के विलम्ब से प्रतीत होने (अथवा उसकी अन्वयपूर्वक प्रतीति न होने) में कोई प्रमाण नहीं है और कविपरम्परा के द्वारा प्रयुक्त पद का ज्ञान होना शाब्दबोध का कारण नहीं हुआ करता।

टि०–क्योंकि किसी शब्द का प्रयोग करना न करना कवि की अपनी इच्छा पर निर्भर है। इस कारण कवियों के द्वारा प्रयुक्त अथवा उनके द्वारा अप्रयुक्त पद यदि व्याकरणसम्मत और कोशसम्मत हो तो शाब्दबोध हो ही जाता है इसलिए कविसम्प्रदायप्रयुक्तत्व शाब्दबोध में कारण नहीं है।

और उस (कविसम्प्रदायप्रयोग) की शाब्दबोध के लिए किसी प्रकार की आवश्यकता भी नहीं हुआ करती (क्योंकि कविसम्प्रदायप्रयुक्तत्व को यदि हेतु माना जाय तो) तीन दोष आते हैं–1. गौरव, 2. प्रमाणाभाव तथा 3. व्यभिचार।

टि०–कविसम्प्रदायप्रयुक्तत्व को हेतु मानने पर 1. गौरव तो इसलिए है–जब कोश के द्वारा एक बार दैवत शब्द का पुल्लिङ्गत्व निर्धारित हो गया तो कविसम्प्रदायप्रयुक्तत्व यदि एक और हेतु बने तभी इसका पुल्लिङ्गत्व मानना पड़ेगा इस प्रकार एक और कारण मानने पर गौरव हो जाता है।

2. प्रमाणाभाव–दैवत शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ ही नहीं है इसमें कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है। कोशकार ने कहीं तो पुल्लिङ्ग में इसका प्रयोग होते देखा होगा तभी तो अपने कोश में यह नियम लिखा है। 3, व्यभिचार–व्यभिचार का अभिप्राय हैं नियम का उल्लङ्घन। हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावो व्यभिचारः–हेतु के उपस्थित रहते हुए भी कार्य का न होना व्यभिचार कहलाता है। कोश और व्याकरण के द्वारा दैवत शब्द की पुल्लिङ्ग में सिद्धि होने पर भी उसे पुल्लिङ्ग में न समझना व्यभिचार है। इन तीनों कारणों से दैवत शब्द के पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होने को दोष नहीं मानना चाहिए और ऐसे ही दूसरे स्थानों पर भी इस अप्रयुक्त नाम के दोष को नहीं मानना चाहिए।

प्रकृतप्रतीतिस्थगनमत्र दूषकताबीजम्। तथाहि–यथायं पर्वतो वह्निमान् धूमात्। यत्र धूमस्तत्र वह्निः। वह्निव्याप्यधूमवानयं तस्माद् वह्निमानयमिति साम्प्रदायिक-पञ्चावयवप्रयोगः। तत्र पर्वते वह्नि धूमो यतः वह्निव्याप्ति धूमे धूमेन च पर्वते भवितव्यं पर्वताधेयो वह्निरित्येतादृशप्रयोगकारी निगृह्यत इति सर्वसिद्धम्।

(सिद्धान्ती) यदि ऐसा कहा जाय तो (हमारी ओर से) यह कहा जाता है–प्रकरणप्राप्त अर्थ की प्रतीति का अवरुद्ध हो जाना ही यहाँ दोष का कारण है।

टि०–पदान्त में प्रयुक्त लिङ्ग भी तत्सम्बद्ध शाब्दबोध में कारण होता है। यदि किसी शब्द के प्रसिद्ध लिङ्ग का परित्याग करके उसमें लिङ्गान्तर का प्रयोग किया जाय तो वहाँ तत्काल शाब्दबोध नहीं होता। जैसे सर्वत्र नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने वाले जल शब्द के लिए 'जलो निर्मलः' या जला निर्मला। इस प्रकार के प्रयोगों को यदि कोई वक्ता करता है तो सुनते ही श्रोता को बोध हो जाता है कि यहाँ अशुद्धपदों का प्रयोग है और साथ ही यह भी सन्देह होने लगता है कि क्या उक्त पद पानी को छोड़कर और किसी अर्थ को तो बताने के लिए तो प्रयुक्त नहीं किये हैं? लिङ्गान्तर में प्रयुक्त जल शब्द का पानी अर्थ श्रोता को तब तक नहीं प्रतीत होता जब तक वक्ता सङ्केत आदि किसी विशेष प्रकार से यह न बताये कि मैं पानी के लिए इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर विलम्बेनार्थप्रतीति होने से उक्त पददोष होता है।

इसको हम इस रूप में समझाते हैं–यह पर्वत अग्नि वाला है धूम होने से, जहाँ धूआँ होता है वहाँ आग होती है। क्योंकि वह्नि में व्याप्य (व्याप्ति से युक्त) धूम वाला यह पर्वत है इस कारण यह अग्नि वाला है इस प्रकार (अनुमानवादी) साम्प्रदायिक आचार्यों का यह पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग है (प्रतिज्ञा (साध्य), हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पाँच तत्त्व अनुमानवाक्य के अवयव होते है। उस पर्वत में आग है क्योंकि वहाँ धूआँ है)। क्योंकि अग्नि की व्याप्ति धूम में है (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः इस प्रकार की व्याप्ति बनती है जैसे महानस में धूएँ के साथ आग होती है और जहाँ आग नहीं होती वहाँ धूआँ नहीं होता जैसे जलह्रदादि में। क्योंकि धूआँ अग्नि में रहता है और अग्नि पर्वत में रहती है इसलिए) धूएँ को भी पर्वत में रहना चाहिए। क्योंकि अग्नि पर्वत का आधेय अर्थात् पर्वत में रहने वाली है। इस प्रकार पर्वतो वह्निमान् धूमात् इस प्रकार के प्रयोग को करने वाले अनुमानवादी को (धूमेन च पर्वते भवितव्यं पर्वताधेयो वह्निरिति'

तत्र बीजं सम्प्रदायमुल्लङ्घ्य किमर्थमनेन प्रयुक्तमिति तत्तात्पर्यान्वेषणे दोलायमानबुद्धि र्न प्रकृते पर्याप्नोति तद्वदत्रापि सामाजिकानां धीरित्यवधेयम्।

उपसर्गं विना न स्याद् बोधितार्थस्य बोधकम्।
धातुपाठस्य तुल्यत्वेऽप्यसमर्थं तदुच्यते।। 87।।

एतदर्थोऽपि तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधनानुकूलशक्तिरहितपदत्वं लक्षणम्।

इस निग्रहवाक्य से) निगृहीत कर दिया जाता है यह बात सारे विद्वानों में प्रसिद्ध है।

टि०–सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि अयं पर्वतो वह्निमान् धूमात् यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसम् तथा चायमत: पर्वतोऽयं वह्निमान्' इस पञ्चावयव वाक्य से पर्वत में धूमदर्शन का अनुमान होता है। किसी निग्रहकर्त्ता की ओर से अनुमानवादी को यह कहा जा सकता है कि जब धूआँ अग्नि में रहता है और अग्नि पर्वत में रहती है तो धूएँ को भी पर्वत में रहना चाहिए किन्तु वह पर्वत पर तो रहता नहीं है। इसलिए साध्य वह्नि और साधन धूम इन दोनों की भिन्नाधिकरणता होने से व्याप्ति नहीं बनती है।

उस (असम्मत) दोष में दूषकता का वास्तविक कारण यह है–जैसे अनुमानवादियों के सम्प्रदाय (पञ्चावयववाक्यप्रयोग) का उल्लङ्घन करके (इस निग्रहकर्त्ता ने धूमेन च पर्वते भवितव्यं पर्वताधेयो वह्निरिति' ऐसे वाक्य का) यह प्रयोग क्यों किया है? इस रूप में उनके अभिप्राय को ढूँढ़ने में डाँवाडोल बुद्धि वाला व्यक्ति प्रकृतार्थ (अनुमान) में उपयोगी बातों को पूरी तरह नहीं समझ पाता है वैसे ही इस (असम्मत पददोष से दूषित स्थलों) में भी सामाजिक की बुद्धि अस्थिर होकर विलम्ब से ही अर्थ को समझ पाती है। इस रूप में यह बात समझ लेनी चाहिए।

4. असमर्थ–जहाँ कोई पद धातुपाठ के समान होने (अर्थात् धातुपाठ में बतलाये गये दो अर्थों में से किसी एक अर्थ का बोधन करने) पर भी उपसर्ग की सहायता न लेने के कारण अपेक्षित बोध्य अर्थ का बोधन (ज्ञान) नहीं कराता है वहाँ असमर्थ नामक पददोष होता है।। 87।।

इसका यह भी अभिप्राय है–वक्ता के तात्पर्य के विषय बने हुए अर्थ को बताने के लिए अनुकूल (अभिधा) शक्ति से रहित पद का उपस्थित होना ही असमर्थ पददोष का लक्षण है।

टि०–जब कहीं किसी शब्द का कोश, व्याकरणादि में किसी विशेष स्थिति में

यथा–

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्क्रियः।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्।। 132।।

अत्र हन्तीति गमनार्थम्।

उद्धतिपद्धतीत्यादावुपसन्दानेनोभयार्थबोधकत्वेन नोभयार्थकधातुपाठवैफल्यम्।

किसी विशेष उपपद के साथ किसी विशेष अर्थ में पाठ कर दिया जाता है तो उस उपपद की सहायता से ही वह शब्द अभिधाशक्ति द्वारा उस अर्थ को बतलाने का सामर्थ्य रखता है उससे भिन्न स्थल में अर्थात् विशेष उपपद आदि के अभाव में वही शब्द उस अर्थ को बताने में असमर्थ हो जाता है। जैसे धातुपाठ (हन् हिंसागत्योः धातुसङ्ख्या 1037) में पठित हन् का अर्थ गति भी बताया है परन्तु यह गति रूप अर्थ उपसन्दानोपजीवी है अर्थात् अन्य उपपदों के योग में भी होता है। उपसन्दान (परसहकारः उपसन्दानम्) अर्थात् उपपदों की सहायता से पद्धति (पद्+हतिः=पद्भ्यां हतिर्गमनं यत्र सा पद्धतिः=मार्ग) आदि शब्दों में हन् धातु गति अर्थ को बताती है। परन्तु यदि किसी अन्य उपपद के बिना गमन के अर्थ में हन्ति पद का प्रयोग किया जाय तो वह इस अर्थ को बताने में असमर्थ होगा।

जैसे–

दूसरे दूसरे तीर्थों में स्नान के द्वारा पुण्यों का सञ्चय करने वाला यह धार्मिक अब गङ्गा की ओर आदरबुद्धि (श्रद्धा) के साथ जा रहा है।। 132।।

यहाँ गमनार्थक 'हन्ति' पद अपने अर्थ को बताने में असमर्थ है (क्योंकि यहाँ इसमें इतरपद या अर्थ के सहकार के बिना तात्पर्यविषयीभूत गमन रूप अर्थ के बोधन को कराने की शक्ति नहीं है)।

टि०–यद्यपि धातुपाठ (10 37 हन् हिंसागत्योः–अदादिगण) में हन् धातु के हिंसा और गति ये दोनों अर्थ बताये गये हैं किन्तु उपपद के बिना हन् धातु का गमन अर्थ प्रतीत नहीं होता है। जबकि हिंसापरक अर्थ उपपद के लगे रहने या न लगे रहने पर भी प्रतीत हो जाता है।

उद्धति (उद्+हन्+क्तिन्=ऊर्ध्वं हतिः–प्रहारः) पद्धति (पद्+हन्+क्तिन्–पद्भ्यां हन्यते या पद्धतिः–मार्गः) इत्यादि पदों में उपसन्दान (उपपद) के द्वारा हिंसा और गमन दोनों ही अर्थ बताये जाने के कारण इन दोनों अर्थों को बताने वाले धातुपाठ की व्यर्थता नहीं है।

सम्बन्धितावच्छेदकप्रकारकज्ञानाभाव एव दूषकताबीजम्। यद् वा उपसन्दानं विना गमनबोधं प्रति स्वरूपायोग्यत्वं दूषकताबीजम्। अतएव रुद्रटः-

इदमपरमसामर्थ्यं धातो र्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्तीति।।

यस्य चोपसन्दानं विनापि गमनार्थबोधस्तं प्रति नायं दोष इत्यवधेयम्।

टि०–'उद्धति' और 'पद्धति' में धातुपाठ में निर्दिष्ट दोनों अर्थों की सङ्गति हो जाती है।'उद्धति' पद में 'हन्' धातु का अर्थ हिंसापरक है और पद्धति' में गमनपरक हैं। यहाँ उपसन्दान के कारण हन् धातु के दोनों ही अर्थ अलग अलग प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु बिना उपसर्ग जोड़े हुए यदि केवल हति शब्द का प्रयोग किया जाय तो इसका मारना अर्थ ही प्रतीत होगा, चलना अर्थ नहीं।

(सम्बन्धी कर्ता के अन्दर रहने वाले) सम्बन्धिता (कर्तृता) रूप धर्म की अवच्छेदक (इतर व्यावर्तक) गमन रूप क्रिया का सम्बन्धी के विशेषण रूप में ज्ञान का न होना ही असमर्थपददोष का कारण है।

टि०–हन्ति इस पद में ति प्रत्यय का अर्थ सम्बन्धी (कर्ता) है तन्निष्ठसम्बन्धिता (कर्तृता) का अवच्छेदक (इतरव्यावर्तक धर्म) सुरस्रोतस्विनीगमन है। इस गमन रूप अवच्छेदक का यहाँ कर्ता में विशेषण के रूप में ज्ञान नहीं हो रहा है। इस सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति वाक्य से धार्मिकाभिन्नैककर्तृकसुरस्रोतस्विनी-निष्ठकर्मतानुकूलगमनव्यापारवान् धार्मिकः' इस रूप में अर्थ का ज्ञान नहीं हो रहा है। इसलिए अवच्छेदक (विशेषण) का अवच्छिन्न (विशेष्य) में न रह पाना ही इस दोष में दूषकता का कारण बनता है।

इसीलिए रुद्रट ने (काव्यालङ्कार 6,5) कहा है–

जब किसी अर्थविशेष के लिए पठित होने वाली भी धातु उस (धातुपाठ में पढ़े गये) अर्थ को बता नहीं सकती है तो यह धातु के असामर्थ्य दोष का एक दूसरा प्रकार है, जैसे हन्ति पद (हन् धातु के धातुपाठ में पढ़े हुए) गमन अर्थ को नहीं बता पाता है।

किन्तु उपपद के बिना भी जिस (वक्ता या श्रोता) को हन्ति पद के पठन या श्रवण से गमन रूप अर्थ की प्रतीति हो जाती है उसके लिए यह दोष नहीं होता ऐसा समझ लेना चाहिए।

अप्रसिद्धार्थबोधाय प्रसिद्धार्थं नियुज्यते।
उभयार्थकमप्येतद् वदन्ति निहतार्थकम्।। 88।।

तत्तु अतात्पर्यविषयार्थप्रतीत्या स्थगिततात्पर्यविषयार्थकपदत्वं लक्षणम्।

यथा–

सहस्रगोरिवानीकं दु:सहं भवत: परै:।
तव हस्ते विभात्येष सायको धूमसन्निभ:।। 133।।

सहस्रं गावो अक्षीणि यस्य स सहस्रगु:। इन्द्रस्येवेत्यर्थ:। सायक: करवाल:। यत्र

---

5. निहतार्थ- अप्रसिद्ध अर्थ के बोधन के लिए जब किसी प्रसिद्धार्थक (अन्य अर्थ में अधिक प्रसिद्ध) पद का प्रयोग किया जाता है तो (शास्त्रीय दृष्टि से) उभयार्थक होने पर भी उस पद में निहतार्थ दोष को बतलाते हैं।। 88।।

टि०–निहतार्थ वह दुष्ट पद है जो दो (प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध) अर्थ वाला होते हुए भी अपने अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

और वह (निहतार्थ दोष) तो तात्पर्यातिरिक्त अर्थ के ज्ञान के होने से तात्पर्य- विषयक (अभिप्रेत) अर्थ के ज्ञान को रोकने वाले पद का होना रूप लक्षण वाला है (यह इस दोष का परिनिष्ठित लक्षण है)।

टि०–जहाँ उभयार्थक पद के द्वारा दूसरे अनभिप्रेत अर्थ की तो प्रतीति हो जाती है किन्तु अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति विलम्ब से होती है वहाँ यह दोष होता है।

जैसे–

(हे राजन्) इन्द्रतुल्य आपकी सेना आपके शत्रुओं के द्वारा दुर्धर्ष (असह्य एवं अपराजेय) है और यह धुएँ के समान काली तलवार आपके हाथ में सुशोभित हो रही है।। 133।।

हज़ार जिसकी गौ अर्थात् आँखें हैं वह सहस्रगु: कहलाता है। (सहस्रगोरिव पद का) इन्द्र के तुल्य यह अर्थ हो गया है। सायक शब्द का अर्थ तलवार है।

टि०–'सहस्रगो:' पद में प्रयुक्त गोपद का अर्थ नेत्र और रश्मि दोनों है। सूर्य को हज़ार गायों (किरणों) वाला होने से सहस्रगु कहा जाता है और इन्द्र को भी हज़ार गायों (नेत्रों) वाला होने से यह नाम दिया जाता है। किन्तु सहस्रगु पद सूर्य अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है और इन्द्र अर्थ में अप्रसिद्ध है। इसी प्रकार सायक शब्द का प्रसिद्ध अर्थ बाण है और तलवार अर्थ अप्रसिद्ध है।

प्रयोगप्राचुर्यं झटिति सामग्री वा तस्य प्राक्प्रतीतिः। यच्च विरलप्रयोगं विलम्बितसामग्रि वा तस्य विलम्बेन प्रतीतिरिति प्रकृतेऽपि तथा। अत्र चातात्पर्यविषयीभूतप्रतीतिकृतप्रकृतप्रतीतिविलम्ब एव दूषकताबीजम्। केचित्तु प्रकृतानन्वितशराद्यर्थोपस्थितिप्रतिसन्धानं दूषकताबीजम्[1] इत्याहुः[2]।

प्रतिपाद्यविरुद्धार्थबोधकं यत्पदं भवेत्।
तदेवानुचितार्थं स्याद् रसभावादिघातकम्[3]।। 89।।

जिस (अर्थ) में जिस पद का अधिक प्रयोग मिलता है। अथवा जिसकी (संयोगविप्रयोगादि) सामग्री (अर्थावधारणार्थ) शीघ्र मिल जाती है उस पद का ज्ञान पहले (अर्थात् शीघ्र) हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिस (पद) का (जिस अर्थविशेष में) कम प्रयोग होता है अथवा जो विलम्बित सामग्री वाला है अर्थात् जिसके संयोगादि तत्त्व देर से उसके साथ सङ्गत होते हैं उसका ज्ञान देर से होता है। इस प्रस्तुत निहतार्थ दोष में यही नियम लागू होता है।

टि०–इस श्लोक में प्रयुक्त सहस्रगु और सायक पदों का सूर्य और बाण इन अर्थों में अधिक प्रयोग देखा जाता है और इन्द्र और तलवार इन अर्थों में विरल प्रयोग मिलता है। इस कारण यह दोनों पद निहतार्थ (दबे हुए अर्थ वाले) हैं।

और यहाँ पर अतात्पर्यविषयीभूत (जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य नहीं है अर्थात् अनभीष्ट सूर्य और बाण) अर्थ की प्रतीति से उत्पन्न प्रकृत (तात्पर्यविषयीभूत अभीष्ट) इन्द्र और तलवार अर्थ के बोध का रुक जाना ही इस दोष की दूषकता का कारण है।

और कुछ विद्वान् तो यहाँ प्रकरणप्राप्त (करवाल-तलवार) अर्थ के साथ सम्बन्ध न रखने वाला तथा (प्रकरण भिन्न) बाण आदि अर्थों की स्मृति कराने वाला ज्ञान ही इस दोष का कारण है ऐसा कहते हैं।

6. अनुचितार्थ–जो पद प्रतिपादनीय अर्थ से विपरीत अर्थ का बोधक होता है, रस और भाव आदि का विनाशक (रसभावाद्यास्वादप्रतिबन्धक) है वही (पद) अनुचितार्थ होता है।। 89।।

---

1. केचित्तु......दूषकताबीजम् अ त; यह अंश ज में परित्यक्त।
2. ज अ; त में परित्यक्त।
3. ज अ; त में निम्नलिखित पाठ–
तदेवानुचितार्थं स्याद् रसभावादिघातकम्।
विरुद्धार्थसमाकीर्णमनौचित्यार्थतां गतम्।।

तदर्थोऽपि उत्कर्षार्थमुपादीयमानस्यापकर्षबोधकत्वमिति यावत् तच्च वर्ण्यस्य कवे र्वा।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम्।। 134।।

अत्र दुर्योधनोक्तौ स्वोत्कर्षतात्पर्यकार्थमिदमनुचितार्थम्।

यथा–

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विलुलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः।

उसका यह भी (परिनिष्ठित) अर्थ है– उत्कर्ष बताने के लिए गृहीत (पद) का अपकर्षबोधक हो जाना अनुचितार्थत्व है। इतना ही (लक्षण) है और वह वर्ण्य वस्तु अथवा कवि के भीतर रहता है।

जैसे–

सेवकों के समुदायसमेत, सब बन्धुओं, मित्रों, पुत्रों और छोटे भाइयों के साथ दुर्योधन को युद्धभूमि में अपनी शक्ति से क्या शीघ्र ही पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर नहीं मारेगा? (अपितु मारेगा ही)।। 134।।

यहाँ दुर्योधन की (अहङ्कार भरी) वाणी में अपनी उत्कृष्टता (को बताने में प्रयोजन वाला) यह अनुचितार्थ है।

टि०–वेणीसंहार (2, 5) नाटक में कञ्चुकी के 'हमने आज तक आपके पुरुषार्थ की व्यर्थता नहीं देखी' ऐसा कहने पर दुर्योधन अभिमान में आकर अपनी डींग मारते हुए यह कहना चाहता है कि आज दुर्योधन नौकरों और भाइयों के साथ युधिष्ठिर का खात्मा कर देगा किन्तु प्रमादवश पाण्डुसुतं सुयोधनः के स्थान पर पाण्डुसुतः सुयोधनम्' उल्टा कह जाता है। यह उल्टा अर्थ अनुचित है क्योंकि इस अर्थ से दुर्योधन का अभिप्रेत अर्थ नहीं निकलता है। पाण्डुसुतं सुयोधनः यह पाठ कर देने पर यह दोष समाप्त हो जाता है। कञ्चुकी ने इस श्लोक को दुबारा पढ़कर 'पाण्डुसुतं सुयोधनः' रखकर दोष को हटा दिया है (वेणीसंहार 2, 6)।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

सम्भोग करने के अनन्तर एक हाथ से अपना भार शेषनाग के ऊपर रखकर और दूसरे हाथ से कपड़े को पकड़कर उठती हुई तथा हिलते हुए केशपाश को कंधे पर धारण करती हुई उस लक्ष्मी का (सम्भोग के) समय की सुन्दरता के कारण दुगनी

भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु।। 135।।

इत्यस्य देवताविषयकरतिवर्णनेऽनुचितार्थत्वम्। अतएव काव्यप्रकाशे तद् वर्णनं हि पित्रोः सुरतवर्णनमेवेति। केचित्तु उत्कर्षार्थमुपादीयमानस्यापकर्षबोधकत्वम-पकर्षार्थमुपादीयमानस्य वा उत्कर्षबोधकत्वमिदमेवानुचितार्थत्वम्।

प्रथमं यथा–

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति।। 136।।

अपरं यथा–

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते।
युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः।। 137।।

बढ़ी हुई भोगेच्छा में प्रीति रखने वाले विष्णु भगवान् के द्वारा आलिङ्गन करके दुबारा शय्या पर ले जाया गया और अलसाने से सुशोभित भुजाओं वाला शरीर आपकी रक्षा करे।। 135।।

इस श्लोक के भीतर (किये गये) देवताविषयक सम्भोग के वर्णन में अनुचितार्थता (दोष) है। इसीलिए काव्यप्रकाश (7,62 कारिकान्तर्गत वृत्तिभाग) में कहा गया है–

उस (सम्भोगशृङ्गार रति) का वह (देवताविषयक) वर्णन माता पिता का सम्भोगवर्णन ही है। (अतः अत्यन्त अनुचित है।) कुछ विद्वानों के अनुसार तो यह लक्षण है– उत्कृष्टता के लिए गृहीत (पठित) पद का अनुत्कृष्टता को प्रकट करना और अनुत्कृष्टता को बतलाने के लिए ग्रहण किये गये पद का उत्कृष्टता को बोधित करना ही अनुचितार्थ (दोष) होना है।

पहला (उदाहरण) जैसे–

अग्नि की चिनगारी की तरह यह सूर्य चमक रहा है।। 136।।

टि०–यहाँ सूर्य का उत्कर्ष बताने के किए वह्निस्फुलिङ्ग उपमान का ग्रहण किया गया है। किन्तु इससे तो सूर्य का अपकर्ष सूचित हो रहा है।

दूसरा (उदाहरण) जैसे–

कमल के आसन पर बैठा हुआ यह चकवा सृष्टि के आरम्भ में सम्पूर्ण प्रजाओं (जगत् के प्राणियों) को उत्पन्न करने की अभिलाषा वाले भगवान् ब्रह्मा की तरह सुशोभित हो रहा है।। 137।।

अत्रोत्कृष्टस्य सूर्यस्यापकर्षबोधनादपकृष्टस्य च चक्रवाकस्योत्कर्षबोधनादनुचितार्थमिति प्राहु:।[1] तन्न, चन्द्रो मुखमित्यत्रापि तथात्वापत्ते:।

छन्दोनिर्वाहमात्रार्थं प्रकृतानन्वितं च यत्।
वदन्ति कवय: सर्वे निरर्थकमिदं पदम्।।90।।

निर्गलितार्थस्तु वाक्यार्थप्रत्ययानुकूलार्थप्रत्यायकत्वराहित्यम्। अधिकपदे च वाक्यार्थप्रत्ययानुकूलार्थप्रत्यायकत्वमस्त्येव परन्तु तदन्यतो लब्धमिति न तेन साङ्कर्यम्।

यहाँ उत्तमप्रकृतिक सूर्य की निकृष्टता बताने के कारण और अधमप्रकृतिक चक्रवाक की उत्तमता बताने के कारण अनुचितार्थ दोष है ऐसा पूर्वपक्षी विद्वानों का कहना है। (सि०) ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि चन्द्रो मुखम्–चाँद मुख है इस प्रतीप के उदाहरण में भी यह अनुचितार्थ दोष आ जायेगा (और उपमा रूपकादि अलङ्कारों की अनलङ्कारता माननी पड़ेगी)।

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है मुखं चन्द्र: जैसे उपमा और रूपक के उदाहरण तो सङ्गत हैं क्योंकि 'अपकृष्टगुणवत्त्वमुपमेयत्वम्' इस नियम के अनुसार उपमेय न्यूनगुण वाला होता है और 'उत्कृष्टगुणवत्त्वमुपमानत्वम्' इस नियमानुसार उपमान अधिक गुण वाला होता है। किन्तु 'चन्द्रो मुखम्' इस उदाहरण में अनुचितार्थता का दोष आ जायेगा क्योंकि चन्द्रमा बड़ा होता है और मुख छोटा होता है। और उपमा रूपकादि में अपकृष्ट मुख को उपमेय बनाकर उसका उत्कर्ष बताया जाता है तथा उत्कृष्ट चन्द्रमा को उसका उपमान बनाकर उस उपमेय का अपकर्ष प्रकट किया जाता है। इसलिए पूर्वोक्त नियम के अनुसार इनको अलङ्कार नहीं कहना चाहिए। इसलिए उत्कर्ष और अपकर्ष की कसौटी ही नहीं बनानी चाहिए। वह्निस्फुलिङ्ग में प्रमाणन्यूनता और अयं पद्मा० में जातिन्यूनता होने से हीनत्व नामक उपमादोष है। (सा०सु०सि० 8,286)

7. निरर्थक–जो केवल छन्द को निभाने (पूरा करने) के लिए रखा जाता है और प्रकृतार्थ के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार के इस पद को सारे कवि निरर्थक पद कहते हैं।। 90।।

टि०–पादपूरणमात्रप्रयोजनत्वं निरर्थकत्वम् अर्थात् केवल पादपूर्ति के लिए जिस पद को रख दिया जाता है वह निरर्थक है।

इसका सारभूत अर्थ तो इस प्रकार है–वाक्यार्थ के ज्ञान के अनुरूप अर्थ की बोधकता के अभाव का नाम ही निरर्थकत्व है।

टि०–निरर्थक पद से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसका ज्ञान वाक्यार्थ के ज्ञान के लिए लाभकारी नहीं होता।

1. त; अत्र एकत्र उत्कृष्टस्य सूर्यस्यापकर्षबोध: अपकृष्टस्य चक्रवाकस्य न उत्कर्षबोध इत्याहु: ज अ।

यथा–

विघ्नवल्लीकुठाराभं स्मरणं यस्य सर्वदा।
विनायकमहं वन्दे लम्बोदरमहं हि नु।। 138।।

दूषकताबीजं चात्र प्रकृताननुगुणस्यावधारणस्य प्रतीतिः। कवेरशक्तिसूत्रमित्यपरे।

अवाचकमिदं प्राहुरसङ्केता[1]दबोधकम्।

और अधिकपद दोष में वाक्यार्थ के ज्ञान के अनुकूल अर्थबोधकता तो रहती है किन्तु उसी प्रकार का बोध तत्रस्थ दूसरे पद से भी प्राप्त हो रहा होता है (उसमें अधिक पद का अर्थ प्रकृत में सङ्गत तो होता है किन्तु निरर्थक पद का अर्थ प्रकृत में असङ्गत होने के कारण निरुपयोगी होता है) इस कारण उसके साथ इस दोष का साङ्कर्य (सम्मिश्रण) नहीं है।

जैसे–

जिनका स्मरण सदैव बाधाओं रूपी लताओं के लिए कुल्हाड़े के समान है मैं उन लम्बे पेट वाले श्रीगणेश को नमस्कार करता हूँ।।138।।

टि०–इस श्लोक में प्रयुक्त हि तथा नु पद निरर्थक हैं और दूसरा अहम् पद अधिक है क्योंकि उसके अर्थ की प्रतीति पहले अहम् पद से ही हो रही है।

और यहाँ प्रकरणप्राप्त अर्थ के अननुरूप अर्थ की प्रतीति का होना ही इस दोष के होने का कारण है।

टि०–हि और नु पद उपर्युक्त श्लोक के अर्थ के किए सर्वथा अनुपयोगी ('निश्चय से' इस अपने) अर्थ का ज्ञान करा रहे हैं। इन पदों के यहाँ न रहने से किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता।

इस प्रकार (के पादपूरणार्थ रखे हुए निरर्थक पदों का प्रयोग) कवि के काव्यनिर्माण के सामर्थ्य के अभाव का सूत्र (पोल खोलने वाला) है ऐसा दूसरे मानते हैं।

टि०–हि, नु जैसे निरर्थक पदों का प्रयोग कई बार कवि इसलिए भी करते है कि उन्हें पादपूर्ति के लिए और कोई उपाय नहीं सूझ रहा होता। पाठक भी इन निरर्थक पदों वाले स्थलों को देखकर कवि की इस कमज़ोरी को पहचान लेते हैं।

8. अवाचक–(अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः इस प्रकार के) सङ्केत (रूप कारण) के न होने से अपने अर्थ को न बताने वाला यह (पद) अवाचक कहा है।

टि०–असङ्केतितार्थ का बोध कराने के लिए जिस पद का प्रयोग किया जाता है वह अवाचक होता है।

---

1. त; ....रव्यापारादबोधकम् ज अ।

असमर्थे नासङ्केतो लाक्षणिकेनावबोधकत्वमिति न तयोः प्रसङ्गः।

यथा–

सीमन्ते दिग्वधूनां सपदि विदधती चारुसिन्दूरशोभां
कुर्वन्ती कर्णकेलीकिसलयरचनापौनरुक्त्यं वधूनाम्।
सिञ्चन्ती किञ्च लाक्षारसमिव युवतीमञ्जुबिम्बाधरे सा
ज्योत्स्ना पायादपायाज्जगदिदमखिलं पद्मबन्धोर्नवीना।। 139।।

अत्र ज्योत्स्नापदं बालातपस्यावाचकम्। न चेदं तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणया बोधकं

असमर्थ पददोष में असङ्केत नहीं होता है अर्थात् उसमें सङ्केत तो होता है किन्तु उसमें अपेक्षित अर्थ को बताने का सामर्थ्य नहीं होता (कुञ्जं हन्ति कृशोदरी इस वाक्य में हन् धातु गत्यर्थ में पठित होने पर भी इस अर्थ को नहीं बता रही है और अवाचक में सङ्केत ही नहीं होता) किन्तु लाक्षणिक पद से (लक्षणा के द्वारा) अर्थ की प्रतीति हो जाती है। (इस प्रकार असमर्थ में सङ्केत न होने से) दोनों का एकत्र समावेश नहीं हो सकता (क्योंकि इन दोनों का विषय भिन्न है)।

जैसे–

दिशा रूपी नववधुओं की केशरचना में (प्रतिबिम्बित होकर) शीघ्र ही सुन्दर सिन्दूर की शोभा को करती हुई, वधुओं के कानों के बीच में क्रीडा के नवीन पत्र की पुनरुक्ति करती हुई और इसके अतिरिक्त युवतियों के सुन्दर बिम्बाफल के सदृश ओठ पर लाक्षारस को सींचती हुई सी कमलों के मित्र सूर्य की नवीन धूप इस सारे जगत् को विनाश से बचाये।। 139।।

टि०–कर्णकेलीकिसलयरचनापौनरुक्त्यं कुर्वन्ती यह कहने का अभिप्राय यह है–नायिकाओं ने पहले ही कानों में कोमल लाल पत्ते रखे हुए थे तो भी सूर्य ने उन लाल पत्तों पर अपनी लाल लाल किरणें डालकर पहले से लाल कानों को फिर से और अधिक लाल बना दिया है।

यहाँ ज्योत्स्नापद प्रातःकालीन धूप का अवाचक है। (क्योंकि इस पद का यह सङ्केतितार्थ नहीं है इसका वाच्यार्थ तो चाँदनी है। (और वक्ता के तात्पर्य के अनुपपन्न होने से लक्षणा के द्वारा यह पद बालातप अर्थ का बोधक हो जायेगा यह बात नहीं कहनी चाहिए क्योंकि जब तक किसी विशेष प्रयोजन को बतलाने की इच्छा नहीं होती तब तक लक्षणा की अवतारणा (उपस्थिति) नहीं होती है और क्योंकि लौकिक व्यवहार की

भविष्यतीति वाच्यम्, यदा न प्रयोजनप्रतिपिपादयिषा तदा लक्षणाया अनवताराद् व्यवसायानुशासनविरोधेनालाक्षणिकसुब्विभक्तावप्यस्य दूषणत्वाच्च। ध्वान्तध्वंसैकदक्षा कलयतु विभवं कापि बालातपश्रीरिति तु युक्तम्।

अश्लीलम्–

यस्य स्मरणमात्रेणासभ्यार्थ[1]स्मृति र्भवेत्।।91।।
व्रीडाजुगुप्सामाङ्गल्यव्यञ्जकं त्रिविधं स्मृतम्।

ग्राम्ये च नासभ्यार्थस्मारकत्वं किन्तु शब्द एव तच्छोभारहित इति न तत्साङ्कर्यशङ्कापि।

शिक्षा (इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग साधु है इस रूप में प्रचलित शब्दव्यवहार के अनुशीलन) के साथ विरोध होने से अलाक्षणिक इस ज्योत्स्ना शब्द में सुप् विभक्ति के लग जाने पर भी अवाचकत्व दोष आ ही जाता है।

टि०–प्रस्तुत श्लोक में ज्योत्स्नापद का प्रयोग बालातप अर्थ में किया गया है। परन्तु उसमें सङ्केत न होने के कारण यह शब्द उस अर्थ को अभिधा के द्वारा बोधित नहीं करा सकता इस कारण यहाँ अवाचक दोष है। पूर्वपक्षी की ओर से कहा जा सकता है कि यहाँ वक्ता का तात्पर्य बालातप अर्थ में है चन्द्रिका अर्थ में नहीं है। अत: तात्पर्यानुपपत्ति से इस पद का लक्ष्यार्थ आतप हो जायेगा। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यहाँ प्रयोजनमूला लक्षणा तो है नहीं क्योंकि यहाँ ज्योत्स्ना का आतप अर्थ करने में कोई स्फुट प्रयोजन तो है नहीं और न ही यहाँ रूढिमूला लक्षणा हो सकती है क्योंकि इस अर्थ में इस शब्द की प्रसिद्धि नहीं है। इसलिए यहाँ आतपार्थ में प्रयुक्त ज्योत्स्ना पद न वाचक है और न लाक्षणिक है। इस कारण इसके आगे सुप् विभक्ति के लग जाने पर भी इस पद के भीतर अवाचकत्व (अपने अर्थ को न बता पाना रूप) दोष बना रहता है।

(इस श्लोक में प्रयुक्त ज्योत्स्ना पायाद० इत्यादि पङ्क्ति के स्थान पर) ध्वान्त० इत्यादि पङ्क्ति का पाठ ठीक रहेगा। अन्धकार के विनाश में एकमात्र निपुण, अनिर्वचनीय सूर्यातप की शोभा आप सबको समृद्धि प्रदान करे।

अश्लील (का लक्षण यह) है–

9. अश्लील–जिसके केवल सुनने से ही अशिष्ट अर्थ का स्मरण होता है (वह अश्लील है)।।91।।

लज्जा, घृणा और अशुभ को प्रकट करने वाला वह दूषित पद तीन प्रकार का बताया है।

---

1. ज अ;........मात्रेणासम्यगर्थस्मृति त।

क्रमेण यथा–

न साधनोन्नति र्या स्यात्कलत्रासुखदायिनी।
परार्थवधकाङ्क्षिणां यत्सत्यं पेलवं धनम्।। 140।।

मञ्जुमन्थरगतिः पयोमुचां शीकरौघवहनश्रमादिव।
केतकीवनविहारकौतुकी वायुरायुरभवन्मनोभुवः।। 141।।

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।। 142।।

और ग्राम्य दोष में अशिष्ट अर्थ का स्मरण नहीं होता है (अश्लील में ऐसे अर्थ का बोध होता है) परन्तु उसमें वाचक शब्द ही शोभारहित होता है। इसलिए इन दोषों में एक दूसरे के आपस में मिलने की आशङ्का भी नहीं है।

टि०–'साधन' जैसे पद अश्लीलार्थ के स्मारक हैं और 'कटि' जैसे ग्राम्य पद व्रीडाव्यञ्जक न होकर वाच्यावस्था में ही घटिया प्रकार के हैं यही इनका आपस में भेद है।

क्रम से (अश्लील दोष के तीनों प्रकारों के उदाहरण दिये जा रहे हैं)।

जैसे–

(i) (पहला अर्थ) वह (धन, धान्य) समृद्धिप्राचुर्य अच्छा नहीं जो स्त्रियों के लिए सुखकारक नहीं है (दूसरा अर्थ–) जो लिङ्गोत्थान (लिङ्गेन्द्रिय का कड़ा होकर ऊपर उठना) स्त्रियों के लिए सुखकारी नहीं है (और उनकी भोगेच्छा को सन्तुष्ट नहीं करता है) वह सफल नहीं है दूसरों (की भलाई) का नाश चाहने वाले व्यक्तियों का धन सचमुच ही कोमल (आसानी से नष्ट होने वाला– अचिरस्थायी दूसरा अर्थ अण्डकोश की तरह असमर्थ) होता है।। 140।।

(ii) बादलों के जलकणों को धारण करने की थकावट से ही मानों केवड़े के जंगलों में घूमने के कुतूहल वाला (अत एव) सुन्दर और धीमी गति से युक्त वायु (पवन) कामदेव की आयु बना अर्थात् उसको पुष्ट करने वाला बना।। 141।।

(iii) शत्रुओं के शान्त झे जाने से अर्थात् उनके मारे जाने से बुझी हुई वैर रूपी अग्नि वाले पाण्डु के पुत्र (युधिष्ठिरादि) कृष्ण भगवान् के साथ प्रसन्न होवें। अनुरक्त एवं प्रसन्न की हुई जनपदस्थ प्रजाओं वाले और समाप्त हुए युद्धों वाले कुरुक्षेत्र के राजा धृतराष्ट्र के (दुर्योधनादि) पुत्र

अत्र क्रमेण व्रीडाजुगुप्सामाङ्गल्यव्यञ्जकत्वादश्लीलत्वम्। दूषकताबीजं चात्रा-सभ्यार्थप्रतीतिः श्रोत्रियमण्डलीषु चण्डालागमनमिव किमपि वैरस्यमापादयतीति ध्येयम्।

सन्दिग्धं तत्र[1] भवेद् यत्र तात्पर्यार्थस्य संशयः।। 92।।

तदर्थोऽपि अविनिर्णीततात्पर्यकपदार्थोपस्थापकपदत्वम्।

यथा–

स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागतः।। 143।।

दूषकताबीजं चात्र तात्पर्यनिर्णयाभावः।

नौकरों के साथ स्वस्थ निश्चिन्त एवं नीरोग रहें। तीसरी चौथी पङ्क्ति का दूसरा अर्थ– खून से पृथिवी को सजाने वाले और कटे हुए शरीरों वाले कौरवगण नौकरों समेत स्वः स्थाः-स्वर्ग में जाकर स्थित हो जायें अर्थात् मर जायें।। 142।।

यहाँ क्रम से लज्जा, घृणा और अशुभ अर्थ के व्यञ्जक पदों के होने से अश्लीलत्व दोष है।

टि०–यहाँ साधनोन्नति में साधन पद से पुरुष के लिङ्ग (शिश्न) का भी अवबोध होता है और पेल शब्द अश्लीलार्थबोधक है क्योंकि लाट देश की भाषा में यह पेल शब्द वृषणेन्द्रिय रूप गुह्याङ्ग का वाचक है। इस कारण यहाँ दोनों स्थानों पर व्रीडाव्यञ्जक अश्लील पददोष है। वायु शब्द अपानवायु (गुदावायु-पाद) अर्थ का स्मारक होने के कारण जुगुप्सापरक अश्लीलार्थ का अभिव्यञ्जक है। रक्तप्रसाधित० इत्यादि श्लोकार्ध से दूसरे अशुभ अर्थ की भी प्रतीति होने से यह अमाङ्गल्याश्लील पददोष का उदाहरण है। वेणीसंहार नाटक (1, 73) में सूत्रधार की यह उक्ति है।

और यहाँ अशिष्ट अर्थ का अवबोध ही इस दोष के होने का कारण है। यह वैसी ही कुछ खीझ सामाजिकों के हृदय में उत्पन्न करता है जैसी वेदपाठी ब्राह्मणों के समूहों में किसी चण्डाल का आ जाना (अरुचिकर होने से) कुछ (अजीब सी) झुंझलाहट (अरुचि) को पैदा करता है। यह ध्यान देने योग्य बात है।

10. सन्दिग्ध–जहाँ वक्ता के तात्पर्यार्थ (अभीष्टार्थ) के विषय में सन्देह हो जाता है वहाँ सन्दिग्ध नामक पददोष होता है।। 92।।

इसका यह भी (परिनिष्ठित) अर्थ है–वक्ता के अनिश्चिताभिप्रायगर्भित अर्थ की उपस्थिति कराने वाले पदों से युक्त होना ही सन्दिग्ध का लक्षण है।

जैसे–

वह महानुभाव भाग्य के कारण ऊँचे पद को प्राप्त हो गया है।।143।।

---

1. ज त; तद् अ।

अप्रतीतमिदं प्राहुःकेवलं शास्त्रभाषितम्।
व्युत्पत्त्याप्येवमेवार्थं प्रवदन्ति मनीषिण:।।93।।

प्रतिशास्त्रे इतं प्रतीतं न प्रतीतमप्रतीतम्। यत्किञ्चिच्छास्त्रपरिभाषितमित्यर्थः। यथा–

न पक्षवृत्ति र्न सपक्षवृत्ति र्विपक्षवृत्तिः करवालधूमः।
तथापि ते विक्रमभूमिपाल प्रतापवह्नेः प्रमितिं करोति।। 144।।

अत्र पक्षादिशब्दास्तर्कशास्त्रपरिभाषिताः। दूषकताबीजं चात्र सङ्केतज्ञानविरहः।

टि०–यहाँ महापद के मृत्यु, मोक्ष और ऊँचा पद इन तीन अर्थों में से कौन सा अर्थ लिया जाय इस विषय में सन्देह बना हुआ है। संयोगादि में से किसी एक विशेष हेतु के न होने से वक्ता के तात्पर्य का निश्चय नहीं हो रहा है।

और इस दोष में दूषकता का कारण वक्ता के तात्पर्य के निर्णय का अभाव है।

11. अप्रतीत–किसी एक शास्त्र में ही जो कहा गया हो उसे अप्रतीत कहते हैं। विद्वान् लोग इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी इसी प्रकार का अर्थ निकलता है ऐसा कहते हैं।। 93।।

प्रति–किसी एक शास्त्रे–शास्त्र में इतम्–जो जाना गया है वह प्रतीत है और जो (उस शास्त्र के अतिरिक्त और दूसरे शास्त्रों में) प्रतीत (जाना गया) नहीं है, वह अप्रतीत पददोष कहलाता है। जो किसी एक शास्त्र में ही थोड़े बहुत लक्षण या परिभाषा को प्राप्त है (दूसरे दूसरे शास्त्रों में जिसका लक्षण स्पष्ट नहीं है) यह इसका (निहित) अर्थ है।

टि०–शास्त्रैकदेशे प्रसिद्धमप्रतीतम्–जो किसी एक ही शास्त्र में प्रसिद्ध हो और दूसरे शास्त्रों में न प्रसिद्ध हो ऐसे पद का प्रयोग अप्रतीत पददोष है। जैसे–

हे विक्रमदेव राजन्! (यद्यपि) तुम्हारा खड्ग रूपी धुआँ न तो तुम्हारे अपने पक्ष में रहता है और न तुम्हारे मित्रों के पक्ष में रहता है वह (केवल) तुम्हारे शत्रुपक्ष में रहता है। फिर भी वह तुम्हारी पराक्रम रूपी अग्नि का (अनुमान के द्वारा) ज्ञान करा देता है (यह बड़े आश्चर्य की बात है)।।144।।

इस श्लोक में प्रयुक्त पक्षादि शब्दों के (पारिभाषिक) लक्षण न्यायशास्त्र में (ही) बताये गये हैं।

न चासमर्थबीजसाङ्कर्यमिति वाच्यम् तत्र गणपाठात् सङ्केते गृहीतेऽपि सम्बन्धितावच्छेदकसम्बन्धाग्रहान्न[1] सम्बन्ध्यन्तरोपस्थितिः। प्रकृते तु ग्राहकानुपस्थित्या सम्बन्धाग्रहणान्न सम्बन्ध्यन्तरोपस्थितिरिति विशेषात्।

टि०–सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः, निश्चितसाध्यवान् सपक्षः, निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः इस प्रकार के लक्षण उपर्युक्त शब्दों के तर्कभाषा आदि न्यायग्रन्थों में मिलते हैं। पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः यथा महानसम् तथा चायमत एव पर्वतोऽयं वह्निमान्–इस पञ्चावयव वाक्य में पर्वत पक्ष है क्योंकि इसमें वह्नि का अनुमान किया जाता है (यत्रानुमिनोति स पक्षः) महानस सपक्ष है क्योंकि उसमें प्रतिदिन अग्नि का निश्चय रहता है और नदीसरोवरादि जलाशय विपक्ष हैं। क्योंकि उनमें साध्य रूप अग्नि नहीं रहती है। पक्षादि ये तीनों पद न्यायशास्त्र के अनुमानखण्ड में तो प्रसिद्ध हैं किन्तु और शास्त्रों में अप्रसिद्ध हैं।

यहाँ दोष होने का कारण सङ्केतित ज्ञान का अभाव है।

टि०–यहाँ पक्ष, सपक्ष और विपक्ष के जो पारिभाषिक अर्थ हैं उनकी आसानी से प्रतीति नहीं हो रही है। इसी कारण इस श्लोक में अप्रतीत दोष है।

यहाँ पर असमर्थदोष के मूल कारण के साथ (इस दोष का) सम्मिश्रण होता है यह नहीं कहना चाहिए।

टि०–असमर्थ और अप्रतीत दोनों दोषों में सङ्केतितार्थ की प्रतीति नहीं होती है। अतः दोनों का एक ही लक्षण बन सकता है ऐसा मानना ठीक नहीं है।

उस असमर्थदोष (के सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् इस उदाहरण) में (हन् हिंसागत्योः–हन् धातु का हिंसा और गमन अर्थ है इस रूप में) गणपाठ से गमनार्थ में सङ्केत का ग्रहण होने पर भी सम्बन्धी (गमनक्रिया के कर्ता) के भीतर रहने वाली सम्बन्धिता (कर्तृता रूप धर्म) के अवच्छेदक (गमनक्रिया रूप धर्म) के साथ सम्बन्ध न होने से गमनक्रिया के कर्ता रूप दूसरे सम्बन्धी की उपस्थिति (प्रतीति) नहीं हो रही है।

टि०–असमर्थ दोष में हन्ति पद से अवच्छेद्य गमन क्रिया के कर्ता धार्मिक के साथ अवच्छेदक गमनक्रिया का सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

किन्तु प्रस्तुत अप्रतीत दोष (के न पक्षवृत्ति० इत्यादि उदाहरण) में तो

---

1. त,........छेदकविरहान् ज अ

न च निहतार्थेनास्य सङ्करः। तत्र व्यवधानाव्यधानतया उभयार्थप्रतीतेः[1] अत्र च[2] प्रकृतार्थप्रतीत्यनारोहात्।

यद् भवेदविदग्धोक्तं तत्पदं ग्राम्यमुच्यते।

एतदर्थोऽपि उदारतागुणाव्यञ्जकपदत्वम्।[3] तथाहि–पदं त्रिविधम्–ग्राम्यं नागरमुपनागरञ्च। तत्राद्यं स्वरूपशोभारहितम्। उक्तं चान्यत्र[4] –

व्याकरणोपमानादि सङ्केतग्राहक साधनों की अनुपस्थिति से वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो रहा है। इसलिए (पक्षादि पदों से राजविषयक) दूसरे अर्थ का ज्ञान नहीं हो रहा है यही इन दोनों में भेद है।

टि०–असमर्थ दोष में जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग होता है उस अर्थ में सङ्केत होने पर भी यत्किञ्चित्सहकार के बिना उस अर्थ को बताने का सामर्थ्य नहीं होता। किन्तु अप्रतीत में जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग होता है उस अर्थ में उस शब्द का सङ्केत नहीं होता है।

और निहतार्थ दोष के साथ इस (अप्रतीत दोष) का सङ्कर नहीं है क्योंकि उस दोष में कुछ काल के व्यवधान (अन्तर) या अव्यवधान होने पर दोनों अर्थों का ज्ञान हो जाता है और यहाँ (अप्रतीत दोष में) प्रकरणप्राप्त अर्थ ज्ञान का विषय ही नहीं बनता है।

टि०–परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयो धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः–एक दूसरे के साथ अत्यन्ताभाव वाले अर्थात् परस्पर विरुद्ध अर्थों का एक स्थान पर रह जाना सङ्कर कहलाता है। सिद्धान्ती का कहना है कि निहतार्थ और अप्रतीत दोष परस्परविरुद्ध हैं और एक स्थान पर नहीं रह सकते इस कारण उनमें सङ्कर नहीं आता। निहतार्थ के उदाहरण 'सहस्रगु', पद के प्रसिद्ध सूर्य और अप्रसिद्ध इन्द्र इन दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाती है किन्तु यहाँ पक्षादि शब्दों के अर्थों की प्रतीति ही नहीं होती है अतः इन दोनों में भेद है।

12. ग्राम्य–जो मूर्खों के द्वारा बोला जाता है वह पद ग्राम्य कहा जाता है। इसका (परिनिष्ठित) अर्थ (लक्षण) यह भी है–उदारता गुण के अनभिव्यञ्जक पद वाला होना ग्राम्यत्व है।

---

1. ज अ; प्रतीतिः त।
2. ज अ; त में च नहीं।
3. त; ज अ में परित्यक्त
4. ज अ; अन्यैस्तु त

कान्ते विपर्ययाद् वाक्यं ग्राम्यमित्यभिधीयते।

यथा–

सर्वेषां मानुषाणां ते कटिः सन्तोषदायिनी।
त्वां प्रेक्ष्य जम्भनं[1] कर्तुं याति नान्यत्र मानसम्।। 145।।

दूषकताबीजं चात्र कवेरवैदग्ध्यप्रकर्षसूचनम्।

रूढिप्रयोजनाभावाल्लक्षणाभासनिर्भरात् ।। 94।।
कल्पितार्थं भवेद् यद्धि तन्नेयार्थं प्रचक्षते।

टि०–काव्यप्रकाश (8, 72 वृत्तिभाग) में अग्राम्यरूपा उदारता अर्थात् ग्राम्य दोष के अभाव को उदार गुण बताया है।

इसकी व्याख्या करते हैं–पद तीन प्रकार का है–1. ग्राम्य (ग्रामीणों के द्वारा जिसका प्रयोग किया जाता है) 2. नागर (नागरिकों से प्रयुक्त) और 3. उपनागर (नगर के समीप रहने वाले लोगों के द्वारा प्रयुक्त)। इनमें से पहला ग्रामीण पद अपने रूप की शोभा से रहित अर्थात् कुत्सित स्वरूप वाला होता है। और दूसरे किसी स्थल में यह बतलाया गया है–

उज्ज्वलता के विपरीत गुण अर्थात् कुत्सित रूप होने से वाक्य ग्राम्य (भद्दा) कहलाता है।

उदाहरण–सब मनुष्यों को तुम्हारी कटि (कमर) आनन्द प्रदान करने वाली है, तुम्हें देखकर (लोगों का मन) और जगह मैथुन करने नहीं जाता है (उनका मन तुम्हें ही निरन्तर देखने में रम जाता है)।। 145।।

टि०–यहाँ कटि शब्द ग्रामीणों के द्वारा बोले जाने वाला है इसके स्थान पर श्रोणी का प्रयोग होता है। गमन (सम्भोग) और जम्भन भी ग्रामीणप्रयुक्त हैं जम्भन का अर्थ मैथुन है।

और कवि की अव्युत्पन्नता (शास्त्रों का ठीक ठीक ज्ञान न होना–मूर्खता) के अतिशय का सूचन ही इस दोष के होने का कारण है।

13. नेयार्थ रूढि और प्रयोजन के अभाव के कारण और लक्षणाभासमात्र पर आश्रित होने से।। 94।।

जो पद कल्पित अर्थ (असङ्केतित अर्थात् लक्ष्य अर्थ) वाला होता है उसको नेयार्थ कहते हैं।

---

1. त; गमनं ज अ

न च लक्षणाविरहे कथं पदार्थोपस्थितिरिति वाच्यम्। पदार्थोपस्थितौ[1] सम्बन्धमात्रस्य तन्त्रत्वात्। न हि सम्बन्धिबोधे वृत्तित्वं प्रयोजकं गौरवाद् व्यभिचाराच्च।[2]

टि०–रूढि या प्रयोजन के कारण लक्षणा होती है यदि इन हेतुओं के बिना किसी लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाय तो नेयार्थ दोष हो जाता है। साहित्यदर्पण (7, 2 वृत्तिभाग) में रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्–यह नेयार्थ का लक्षण दिया है। इसके अनुसार रूढि और प्रयोजन के अभाव में लक्षणाशक्ति के बिना ही लक्ष्यार्थ को बताना इस दोष का कारण है।

काव्यप्रकाश (7, 50-51 वृत्तिभाग) में आचार्य मम्मट ने नेयार्थ दोष को स्पष्ट करने के लिए कुमारिलभट्ट के तन्त्रवार्तिक की यह कारिका उद्धृत की है–

निरूढा लक्षणा: काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित:।।

कुछ रूढ लक्षणायें होती हैं जो वाचक शब्द (अभिधान) के समान सामर्थ्य से (अर्थ का बोध कराती हैं और कुछ प्रयोजनवश की जाती हैं) ये दोनों रूढि तथा प्रयोजनवती कुछ लक्षणायें तो उचित हैं। परन्तु रूढि तथा प्रयोजन इन दोनों के अभाव में स्वेच्छापूर्वक की गई कई लक्षणा अशक्ति के कारण उचित नहीं होती हैं।

(पूर्वपक्षी) और लक्षणा के बिना पदार्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है? (क्योंकि लक्ष्यार्थ तो सदैव लक्षणा पर ही आश्रित होता है)।

(सिद्धान्ती) इस प्रकार का आक्षेप नहीं करना चाहिए (क्योंकि लक्षणा के बिना भी लक्ष्यार्थ की प्रतीति होना सम्भव है) पदार्थोपस्थिति (किसी पद से प्रतीत होने वाले अर्थ) में सम्बन्धमात्र (शक्यार्थ अर्थात् वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध जैसे गङ्गायां घोष: में प्रवाह का तीर के साथ स्वसामीप्यादि रूप सम्बन्ध) कारण होता है (न कि वृत्तिमात्र कारण होती है) और सम्बन्धी (उपर्युक्त वाच्यार्थ के साथ सम्बद्ध लक्ष्यार्थ) के ज्ञान में (अभिधा, लक्षणा, आदि) वृत्तियाँ कारण नहीं होतीं क्योंकि वृत्तियों को कारण मानने पर गौरव और व्यभिचार दोष आते हैं।

---

1. ज अ ; पदार्थस्मृतौ त
2. ज अ; मानाभावाच्च त

टि०–सिद्धान्ती का कथन है कि पदार्थोपस्थिति में सम्बन्ध ही कारण होता है और अभिधादि वृत्तियाँ कारण नहीं हुआ करतीं। वृत्तियों को कारण मानने पर गौरव एवं व्यभिचार दोष आते हैं।

नागेशभट्टकृत व्याकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा (गया से प्रकाशित 1947 प्रथम संस्करण पृ० 13) के वृत्तिनिरूपण प्रकरण में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ पदार्थावबोध में सम्बन्ध को सर्वोपरि कारण माना गया है–

शक्तेरपि कार्यजनकत्वे सम्बन्धस्यैव नियामकत्वात्। दीपकादिगतप्रकाशकत्वशक्तावपि आलोकविषयसम्बन्धे सत्येव वस्तुप्रकाशकत्वं नान्यथेति दृष्टत्वात्। तथोक्तं हरिणा–

उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते।
शक्तीनामप्यसौ शक्तिः गुणानामप्यसौ गुणः।।

उपकारो वाच्यवाचकभावालोकविषयीयसंयोगसमवायादिसम्बन्धो.......।

क्योंकि सम्बन्ध के बिना शक्ति अर्थावबोध रूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती इसलिए पदार्थोपस्थिति में सम्बन्ध ही नियामक (निश्चित कारण) है। यद्यपि दीपक के भीतर प्रकाश करने की शक्ति होती है किन्तु जब तक प्रकाश और विषय (पदार्थ) का सम्बन्ध न हो तब तक प्रकाश नहीं होता। इसी प्रकार शब्द में अर्थ निरूपित करने की शक्ति होती है। परन्तु जब तक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रतीत न हो तब तक शब्द से उक्त अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। इससे उल्टी बात नहीं होती अर्थात् बिना सम्बन्ध के सम्बन्धी अर्थ की प्रतीति नहीं हुआ करती है।

भर्तृहरि ने भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहा है–

जिस पद में अथवा दीपकादि गुणी में उपकार (सम्बन्ध) होता है वहीं पर धर्म (अर्थावबोध या वस्तुज्ञान) की प्रतीति होती है। यह उपकार शक्तियों की भी शक्ति है और गुणों का भी गुण है। अभिप्राय यह है जैसे वस्तुज्ञान में आलोक और वस्तु का संयोगसम्बन्ध सर्वोपरि कारण है वैसे ही अर्थावबोध में वाच्यवाचकभावादि रूप सम्बन्ध सर्वोपरि कारण है। लक्ष्यार्थ में यह सम्बन्ध वाच्यार्थ के लक्ष्यार्थ के साथ स्वसामीप्यादिसम्बन्ध के रूप में देखा जाता है।

यदि वृत्ति को पदार्थावबोध में कारण माना जाए तो गौरव और व्यभिचार दोष होते हैं। उदाहरणार्थ गङ्गायां घोषः इत्यादि वाक्यों में पहले गङ्गा पद के अपने अर्थों के साथ विद्यमान वाच्यवाचकभाव, लक्ष्यलक्षकभाव तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव रूप

यथा[1]–

सपदि पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत्-तनयसंवलितं बलशालिना।
विपुलपर्वतवर्षि शतैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम्।। 146।।

अत्र विहङ्गमश्चक्रवाकोऽभिप्रेतः। तन्नामानि चक्राणि तानि[2] बिभ्रतीति

त्रिविध सम्बन्ध की प्रतीति होती है तदनन्तर अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की सहायता से शाब्दबोध होता है। इस प्रकार पदार्थोपस्थिति में सम्बन्ध और शक्ति यह दोनों कारण हैं। किन्तु यदि सम्बन्ध और शक्ति इन दोनों को कारण मानें तो गौरव हो जाता है। इसलिए वृत्ति (शक्ति) को कारण न मानकर पहले प्रतीत होने वाले सम्बन्ध को ही कारण मानना चाहिए और स्वसामीप्यसंयोगादि सम्बन्ध को कारण मानने में लाघव भी है। इसी प्रकार देवदत्तो ग्रामं गच्छति इस वाक्य में देवदत्ताभिन्नैक-कर्तृकग्रामनिष्ठकर्मतानुकूलगमनव्यापार यह अर्थ अभिधा और तात्पर्यवृत्ति से प्रतीत हो रहा है। परन्तु लक्षणा और व्यञ्जना के रहते हुए उनके विषय लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ के न होने पर वृत्तिरूप कारण के रहते हुए भी तदर्थ रूप कार्य की प्रतीति नहीं हो रही है। इसलिए कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावः रूप व्यभिचार दोष आ रहा है। इस प्रकार नेयार्थ दोष में वाच्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। क्योंकि इसमें लक्षणावृत्ति को लक्ष्यार्थ की प्रतीति में कारण मानने की आवश्यकता नहीं है इस कारण यहाँ लक्षणा के बिना ही लक्ष्यार्थ का ज्ञान मानने में कोई दोष नहीं आता।

(इसका उदाहरण) जैसे–

शीघ्र ही दस चक्रों (रथों) के नाम को धारण करने वाले (राजा) दशरथ के पुत्रों से युक्त और बड़े बड़े पहाड़ों (के पत्थरों) को बरसाने वाली वानरसेना को इन्द्र को हराने वाले शक्तिशाली मेघनाद ने सैकड़ों बाणों (के प्रयोग) से जीत लिया।। 146।।

यहाँ इस (श्लोक) में विहङ्गम पद से चक्रवाक अर्थ (कवि को) अभीष्ट है। (इस पद का वाच्यार्थ है–विहङ्गमो विहायसि गच्छति इति विहङ्गमः अर्थात् आकाशचारी पक्षी चक्रवाक और चक्रवाक पद लक्षणा से रथाङ्ग–चक्र समूह का ग्राहक है) उन चक्रों के नामों को जो धारण करते हैं वे विहङ्गमनामभृतः (अर्थात् चक्रधारी) रथ कहलाते हैं। पङ्क्ति पद से दस सङ्ख्या का ज्ञान होता है। इस प्रकार पङ्क्तिर्दश 'विहङ्गमनामभृतः रथाः' दस रथ जिसके पास हैं। इस नाम को धारण करने वाला व्यक्ति

---

1. ज अ; त में परित्यक्त
2. ज अ; तानि त में परित्यक्त

विहङ्गमनामभृतो रथाः पङ्क्तिरिति दशसंख्या लभ्यते पङ्क्तिर्दश विहङ्गमनामभृतो रथा यस्य स पङ्क्तिविहङ्गमनामभृद् दशरथः। ततनयाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां संवलितं प्लवगसैन्यमुलूकजिता इन्द्रजिता जितम्। (अत्र रूढि लक्षणयार्थप्रतीतिरिति प्रतीतेरिति चेन्न लक्षणाऽभावात्)। न चात्र प्रयोजनं प्रतीयते कष्टकल्पनया यथाकथञ्चिद् व्याख्याने अश्रद्धेयत्वात्।

न चात्र रूढिः, वृद्धसम्प्रदायविरहात्। उक्तञ्चैतदग्निपुराणे–असामयिकता नेयार्थता

पङ्क्तिविहङ्गनामभृत् (दशरथ) कहा जाता है। उस दशरथ के पुत्रों–राम और लक्ष्मण से अधिष्ठित वानरसेना उलूक (इन्द्र) को जीतने वाले मेघनाद ने जीत ली। (यहाँ रूढि लक्षणा से दशरथ अर्थ की प्रतीति हो रही है यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ लक्षणा का अभाव है।) और पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत् इस शब्द में किसी प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो रही है क्लिष्ट कल्पना से जैसे तैसे किसी प्रयोजन की व्याख्या मानने पर इस प्रकार का अर्थ विश्वसनीय नहीं हो सकता।

टि०–श्लोक में आये हुए पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत् इस शब्द का अर्थ दशरथ है। पङ्क्ति का अर्थ दस तथा विहङ्गमनामभृत् का अर्थ रथ हो जाता है। पङ्क्ति र्दश विहङ्गमनामभृतो रथा यस्य सः अर्थात् दस रथों वाले नाम को धारण करने वाले व्यक्ति को दशरथ कहा जाता है। विहङ्गम का साधारण अर्थ पक्षी है और इसका विशेषार्थ चक्र (चकवा) नामक पक्षी है। (पूर्वपक्षी) चक्र शब्द 'नामैकदेशेन नामग्रहणम्' इस न्याय से लक्षणा से पूरे चक्रवाक (चक्र=पक्षीवाक=समूह) अर्थ का भी ज्ञान करा देता है (जैसे भीम पद भीमसेन का ज्ञान करा देता है।) यह चक्र शब्द रथाङ्ग–रथ के पहिये का वाचक है किन्तु लक्षणा से चक्र रूप अवयव समस्त रथ रूपी अवयवी की प्रतीति करा रहा है। इस प्रकार यहाँ दशरथ अर्थ की प्रतीति हो जाती है। (सिद्धान्ती) वस्तुतः ऐसे अर्थ रूढि और प्रयोजन के अभाव के कारण अशक्तिकृत अर्थात् लक्षणाशक्ति के बिना आते हैं ऐसा सिद्धान्ती का कहना है। 'पङ्क्तिविहङ्गमनामभृत्' जैसे प्रयोग बिना किसी रूढि और प्रयोजन के अर्थों का ज्ञान करा रहे हैं। यदि यहाँ पर किसी प्रयोजन की यों ही कल्पना कर ली जाय तो वह अप्रामाणिक ही माना जायेगा। यदि विहङ्गमनामभृत् पद का अर्थ रथ रूप लक्ष्यार्थ इस आधार पर किया जाय कि जैसे पक्षी तीव्रता से उड़ता है उसी प्रकार रथ भी तेजी से चलता है और तीव्रगत्यतिशय को बताना यहाँ प्रयोजन है तो ऐसे प्रयोजन अस्फुट होने के कारण अश्रद्धेय होने से स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकते।

और यहाँ पर रूढ़ि (प्रसिद्धि) भी नहीं है क्योंकि वृद्धों (विद्वानों) के

समयो मुख्यार्थबाधादित्रयं तद्विरह इति। अत्र रूढिप्रयोजनमन्तरेण लक्षणादरात्[1] कवेरव्युत्पत्तिप्रतिसन्धानेन वैरस्यापादकत्वं दूषकताबीजम्।

आसत्त्यादिविलम्बेन नान्वयो यत्र भासते।। 95।।
तत् काव्यं क्लिष्टमित्याहुरलङ्कारविशारदाः[2]।

एतदर्थो[3]ऽपि-एकपदप्रतिपाद्यप्रकृतपदार्थज्ञानाननुगुणापरपदार्थज्ञानकृतव्यवधानराहित्ये सति विलम्बितार्थ[4] प्रतीतिजनकत्वं तत्त्वम्[5]।

सम्प्रदाय के द्वारा इस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। और अग्निपुराण में यह कहा भी गया है-असामयिकता का नाम ही नेयार्थता है। (लक्षणा में मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और रूढि या प्रयोजन ये कारण होते हैं। इन तीनों की कारणता) मुख्यार्थबाधादि का नाम समय है और इस समय का अभाव अर्थात् नियम का उल्लङ्घन ही असामयिकता है अर्थात् रूढ़ि और प्रयोजन के अभाव में जब नियम तोड़कर लक्षणा की जाती है तब नेयार्थता दोष होता है।

टि०-अग्निपुराण में नेयार्थ को असामयिकता दोष का नाम दिया है-

.... समयाच्च्युतिः।
असामयिकतां नेयामेतां च मुनयो जगुः।।

अग्निपुराण 347, 10-11

यहाँ रूढि और प्रयोजन के बिना ही लक्षणा का आदर (प्रयोग) करने के कारण कवि की अनिपुणता अर्थात् मूर्खता के परिचय से बनने वाली अरुचि को उत्पन्न करना ही इस दोष के होने का कारण है।

14. क्लिष्ट-आसत्ति, आकाङ्क्षा और योग्यता के (ज्ञान में) विलम्ब होने से जहाँ वाक्यस्थ पदों में अन्वय होता हुआ नहीं प्रतीत होता है।। 95।।
उस काव्य को अलङ्कारशास्त्र के पण्डितों ने क्लिष्ट बताया है।

इस क्लिष्ट दोष का यह भी (परिनिष्ठित) लक्षण है-एक पद से समझाये जाने योग्य उस प्रस्तुत पद के अर्थ के ज्ञान के अननुरूप (विरुद्ध) दूसरे

---

1. अतिरिक्त पाठ त; ज अ में नहीं
2. त;........विदो यथा ज अ
3. त; तदर्थोऽपि ज अ
4. ज अ; सति विलम्बितपदार्थ त
5. ज अ; लक्षणम् त

निहतार्थे अतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्। न चाप्रयुक्ते अतिव्याप्तिशङ्का तत्र पदार्थप्रतीतौ विलम्बाभावात्। पदार्थत्वञ्चाभिन्नवाक्यतापन्नत्वं तेन सङ्कीर्णे नातिव्याप्तिः।

(स्मृतिजन्य) अप्रकृत पदार्थ के ज्ञान से किये गये व्यवधान से रहित होने पर विलम्ब से अर्थप्रतीति कराने वाला होना ही क्लिष्ट दोष का स्वरूप है।

निहतार्थ दोष में (इस क्लिष्ट दोष की) अतिव्याप्ति न हो इसलिए यहाँ लक्षण में सति पर्यन्त विशेषण रखा है।

टि०–एकपदप्रतिपाद्यप्रकृतपदार्थज्ञानाननुगुणापरपदार्थज्ञानकृतव्यवधानराहित्ये सति यह विशेषण क्लिष्ट दोष को निहतार्थ दोष से अलग करता है यदि विलम्बितार्थप्रतीतिजनकत्वं क्लिष्टत्वम् इतना ही लक्षण रखा जाये तो इसकी निहतार्थ में अतिव्याप्ति हो जाती है।

इस क्लिष्ट दोष में किसी क्लिष्ट पद से दूसरे अर्थ की प्रतीति न होकर विलम्ब से एक ही अर्थ की प्रतीति होती है। निहतार्थ दोष में भी क्लिष्ट दोष की ही तरह विलम्ब से अर्थप्रतीति होती है। किन्तु वहाँ पद का प्रयोग प्रसिद्ध अर्थ में किया होता है और उसके साथ साथ किसी दूसरे विरोधी अप्रसिद्ध अर्थ का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार इन दोनों दोषों में विलम्ब से अर्थप्रतीति होने की समानता तो है किन्तु क्लिष्ट में एक ही अर्थ का विलम्ब से ज्ञान होता है और निहतार्थ में प्रसिद्ध अर्थ का पहले ज्ञान होकर कवि के अभीष्ट किसी दूसरे अप्रसिद्ध अर्थ का विलम्ब से ज्ञान होता है। यही इन दोनों में भेद है।

और न ही इस दोष की अप्रयुक्त (असम्मत) दोष में अतिव्याप्ति की शङ्का करनी चाहिए। क्योंकि वहाँ पदार्थ की प्रतीति में विलम्ब का अभाव होता है (अर्थात् वहाँ देर से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है)।

(एक पदप्रतिपाद्यप्रकृतपदार्थज्ञानाननुगुण० इत्यादि क्लिष्ट दोष के लक्षण में आये हुए पदार्थत्व पद का अर्थ है) पदार्थ (शब्द और उसके अर्थ) की अभिन्नवाक्यता का आपन्नत्व प्राप्ति अर्थात् एक ही वाक्य में स्थिति। (यही नियम है)। इस कारण इस दोष की सङ्कीर्ण (वाक्य) दोष में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

टि०–सङ्कीर्ण वाक्यदोष में एक वाक्य के पद, पदार्थ दूसरे वाक्य में चले जाते

यथा–

मध्यगतगोत्रसारो यस्या वसनमेव मध्यगतसुवर्णम्।
तद्धारकस्य दुहितुः पायाद् वो मध्यमः सरणः।।147।।

अस्यार्थः–अत्र मध्ये गतः गकारः स मध्यगतगः। एतादृशः सारः सागर इत्यर्थः। स यस्याः पृथिव्याः मध्यगतसुवर्णं वरवसनम् इत्यर्थः। तद्धारको हिमाचलस्तस्य दुहितुः मध्यमः सरणः रमण इत्यर्थः स पायात्।

हैं किन्तु क्लिष्ट दोष में एक ही वाक्य होता है। यही दोनों में भेद है। दोनों में ही विलम्बेनार्थप्रतीति रूप साम्य है।

(उदाहरण) जैसे–

इस (सागर पद) में सार शब्द के मध्य में गकार रखा हुआ है अथवा जिसके मध्य में उत्कृष्ट और ठोस पहाड़ रहते हैं। ऐसा वह (सागर–समुद्र) जिस पृथिवी के बीच (कटिप्रदेश) में लपेटा हुआ सुन्दर हरे रङ्ग का उत्तम वस्त्र (रेशमी साड़ी) ही है, ऐसे उस (समुद्र) को धारण करने वाले (हिमालय) की पुत्री के मँझली बार अर्थात् दूसरी बार के पति शिव आपकी रक्षा करें।। 147।।

इस (श्लोक में प्रयुक्त पदों) का अर्थ इस प्रकार है–जिसके बीच में गकार स्थित है वह हुआ मध्यगतगकार वाला (इस प्रकार का) सार (पद) सागर (सा+ग+र) पद बन जाता है। वह सागर जिस पृथिवी का बीच में लपेटा हुआ सुन्दरवस्त्र है यह अर्थ हो जाता है। उसको धारण करने वाला जो हिमालय है उसकी पुत्री अर्थात् पार्वती का मँझला–बीच का दूसरे जन्म का सरण=रमण (पति) यह अर्थ है। वे शिव आपकी रक्षा करें।

टि०–यहाँ प्रयुक्त मध्यगतगोत्रसारः (मध्यगतगोऽत्र सारः, मध्यगता गोत्राः पर्वताः सारो यस्य सः) पद हैं क्योंकि इन शब्दों का अर्थ बहुत विलम्ब से प्रतीत हो रहा है। साथ ही इनसे प्रतीत होने वाले पदों का अर्थ पुराण आदि की पृष्ठभूमि के होने पर ही बड़ी कठिनाई से ज्ञात होता है। यहाँ शिव को मध्यमः सरणः कहा है। इसका अर्थ है मँझला पति। पुराणों में इस प्रकार की कथा मिलती है कि पहले जन्म में शिव की पत्नी का नाम भवानी था और इनके पिता दक्ष प्रजापति थे। जब इनके पिता ने यज्ञ में शिव का अपमान किया तो आत्मदाह करने पर वे सती कहलाईं। दूसरे जन्म में पर्वतराज हिमालय के यहाँ जन्म लिया और पार्वती कहलाईं। वे पार्वती एक बार प्रणयकोप के कारण अन्तर्हित हुईं और फिर तीसरी बार पुनः शिव को प्राप्त हुईं तो

दूषकताबीजं चात्र तात्पर्यविषयीभूतार्थप्रत्ययविलम्बः। केचित्तु व्यवहितपदार्थप्रतीति[1]साधनत्वं क्लिष्टत्व[2] मित्याहुस्तन्न, निहतार्थे अतिव्याप्तेः।

समासेन गुणीभूतं विधेयं यत्र जायते।। 96।।
अविमृष्टविधेयांशं प्राहुर्दोषं मनीषिणः।

वस्तुतस्तु प्रधानतया विवक्षितस्य प्राधान्यप्रत्यायकत्वराहित्यं तत्त्वम्।

उमा कहलाईं। प्रस्तुत श्लोक में पार्वती को दूसरे जन्म में मिलने वाले पति शिव की ओर सङ्केत है।

और यहाँ तात्पर्य के विषय बनने वाले अर्थात् प्रधानभूत शिव रूप अभीष्टार्थ के ज्ञान में देर होना ही इस दोष के होने का कारण है।

कुछ विद्वान् तो देर से (रुकावट से) प्रतीत होने वाले शब्दार्थ के ज्ञान का कारण होना ही क्लिष्टत्व है ऐसा कहते हैं यह लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि इससे क्लिष्ट दोष की निहतार्थ में अतिव्याप्ति हो जायेगी।

टि०–यदि विलम्ब से पदार्थ की प्रतीति होना ही क्लिष्ट दोष की विशेषता मानी जाय तो इस दोष की निहतार्थ दोष से पृथक्ता नहीं हो पायेगी। क्योंकि निहतार्थ दोष में जब उभयार्थक पद का प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाता है तो वहाँ पर भी व्यवधान से अर्थप्रतीति होती है।

15. अविमृष्टविधेयांश–जहाँ समास के कारण विधेय गुणीभूत हो जाता है।। 96।।

वहाँ पर विद्वान् लोग अविमृष्टविधेयांश दोष बतलाते हैं।

वास्तव में तो प्रधान रूप में विवक्षितार्थ की प्रधानता की बोधकता का अभाव ही अविमृष्टविधेयांश दोष का लक्षण है।

टि०–जहाँ विधेयांश के प्राधान्य और अप्राधान्य का ठीक तरह से विचार नहीं किया जाता वहाँ यह दोष होता है। काव्यप्रकाश (7, 50–51) में इसको इस प्रकार समझाया है–अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत् (अविमृष्टविधेयांश-दुष्टम्)।

---

1. ज अ; पदार्थसाधनत्वं त
2. ज अ; क्लिष्टत्वमाहुः त

यथा–

कि लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्।।148।।

अत्रार्यस्यानु[1]जस्तातस्य कलत्रमित्यपेक्षितम्। ननु तातकलत्रमित्यत्र तातसम्बन्धस्य कलत्रस्य [2]विशेषणं तावत् तातपदमिति कलत्रं तातस्येत्यत्रापि तथैव बोधः।

जैसे–

(राम को वन जाने की आज्ञा किस कारण दी गई है? इस विषय में तर्क वितर्क करते हुए लक्ष्मण कह रहे हैं–) क्या (विनयी और राम के प्रति भक्ति रखने वाला) वह भरत (राज्य के) लोभ में पड़ गया है? जिसके कारण इस प्रकार (राम को वनवास देना रूप) यह कार्य माता (कैकेयी) के द्वारा किया (करवाया) गया अथवा क्या मेरी मँझली माता (कैकेयी) ही स्त्री की (स्वाभाविक) क्षुद्रता पर पहुँच गई (और उसने स्वयं यह कार्य किया)? मेरी सोची हुई ये दोनों बातें भी मिथ्या हैं, क्योंकि वे मेरे बड़े भाई (गुरु भरत) आर्य रामचन्द्र के अनुज ठहरे (वे ऐसा कार्य कर ही नहीं सकते) और माता (दशरथ सरीखे मेरे) पिता की पत्नी हैं। (वे भी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकतीं)। इसलिए मैं समझता हूँ कि यह (अनुचित कार्य इन लोगों ने नहीं किया अपितु) विधाता ने (ही) किया है।। 148 ।।

यहाँ (आर्यानुजः के स्थान पर) आर्यस्यानुजः और (तातकलत्रम् के स्थान पर) तातस्य कलत्रम् का प्रयोग अपेक्षित है।

टि०–'आर्यानुजः इस पाठ में आर्य की गौणता तथा अनुज की प्रधानता ज्ञात हो रही है क्योंकि तत्पुरुष समास में उत्तरपद की प्रधानता मानी जाती है। परन्तु यहाँ आर्यस्य (मर्यादापुरुषोत्तमस्य त्यागैकवीरस्य रामस्य) इस पद की प्रधानता विवक्षित है। तातकलत्रम् में भी उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः इस नियम से कलत्र की प्रधानता द्योतित हो रही है। किन्तु यहाँ तातस्य (प्राण जाय पर वचन न जाई इस सिद्धान्त को मानने वाले प्रतिज्ञापरायण दशरथ की) इस पद की प्रधानता अपेक्षित है। अतएव यहाँ पर भी तातकलत्रम् ऐसा प्रयोग न करके तातस्य कलत्रम् इस रूप में असमस्त पद रखने चाहिएँ। इस कारण यहाँ पर समासगत अविमृष्टविधेयांश दोष है।

(शङ्का) तातकलत्रम् (तातस्य कलत्रम्) इस प्रयोग में तातपदोत्तर षष्ठी

1. ज; अत्राप्यार्यस्य अ; अत्रार्यानुजः त
2. ज अ; कलत्रविशेषण त में नहीं

प्रथमान्तपदोपस्थाप्यातिरिक्तस्य सर्वस्यैव विशेषणतया अन्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्कथमेवमिति[1], उच्यते। न हि विशेष्य[2]त्वमात्रेण विधेयत्वम्। पर्वतो

विभक्ति का सम्बन्ध रूप अर्थ (विशेष्यभूत) कलत्र विशेषण (पद) का तो तातपद ही है इस कारण कलत्रं तातस्य यह पाठ करने पर भी वैसा ही शाब्दबोध होता है जैसा तातकलत्रम् पद से होता है।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि तातकलत्रम् और कलत्रं तातस्य इन दोनों प्रयोगों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में ही कलत्र की प्रधानता और तातस्य की अप्रधानता द्योतित हो रही है। तातकलत्रम् (तातस्य कलत्रम्) इस पद में षष्ठीतत्पुरुष समास है और इसमें पूर्वपद विशेषण और उत्तरपद विशेष्य है कलत्रं तातस्य करने पर भी यह विशेषणविशेष्यभाव समाप्त नहीं होगा। अत एव तातस्य की गौणता और कलत्रम् की प्रधानता बने रहने के कारण विधेयाविमर्श दोष बना ही रहेगा। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए व्युत्पत्तिवाद की 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्यातिरिक्तस्य सर्वस्यैव विशेषणत्वम्' इस व्युत्पत्ति को पूर्वपक्षी की ओर से प्रस्तुत किया जा रहा है।

(व्युत्पत्तिवाद का नियम यह है–) प्रथमाविभक्त्यन्तपद से प्रतिपाद्य प्रयोग के अतिरिक्त अन्य सभी विभक्तियों से प्रतिपाद्य प्रयोगों के भीतर विशेषण रूप से अन्वय का होना व्युत्पत्तिसिद्ध (युक्तियुक्त अथवा नियमानुकूल) होता है। इस कारण कलत्रं तातस्य यह पाठ कर देने से (भी) इस प्रकार के विधेयाविमर्श दोष का परिहार कैसे हो सकता है? यदि ऐसा पूर्वपक्षी की ओर से कहा जाय (तो ग्रन्थकार आगे उत्तर देते हैं)।

टि०–कृष्णश्रितः (कृष्णं श्रितः) चौरभयम् (चौराद् भयम्) तातकलत्रम् (तातस्य कलत्रम्) इत्यादि तत्पुरुषसमास के प्रयोगों में श्रितः, भयम् और कलत्रम् प्रथमान्तपद हैं। इस कारण प्रथमान्तपदो० इत्यादि इस नियम से ये विशेष्य माने जायेंगे और कृष्णम्, चौरात् और तातस्य पद प्रथमा विभक्ति से भिन्न विभक्ति वाले होने से विशेषण हैं। इस कारण श्रितः, भयम् और कलत्रम् पदों की प्रधानता और कृष्णम्, चौराद् और तातस्य पदों की गौणता सिद्ध हो जाती है। जैसा यह विशेषणविशेष्यभाव तातकलत्रम् इन समस्त पदों में है वैसा ही तातस्य कलत्रम् इन व्यस्त पदों में भी बना रहता है। इस प्रकार समास तोड़कर रखने पर भी यहाँ विधेयाविमर्श दोष बना ही रहेगा। सामान्यतः विशेषण गौण होता है और विशेष्य प्रधान होता है। तातकलत्रम् पद में पड़ा हुआ तात पद तातस्य कर देने पर भी विशेषण होने के कारण अप्रधान ही बना रहेगा।

1. ज अ; ....सिद्धत्वादिति त। 2. ज अ; विशेष्यमात्रेण त।

वह्निमानित्यादौ विशेषणस्यैव वह्न्यादे[1]र्विधेयत्वावगमात् नापि विशेषणत्वमात्रेण। वह्निः पर्वताधेय इत्यत्र पर्वतादे र्विधेयत्वानवगमात्[2] किन्तु विधेयत्वमनूद्यत्वं च विषयता[3]विशेषः। विधेयत्वबोधनसमर्थं चासमस्तमेव तत् न तु समस्तम्।

असमस्तमपि अनुवाद्योपस्थापकपदान्तरोच्चरितमेव। अतएव यथा न्यक्कारो ह्ययमेवेत्यत्राविमृष्टविधेयांशता तथैव शब्दस्य स्वाभाव्यादिति दिक्।

हमारी (पूर्वपक्षी की इस शङ्का के उत्तर में सिद्धान्ती की) ओर से यह कहना है–केवल विशेष्य ही बन जाने से विधेयता नहीं होती क्योंकि पर्वतो वह्निमान् (पर्वत अग्नि वाला है) इत्यादि प्रयोगों में विशेषणभूत ही वह्न्यादि का विधेय के रूप में ज्ञान होता है (विशेष्यभूत पर्वत का नहीं) और केवल विशेषण बन जाने से भी विधेयता नहीं होती है। वह्निः पर्वताधेयः (वह्नि पर्वत की आधेय है और यह अपने आधार पर्वत में रहती है) यहाँ पर पर्वतादि की विधेयता की प्रतीति नहीं होती (यद्यपि पर्वत यहाँ वह्नि का विशेषण है किन्तु) यहाँ आधेय ही विधेय है। परन्तु यह उद्देश्यता और विधेयता विषयविशेष अर्थात् प्रयोगविशेष पर आश्रित हुआ करती है। (इसलिए यह नियम बनाया जा सकता है कि विशेषण को उद्देश्य माना जाय, विशेष्य को विधेय माना जाय और फिर उनमें गौणप्रधानभाव माना जाय)। (तातकलत्रम् इत्यादि प्रयोगों में) समासरहित पद ही इस विधेयता का बोध कराने में समर्थ होता है समस्त अर्थात् समासयुक्त पद में यह सामर्थ्य नहीं होता।

और समासरहित पद भी (विधेयातिरिक्त) उद्देश्य के बोधक किसी दूसरे पद के अनन्तर उच्चरित होने पर ही (विधेय को बताने में समर्थ) होता है। इसीलिए जैसे (इसी उद्देश्यविधेयवाचक दोनों पदों के उच्चारण के नियम के कारण ही) न्यक्कारो ह्ययमेव० इत्यादि श्लोक में ह्ययमेव मे न्यक्कारः न करने अर्थात् उद्देश्य के बाद विधेय का प्रयोग न करने से वाक्य में अविमृष्टविधेयांश नामक दोष रहता है। (इस श्लोक में वाक्यगत विधेयाविमर्श दोष है) वैसे ही 'तातकलत्रम्' में पदगत विधेयाविमर्श दोष का होना स्वाभाविक है। इतना ही दिशानिर्देश है अर्थात् सङ्केतरूप में इतना ही कहना पर्याप्त है।

1. ज अ; वह्न्यादेर् ज में परित्यक्त।
2. ज अ; नापि........अनवगमात् त में परित्यक्त।
3. ज अ; विषयतया त।

टि०–तातस्य कलत्रम् में उद्देश्य और विधेय के पौर्वापर्यविपर्यय के कारण वाक्यगतविधेयाविमर्श दोष होता है। तातकलत्रम् के स्थान पर तातस्य कलत्रम् रख देने से यद्यपि समासगत दोष तो हट जाता है किन्तु वाक्यगत दोष वैसा ही बना रहता है। अतएव कलत्रं तातस्य यही पाठ यहाँ होना चाहिए। इस प्रकार समास में विधेय भाग को रख देने से जब उस विधेय की प्रधानता नष्ट हो जाती है तब असमर्थसमास नामक (गलत समास करने से) विधेयाविमर्श दोष होता है। इसके अतिरिक्त उद्देश्य और विधेय का ठीक क्रम से प्रयोग न करने पर भी यह दोष होता है। उद्देश्य का पहले प्रयोग होता है और विधेय को बाद में प्रयुक्त किया जाता है यह नियम बना हुआ है–

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित्कुत्रचित् प्रतितिष्ठति।।

उद्देश्य को बिना कहे विधेय का उच्चारण नहीं करना चाहिए। अपने योग्य स्थान को पाये बिना कोई भी वस्तु कहीं भी अच्छे रूप में प्रतिष्ठित नहीं होती है। इस नियम के अनुसार पहले उद्देश्य का प्रयोग करना चाहिए और तदनन्तर विधेय को रखना चाहिए। विधेय का पहले तथा उद्देश्य का बाद में कथन करने से विधेय की प्रधानता नष्ट हो जाती है। इस क्रम को तोड़कर उद्देश्य विधेय को आगे पीछे रख देने से वाक्य में यह दोष हो जाता है–

अनुवाद्यविधेयांशावुक्तौ स्यातां विपर्ययेण यदा।
अविमृष्टविधेयांशो भवति तदानीं तु वाक्यगतः।।

काव्यप्रकाश (7, 183) तथा साहित्यदर्पण (1,2 वृत्ति) में न्यक्कारो० आदि पूरा श्लोक इस प्रकार मिलता है–

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभि र्भुजैः।।

संसार में मेरे शत्रु हों यही मेरा बड़ा भारी अपमान है। उन शत्रुओं में भी वह साधु मेरा विरोधी हो यह और भी मेरे लिए तौहीन की बात है। वह भी यहीं (लङ्का में ही) है और यहाँ रहकर भी राक्षसकुल का नाश कर रहा है यह सब देखकर भी रावण जी रहा है यह आश्चर्य की बात है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है, कुम्भकर्ण को जगाने का भी क्या लाभ हुआ? और स्वर्ग रूपी गाँवड़ी को लूटकर व्यर्थ गर्व से फूली हुई मेरी इन भुजाओं का क्या (फल) है?

यथा वा–

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणेऽपि[1]प्रयासः।। 149।।

यहाँ अयम् उद्देश्य और न्यक्कारः विधेय है। पहले उद्देश्य का प्रयोग होना चाहिए तदनन्तर विधेय का। इसलिए अयमेव हि मे न्यक्कारः ऐसा प्रयोग करना चाहिए। इस कारण प्रथम चरण में वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष है। इसी प्रकार चतुर्थ चरण में उच्छूनैः उद्देश्य है और वृथा विधेय है। इसलिए वृथा पद को समास में न रखकर उसे वहाँ से बाहर रखना चाहिए। (पूर्वं) स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनोच्छूनैः (किन्तु इदानीं) वृथा (भूतैः) एभिः भुजैः किम्' इस प्रकार का क्रम होना चाहिए। चतुर्थ चरण में उद्देश्य और विधेय के क्रम में परिवर्तन होने से शब्दरचना उल्टी हो गई है। इस कारण अर्थ भी कुछ उल्टा हो जाता है। स्वर्गरूपी गाँवड़ी के लूटने से व्यर्थ फूली हुई इन भुजाओं से क्या लाभ? जब भुजायें पहले ही व्यर्थ फूल गई थीं तो अब पश्चाताप करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होना चाहिए। वास्तव में यहाँ आशय यह है कि पहले स्वर्ग को एक गाँव की तरह अनायास लूट कर गर्वित होने वाली किन्तु इस समय व्यर्थ सिद्ध होने वाली इन भुजाओं से क्या लाभ? किन्तु यह अभीप्सित अर्थ तभी निकल सकता है जब वृथा पद को समास से बाहर रखा जाय।

अथवा जैसे–

मदोद्धत, (स्वयं) काटे गये, अविच्छिन्न बहती हुई और घनी (मोटी) रक्तधारा से धोये हुए शिव के चरणों की कृपा से प्राप्त विजय (के वरदान) से संसार में मिथ्या महत्त्व को प्राप्त हुए मेरे इन (दस) सिरों और कैलास को उठाने की इच्छा की घटना की सूचना देने वाली और बढ़े हुए अभिमान से फूली हुई मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है? कि इस नगरी की रक्षा में भी (मुझे) प्रयास करना पड़े।। 149।।

टि०–यह हनुमन्नाटक के आठवें अङ्क का श्लोक है। जब श्रीरामचन्द्र की सेना के द्वारा लङ्का पर घेरा डाल दिया गया तो मन्त्री आदि वरिष्ठ लोगों के द्वारा रावण को

1. ज; अ.......यत् त

अत्र महिम्नां मिथ्यात्वं नानुवाद्यमपितु विधेयम्। अन्यथा (यदा) तदैव मिथ्यामहिमत्वं जातं तदा इदानीं नगरीरक्षणे प्रयासो नानुचितः। यदि विधेयं स्यात्तदा तादृशेनापि कर्मणा यन्महत्त्वं तदाभूत्तदिदानीं मिथ्या बभूव यतः

नगरी की रक्षा करने का प्रयास करने के लिए परामर्श दिया गया। उस समय रावण की ओर से यह श्लोक कहा गया है। काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास (श्लोक सं० 159) में भी यह श्लोक अविमृष्टविधेयांश दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।

यहाँ (मिथ्यामहिम्नां पद के स्थान पर प्रयुक्त होने योग्य) महिम्नां मिथ्यात्वम् (महिमाओं का मिथ्यापन) उद्देश्य नहीं है अपितु विधेय है (इसलिए उसकी प्रधानता की रक्षा के लिए उसे समास में नहीं डालना चाहिए था। समास में होने पर उसकी प्रधानता नष्ट हो जाने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है)।

टि०–रावण की इस उक्ति से लज्जा, क्षोभ और क्रोध की अभिव्यञ्जना हो रही है। उसका कहना है कि महादेव के चरणों में काट काट कर चढ़ाये हुए मेरे सिरों की पहले बहुत बड़ी महिमा (शक्ति) प्रकट हुई थी। मेरे इस अद्भुत कार्य से संसार में मेरा बड़ा भारी यश हुआ था और शिव से मुझे विजय का वरदान मिला था। किन्तु आज मुझे एक छोटे तपस्वी राम से भी लङ्का नाम की अपनी नगरी की रक्षा करने का जो प्रयास (चिन्ता और यत्न) करना पड़ रहा है इससे वह मेरी पूर्वार्जित कीर्ति और वह वरदानजन्य सामर्थ्य आज झूठा पड़ गया है। पहले प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा और कीर्ति आज धूल में मिल गई है। यह सब मेरे तिरस्कार का कारण है। परन्तु इस श्लोक में (धौतेशाङ्घ्रि........मिथ्यामहिम्नाम् मूर्ध्नाम् इस रूप में) जैसी पदावली है इससे तो इस प्रकार के अर्थ की अभिव्यक्ति न होकर एतद्विपरीत अर्थ की प्रतीति हो रही है। अपने कटे सिरों से शिव के चरणों के धोने से उत्पन्न विजय के वरदान की झूठी महिमा वाली भुजाओं का क्या यही फल है? इस कथन से तो यही तात्पर्य निकलता है कि शिव के द्वारा दिये गये विजय के वरदान की झूठी महिमा थी। जब पहले ही यह महिमा झूठी थी तो तापस से नगरी को बचाने में असमर्थ हो जाने पर खेद प्रकट करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

नहीं तो (जब) उसी समय ही मिथ्या महिमा हुई तो अब नगरीरक्षण में प्रयास अनुचित नहीं है अर्थात् जब शिव के वरदान से भी मुझ रावण की

स्वनगरीरक्षणेऽप्यसामर्थ्यमिति प्रतीतिः सिध्यति। तच्च मिथ्यात्वं बहुव्रीहावन्यपदार्थप्राधान्येन गुणीभूतमित्यविमृष्टविधेयांशता। अयमाशयः- उद्देश्यं च विधेयं च यदि पृथक् पदाभ्यामुपतिष्ठते तदा प्राप्तमुद्दिश्याप्राप्तं विधीयते। पर्वतो वह्निमानितिवत्। न तु समासे अन्यथा वह्निमत्पर्वत इत्यपि स्यात्। दूषकताबीजं चात्र प्रधानतया कवितात्पर्यविषयीभूतस्य प्राधान्याप्रतीतिः स्वर्णमपहाय वाससि बद्धो ग्रन्थिरिव न्यायमनुहरतीति ध्येयम्।

शक्ति (पहले) नहीं बढ़ी तो अब मुझे नगरी की रक्षा करने का प्रयास कर लेना चाहिए (वस्तुतः आशय इससे उल्टा है–मुझ जैसे पराक्रमी रावण को तो नगरीरक्षण जैसे इस छोटे कार्य की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए थी) यदि यहाँ (महिम्नां मिथ्यात्वम् इस रूप में) विधेय माना जाय तो उस जैसे (अपने सिरों को काटकर शिवजी के चरणों में भेंट करने रूप) कर्म से भी जो गौरव उस समय हुआ था वह इस समय मिथ्या हो गया है क्योंकि अपनी नगरी के रक्षण में भी सामर्थ्य नहीं है यह प्रतीति सिद्ध हो जाती है। और वह मिथ्यात्व (मिथ्यामहिम्नां मूर्ध्नाम् इस) बहुव्रीहि-समास में अन्यपदार्थ की प्रधानता होने से गुणीभूत अर्थात् गौण हो गया है इस कारण यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष आ गया है। इसका यह अभिप्राय है–उद्देश्य और विधेय यदि पृथक् पदों से उपस्थित होते हैं तो उस समय जो प्रकरणप्राप्त सिद्ध अर्थ है उसको उद्देश्य बनाकर अप्राप्त (जो प्रकरणप्राप्त अर्थ नहीं है अतएव साध्य अर्थ है उसको) विधेय बनाया जाता है। पर्वतो वह्निमान् इस वाक्य की भाँति उद्देश्य और विधेय का वाक्य में (पौर्वापर्य के रूप में) विशिष्ट स्थान रहा करता है।

टि०–पर्वतो वह्निमान् इस वाक्य में पर्वत को उद्देश्य बनाकर वह्नि को विधेय बनाया जाता है। प्राप्त (पूर्वसिद्ध) धूम से अप्राप्त (साध्य) वह्नि की अनुमान के द्वारा प्रतीति होती है।

किन्तु समास में यह उद्देश्य और विधेय का नियम नहीं रह पाता। (समास होने पर इस नियम में क्षति आ जाती है) नहीं तो वह्निमत्पर्वतः इस प्रकार का भी प्रयोग हो जाना चाहिए।

टि०–लोक में वह्निमत्पर्वतः जैसे प्रयोग होते ही नहीं हैं क्योंकि इनमें गौणप्रधानभाव का विपर्यय हो जाता है। वस्तुतः पर्वत उद्देश्य है वह पूर्वसिद्ध ऐसा आधार है जिसमें धुएँ को देखकर अनुमाता साध्य वह्नि का अनुमान करते हैं। अतः वह्नि विधेय है। किन्तु वह्निमत्पर्वतः में वह्निरस्यास्मिन् वाऽस्ति इति वह्निमान्,

अनूद्यविधेयभावसंसर्गश्च विशेषणविशेष्यभाव इवापदार्थोऽपि वाक्यार्थप्रतीतौ भासते इति तात्पर्यम्।

यत्राप्राकृतबोधेन प्रकृतस्य विरोधिता।। 97।।
विरुद्धमतिकृत् तत् स्यात्सर्वकाव्येषु दूषकम्।

वह्निमांश्चासौ पर्वत इति वह्निमत्पर्वतः इस रूप में कर्मधारय समास होने से वह्नि की प्रधानता न होकर दूसरे पदार्थ पर्वत की प्रधानता हो जाती है।

और इसमें कवि के तात्पर्य के विषय बनने वाले (प्रधान अर्थ की) प्रधानता की प्रतीति का न होना ही अविमृष्टविधेयांश दोष का कारण है। (इस तरह प्रधान को अप्रधान और अप्रधान को प्रधान रूप में रखने) का यह कार्य वस्त्र में बाँधे हुए सोने को बाहर फैंककर उसी खाली हुए कपड़े में गाँठ बाँधने के समान निष्फल कार्य को करने के न्याय (प्रकार) से मिलता जुलता है, ऐसा समझना चाहिए।

और उद्देश्यविधेयभाव रूप सम्बन्ध विशेषणविशेष्यभाव रूप सम्बन्ध की तरह शब्दों का अर्थ न होता हुआ भी वाक्य के अर्थ की प्रतीति होने (के समय) में भी ज्ञात हो रहा होता है यह अभिप्राय है।

टि०–अनूद्य (अनुवाद्य) का अर्थ उद्देश्य होता है। पूर्वसिद्ध वस्तु अनूद्य कही जाती है। जैसे कृष्णः सर्पो गच्छति इस वाक्य में कृष्ण शब्द का अर्थ काला और सर्प शब्द का अर्थ साँप है किन्तु इन दोनों पदों में प्रतीत होने वाला विशेषणविशेष्यभाव रूप सम्बन्ध किसी पद का अर्थ नहीं है वैसे ही देवदत्तो ग्रामं गच्छति इस वाक्य में देवदत्त का अर्थ देवदत्त नामक पुरुष और ग्राम का अर्थ गाँव रूप स्थानविशेष है और गच्छति का अर्थ गमन रूप विशेष प्रकार की क्रिया है। किन्तु इन तीनों पदों में देवदत्त और ग्राम इन उद्देश्यों का गच्छति रूप विधेय के साथ जो उद्देश्यविधेयभाव रूप सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है वह इनमें से किसी पद का अर्थ नहीं है।

16 विरुद्धमतिकृत्–जहाँ अप्रस्तुत पदार्थ के ज्ञान से प्रस्तुत पदार्थ के ज्ञान में विरोध आता है।। 97।। वहाँ विरुद्धमतिकृत् नामक दोष होता है और वह दोष सारे काव्यों में दोष होता है (अर्थात् सब जगह दोष रूप में ही विद्यमान होने से वह नित्यदोष समझा जाता है।

प्रकृतप्रतीतिप्रतिबन्धकाप्रकृतप्रतीतिजनकत्वमिति निर्गलितोऽर्थः। न च निहतार्थे अतिव्याप्तिरिति वाच्यम्[1]। तत्र विलम्बाविलम्बेनोभयार्थप्रतीतेः, न चात्र तथा।

पूर्वार्थप्रतिपन्थी यस्यार्थः स्पष्ट एव सम्भवति।
विपरीतकल्पनं तद् भवति पदमकार्यमित्रमिव।।

इति रुद्रटोक्तेः। अतएव नागता परार्थे अतिव्याप्तिशङ्काऽपि। श्लेषे च नातिव्याप्तिगन्धोऽपि[2] उभयोरेव प्रकृतत्वात् उभयोरेवाप्रकृतत्वात् प्रतिबन्धक-

प्रस्तुतार्थ के ज्ञान में बाधा पहुँचाने वाली अप्रस्तुतार्थप्रतीति का कारण होना विरुद्धमतिकृत् दोष है यह इस दोष का पर्यवसित (परिनिष्ठित) सारभूत अर्थ (लक्षण) है। और प्रकृतप्रतीति० इत्यादि (इस लक्षण) की निहतार्थ में अतिव्याप्ति हो जायेगी यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि वहाँ (निहतार्थ दोष में प्रकृत प्रसिद्ध अर्थ की) विलम्ब से और (अप्रकृत अप्रसिद्ध अर्थ की) अविलम्ब से दोनों अर्थों की प्रतीति होती है किन्तु इस (विरुद्धमतिकृत्) दोष में वैसा नहीं होता। अर्थात् इसमें दोनों अर्थों की अविलम्ब प्रतीति हो जाती है। और उस निहतार्थ दोष में प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों में किसी प्रकार का विरोध नहीं हुआ करता।

जिस पद का अर्थ पहले (अभीष्ट) अर्थ से स्पष्टतः विरुद्ध होता है वह विपरीतकल्पन (विरुद्धमतिकृत्) नामक पददोष होता है। जैसे—अकार्यमित्र पद है।

(इस पद का अभीष्ट अर्थ तो है बिना किसी कार्य अर्थात् प्रयोजन के हितैषी—बन्धु। किन्तु अर्थ निकलता है अकार्यों अर्थात् पाप, हिंसा आदि बुरे कार्यों में मित्र—सहायक)।

क्योंकि इस प्रकार की यह रुद्रट (काव्यालङ्कार 9, 17) की उक्ति है। (इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विपरीतकल्पन दोष में दूसरा अर्थ पहले अर्थ का विरोधी होता है किन्तु निहतार्थ में इस प्रकार का विरोध नहीं दिखाई पड़ता है)। इसलिए यहाँ पर दूसरे (निहतार्थ दोष रूप) अर्थ में अतिव्याप्ति (अलक्ष्ये लक्षणवृत्तित्वम् अर्थात् लक्ष्यातिरिक्तविषयत्वमतिव्याप्तित्वम्) की शङ्का भी नहीं आती है। और श्लेषालङ्कार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति (अर्थात् उसमें इस लक्षण के सङ्क्रान्त हो जाने)

1. ज अ; अतिव्याप्तिशङ्का त।
2. ज अ; श्लेषेण चातिव्याप्तिलेशोऽपि त।

भावाभावाच्च। न च भद्रात्मन इत्याद्यभिधामूलध्वनौ प्रसङ्ग[1] इति वाच्यम्। तत्र प्रकृतप्रतीतिप्रतिबन्धकाप्रकृतप्रतीतेः सत्त्वात्। न च प्रकृताप्रतीतिजनकत्वमेव सम्यगिति वाच्यम्, अवाचकासमर्थयोरतिव्याप्तेः।

की गन्ध भी नहीं है क्योंकि श्लेषालङ्कार में (या तो) दोनों ही अर्थ प्रकृत होते हैं (या) दोनों ही अर्थ अप्रकृत होते हैं। (विरुद्धमतिकृत् दोष में एक अर्थ प्रकृत होता है और दूसरा अप्रकृत) और (श्लेष में दोनों अर्थों की स्वतन्त्र रूप से प्रतीति होने के कारण) बाध्यबाधकभाव का अभाव होता है (जबकि विरुद्धमतिकृत् के पहले और दूसरे अर्थ में बाध्यबाधकभाव बना रहता है)।

और 'भद्रात्मनो दुरधिरोह० इत्यादि (काव्यप्रकाश 2,12) श्लोक में विद्यमान अभिधामूलध्वनि में विरुद्धमतिकृत् दोष का लक्षण चला जायेगा ऐसा नहीं कहना चाहिए।

टि०–भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।

काव्यप्रकाशान्तर्गत इस श्लोक में पहले राजपरक अर्थ अभिधा से प्रतीत होता है। तदनन्तर हाथी वाला अर्थ और राजा के हाथ तथा हाथी की सूँड में उपमानोपमेयभाव व्यञ्जना से प्रतीत होता है।

(क्योंकि इस विरुद्धमतिकृत् दोष में प्रकृतार्थ के ज्ञान के प्रतिबन्धक अप्रकृतार्थ के ज्ञान की सत्ता रहती है जबकि) वहाँ उस अभिधामूलध्वनि में प्रकृत वाच्यार्थ प्रतीति की अप्रकृत व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति बाधक नहीं बनती है और उन दोनों अर्थों की स्वतन्त्र सत्ता रहती है (पहले अभिधा से वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है और फिर व्यञ्जना से व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होता है और उन दोनों अर्थों में गौणप्रधानभाव रहता है)।

और प्रकृतार्थ की प्रतीति का कारण न होना ही विरुद्धमतिकृत् दोष का समुचित लक्षण है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने से अवाचक और असमर्थ दोषों में अतिव्याप्ति हो जाएगी (इनमें प्रकृतार्थप्रतीति नहीं होती)।

विवक्षितार्थ के विरुद्ध ज्ञान का जनक होना (विरुद्धमतिकृत्) दोष का

1. ज; इत्याद्यभिधामूले ध्वनौ प्रसङ्गः अ; इत्यभिधामूलध्वनावतिव्याप्तिशङ्का त।

प्रतिपाद्यविरुद्धबोधजनकत्वं लक्षणमित्यन्ये। केचित्तु तात्पर्यविषयीभूतार्थप्रतीति-बन्धकीभूताशब्दार्थधीजनकत्वं तत्त्वम्। अनुचितार्थाश्लीलयोरर्थानां न परस्परं प्रतिबन्धकता। निहतार्थे च विलम्बेन प्रतिपत्तिरिति तेभ्यो भेद इत्याहुः[1]।

यथा–

रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ कृती।। 150।।

अत्र भूतानां लोप इति प्रतीतिरिति[2] विरुद्धमतिकृत्।

यथा वा–

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे।। 151।।

लक्षण है इस प्रकार कुछ दूसरे आचार्य मानते हैं। और कुछ आचार्य तो तात्पर्य के विषयीभूत अर्थात् वक्ता द्वारा प्रतिपाद्य प्रधान अर्थ के ज्ञान में बाधक होने वाले दूसरे अवाच्यार्थ के ज्ञान का कारण होना ही विरुद्धमतिकृत् दोष है, ऐसा कहते हैं। अनुचितार्थ अश्लील दोषों में अर्थों का आपस में बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध नहीं होता (जबकि विरुद्धमतिकृत् में इस प्रकार का सम्बन्ध होता है) और निहतार्थ में प्रकृत अर्थ की विलम्ब से प्रतीति होती है (किन्तु विरुद्धमतिकृत् में प्रकृतार्थ की प्रतीति विलम्ब के बिना होती है। इस प्रकार अनुचितार्थ, निहतार्थ आदि उन (दोषों) से इस दोष का भेद है ऐसा आचार्य कहते हैं।

जैसे–

हे पृथिवीपालक राजन्। पुण्यात्मा आप ही इस वसुधातल के लोगों का उपकार करने में लगे हुए हो।। 150।।

यहाँ पर प्राणियों के लोप इस (अर्थ) की प्रतीति है (प्राणियों को मारने में लगे हुए हो इस प्रकार की यह दूसरी विपरीत प्रतीति हो रही है) इस कारण यहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष है।

अथवा और (दूसरा उदाहरण) जैसे–

चन्द्रमा की किरणों के आकार के समान निर्मल (निर्दोष) व्यवहार वाला और अकारण (किसी स्वार्थ के बिना ही सबका) मित्र वह राजा एक (अद्वितीय) ही है उसका हम क्या वर्णन करें?।। 151।।

1. ज अ; भेदादित्याहुः त।
2. ज अ; अत्र भूतानां लोप इति प्रतीतिः त।

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्। अकार्येषु मित्रमिति प्रतीयते समासावयवस्य नञो निन्दार्थत्वात्। तदुक्तम्–

तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।

यहाँ बिना कार्य के मित्र है (अर्थात् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना यह निस्स्वार्थ भाव से मित्र है) यह (अर्थ वक्ता के द्वारा) विवक्षित अर्थ है। परन्तु बुरे कार्यों में सहायता देने वाला यह अर्थ भी (अकार्यमित्रम् इस पद से) प्रतीत हो रहा है (इस कारण विरुद्धबुद्धि पैदा करने के कारण यह पद विरुद्धमतिकृत् दोष से दूषित है) क्योंकि समास का अवयव बना हुआ नञ् निपात यहाँ निन्दापरक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

टि०–श्लोक में व्यवहृत 'अकार्यमित्रम्' पद में कवि ने नञ् का प्रयोग अभाव अर्थ में किया है क्योंकि उसे अकार्य का अर्थ कार्याभाव अर्थात् बिना कामना वाला निस्स्वार्थ मित्र यह प्रशंसात्मक अर्थ अभीप्सित है। किन्तु यहाँ 'अकार्यमित्र पद से नञ् के अप्राशस्त्य या तद्विरुद्धत्व अर्थ की प्रतीति हो रही है और अकार्य का अर्थ सुकार्य का विरोधी दुष्कार्य (दुष्कर्म) अथवा अप्रशस्त कार्य ज्ञात हो रहा है। इसी उल्टे अर्थ के प्रतीत होने से यहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष है।

यह उदाहरण काव्यप्रकाश 2, 165 में भी दिया हुआ है।

वह (नञ् के अर्थों के सम्बन्ध में) ऐसा कहा है–

उसके सदृश होना, उससे भिन्न होना, उससे अल्प होना, (उसका) विरोधी होना, अशुभ और अभाव ये छह अर्थ नञ् के बताये हैं।

टि०–तददोषौ शब्दार्थौ० काव्यप्रकाश के इस काव्यलक्षण की व्याख्या करते हुए वामनाचार्य झलकीकर ने (टिप्पणी 2 पृ० 15) इस तत्सादृश्यम्० इत्यादि को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

तत्सादृश्यं यथा–अब्राह्मणः ब्राह्मणसदृश इत्यर्थः। न हि अब्राह्मणमानय इत्युक्तौ लोष्टादिरानीयते।......तदन्यत्वं यथा–अघटः पटः घटादन्य इत्यर्थः। तदल्पत्वं यथा–अनुदरा कन्या अल्पोदरीत्यर्थः कृशोदरीति यावत्। यथा वा अलवणा यवागूः अल्पलवणेत्यर्थः। विरोधित्वं यथा–असुराः सुरविरोधिनो दैत्या इत्यर्थः। यथा वा–अधर्मः धर्मविरोधि पापमित्यर्थः। अप्राशस्त्यं यथा–अकालाध्यायी अप्रशस्तकालाध्यायीत्यर्थः निषिद्धकालाध्यायीति यावत्। अभावो यथा–घटो नास्ति। अत्र नञोऽत्यन्ताभावोऽर्थः।

यथा वा–

तव कण्ठासृजा सिक्ता करवाललता द्विषाम्।
सूते समरारण्ये यशःकुसुमसंक्षयम्[1] ।। 152 ।।

दूषकताबीजं चात्र प्रकृतविरुद्धार्थमात्रप्रतीतिः। अतएव न प्रकाशितविरुद्ध-दूषकताबीजसाङ्कर्यं तत्र प्रकृतार्थस्यापि प्रतीतेरिति ध्येयम्। वस्तुतस्तु च्युतसंस्कृत्यसमर्थानुचितार्थनिरर्थकावाचकाश्लीलसन्दिग्धाप्रतीतक्लिष्टाविमृष्ट-

नञ् के इन अर्थों में से 'अकार्यमित्रम्' पद का अर्थ करते समय अभाव, तद्विरोधिता और अप्राशस्त्य ये तीन अर्थ लिए जा सकते हैं।

अथवा और (उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्!) शत्रुओं के गले के रुधिर (रूपी पानी) से सनी हुई तुम्हारी सुन्दर तलवार रूपी बेल सङ्ग्राम रूपी वन में यशः कुसुम के नाश को (यश रूपी पुष्पसमूह को) उत्पन्न कर रही है।। 152 ।।

टि०—यहाँ ऊपर की पङ्क्ति का 'द्विषां कण्ठासृजा सिक्ता तव करवाललता' इस रूप में दूरान्वय करने पर ही अभिप्रेतार्थ की प्रतीति होती है। किन्तु 'तव कण्ठासृजा सिक्ता द्विषां करवाललता यशःसंक्षयं सूते' तुम्हारे कण्ठ के रक्त से सनी हुई शत्रुओं की श्रेष्ठ तलवार यश का नाश करती है। इस रूप में सीधा अन्वय स्वाभाविक रीति से सम्पन्न हो रहा है। संक्षयपद विनाशार्थक भी है। साधारण ढंग से प्रतीत होने वाला यह अर्थ कवि के अभीप्सित अर्थ से ठीक उल्टा है। इससे राजा की निन्दा हो जाती है और उसके शत्रुओं की प्रशंसा हो जाती है।

और यहाँ इस (विरुद्धमतिकृत्) दोष के होने का कारण केवल प्रकृतार्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति का होना ही है। इसलिए प्रकाशितविरुद्ध दोष की दूषकता के कारण के साथ इसका साङ्कर्य (अतिव्याप्ति) नहीं है। क्योंकि उस (प्रकाशितविरुद्ध) दोष में प्रकृतार्थ की भी प्रतीति होती है (जबकि विरुद्धमतिकृत् दोष में केवल प्रकृतविरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है)। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

वास्तव में तो च्युतसंस्कृति, असमर्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत्- काव्य और तदितर व्याकरण, इतिहासादि ग्रन्थों में समान

1. यथा वा........संक्षयम् त; ज अ में नहीं।

विधेयांशविरुद्धमतिकृतां काव्याकाव्यसाधारणानां दूषणानां काव्ये विशेषोपादान-प्रयासबीजं नावधारयामः। सत्यनुशासनेऽपि[1] कवेरनादरणं कवेरनादरायैव[2] पर्यवस्य-तीत्यप्रयुक्तमपि न दूषणम्। एवं निहतार्थमपि न दूषणं द्वित्रिक्षणविलम्बस्या-किञ्चित्करत्वात्।

रूप से पाये जाने वाले इन दोषों का काव्य में विशेष (मुख्य) रूप से ग्रहण करने की चेष्टा करने का कोई कारण हम नहीं समझ पा रहे हैं।

टि०–ग्रन्थकार का कहना है कि च्युतसंस्कृत्यादि दोष काव्यग्रन्थों में भी पाये जाते हैं और व्याकरणादि शास्त्रीय ग्रन्थों में भी। इसलिए इन का सम्बन्ध केवल काव्यग्रन्थों के साथ ही होता है यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्योंकि इनकी स्थिति काव्य और काव्येतर इतिहासपुराणादि दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों में होने से ये केवल काव्यगत दोष नहीं हैं।

व्याकरण और कोश के (नियमों के) रहते हुए भी यदि कवि लोकव्यवहार की उपेक्षा करता है तो उसका यह कार्य उसके अपने ही असम्मान को उत्पन्न करता है पर वास्तव में ऐसे प्रयोग (व्याकरण और कोश के द्वारा सम्मत होने के कारण) भी अप्रयुक्त दोष से दूषित नहीं समझे जाते।

टि०–अमरकोश में बताया गया है–'वा पुंसि पद्मं नलिनम्' पद्म और नलिन शब्द पुल्लिङ्ग में विकल्प से होते हैं किन्तु लोकव्यवहार के अनुसार पद्म शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यदि लोकनियम की उपेक्षा करके कवि कोशनियम को दृष्टि में रखकर 'भाति पद्मः सरोवरे' जैसे प्रयोग करता है तो इससे कवि को अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग करने के दोष का भागी बनना पड़ता है और इससे उसके गौरव में कमी आ जाती है। किन्तु ऐसे प्रयोग व्याकरण और कोष के द्वारा सम्मत होते हुए भी अप्रयुक्तदोषदूषित ही हैं ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। एक विद्वान् जिसे अप्रयुक्त मानता है दूसरा उसे प्रयुक्त कह सकता है। उपर्युक्त 'भाति पद्मः सरोवरे' जैसे स्थलों में कोश की दृष्टि से तो 'पद्म' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग ठीक है किन्तु लोकव्यवहार की दृष्टि से यह दोष है। वस्तुतः ऐसे स्थलों में दोषादोष का निर्णय असन्दिग्ध रूप से नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार निहतार्थ भी दोष नहीं है क्योंकि यदि प्रकृत अर्थ के ज्ञान में दो तीन क्षणों का विलम्ब होता है तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

टि०–निहतार्थ दोष कोई बड़ा काव्यदोष नहीं है। क्योंकि प्रकृत अर्थ का विलम्ब से प्रतीत होना दोष नहीं है। वस्तु और अलङ्कार ध्वनि रूप अर्थ तो विलम्ब से ही

1. ज अ; ऽपि त में परित्यक्त। 2. ज अ; कवेरनादरणमनादरायैव त।

एवं ग्राम्यं कट्यादिपदं श्रोणीनितम्बादिपदमग्राम्यमित्यत्र[1] किं विनिगमकमित्युक्तौ विनिगमकस्य वक्तुमशक्यत्वात्। एवं नेयार्थमपि न दूषणं सर्वत्र लक्षणायां प्रयोजनवत्त्व[2]नियमासम्भवात्[3]। तेन रूपेण प्रतिपिपादयिषितस्य (प्रयोजनस्य[4]) वक्तुमशक्यत्वाच्च।

अथ पदपदांशवाक्यदोषविचार:

अत्राह काव्यप्रकाशकार:-

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।। 98।।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन।

प्रतीत होता है इसी कारण उन्हें संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा जाता है। किन्तु यदि रस की विलम्ब से प्रतीति होती हो तो दोष होता है। इस कारण इन दोषों की दूषकता सन्दिग्ध ही है।

इसी प्रकार 'कटि' आदि पद ग्राम्य हैं और 'श्रोणी', 'नितम्ब' आदि शब्द अग्राम्य हैं इस विषय में निश्चायक कौन सी युक्ति है? (एकतरपक्षपातिनी युक्ति विनिगमिका, किसी की ओर से) यह कहे जाने पर किसी निश्चय कराने वाले हेतु को नहीं बताया जा सकता (अतएव किसी पदविशेष में ग्राम्यत्व दोष के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता)। इसी प्रकार नेयार्थ भी दोष नहीं है क्योंकि लक्षणा में सर्वत्र प्रयोजनवत्ता रहती ही है यह नियम सम्भव नहीं है (वस्तुत: रूढिमूला लक्षणा में प्रयोजन होता ही नहीं है जिस रूप में प्रयोजन माना जा रहा हो-हो सकता है वहाँ उस रूप में प्रयोजन न हो) और ऐसी स्थिति में वक्ता के द्वारा विवक्षित (प्रयोजन) के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता (क्योंकि प्रयोजन का होना वक्ता, बोद्धव्य और प्रकरण आदि पर भी आश्रित होता है और इन सबका जानना न जानना अनिश्चित रहता है)।

इसके बाद पदपदांशवाक्यदोषविचार है। इन दोषों के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट (काव्यप्रकाश 7, 52) कहते हैं-

च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक (इन तीन पददोषों) को छोड़कर।। 98।।

1. ज अ; मित्युक्तौ त।
2. त; सत्त्व ज अ।
3. ज अ;........नियमाभावात् त।
4. प्रयोजनस्य अतिरिक्त। अ, ज, त में नहीं।

केचिच्छ्रुतिकटुत्वादिवच्च्युतसंस्कृतित्वादीनामपि कुतो न वाक्यदोषत्वमित्यास्कन्दयन्ति प्राचां मतम्[1]। तत्राहुः[2]। विवक्षितधर्म्युपस्थापकशब्दगतत्वे सति नानापदवृत्तिदोषत्वं वाक्यदोषत्वम्। च्युतसंस्कृत्यादिव्यावर्तनाय सत्यन्तम्।

ये सब दोष वाक्य में भी होते है। कुछ दोष पदांश में भी होते हैं। (अर्थात् पदांश में कुछ ही दोष होते हैं सब नहीं) ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

टि०–च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक ये तीनों दोष केवल पदगत ही होते हैं। वाक्य में और पदांश में इनकी स्थिति नहीं होती। बाकी बचे हुए श्रुतिकटु आदि सारे दोष पदगत होते हैं और वाक्यगत भी होते हैं तथा इन्हीं में से कुछ दोष ऐसे हैं जो पदांशगत भी होते है।

इस विषय में कुछ आचार्य–श्रुतिकटुत्वादि दोषों की तरह च्युतसंस्कृति आदि तीनों दोषों की भी वाक्यदोषता क्यों न मानी जाय? इस रूप में प्राचीन मम्मट आदि आचार्यों के मत के ऊपर आक्षेप करते हैं।

टि०–जैसे श्रुतिकटुत्वादि दोष पद में रहते हुए भी वाक्य में रहते हैं वैसे ही च्युतसंस्कृतित्वादि ये तीनों दोष भी पद में रहते हुए वाक्य में हो सकते हैं। एकपदगत श्रुतिकटुता होने से पदगतश्रुतिकटुत्व दोष होता है। और वही जब अनेक पदों में दिखाई देती है तो वाक्यगत श्रुतिकटुत्व दोष होता है। ठीक इसी तरह एक पद में व्याकरणहीनता होने पर पदगत च्युतसंस्कृति और अनेक पदों में यही चीज़ होने पर वाक्यगत च्युतसंस्कृति दोष होता है। इसलिए आचार्य मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों को च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक दोषों की भी पददोष और वाक्यदोष इन दोनों में गणना करनी चाहिए थी। अतः 'अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्' इस प्रकार की उक्ति समीचीन नहीं है।

इस पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में (कतिपय निराकरणकर्ता) यह कहते हैं– वक्ता के द्वारा बताने के लिए अभिलषित (अभीष्ट) अर्थ का बोध कराने वाले किसी शब्दविशेष में रहते हुए जो अनेक पदों में भी रहे वह वाक्यदोष होता है।

टि०–एक पद में रहते हुए भी जो अनेक पदों में रह सके वह वाक्यदोष होता है।

---

1. ज अ; प्राचां मतम् त में परित्यक्त।
2. ज अ; तत्राह त।

च्युतसंस्कृत्यादीनां यथाकथञ्चिद् धर्म्युपस्थापकत्वेऽपि[1] विवक्षितधर्म्युपस्थापकशब्दगतत्वाभावात्साधुशब्दस्यैव तथात्वादित्याहुः[2]।

तन्न, च्युतसंस्कृत्यादित्र[3]यव्यावर्तकविशेषणवत् अप्रयुक्तव्यावर्तकविशेषणस्यापि

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनताप्सीत् सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च।।

काव्यप्र० 7,170

इस उदाहरण में श्रुतिकटु दोष एकपदगत होते हुए अनेकपदगत भी है अत एव यह वाक्यदोष है। यहाँ किसी एक ही पद को लेकर सरलतया श्रुतिकटुदोष सिद्ध किया जा सकता है और अन्य पदों को भी लेकर वही दोष सिद्ध हो सकता है।

(च्युतसंस्कृत्यादि तीन दोष भी वाक्यदोष न माने जायें इसलिए) च्युतसंस्कृत्यादि दोषों को हटाने के लिए सति पर्यन्त (विवक्षितधर्म्युपस्थापकशब्दगतत्वे सति यह) विशेषण रखा है। यद्यपि च्युतसंस्कृत्यादि दोषों के भीतर किसी भी प्रकार के धर्मी (अभिलषित अर्थ) को उपस्थित कर देने की विशेषता तो होती है किन्तु उनमें विवक्षितधर्मी के बोधक शब्द को उपस्थित करने की शक्ति नहीं होती। वैसी शक्ति तो केवल व्याकरण की दृष्टि से साधु शब्द के ही भीतर रहती है इस रूप में वे अपना मत प्रतिपादित करते हैं।

टि०–च्युतसंस्कृति के उदाहरण–'एतन्मन्दविपक्व०.......दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः'।। (काव्यप्र० 7, 149) में याचना अर्थ में प्रयुक्त 'अनुनाथते' पद का प्रयोग असाधु है। यहाँ 'अनुनाथति' शब्द प्रयुक्त किया जाना चाहिए। यद्यपि यहाँ अभिलषित अर्थ की प्रतीति इसी पद से हो रही है किन्तु दोष का बोध भी साथ साथ हो रहा है। 'अनुनाथति' यह व्याकरणसम्मत पद प्रयुक्त होने पर ही यहाँ निर्दुष्ट अर्थ की प्रतीति सम्भव है। यदि यहाँ यह पद रख दिया जाय तो दोष का निराकरण भी हो जायेगा। इस प्रकार सति पर्यन्त रहने वाली यह परिभाषा च्युतसंस्कृत्यादि तीनों दोषों की पदमात्रगतत्व विशेषता को सूचित करती है। ये दोष पदमात्रगत होते हैं न कि पदांशगत और वाक्यगत।

(इस निराकरणकर्ता के द्वारा पूर्वपक्षी का खण्डन ठीक प्रकार से न किये जाने के कारण) यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि च्युतसंस्कृत्यादि

---

1. ज अ; यथाकथञ्चिद्धर्म्युपस्थापकत्वेऽपि–इतना अंश त में नहीं।
2. त; शब्दगतत्वाभावादित्याहुः ज अ।
3. ज अ; त्रय त में परित्यक्त।

कविसम्प्रदायोल्लङ्घनप्रयुक्तत्वादेः सुवचत्वेन[1] तेषामपि वाक्यदोषत्वानापत्तेः[2]। अवाचके अव्याप्तेश्च विवक्षितधर्म्युपस्थापकशब्दगतत्वाभावात्। यत्तु नानापदवृत्तिदोषत्वं नानापदवृत्त्युत्कर्षाश्रयदोषत्वं वा वाक्यदोषत्वमिति[3] कौमुदीकृन्मतं

(च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक) इन तीनों दोषों को अन्य अवाचकत्वादि वाक्यदोषों से अलग करने वाले 'विवक्षितधर्म्युपस्थापकशब्दगतत्व' इस विशेषण की तरह कविसम्प्रदायोल्लङ्घनप्रयुक्तत्वादि रूप अप्रयुक्त दोष की वाक्यदोषता को समाप्त करने वाले विशेषण का बड़ी आसानी से कथन हो जाने से उन (अप्रयुक्तादि दोषों) की वाक्यदोषता की अप्राप्ति (समाप्ति) हो जाएगी। (उनको केवल पदगत ही मानना पड़ेगा इस प्रकार) किन्हीं भी पददोषों की वह वाक्यदोषता नहीं बन पायेगी)।

टि०–'विवक्षितधर्म्युपस्थापकशब्दगतत्वे सति' इस सत्यन्त विशेषण से च्युतसंस्कृत्यादि तीनों दोषों की वाक्यदोषता हटाकर पददोषता सिद्ध की गई है। कोई एक भी पद यदि किसी वाक्य में असाधु होने के कारण विवक्षित अर्थ का बोधक नहीं होता है तो उसे च्युतसंस्कृति नामक पददोष मान लिया जाता है। ठीक उसी तरह यदि वाक्य में कोई ऐसा पद है जिसका कविसम्प्रदाय में प्रयोग नहीं होता है तो वह अप्रयुक्त पद भी विवक्षितधर्म्युपस्थापक न होने के कारण पदगत ही मानना पड़ेगा। किन्तु अप्रयुक्त दोष को सभी प्राचीन आचार्यों ने पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार का माना है। इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण की अप्रयुक्त दोष में अतिव्याप्ति हो जाती है।

(इसके अतिरिक्त उपर्युक्त वाक्यदोष के लक्षण की) अवाचक दोष में अव्याप्ति होती है क्योंकि वहाँ अभिलषित अर्थ के बोधक शब्द की सत्ता का न होना यह विशेषण सङ्गत नहीं होता।

टि०–इस लक्षण में दूसरा दोष यह आता है कि इसकी अवाचक दोष में अव्याप्ति हो जाती है। सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्' इत्यादि अवाचक दोष वाले प्रयोगों में 'हन्ति' पद गमन अर्थ को न कहता हो ऐसी बात तो है नहीं तब यह विवक्षिता० इत्यादि परिभाषा तो वहाँ लगेगी नहीं जबकि अवाचक की सभी ने पददोषता स्वीकार की है। इस प्रकार यह सिद्धान्त अप्रयुक्त में अतिव्याप्ति और अवाचक में अव्याप्ति दोषों से दूषित होने के कारण ग्राह्य नहीं है।

1. ज अ; सुवचकत्वेन त।
2. ज अ; वाक्यदोषानापत्तेः।
3. त; नानापदवृत्तित्वोत्कर्षाश्रयत्वं वा तत्त्वमिति ज अ।

तदप्युपेक्षणीयम्, च्युतसंस्कृत्यादिसाधारणत्वात् नानापददोषैरपि तदपकर्षसम्भवाच्च[1]। केचित्तु पदान्तरसमभिव्याहारविशेषतदभावान्यतरप्रयुक्तदोषत्वमेव वाक्यदोषत्वं तच्च श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यनुचितार्थाशलीलग्राम्याविमृष्टविधेयांशेष्वेव, तैः पदान्तरसमभिव्याहारान्तरापेक्षणात्, इतरेषां तु पददोषत्वमेवेति वदन्ति। तत् तुच्छं काव्यप्रकाशविरोधात्। असमर्थस्यापि वाक्यदोषत्वं स्यात्। तत्राप्यन्यतरभावस्य सत्त्वात्। वयं तु ब्रूमः-

और 'अनेक पदों में रहने वाले दोष का होना अथवा अनेक पदों में रहने वाले काव्योत्कर्ष से (उत्कर्ष के विघातकत्व रूप सम्बन्ध से) सम्बन्धित अर्थात् अपकर्ष के आश्रय वाले दोष का होना वाक्यदोष कहलाता है यह जो कौमुदीकार का मत है वह भी उपेक्षा के योग्य है।

टि०-यहाँ पर आये 'उत्कर्षाश्रयत्वं' पद के स्थान पर 'अपकर्षाश्रयत्वं' पद का प्रयोग अधिक सङ्गत है। क्योंकि उत्कर्षाश्रयत्व का तो गुण अलङ्कार और रीतियों के साथ सीधा सम्बन्ध है और दोषास्तस्यापकर्षका: (साहित्यदर्पण 1, 3) इस विश्वनाथप्रतिपादित सिद्धान्त से दोषों का अपकर्षाश्रयत्व ही सिद्ध होता है किन्तु सम्बन्धवैपरीत्य से उपर्युक्त अर्थ की सङ्गति बड़ी कठिनता से हो पाती है। इसलिये ऊपर 'उत्कर्षाश्रयदोषत्वं का अर्थ बड़े टेढ़े ढंग से किया है। वास्तव में यहाँ 'पदवृत्त्यपकर्षाश्रयदोषत्वम्' यह पाठ करना चाहिये।

क्योंकि (यह नाना.......वाक्यदोषत्वम् लक्षण) च्युतसंस्कृत्यादि पददोषों के लक्षणों के लिए भी साधारण है अर्थात् उनमें भी यह लक्षण चला जायेगा और अनेक पददोषों से भी काव्यगत रस का अपकर्ष हो सकता है।

टि०-काव्यप्रकाशीयकौमुदीटीकाकार की परिभाषा मान लेने पर च्युतसंस्कृति दोष-जिसको पदगत ही माना जाता है-नाना पदों में विद्यमान होने पर वाक्यगत मानना पड़ेगा किन्तु उसे वाक्यदोष के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। 'तदुत्कर्षसम्भवाच्च' के स्थान पर भी 'तदपकर्षसम्भवाच्च' पाठ करना अधिक सङ्गत है।

कुछ विद्वान् तो-'दूसरे पदों के साथ होने वाले विशेष प्रकार के सहोच्चारण अथवा उस सहोच्चारण के अभाव (इन दोनों में से किसी एक) के प्रयोग के कारण जो दोष आता है वही वाक्यदोष होता है और वह वाक्यदोष का लक्षण श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अनुचितार्थ, अश्लील, ग्राम्य और अविमृष्टविधेयांश-इन्हीं दोषों में घटेगा क्योंकि इन दोषों को

1. संशोधित पाठ; तदुत्कर्षसम्भवात् ज अ त।

साकाङ्क्षनानापदपर्याप्तदोषत्वं (वाक्यदोषत्वम्[1])। अतएव च्युतसंस्कृत्यादीनां प्रत्येकपदेषु पर्याप्तदोषत्वान्न वाक्यदोषत्वम्। श्रुतिकटुत्वादीनां तु यत्र प्रत्येकं पर्याप्तिस्तत्र पददोषत्वं यत्त्वन्यथा तत्र वाक्यदोषत्वम्। अतएव वाक्येऽपीत्यादि सङ्गच्छते। यद्वा पदान्तरसमभिव्याहारप्रयुक्तदोषत्वं वाक्यदोषत्वम्। च्युतसंस्कृतित्वादौ स्वत एव दोषत्वान्नातिव्याप्तिशङ्का[2]।

पदान्तरसमभिव्याहार (दूसरे पदों के साथ सहोच्चारण) की अपेक्षा रहती है और दूसरे दोषों के भीतर पददोषत्व ही रहेगा अर्थात् उपर्युक्त दोषों से अतिरिक्त अप्रयुक्त आदि दोष पददोष ही माने जायेंगे इस रूप में कहते हैं। किन्तु यह बात बहुत छोटी अर्थात् नगण्य है क्योंकि इस परिभाषा का काव्यप्रकाश के साथ विरोध हो जाता है।

टि०–श्रुतिकटु आदि यहाँ गिनाये गये पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकार के दोष माने जाते हैं 'सोऽध्यैष्ट वेदान् त्रिदशानयष्ट' इत्यादि श्रुतिकटु दोष के उदाहरण में वाक्यदोषता तभी होती है जब अनेक पदों का सहोच्चारण हो यह पूर्वपक्षी का आशय है।

(उपरिलिखित लक्षण मानने पर) असमर्थपददोष के भीतर भी वाक्यदोषता आ जायेगी क्योंकि उसमें भी पदान्तरसमभिव्याहार की अपेक्षा रहती है।

टि०–'तीर्थान्तरेषु स्नानेन' (काव्यप्रकाश 7, 144) इत्यादि में 'सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्' में प्रयुक्त 'हन्ति' शब्द तभी दोष माना जाता है जब इसका वाक्यगत अन्य पदों के साथ सहोच्चारण होता है। 'रामः रावणं हन्ति' यहाँ तो 'हन्ति' पद का हिंसार्थक प्रयोग ठीक है किन्तु दूसरे 'सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति' के साथ यह दोष है क्योंकि गमन अर्थ में इसका प्रयोग धातुपाठ में 'हन हिंसागत्योः' इस रूप दिये जाने के बावजूद भी यह उपसन्दानोपजीवी है अर्थात् उपपदों के योग से ही होता है। पद्धति, उद्धति आदि में तो गमनार्थ आ जाता है क्योंकि यहाँ पद् और उद् उपपद लगे हुए हैं। मम्मटादि आचार्यों ने असमर्थ को पददोष माना है किन्तु उपरिलिखित परिभाषा के अनुसार इसे भी वाक्यदोष मानना पड़ेगा।

हमारा तो यह कहना है–साकाङ्क्ष अनेक पदों में दोषों के व्याप्त रहने का नाम (वाक्यदोषता) है। च्युतसंस्कृत्यादि दोषों में वाक्यदोषता इसलिए

---

1. अतिरिक्त संशोधित; ज अ त में नहीं।
2. ज अ; नातिव्याप्तिप्रसङ्गशङ्काऽपि त अ।

नहीं रहती क्योंकि उन दोषों में दोष प्रत्येक पद में अलग अलग रहता है (वहाँ दोष के लिए नानापदपर्याप्ति की अपेक्षा नहीं रहती है)। और श्रुतिकटुत्वादि दोषों में तो जहाँ प्रत्येक पद में दोष की पर्याप्ति (व्याप्ति) है वह पददोष और जहाँ अन्यथा है अर्थात् प्रत्येक पद में पर्याप्ति न होकर सारे वाक्य में ही दोष रहता है वहाँ वाक्यदोष होता है। इसलिए (इनका निरूपण करते हुए काव्यप्रकाश की कारिका में जो) वाक्येऽपि अर्थात् ये पदगत तो होते ही हैं किन्तु वाक्य में भी ये हो सकते हैं ऐसा कहा है वह सङ्गत ही है। अथवा (वाक्यदोष का दूसरा लक्षण यह भी हो सकता है) दूसरे पदों के सहोच्चारण-सहावस्थान से जहाँ दोष उत्पन्न होता है वहाँ वाक्यदोष होता है। क्योंकि च्युतसंस्कृत्यादि पददोषों में शब्द स्वत: ही दूषित होता है (उसे दूषित करने के लिए पदान्तरसमभिव्याहार की अपेक्षा नहीं होती) अत एव (ऐसे दोष पददोष ही होते हैं वहाँ वाक्यदोष हो जाने रूप) अतिव्याप्ति की शङ्का नहीं है।

टि०-यहाँ ग्रन्थकार ने पददोषों और वाक्यदोषों में यह अन्तर बताया है कि 'नानापदपर्याप्ति' होने पर वाक्यदोष और प्रत्येकपदपर्याप्ति होने पर पददोष होता है यही नियम इन दोषों का विभाजक है। यदि ये दोनों हेतु किसी दोष में लागू होते हैं तो वह दोष उभयगत माना जायेगा अन्यथा या तो पदगत रहेगा अथवा वाक्यगत रहेगा। वस्तुत: यही विभाग समीचीन है। यद्यपि यहाँ ग्रन्थकार ने अन्वयव्यतिरेक की चर्चा नहीं की है तथापि यह विभाग अन्वयव्यतिरेक पर ही आश्रित है। ग्रन्थकार के अनुसार वाक्यदोषत्व के दो लक्षण हो गये हैं-नानापदपर्याप्तित्व यद्वा पदान्तरसमभिव्याहारप्रयुक्तत्व। वस्तुत: ये दोनों लक्षण एक ही हैं, इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के नौंवे उल्लास में श्लेषालङ्कार के प्रसङ्ग में अन्वयव्यतिरेक वाली इस कसौटी का अत्यन्त स्पष्ट रूप से इस प्रकार उल्लेख किया है। इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभाग: स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथाहि- कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादय:, व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादय: तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते (काव्यप्रकाश 9, 85 वृत्तिभाग)। आचार्य विश्वेश्वर ने इस अंश का अर्थ तथा अभिप्राय वहाँ 423 पृ० पर इस प्रकार स्पष्ट किया है-यहाँ (काव्य) में गुण, दोष, अलङ्कारों का शब्दगत और अर्थगत रूप से जो विभाग किया जाता है वह अन्वयव्यतिरेक से ही ठीक बैठता है (अर्थात् जहाँ शब्दपरिवृत्त्यसहत्व है वहाँ शब्दगतत्व और शब्दपरिवृत्तिसहत्व होने

न च प्रेमार्द्रा इत्यादौ श्रुतिकटुत्वादेरपि पदान्तरसमभिव्याहारप्रयुक्तत्वाभावादव्याप्तिरिति वाच्यम्। भ्रान्तोऽसि, न हि तत्र प्रेमार्द्रा इत्येतावतैव श्रुतिकटुत्वम-

---

पर अर्थगतत्व माना जाता है) क्योंकि (1) श्रुतिकटुत्व (कष्टत्व) आदि (शब्ददोष) गाढबन्धत्व आदि (रूप वामनोक्त दस शब्दगुण तथा अनुप्रासादि शब्दालङ्कार) शब्दपरिवर्तन को सहन नहीं करते हैं इसलिए वे शब्दनिष्ठ गुण, दोष तथा अलङ्कार माने जाते हैं। और व्यर्थत्व (अपुष्टार्थत्व आदि अर्थदोष), प्रौढि आदि (अर्थस्य प्रौढिरोजः इत्यादि वामनाभिमत दस अर्थगुण) तथा उपमा आदि (अर्थालङ्कार), शब्द और अर्थ की सत्ता (तद्भाव) तथा शब्द और अर्थ के अभाव (तदभाव) का अनुगमन करने वाले होने से ही (अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर ही) शब्दगत और अर्थगत माने जाते हैं।

अर्थात् श्रुतिकटुत्व आदि शब्ददोष, वामनाभिमत दस शब्दगुण तथा अनुप्रासादि शब्दालङ्कार उन उन शब्दों के होने पर ही रहते हैं और उन उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके पर्यायवाचक अन्य शब्दों के रख देने पर नहीं रहते हैं। इसलिए वे शब्ददोष, शब्दगुण तथा शब्दालङ्कार कहे जाते हैं। इसके विपरीत अपुष्टार्थत्वादि अर्थदोष, अर्थप्रौढि आदि रूप वामनाभिमत दस अर्थगुण तथा उपमादि अर्थालङ्कारों में शब्दों का परिवर्तन करके उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख देने पर भी वे दोष, गुण तथा अलङ्कार माने जाते हैं। इसलिए वे अर्थदोष, अर्थगुण और अर्थालङ्कार माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दोष, गुण तथा अलङ्कारों की शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठता का निर्णय अन्वयव्यतिरेक के आधार पर ही करना आवश्यक है।

'प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः' इत्यादि श्लोक में श्रुतिकटुत्वादि दोषों की भी अव्याप्ति सिद्ध हो जायेगी क्योंकि इन दोषों में पदान्तरसमभिव्याहारप्रयुक्तदोषत्व रूप वाक्यदोष का लक्षण नहीं घटेगा (जबकि इनमें पदगत और वाक्यगत दोषता रहती है)।

टि०–उपर्युक्त उदाहरण काव्यप्रकाश (4, 32) में इस प्रकार दिया हुआ है–

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः।।

मालतीमाधव नाटक (5, 7) के इस श्लोक में महाकवि भवभूति ने माधव के मालती के प्रति होने वाले पूर्वराग को दिखलाया है।

पित्वभ्यासात्। किञ्च तत्रापि शृङ्गारव्यञ्जकविभावाद्युपस्थापकपदसाचिव्यादेव श्रुतिकटुत्वावगतेः पदान्तरसमभिव्याहारप्रयुक्तदोषत्वस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिः।[1]

न च च्युतसंस्कृत्यादेरपि साधुशब्दसाचिव्यादेवास्ति दोषत्वमिति वाच्यम्, बाधति-

---

पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है–इस श्लोक में प्रेमार्द्राः, प्रणयस्पृशः, उद्गाढ और चेष्टा आदि शब्दों में श्रुतिकटुत्व दोष है। प्रेमार्द्राः इस अकेले पद को लेकर ही यहाँ दोष सिद्ध हो जाता है। इस कारण यहाँ पदान्तरसमभिव्याहार की अपेक्षा ही नहीं है।

सिद्धान्ती–आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए (यदि ऐसा मानते हैं तो) आप भटक गये हो। क्योंकि वहाँ पर 'प्रेमार्द्राः' इतने ही पद से श्रुतिकटुत्व दोष की प्रतीति नहीं होती है अपितु (संयुक्ताक्षरों का प्रयोग श्रुतिकटुत्वावह है इस पूर्वधारणा रूप) अभ्यास के कारण दोष की प्रतीति होती है। (अतः यह वाक्यदोष नहीं सिद्ध हो सकेगा जबकि इस दोष को वाक्यदोष माना ही जाता है) और (वस्तुतः) इसके साथ ही उस पद्य में भी शृङ्गार के व्यञ्जक विभावादियों के उपस्थापक पदों की सहायता से ही श्रुतिकटुत्व दोष की प्रतीति होती है। इस कारण उसमें पदान्तरसमभिव्याहार रूप वाक्यदोषता रहती ही है। इसलिए यहाँ अव्याप्ति नहीं है।

टि०–'प्रेमार्द्राः' इत्यादि पदों का जब शृङ्गारादि रसों के व्यञ्जक विभावादियों को बताने वाले पदों के साथ प्रयोग होगा तभी तो उनमें श्रुतिकटु दोष सिद्ध हो पायेगा। अन्यथा यदि इन्हीं पदों का वीररसाभिव्यञ्जक विभावादियों के साथ सम्बन्ध जुड़ेगा तब इनकी श्रुतिकटुता नहीं रहेगी। इस प्रकार इनकी वाक्यदोषता भी सिद्ध हो जाती है और अव्याप्ति का भी निराकरण हो जाता है।

और (पदान्तरसमभिव्याहार को ही वाक्यदोष का मूल कारण मान लेने पर तो) च्युतसंस्कृति इत्यादि दोषों की भी साधु (व्याकरणसम्मत शुद्ध) शब्द के सान्निध्य से ही दोषता सिद्ध होती है (इस प्रकार च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक इन तीनों की भी वाक्यदोषता सिद्ध हो जाती है–ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि (च्युतसंस्कृति जैसे दोषों में) 'बाधति' यह अकेला पद ही स्वतः दूषित होने से दोष हो जाता है (इसे पदान्तरसमभिव्याहार की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार यह दोष वाक्यगत न होकर पदगत ही होता है।

---

1. त; नाव्याप्तिशङ्का ज अ।

शब्दस्य केवलस्यापि दृष्टत्वात्। न च श्रुतिकटुत्वादेर्न पददोषत्वमपितु वाक्यदोषत्वमेव[1] स्यादिति वाच्यम्। तत्त्वेऽपि तत्त्वानपायादिति वदामः[2]।

तानाह–

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।। 99।।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।
अर्द्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।। 100।।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।। 101।।

अत्र[3] प्रतिकूलवर्णपदं समासरचनोपलक्षणपरम्। क्रमेण लक्षणोदाहरणानि–

और श्रुतिकटुत्व आदि दोषों की पददोषता नहीं होती अपितु उनकी केवल वाक्यदोषता ही होती है ऐसा (भी) नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वैसा होने पर भी (उनकी केवल वाक्यदोषता मान लेने पर उनकी) वह पददोषता हटती नहीं है (क्योंकि ये दोष केवल किसी पदविशेष के होने पर ही होते हैं और उसके न होने पर नहीं होते हैं इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर श्रुतिकटु आदि दोषों को पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार का मानना चाहिए)। इस प्रकार हम यह अपना मत बता रहे हैं।

इन वाक्यदोषों को (आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश 7, 53–55 में) कहते हैं–

1. प्रतिकूलवर्ण 2. उपहतलुप्तविसर्ग 3. विसन्धि 4. हतवृत्त 5. न्यूनपद 6. अधिकपद, 7. कथितपद, 8. पतत्प्रकर्ष, 9. समाप्तपुनरात्त 10. अर्धान्तरैकवाचक 11. अभवन्मतयोग 12. अनभिहितवाच्य 13. अपदस्थपद (अस्थानस्थपद) और 14. अस्थानस्थसमास 15. सङ्कीर्ण 16. गर्भित 17. प्रसिद्धिहत 18. भग्नप्रक्रम 19. अक्रम और 20. अमतपरार्थ। और ये (20 प्रकार के) वाक्यदोष ही हैं।। 99–101।।

यहाँ इस (प्रतिकूलवर्ण दोष) में प्रतिकूलवर्ण पद (रस के प्रतिकूल वर्णों वाले पदों से युक्त) समास और रचना का भी उपलक्षण वाला है अर्थात्

---

1. ज अ; र्न दोषत्वम् त
2. ज अ; ब्रूमः त।
3. ज अ; त में नहीं।

प्रतिकूलवर्णत्वं वाक्यवृत्तित्वे सति तात्पर्यविषयास्वादविरुद्ध[1]-गुणव्यञ्जकवर्णवत्त्वम्। प्रकृतरसविरुद्धसमासवत्त्वम्[2] प्रकृतरस-विरुद्धगुणव्यञ्जकरचनात्वमिति लक्षणत्रयं बोध्यम्।। 102।।

क्रमेण यथा–

नीलेन्दीवरदामसुन्दरतरा यत्कण्ठपीठे हठा-
च्छ्रीरामस्य कृपाणशैवललता सानन्दमुज्जृम्भते।
स्रंसन्नीविगलद्दुकूलमभितो गीर्वाणसीमन्तिनी-
वृन्दैर्नन्दनकानने स नृपतिः सानन्दमानीयते।।[3] 153।।

प्रतिकूलवर्णपद से वर्णों की प्रतिकूलता का तो ग्रहण होता ही है साथ ही प्रतिकूलसमास और प्रतिकूल रचना से युक्त पदों का भी भान होता है। क्रमशः इन सारे दोषों के लक्षण और उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

1. प्रतिकूलवर्ण (इसके प्रतिकूलवर्ण, प्रतिकूलसमास और प्रतिकूलरचना ये तीन भेद हो जाते हैं) I वाक्य में रहते हुए (कवि के) तात्पर्यविषयास्वाद (प्रधानभूतविवक्षित रस) के विपरीत गुणों के अभिव्यञ्जक वर्णों वाला होना ही (प्रतिकूलवर्णत्व) है। II प्रकृत रस (वर्णनीय) रस के विरुद्ध समास वाला होना (प्रतिकूलसमास) और III प्रकृत रस के विरोधी गुणों की व्यञ्जक रचना वाला होना (प्रतिकूलरचना है)। इस प्रकार प्रतिकूलवर्णपद के यह तीन लक्षण समझने चाहिएँ।। 102।।

क्रम से (इन तीनों के उदाहरण) जैसे–(I प्रतिकूलवर्ण)

नील कमल की माला से भी अधिक सुन्दर, श्रीराम की तलवार रूपी सिवार लता जिसके कण्ठप्रदेश में आनन्द के साथ विकसित हो (कर उसे काट) रही है (कामावेश के कारण) कटिप्रदेश से ढीले होकर गिरे हुए वस्त्रों वाली होकर चारों ओर से घेरने वाली देवताओं की सुन्दरियों के समूहों से नन्दनकानन में वह राजा (युद्धभूमि में वीरगति पाने से स्वर्ग का अधिकारी होने के कारण) आनन्दपूर्वक ले जाया जा रहा है।। 153।।

---

1. ज अ; विरुद्ध पद त में नहीं।
2. ज अ; प्रकृतरसविरुद्धगुणव्यञ्जकसमासत्वम् त।
3. 'नीलेन्दीवर' इत्यादि श्लोक ज अ; निम्नलिखित श्लोक त में अतिरिक्त–

अत्र युद्धवीरे शृङ्गारोचिता वर्णाः प्रतिकूलाः।

तथा–

तन्वी मन्दिरतः स्मितद्युतिसुधापूर्णाननेन्दुर्भ्रमद्-
भृङ्गीविभ्रमहारिदृष्टिर्विलसत्क्वाणस्फुरत्कङ्कणम्।
वक्षोजोपरि पाणिनांशुवसनं प्रातर्नयन्ती मनाक्
तिर्यग्भूय बहिः पदं विदधती चित्तं पिधत्ते नृणाम्।। 154।।

अत्र दीर्घसमासस्य प्रतिकूलत्वम्। प्रतिकूलरचनोदाहरणं स्वयमूहनीयम्[1]! दूषकताबीजं चात्र वर्णसमासरचनानां प्रतिकूलगुणाभिव्यक्तिः शर्कराव-

---

यहाँ युद्धवीर के प्रसङ्ग में शृङ्गार के अनुरूप कोमल वर्ण प्रतिकूल हैं। और (II प्रतिकूलसमास का) उदाहरण–

घर से बाहर निकली हुई, मुस्कराहट की शोभा रूपी अमृत से पूर्ण मुखरूपी चन्द्रमा वाली, घूमती हुई भँवरी के विलास के समान चञ्चल और मनोहर दृष्टि वाली, लीलामय शब्द से शोभायमान चमकीले कङ्कण को धारण करने वाली, स्तनों के ऊपर रेशमी वस्त्र को हाथ से टिकाती हुई, थोड़ी सी तिरछी होकर बाहर पैर रखती हुई यह सुन्दरी लोगों के चित्त को आच्छादित कर रही है। (अत्यन्त सुन्दरी होने के साथ साथ इसमें हावभाव भी हैं जिन्हें देखकर उनका चित्त इसी में आकर्षित होकर रमण कर रहा है)।। 154।।

टि०– यहाँ मन्दिरतः निर्यान्ती और कङ्कणं बिभ्रती पाठ मानकर इति शेषः नियम के अनुसार अर्थ किया गया है।

इस श्लोक (के स्मितद्युति० आदि पदों) में दीर्घसमास की (शृङ्गार रस के लिए) प्रतिकूलवर्णता है (क्योंकि शृङ्गार रस में अल्पसमास वाली पदावली होने का विधान है)। III प्रतिकूलरचना के उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिए।

और यहाँ वर्ण, समास और रचना के भीतर विपरीत गुणों का प्रकट होना

सिन्दूरद्युति मुग्धमूर्धनिकधृतस्कन्धावधि यामिकै-
र्या मां त स्पृशिति धुरेस्य यमरारम्भाद्धुरे धावति।
जानीमो नु यदि प्रदोषतिमिरव्यामिश्रसन्ध्याधिपे
नास्तं मान्ति समबाहुज भू जा सो वः सहस्रांशवः।।
यह अस्पष्टार्थक है।

1. त; तादृशरचनोदाहरणं स्वयमूह्यम् ज अ।

सिक्तघनपय:पूरे मरीचिचूर्णप्रकर इव प्रकृते किमपि वैरस्यमापादयतीति केचित्। वस्तुत: श्रुतिकटुदूषकताबीजभियाऽनुकूलगुणानभिव्यञ्जकत्वं मतम्।

उपहत ओत्वं[1] प्राप्त: विसर्गो यस्य तदुपहतविसर्गं लुप्तविसर्गं[2] चेति।। 103।।

यथा–

धीरो विनीतो निपुणो निर्विकारो नृपोऽत्र स:।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविता:।।155।।

इस दोष की दूषकता का कारण है। और खाँड से युक्त अर्थात् मीठा डाले हुए गाढ़े दूध की धारा में (पिसी) मिर्च के प्रक्षिप्त चूरे के ढेर की तरह यह दोष प्रकृत (शृङ्गारादि रस) में कुछ नीरसता (बुरे स्वाद) को उत्पन्न कर देता है–ऐसा किन्हीं आचार्यों का कहना है। वास्तव में श्रुतिकटुदोष के कारण (उत्पन्न विरसता के) भय से (शृङ्गारादि रसों में) अनुकूल गुणों के अनभिव्यञ्जक वर्णों वाले पदों का होना (ही प्रतिकूलवर्णत्व दोष) माना गया है।

2. उपहतलुप्तविसर्ग–जिसके विसर्ग ओत्व को प्राप्त हो जाते हैं वह उपहतविसर्ग कहलाता है और (जिसके विसर्ग लुप्त हो जाते हैं वह) लुप्तविसर्ग कहलाता है।। 103।।

टि०–इस प्रकार उपहतलुप्तविसर्ग के दो भेद हैं–1. उपहतविसर्ग और 2. लुप्तविसर्ग। उपहतविसर्ग में पहले विसर्गों को उ हो जाता है तदनन्तर गुणसन्धि होकर उ ओ हो जाता है।

(उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग दोनों का सम्मिलित उदाहरण) जैसे– इस संसार में धैर्यशाली, नम्र, चतुर और (कामादि) विकारों से रहित वही एक राजा है जिसके सेवक, बलशाली, भक्तियुक्त तथा (उसकी) प्रतिभा से प्रभावित हैं।। 155।।

टि०–यहाँ पर विसर्गों का ओत्व श्लोक के पूर्वार्ध में और विसर्गों का लोप उत्तरार्ध में बार बार होने से यह उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग दोनों का उदाहरण है। इस प्रकार विसर्गों के ओत्व और लोप करने से उत्पन्न होने वाला यह दोष तभी होता

---

1. त; उत्वं ज अ।
2. त; तदुपहतलुप्तविसर्गम् ज अ।

उपहतेत्यादिपञ्चसु[1] पतत्प्रकर्षे च बन्धशैथिल्यापादकत्वमेव दूषकताबीजमत एवोक्तम्–

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते।।

इदं चोपलक्षणं विसर्गबहुत्वेऽपि बोध्यम्[2]। यथा–

स्मरः खरः खलः[3] कान्तः क्रूरः सर्वः सखीजनः[4] ।। 156 ।।

इत्युदाहरणं बोध्यम्। प्रकृतरसगुणानभिव्यञ्जकत्वं दूषकताबीजमिति नवीनाः। न

है जब अनेक बार ऐसे प्रयोग किए जायें किन्तु एक आध बार किये गये ऐसे प्रयोगों में दोष नहीं माना जाता। यह उदाहरण काव्यप्रकाश (7, 211) में दिया हुआ है।

उपहतविसर्ग इत्यादि पाँच (उपहतलुप्तविसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनाधिकपद, कथितपद) दोषों और पतत्प्रकर्ष में रचना की शिथिलता को उत्पन्न करना ही दोष का कारण है। इसीलिए कहा है–

इस (काव्य) में–अपने अन्तिम भाग में विसर्गों के लोप से रहित, आपस में मिले हुए, संयुक्ताक्षरों के पूर्ववर्ती ह्रस्व वर्ण वाले पदों से सौन्दर्यातिरेक हो जाता है अर्थात् श्लोक की सुन्दरता अधिक हो जाती है।

और यह 'उपहतलुप्तविसर्ग' दोष विसर्गबहुलता में भी (उपलक्षण के रूप में) समझने योग्य है।

टि०–यह दोष विसर्गों के ओत्व तथा लोप होने पर तो होता ही है किन्तु जहाँ बहुत बार विसर्गों का प्रयोग हो वहाँ भी होता है। 'स्वार्थावबोधकत्वे सति परार्थावबोधकत्वमुपलक्षणत्वम्' इस नियम के अनुसार यह दोष विसर्गबाहुल्य वाले स्थलों का भी ग्राहक है।

कामदेव तीव्र (तीक्ष्ण) है, (मेरा) प्रेमी धूर्त है और सारी सखियों का समुदाय निष्ठुर है।। 156 ।।

इस उदाहरण को भी (विसर्गबाहुल्य के कारण उपहतलुप्तविसर्ग का) समझना चाहिए। प्रकृत (शृङ्गारादि रसों) के अनुकूल गुणों का अभिव्यञ्जक

---

1. ज अ; चतुर्षु त।
2. ज अ; बोद्धव्यम् त।
3. त; स्मरः खलः खलः ज अ।
4. ज अ, कायः कोपश्च नः कृशः त।

च प्रतिकूलवर्णदूषकताबीजे[1] साङ्कर्यमिति वाच्यम्। तत्र प्रतिकूलगुणव्यञ्जकत्वमत्रानुकूलाव्यञ्जक[2]त्वमित्यनयोर्भेदादित्यूचुः।

उपहतत्वमेको दोषः लुप्तविसर्गत्वं चापरः।

सन्ध्यभावकृतविश्लेषत्वं सन्धिकृताश्लीलत्वं सन्धिकृतकष्टत्वं लक्षणत्रयं बोध्यम्[3] ।। 104 ।।

न होना ही (इस दोष में) दूषण का कारण है ऐसा (विश्वनाथ प्रभृति रसवादी) नये आचार्य मानते हैं। और प्रतिकूलवर्ण दोष की दूषकता के कारण में इस दोष (की दूषकता) का साङ्कर्य (अतिव्याप्ति) है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वहाँ (प्रतिकूलवर्ण में) वर्ण प्रतिकूल गुण के व्यञ्जक होते हैं परन्तु यहाँ (उपहतलुप्तविसर्ग में) ओत्व, लुप्तविसर्ग और विसर्ग अनुकूल गुण के अनभिव्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार ये आचार्य इन दोनों में भेद बताते हैं।

टि०–प्रतिकूलवर्ण में प्रतिकूलगुणव्यञ्जकता की प्रधानता है और उपहतलुप्तविसर्ग में अनुकूलगुणाव्यञ्जकता की। प्रतिकूल होना और बात है और अनुकूल न होना दूसरी बात है। प्रतिकूल होने से रस में अधिक वैरस्य या हानि होती है किन्तु वर्णों के अनुकूल न होने से यथेष्ट चमत्कार नहीं होता है। तुलनात्मक दृष्टि से उपहतलुप्तविसर्ग दोष कम हानिकर है।

(उपहतलुप्तविसर्ग यह दोष दो प्रकार का है) जहाँ विसर्गों को 'ओ' हो जाता है वह पहला दोष है और विसर्गों के लोप वाला दूसरा दोष है।

3. विसन्धि–(विसन्धि अर्थात् सन्धिवैरूप्य तीन प्रकार का होता है) 1. सन्धि न करने से शब्दों का अलग अलग बने रहना 2. सन्धि करने पर अश्लीलता का आ जाना और 3. सन्धि करने पर क्लिष्टता का आ जाना–ये तीन लक्षण जानने चाहिएँ।। 104 ।।

टि०–सन्धिस्थल में सन्धि न करने के तीन कारण हो सकते हैं। 1. पहला कारण तो वाक्य में सन्धि को नित्य न मानकर वक्ता की इच्छा (विवक्षा) के अधीन माना जाता है।

1. त; बीजेन साङ्कर्यम् ज अ।
2. ज अ, तत्रानुकूलाव्यञ्जकत्वं प्रकृते प्रतिकूलाभिव्यञ्जकत्वमि० त।
3. ज, अ, बोद्धव्यम्, त में परित्यक्त।

सन्ध्यभावज्ञानविषयत्वेन त्रयमेकीकृत्य विभागः सव्यभिचारवत् परिभाषाकर्तुर-नियोज्यत्वात्।

क्रमेणोदाहरणानि–

यथा–

राजन् विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः।।157।।

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

इस नियम के अनुसार वाक्य में सन्धि करना या न करना वक्ता की इच्छा के अधीन होता है। इससे सन्धि न भी की जाय यह विकल्प सन्धि न करने का कारण बन जाता है। प्रगृह्यसंज्ञा और अलुक् अन्य दो कारण हैं। प्रगृह्यसंज्ञा और विसर्गों का लोप आदि होने पर प्राप्त हुई गुणादिसन्धि के (लोप के असिद्ध होने के कारण) न होने पर भी सन्धि नहीं होती।

सन्ध्यभाव के ज्ञान को यदि एक विषय समझा जाय तो इन तीनों को एक करके एक ही दोष समझना चाहिए। जैसे (तर्कभाषा में) सव्यभिचार हेत्वाभास को (तीन भेद होने के बावजूद) एक भेद माना जाता है और क्योंकि इस विसन्धि दोष के परिभाषाकार आचार्य मम्मट ने (भी) तीन भेदों का नियोजन (निरूपण) नहीं किया है।

टि०–तर्कभाषा में सव्यभिचार हेत्वाभास के तीन प्रकार हैं–1 साधारण 2. असाधारण और 3. अनुपसंहारिक। व्यष्टि की दृष्टि से यह तीन प्रकार का है किन्तु व्यभिचार रूप समान दोष तीनों में पाये जाने के कारण समष्टि रूप में इसको एक ही माना जाता है।

क्रमशः (विसन्धि के) उदाहरण–

जैसे–

(i) हे राजन्। आपके वे (लोकोत्तर) चरित्र जो रसातल (पाताल के गहन अन्धकार) में भी चन्द्रमा की कान्ति को धारण करते हैं, अत्यन्त शोभित हो रहे हैं और आपके अत्यन्त (प्रसिद्ध) फैले एवं उचित कार्य में लगे बुद्धिबल तथा बाहुबल वे भी दोनों विजयसम्पत्ति को प्राप्त करके (अत्यन्त) शोभा पा रहे हैं।। 157।।

अत्र संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत्। तथा–

यतिनः सन्ति सर्वेऽपि कूपस्थोदकपायिनः।। 158।।

इत्यादि[1]।

तथा–

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।
नात्रर्जु शक्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक्।। 159।।

टि०–यहाँ 'तानि इन्दोः' में अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घसन्धि है किन्तु इसको कवि ने विवक्षाधीन मानकर किया नहीं है। इससे कवि की अशक्ति सूचित होती है। धीदोर्बले+अतितते+उचितानुवृत्ती के बीच क्रमशः एङः पदान्ता० से पूर्वरूप और एचोऽयवायावः से अयादेश, उचितानुवृत्ती+आतन्वती के बीच इको यणचि से यण् सन्धि प्राप्त होती है। यद्यपि ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् से प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिवद्भाव होने के कारण ये सन्धियाँ नहीं की गई हैं तथापि इससे कवि की अशक्ति का परिचय ही मिलता है।

यहाँ अपनी इच्छा से 'सन्धि न करूँ, इस दृष्टि से एक बार (का किया हुआ सन्धिविश्लेष) भी दोष है (तानि इन्दोः में जान बूझकर सन्धि नहीं की है)। प्रगृह्यादि (अर्थात् प्रगृह्यसञ्ज्ञानिमित्तक अथवा असिद्धमूलक सन्धिविश्लेष) तो अनेक बार होने पर दोष होता है। (किन्तु प्रगृह्यसञ्ज्ञा और पूर्वत्रासिद्धम् से असिद्ध की प्राप्ति होने पर एक बार सन्धि न करने पर दोष नहीं माना जायेगा)।

(ii) और (सन्धिकृताश्लील दोष का) उदाहरण–
यहाँ सारे ही संन्यासी कूँए में भरे पानी को पीने वाले हैं।। 158।। इत्यादि (उदाहरण सन्धिकृताश्लील दोष के हैं)।

टि०–यहाँ कु (कुत्सित)+उपस्थ (लिङ्गेन्द्रिय)+उदक (पानी=मूत्र) इस प्रकार से की गई सन्धि से उपस्थ से व्रीडाव्यञ्जक और उदक से जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील दोषों की प्रतीति हो रही है।

(iii) और (सन्धिकृतकष्ट का) उदाहरण–
यहाँ रेगिस्तान के बीच में वह वृक्षपङ्क्ति विस्तीर्ण (सघन) है और सुन्दर

---

1. त; यतिनः.........इत्यादि ज अ में परित्यक्त।

प्रथमोदाहरणे[1] दूषकताबीजं सन्ध्यभावकृतो बन्धप्रकर्षविरहः। न चोपहतदूषकता-बीजाभेदः। सन्धौ स न, अपितु सन्ध्यभावे इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सन्ध्यभावकृतत्वेन विशेषणात्।

अन्यथाश्लीलकष्टत्वाभ्यां पूर्वनिरूपितदोषाभ्यामाक्रान्तत्वेनाश्लीलत्वं कष्टत्वं

रूप में अवस्थित है। यहाँ पर सीधे होकर (खड़े होकर) नहीं चला जा सकता, इसलिए सिर को थोड़ा सा झुका लो।। 159।।

टि०–इसमें ऊर्वी + असौ, तरु + आली, मरु + अन्ते, चारु + अवस्थितिः, नात्र + ऋजु इन पदों में सन्धि होकर श्लोक का जो प्रकृत पाठ बन गया है वह सुनने और अर्थज्ञान दोनों में कष्टदायक है अतः यहाँ सन्धि करने से कष्टसन्धि का उदाहरण है। काव्यप्रकाश (7, 215) में भी यह उदाहरण दिया हुआ है।

प्रथम (सन्ध्यभावकृतविश्लेष के) उदाहरण (राजन् विभान्ति० पद्य) में सन्धि के अभाव के द्वारा उत्पन्न रचना के भीतर उत्कर्षाभाव दोष का कारण है। सन्ध्यभाव वाले इस विसन्धि दोष में 'सन्ध्यभावकृतबन्धप्रकर्षविरहः' इस दूषकताबीज को मान लेने पर उपहतविसर्ग वाले दोष के दूषकताबीज का इस (विसन्धि) दोष के दूषकता बीज के साथ अभेद हो जायेगा इस प्रकार की शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि सन्धि करने पर तो वह विसन्धि दोष नहीं आता है अपितु सन्धि न करने पर ही होता है। इस प्रकार (सन्ध्यभावसत्त्वे विसन्धिदोषसत्त्वम् तथा सन्धौ सत्यां विसन्धिदोषाभावः इस रूप में) अन्वय और व्यतिरेक होने से सन्ध्यभावकृतत्व इस विशेषण से सन्ध्यभावकृत दोष का दूषकताबीज उपहतविसर्गदोष के दूषकताबीज से पृथक् हो जायेगा।

टि०–'धीरो विनीतो निपुणो' जैसे उदाहरणों में सन्धि करने पर उपहतविसर्ग दोष आता है और तानि इन्दोः जैसे स्थलों में स्वेच्छा से सन्धि न करने पर विसन्धि दोष आता है।

यदि ऐसा न माना जाय अर्थात् उपहतविसर्ग और विसन्धि इन दोनों के दूषकताबीजों को अलग अलग न मानकर यदि एक ही मानें तो पहले बतलाए हुए अश्लीलत्व और कष्टत्व इन पूर्वोक्त दोनों दोषों से घिरी हुई विसन्धि में अश्लीलत्व और कष्टत्व ये दोनों दोष भी आ जाएँगे और इस

---

1. त; प्रथमोदाहृतदोषे ज अ।

चेत्युक्तद्वयमपि न स्यात्। अथ विग्रहेणाश्लीलत्वं न वा कष्टत्वमपितु सन्धौ[1]सत्यामित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सन्धिकृतत्वात् पृथक् तर्हि प्रकृतेऽपि समः समाधिरिति दिक्। द्वितीये दूषकताबीजं सन्धिकृतासभ्यार्थप्रतीतिः। तृतीये सन्धिकृतावधानविरहः।

प्रकार पहले बताये हुए इन दोषों की भी पृथक् स्थिति नहीं होगी (इस प्रकार विसन्धि और उपहतविसर्ग पृथक् दोष हैं।)

टि०–सारांश यह है–'बन्धप्रकर्षविरह' दूषकताबीज एक स्थल (विसन्धि) में सन्धि के न होने से होता है और दूसरे स्थल (उपहतविसर्ग) में सन्धि के होने पर होता है। यही इन दोनों दोषों की दूषकता के बीजों (कारणता) को लेकर अन्तर है। और यदि इस दूषकता के बीज के अन्तर को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो अश्लीलत्व और कष्टत्व को उपहतविसर्ग की तरह विसन्धि में अन्तर्भूत करना पड़ेगा। इस प्रकार इन दोनों की पृथक् स्थिति नहीं रहेगी।

और यदि (पूर्वपक्षी की ओर से) यह कहा जाय कि (विसन्धि में) विग्रह करने से अर्थात् सन्धि न करके अलग अलग पद रख देने से न अश्लीलत्व होता है और न कष्टत्व दोष रहता है, किन्तु यदि सन्धि होगी तो ये दोनों दोष रहेंगे और सन्धि नहीं होगी तो नहीं रहेंगे। इस अन्वयव्यतिरेक से 'सन्धिकृतत्व' विशेषण के कारण इन अश्लीलत्व और कष्टत्व की विसन्धि दोष से पृथक्ता है तो यही विशेषण उपहतविसर्ग और विसन्धि में भी पार्थक्य सिद्ध करने के लिए समान रूप से समाधान बन सकता है। यह संक्षेप में (हमारा कहना) है।

टि०–ऊपर दिखाए हुए 'कूपस्थोदकपायिनः' और 'उर्व्यसावत्र०' उदाहरणों में सन्धि करने पर ही अश्लीलत्व और कष्टत्व दोष हैं। यदि यहाँ सन्धि न करें और कूपे स्थस्य (स्थितस्य) उदकस्य पायिनः और उर्वी असौ अत्र इस प्रकार का पाठ रखें तो ये दोष नहीं आते। अत्र सन्धिसत्त्वे अश्लीलत्वं कष्टत्वं च सन्ध्यभावे नाश्लीलत्वं नापि कष्टत्वञ्च इन दोषों के सम्बन्ध में ये अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति बन जाती हैं। 'सन्धिकृत' विशेषण ही इन दोनों को विसन्धि से पृथक् करने वाला हेतु है। सिद्धान्ती का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी 'सन्धिकृतत्व' हेतु को अश्लीलत्व और कष्टत्व से पृथक् करने के लिए मानते हैं तो इसी हेतु को उपहत और विसन्धि के मध्य भी

---

1. ज अ; सन्धावित्य० त।

हतवृत्तत्वं भग्नयतिकवृत्तत्वमप्राप्तगुरुभावान्त्यलघुवृत्तत्वं रसाननुगुण[1]-वृत्तत्वमिति लक्षणत्रयं बोद्धव्यम्[2] ।। 105 ।।

वृत्तदोषत्वेन एकीकृत्य विभागः।

क्रमेण यथा–

> दिविषद्वृन्दवन्द्यं वन्दे गोविन्दपदद्वयम्।
> पुनातु नरकारिश्चक्रभूषितकराम्बुजः[3] ।।160।।

पार्थक्यहेतु माना जा सकता है। क्योंकि उपहतविसर्ग सन्धि करने पर ही होता है और विसन्धि सन्धि न करने पर होता है। इस कारण ये दोनों दोष पृथक् पृथक् हैं। पूर्वपक्षी की इस कसौटी को सिद्धान्ती भी स्वीकार करते हैं।

विसन्धि के दूसरे (यतिनः सन्ति इत्यादि) उदाहरण में सन्धि करने से (उत्पन्न व्रीडा और जुगुप्सा के व्यञ्जक) दूषकताबीज असभ्यार्थ (अश्लीलार्थ) का ज्ञान होता है और तृतीय (उर्व्यसावत्र० इत्यादि) उदाहरण में सन्धि करने में सावधानी बरतने का अभाव है अर्थात् सन्धि करने की असावधानी से अर्थज्ञान में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो रही है।

4. हतवृत्तदोष–1. यतिरहित (यतिभङ्ग) वाले छन्द का होना, 2. अन्तिम लघुवर्ण को गुरुभाव न प्राप्त होने पर भी गुरुभाव प्राप्त करने वाले वर्ण से युक्त छन्द का होना 3. रस के प्रतिकूल (अनुपयुक्त) छन्द का होना ये तीन लक्षण हतवृत्त के समझने चाहिएँ।। 105 ।।

(इन तीनों में) छन्दसम्बन्धी दोष समान रूप से पाये जाने के कारण एक करके इनका एक भेद होता है। (इन तीनों के) क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं–

(1. भग्नयतिक का उदाहरण)

मैं देवताओं के समूह के द्वारा नमस्कार करने योग्य भगवान् विष्णु के दोनों चरणों को नमस्कार करता हूँ। नरकासुर के शत्रु और चक्र से शोभित करकमल वाले भगवान् (हम सबको) पवित्र करें।। 160 ।।

(2. अप्राप्तगुरुभावान्त्यलघुवृत्त का उदाहरण)

---

1. ज अ; रसाननुवृत्तत्वम् त।
2. ज अ; बोध्यम् त।
3. ज अ; त में पुनातु० इत्यादि उत्तरार्ध का पाठ पहले तथा दिविषद्० इत्यादि पूर्वार्ध का पाठ बाद में है।

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलाद्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च।। 161।।

अत्र वस्त्राण्यपीति पाठे लघुरपि गुरुरिव भासते।

तथा[1]–

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।। 162।।

(सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त) गुणरत्नों को उत्पन्न करने वाली वे रोहण (रत्नोत्पादकपर्वतविशेष) भूमि कुछ और ही हैं, वह सौभाग्यशालिनी मिट्टी कुछ और ही है तथा वे (उपादान) सामग्रियाँ भी कुछ और ही हैं जिनसे विधाता ने (ऐसे) इस युवक की रचना की है, जिसको देखकर सुन्दर, शोभाशाली और किंकर्त्तव्यविमूढ (हक्के बक्के) शत्रुओं के हाथ से बाणादि अस्त्र और सुन्दर, रूपवती एवं मोहित सुन्दरियों के नितम्बस्थल से वस्त्र खिसक पड़ते हैं।। 161।।

यहाँ (वस्त्राणि च इस स्थान पर) वस्त्राण्यपि यह पाठ हो जाने पर यह लघु च अक्षर के पि लघु वर्ण भी (संयोग के अनन्तर उच्चारित होने से उच्चारण में दृढ़ता आने से) गुरु जैसा प्रतीत होने लगेगा।

और (3. रसाननुगुणवृत्त का उदाहरण)–

हाथ में शस्त्र उठाये हुए, मर्यादा का पालन न करने वाले और नरपशुओं के सदृश जिन आप लोगों ने (आचार्य द्रोण का शिरश्छेदन रूप) यह महान् पातक किया है, अथवा (कृष्ण आदि जिन्होंने उसका) अनुमोदन किया है अथवा (भीम, अर्जुन आदि) जिन्होंने (धृष्टद्युम्न को रोकने का यत्न न करके खड़े खड़े प्रसन्नतापूर्वक) इस बड़े पाप को देखा है, नरकासुर के शत्रु कृष्ण के साथ भीम तथा अर्जुन सहित उन (धृष्टद्युम्न आदि) के रक्त, चर्बी और माँस से मैं यह (अश्वत्थामा) सभी दिशाओं को बलि देता हूँ।। 162।।

---

1. त; ज अ में तथा नहीं।

अत्र[1] हरिणीछन्दसः प्रकृतरसाननुगुणत्वात्। क्रमेण दूषकताबीजानि-एकत्र यतिभङ्गः, परत्र वृत्तभङ्गः, तृतीये प्रतिकूलवृत्तत्वज्ञाने सति रसानुद्बोधनिगमेन तस्य प्रतिबन्धकल्पना[2]।

न्यूनपदं झटित्यनुपस्थितान्वयप्रतियोग्युपस्थापकपदराहित्यं लक्षणम्।। 106।।

टि०–वेणीसंहार नाटक (3, 21) में द्रोणाचार्य के अनुचित ढंग से किये गए वध के समाचार को सुनकर अश्वत्थामा क्रोधित होकर उपर्युक्त श्लोक कह रहा है।

यहाँ हरिणी छन्द के प्रस्तुत (रौद्र) रस के अननुरूप होने के कारण (रसाननुगुणवृत्त) दोष है। (हरिणी छन्द शृङ्गार रस के लिए ही उपयोगी होता है)। इन तीनों में क्रमशः दूषकता के निम्नलिखित कारण हैं–एक जगह (पहले में) यतिभङ्ग है, दूसरे में छन्दोभङ्ग है और तीसरे में रस के प्रतिकूल (विपरीत) छन्द के ज्ञान होने पर रसाविर्भाव के अभाव का ज्ञान होने से उसके भीतर रस के प्रतिबन्धक होने की कल्पना की जाती है।

टि०–पहले श्लोक (दिविषद्० इत्यादि) में अनुष्टुप् छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में आठ आठ अक्षर होते हैं और आठवें वर्ण के बाद यति होती है किन्तु यहाँ पहले पाद में 7 वर्ण पर, दूसरे में 9 वर्ण पर, तीसरे में पुनः 7 वर्ण पर और चौथे में फिर 9 वर्ण पर यति हो रही है जो कि अनुष्टुप् छन्द के नियम के विरुद्ध है। अन्यास्ता० इत्यादि दूसरे में वृत्तभङ्ग है। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् इस लक्षण के अनुसार इसके प्रत्येक पाद का अन्तिम अक्षर गुरु होना चाहिए। यहाँ चतुर्थ चरण का अन्तिम वर्ण च है जो स्वरूपतः लघु है परन्तु 'वा पादान्ते' इस नियम के अनुसार वह गुरु हो सकता है। यहाँ च शब्द में स्वाभाविक शैथिल्य है, वह गुरु रूप में अनुभव में नहीं आता है। उसको बदलकर वस्त्राण्यपि यह पाठ कर देने पर भी यद्यपि अन्तिम अक्षर 'पि' स्वरूपतः लघु ही है परन्तु संयुक्ताक्षर पर बल देने से वह गुरुभाव को प्राप्त होता है।

5. न्यूनपद–शीघ्र न प्रतीत होने वाले (वाच्यार्थ के) अन्वय से सम्बन्धित अर्थ के उपस्थापक पद का अभाव न्यूनपद (का) लक्षण है।। 106।।

---

1. त; जअ में अत्र परित्यक्त।
2. अ;........प्रतिबन्धकल्पनादिति ज त।

यत्र च प्रकरणादिना तत्पदं झटित्युपतिष्ठते तत्रातिव्याप्तिवारणाय प्रथमं विशेषणम्। यथा–

छाया वियोगिवनितेव[1] गता कृशत्वं
तप्तं पयः पिशुनमानसवद् बभूव।
केनाधुना वद मनागवलोकनीयः
क्रुद्धोत्तमर्णमुखमण्डलवत् पतङ्गः।। 163।।

अत्र मनागपीति वाच्यम्। पदज्ञानविरहोऽत्र दूषकताबीजम्।

और जहाँ प्रकरणादि के कारण वह पद शीघ्र उपस्थित हो जाता है वहाँ से अतिव्याप्ति हटाने के लिए प्रारम्भ का 'झटित्यनुपस्थितान्वयप्रतियोगि' यह विशेषण रखा है।

टि०–ग्रन्थकार का आशय है कि 'देवदत्तः क्व गच्छति' जैसे वाक्यों के उच्चारण के अनन्तर किसी के 'ग्रामम्' एतावन्मात्र उत्तर से देवदत्तः और गच्छति की प्रतीति प्रकरणादि से स्वतः हो जाती है। ऐसे स्थलों पर न्यूनपद दोष नहीं माना जाता है किन्तु जहाँ किसी अपेक्षित अर्थ को बताने वाले पद का प्रयोग नहीं हुआ हो वहीं यह दोष होता है।

(न्यूनपद दोष का उदाहरण) जैसे–

विरहिणी नारी की भाँति छाया कृशता को प्राप्त हो गई है। पानी चुगलखोर व्यक्ति के मन की तरह गर्म हो गया है। गुस्से से भरे हुए (तमतमाये) ऋणदाता (साहूकार) के मुखमण्डल की तरह देदीप्यमान सूर्य की ओर बताओ तो सही किससे थोड़ा देखा जा सकता है।। 163।।

प्रस्तुत श्लोक में 'मनागपि' इस रूप में पद रखना चाहिए।

टि०–यहाँ मध्याह्नकालिक सूर्य का वर्णन है। यहाँ पर मनाक् इतने ही पद से यह अर्थ निकल रहा है कि किससे थोड़ा देखा जा सकता है अर्थात् सब उसे ज्यादा देर तक देख सकते हैं। किन्तु वास्तव में यहाँ अपि पद के अभाव में ठीक अर्थ नहीं निकल रहा है। अपि शब्द लगाने पर किसके द्वारा तनिक भी देखा जा सकता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति ज़रा भी नहीं देख सकता है तो अधिक समय तक देखना सम्भव है। यह अपेक्षित अर्थ प्रतीत हो जायेगा।

यहाँ (वाक्य के लिए अपेक्षित उपयुक्त) पद के ज्ञान का अभाव ही (इस दोष की) दूषकता का कारण है।

---

1. ज अ; वियोगवनितेव त।

पदज्ञानाभावात् कुतः पदार्थोपस्थितिः। कथं वाऽन्वयबोधः। दूरेऽस्तु रसवार्ता।

अधिकपदत्वं चान्यत उपलब्धार्थप्रत्यायकत्वं लक्षणम्[1] ।। 107 ।।

यथा–

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधिजीवितं रतं वा।। 164 ।।

अत्र कृतमिति। कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति। आकाङ्क्षाविरहो दूषकताबीजमिति केचित्।

पद के बोध के अभाव से उस पद से प्रतीत होने वाले अर्थ की उपस्थिति (ज्ञान) भला कैसे हो सकती है? और कैसे अन्वय की प्रतीति हो सकती है? रस की कहानी (प्रतीति) तो दूर की बात है (जब वाच्यार्थ ही ठीक तरह नहीं प्रतीत होता तो रस कैसे आ सकता है?)।

6. अधिकपद–दूसरे शब्द से प्रतीत हुए (उसी) अर्थ का बोधक होना ही अधिकपद दोष का होना है–यह लक्षण है।। 107 ।।

(अधिकपददोष का उदाहरण) जैसे–

इस संसार में मनुष्यों के भीतर बुढ़ापों में भी जो कामसम्बन्धी विकार (उत्पन्न) होते हैं ऐसी यह बात अनुचित है और क्रमरहित है। अर्थात् शास्त्रादि के प्रतिकूल है और जो सुन्दर नितम्बों वाली कामिनियों के स्तन पतन (स्तनशैथिल्य) की समयसीमा तक जीवित रहने वाला सम्भोग (सम्पन्न) नहीं किया गया है तो वह भी (अनुचित और क्रमरहित एवं शास्त्रादि के विरुद्ध है)।

टि०–इस श्लोक के पूर्वार्ध में यह बताया गया है कि वृद्धावस्था में मनुष्य का कामवासना में फँसे रहना अनुचित और शास्त्रविरुद्ध है। इस अवस्था में उसको विषयों से दूर रहना ही चाहिए। इसके उत्तरार्ध में यह बताया गया है कि यौवनावस्था में नवयुवक और नवयुवती गृहस्थियों का भोगेच्छा से दूरी बनाये रखना भी अनुचित और शास्त्रविरुद्ध है। इसका समर्थन कालिदास के इस श्लोक में किया गया है–

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

(रघुवंश 1,8)

शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को क्रमानुसार पुरुषार्थचतुष्टय में सम्मिलित

---

1. ज अ; लक्षण त में परित्यक्त

निष्फलत्वज्ञानं दूषकताबीजमित्यपरे। तस्मिन् सति रसोद्बोधवैगुण्यस्यानुभवसाक्षिकत्वात्।

किया गया है। नितम्बिनीनाम् स्तनपतनावधिजीवितं रतम्-का यह अभिप्राय है कि सुन्दर नारियों की सम्भोग शक्ति तभी तक बनी रहती है जब तक उनके स्तन ढीले नहीं होते। स्तनशैथिल्य होने पर उनका यौवन भी समाप्त हो जाता है। इस कारण विषयभोग का उचित समय यौवनावस्था ही है। इस काल में स्त्री पुरुष का एक दूसरे की कामेच्छा को पूरा न करना अनुचित और शास्त्रविरोधी है। सन्तानोत्पत्ति एवं मानसिक तृप्ति के लिए युवावस्था में विषयकामना करना धर्म का अङ्ग है। इसके ठीक विपरीत बूढ़े होकर विषयासक्त होना अधर्म है।

यहाँ (तृतीय चरण में) 'कृतम्' यह पद (अधिक होने से अनावश्यक है)। यह कृतं पद (न केवल अनावश्यक ही है) बल्कि भग्नप्रक्रम दोष को भी उत्पन्न कर रहा है।

टि०–काव्यप्रकाश, (7, 223) में भी यह उदाहरण इसी दोष का दिया हुआ है। यहाँ कृतम् पद अनावश्यक होने के साथ साथ भग्नप्रक्रम दोष को भी उत्पन्न कर रहा है। इसका प्रयोग अनावश्यक तो इस कारण है–यत् इह पुंसां जरास्वपि मान्मथा विकारा इदमनुचितम् यह बात कहने के बाद यदपि च नितम्बिनीनां स्तनपतनावधिजीवितं रतं वा न (विद्यते) तदपि अनुचितम् अक्रमश्च यह बात स्वतः आ रही है। जैसे वृद्धावस्था में पुरुषों के अन्दर कामवासना के विकारों का आना अनुचित है, वैसे ही यौवनावस्था में उनके भीतर के रति की इच्छा का नहीं रहना भी अनुचित है। इस प्रकार यहाँ कृतम् शब्द की आवश्यकता नहीं है। नियम यह है कि जिस रूप में प्रारम्भ किया जाए उसी रूप में उपसंहार करना चाहिए। यहाँ इदमनुचितं से आरम्भ किया है तो इदमपि अनुचितम् इसी रूप में तृतीय चरण में उपसंहार करना चाहिए। इदमपि के स्थान पर यदपि च न कृतम् पाठ ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा करने पर भग्न-प्रक्रम दोष आ जाता है।

यहाँ (इस दोष में) कुछ विद्वान् पदों में आकाङ्क्षा का अभाव दूषकता का कारण है–ऐसा मानते हैं।

टि०–इदमनुचितम्० इत्यादि श्लोक में कृतम् पद की अन्य पदों को आकाङ्क्षा नहीं है। आकाङ्क्षा न होने से यह पद अधिक पद दोष को उत्पन्न कर रहा है।

(पदों की) निष्फलता–व्यर्थता का ज्ञान दोष होने का कारण है यह दूसरे

कथितपदं लक्षयति–

प्रयोजनशून्यत्वे सति एकवाक्यविषयकं समानार्थकसमानानुपूर्वीकपदत्वं लक्षणम्।। 108।।

उद्देश्यविधेयस्थले लाटनुप्रासादौ चातिव्याप्तिवारणाय[1] सत्यन्तम्।

यथा–

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।

आचार्य मानते हैं। क्योंकि इस प्रकार के व्यर्थ पदों के रख देने पर रसाभिव्यक्ति में गुणविहीनता (चमत्कारहीनता) आ जाती है यह बात अनुभवसिद्ध है अर्थात् अनुभव यह बताता है कि रसचर्वणा में अधिकपद बाधक होता है।

7. कथितपद–कथितपद का (ग्रन्थकार) लक्षण करते हैं–

प्रयोजनराहित्य (निष्प्रयोजन) होने पर एक ही वाक्य का विषय बनना अर्थात् एक ही वाक्य में प्रयुक्त होना तथा समानक्रम वाले पदों से (पदों की ज्यों की त्यों आवृत्ति से) युक्त होना ही कथितपदत्व लक्षण है। (जहाँ एक पद को ज्यों का त्यों दोहरा दिया जाय और उसका कोई प्रयोजन न हो वहाँ ये दोष होता है।)।। 108।।

और उद्देश्यविधेय वाले स्थल लाटानुप्रासादि में (कथितपदता की) अतिव्याप्ति हटाने के लिए (प्रयोजनशून्यत्वे सति यह) सतिपर्यन्त विशेषण लगाया हुआ है।

टि०–यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।।

काव्यप्रकाश (9, 359) के इस लाटानुप्रास के उदाहरण में अनेक पदों की समानुपूर्वीक अर्थात् यथाक्रम आवृत्ति है किन्तु यह आवृत्ति प्रयोजनपूर्वक है। पूर्वार्द्ध में 'तुहिनदीधिति' (दावानल) उद्देश्य का दवदहन (चन्द्रमा) विधेय है और उत्तरार्ध में 'दवदहन' उद्देश्य का तुहिनदीधिति विधेय है। इसलिए उद्देश्यविधेयभाव में भेद होने से अर्थ में भी भेद आ जाता है। इस कारण यहाँ अर्थभेद रूप सप्रयोजनता होने से कथितपदता का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता।

---

1. ज अ; ...... निरासाय त

सुतनु! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम् ।।165।।

अत्र लीलेति[1]। दूषकताबीजं चात्र सिद्धे इच्छाविरहे (न पुनरिच्छा) इति न्यायेनोपभुक्तभोगवदि[2]च्छाविच्छेदः। नव्यास्तु-सत्यप्यर्थभेदतात्पर्ये पदैक्यादर्थैक्यत्वप्रतिभास[3] एव दूषकताबीजम्। यथा-यस्ताम्रः स एवास्तमेतीतिवद् या स्वापलीला तत्रैव यौवराज्याभिषेकं व्यञ्जयतीत्यभेदप्रतीतिः स्यादित्याहुः।

(कथितपद का उदाहरण) जैसे-

हथेली रूपी शय्या पर शयन की लीला को करने वाली और (प्रेमी के) मिलने के कारण नष्ट हुई पाण्डिमा वाली अर्थात् प्रसन्नताजन्य लालिमा के कारण लाल लाल तुम्हारी कपोलस्थली, हे सुन्दरी! यह बताओ कामरूपी राजा के युवराजपद पर शीघ्र ही होने वाले किस (युवराज) के अभिषेक को सूचित कर रही है अर्थात् कौन तुम्हारा भावी पति होगा?।।165।।

यहाँ लीला यह पद (प्रथम तथा चतुर्थ चरण में दो जगह प्रयुक्त हुआ है। अतः कथितपद या पुनरुक्त है, स्मरनरपतिलक्ष्मी यह पाठ ठीक रहेगा।) 'सिद्धे इच्छाविरहे न पुनरिच्छा' एक बार इच्छापूर्ति होने पर पुनः उस वस्तु की इच्छा नहीं होती है इस नियम से जिस वस्तु का एक बार भोग कर लिया हो जैसे उसको पुनः भोगने की इच्छा नहीं होती वैसे ही (जिस पद का एक बार प्रयोग कर लिया है उस) एक पद के पुनः प्रयोग की इच्छा की समाप्ति हो जाती है। (अतएव उसका पुनः प्रयोग व्यर्थ होता है)। इस न्याय से यहाँ इच्छाविच्छेद दूषकता का कारण है। नवीन आचार्यों का तो (यह कहना है)-अर्थभेद रूप तात्पर्य के रहते हुए भी एक पद के (पुनरावृत्त) होने के कारण एक ही अर्थ की आपाततः प्रतीति का होना ही दोष के होने का कारण है। जैसे (उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च इस श्लोक में) जो ताम्र (लाल) है वही (ताम्र) अस्त को प्राप्त होता है इस उदाहरण की तरह जो शयनलीला है उसी में यौवराज्याभिषेक है इस अर्थ को लीला पद अभिव्यक्त करता है। इस रूप में दोनों लीलापदों के अर्थ का ज्ञान एक होगा। ऐसा उनका मत है।

टि०-यहाँ लीला शब्द के यद्यपि अर्थ अलग अलग हैं स्वापलीला का अर्थ है सोने की क्रिया और स्मरलीला का अर्थ है कामरूपी राजा की क्रीडा परन्तु दोनों ही स्थानों पर शोभारूप एक ही अर्थ भासित होता है। अतः यहाँ कथितपद दोष है।

---

1. त; ज अ में अत्र लीलेति परित्यक्त
2. ज अ; भोग इव तदिच्छाविच्छेदः त
3. ज अ; प्रतिभानम् त।

पतत्प्रकर्षं तद् वाक्यं बन्धादावुत्तरोत्तरम्।
पूर्वानुसारतः कोऽपि निकर्षो यत्र जायते।। 109।।

बन्धस्त्रिधा–गाढो मध्यो मृदुश्च। तत्र गाढेनारम्भे मृदुमध्याभ्यां समापने अस्य दोषत्वम्, न तु वैपरीत्येन। यथा–

उद्दामद्युमणिद्युतिव्यतिकरप्रक्रीडदर्कोपल-
ज्वालाजालजटालजाङ्गलततीनिष्कूजकोयष्टयः।
भौमोष्मप्लवमानसूरकिरणक्रूरप्रकाशा दृशो-
रायुः कर्म समापयन्ति धिगमूर्मध्याह्नशून्या दिशः।। 166।।

---

8. पतत्प्रकर्ष वह वाक्य होता है जहाँ किसी प्रबन्ध आदि में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर रचना में किसी प्रकार का अपकर्ष उत्पन्न हो जाता है।। 109।।

बन्ध तीन प्रकार का होता है–1. गाढ, 2. मध्य और 3. मृदु। काव्य में गाढरचना से आरम्भ करके मृदु और मध्य से समाप्ति कर देने पर इस पतत्प्रकर्ष दोष की दूषकता आ जाती है। किन्तु यदि इससे उल्टा हो जाय तो यह दोष नहीं होता है। अर्थात् यदि मृदु या मध्य से रचना का आरम्भ हो और गाढ़ से समापन हो तो यह दोष नहीं होता है।

(पतत्प्रकर्ष का उदाहरण) जैसे–

उच्छृंखल सूर्य की चमक के सम्पर्क के कारण खेलती हुई (जाज्वल्यमान) सूर्यकान्त मणि की ज्वालाओं के समूह के समान (सूखी) जटाओं वाले जङ्गलों (के वृक्षों) के समूहों में निःशब्द शिखरी (जलमुर्गा) नामक पक्षियों वाली, पृथिवी की गर्मी में तैरती हुई सूर्य की किरणों के निष्ठुर (प्रचण्ड) प्रकाश से युक्त और मध्याह्नकाल में सन्नाटे वाली ये दिशायें नेत्रों की आयु (सामर्थ्य) और (लोगों के) कर्म की समाप्ति कर रही हैं। अर्थात् न नेत्र देख पाते हैं और न किसी प्रकार का लोग काम कर पाते हैं। यह बड़े धिक्कार की बात है।। 166।।

अत्र पूर्वार्धे बन्धदार्ढ्यमुत्तरार्धे बन्धशैथिल्यम्।

दूषकताबीजं चात्र बन्धनिकर्षः। केचित्तु प्रारब्धानुप्रासभङ्ग एव दूषकताबीजमित्याहुः। न चात्र भग्नप्रक्रमत्वशङ्का बन्धाश्रयत्वेन एतस्य विशेषात्।

समाप्तपुनरात्तं[1] लक्षयति–

जनितान्वयबोधस्य विशेष्यस्यानुकर्षकम्।
विना विशेषणमात्रान्वयार्थावृत्ति लक्षणम्।। 110।।

(दोपहर के समय की भयानक प्रकृति के) इस (वर्णन) में (श्लोक के) पूर्वार्ध में दृढ़बन्ध (कठोर वर्णों वाली तथा दीर्घसमास वाली रचना) है और उत्तरार्ध में रचना का शैथिल्य (अर्थात् कोमलवर्ण वाली रचना है)।

यहाँ पर (शिथिल वर्ण होने से) रचना का अपकर्ष ही दोष होने का कारण है। कुछ आचार्य तो प्रारम्भ किए हुए (उद्दामद्युमणिद्युतिकर० में द् म् आदि रूप) अनुप्रास का टूटना ही दोष होने का कारण है ऐसा कहते हैं।

यहाँ पतत्प्रकर्ष न होकर भग्नप्रक्रम दोष है, क्योंकि सानुप्रास श्लोक का आरम्भ कठोर वर्णों से किया गया है और अन्त शिथिल वर्णों से हुआ है। नियम यह है कि येन रूपेणारम्भः तेनैव रूपेण परिसमाप्तिर्भवितव्या। इस नियम का भङ्ग होने से भग्नप्रक्रम दोष हो जाता है।

और यहाँ भग्नप्रक्रम दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यहाँ अर्थानुसारी शब्दरचना होने के कारण भग्नप्रक्रम दोष नहीं हो सकता क्योंकि भग्नप्रक्रम से इस (पतत्प्रकर्ष) दोष का भेद है।

टि०–यहाँ पूर्वार्ध में पहले सूर्य की ज्वाला तथा सूर्यकान्तमणि की उष्णता का वर्णन है उन दोनों का ही ताप प्रचण्ड है और उत्तरार्ध में सूर्य की किरणों तथा भूमि की उष्णता का वर्णन है। इस कारण कठोर पद प्रयुक्त किए गए हैं। किन्तु पूर्वार्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध में अपेक्षाकृत मृदु पदों के कारण यह पतत्प्रकर्ष दोष आ गया है।

9. समाप्तपुनरात्त–समाप्तपुनरात्त दोष का (ग्रन्थकार) लक्षण करते हैं–

उत्पन्न हुए अन्वय के ज्ञान वाले (जिसके अन्वय का ज्ञान ठीक ठीक हो गया है इस प्रकार के) विशेष्य के अनुकर्षक विशेषणमात्र के अन्वय के लिए आवृत्ति का होना समाप्तपुनरात्त दोष होता है।। 110।।

---

1. ज अ; समाप्तपुनरादानम् त

यथा–

ब्रह्माण्डछत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्डः[1]
क्षोणीनोकूपदण्डः स्रवदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डस्त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोऽङ्घ्रिदण्डः
श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः।। 167 ।।

अत्र[2] वितरत्वित्यन्त एव वाक्यपरिपूर्त्तेः। वस्तुतस्तु क्रियाकारकभावेनान्वयबोधे जाते पुनर्विशेषणान्वये निराकाङ्क्षत्वमेव दूषकताबीजमिति न वाच्यम्। तत्तु न घटते

टि०–विशेषण विशेष्य का अनुकर्षक (ग्राहक) होता है जैसे शुक्लः कहने मात्र से पटः विशेष्य का अनुकर्षण (आकर्षण-आक्षेप) होता है। जो विशेषण विशेष्य का अनुकर्षक नहीं हैं उसका केवल विशेषण रूप से उपादान करना समाप्तपुनरात्त दोष होता है।

(समाप्तपुनरात्त दोष का उदाहरण) जैसे–

ब्रह्माण्ड रूपी छत्र का डण्डा, ब्रह्मा के उत्पत्तिस्थान कमल का नालदण्ड, पृथिवी रूपी नौका का मस्तूल, बहती हुई देवनदी गङ्गा रूपी रेशमी वस्त्र से बनी हुई ध्वजा से युक्त डण्डा, नक्षत्रसमूह रूप पहिए का अक्षदण्ड (पहिए की नाभि में फँसा हुआ डण्डा-धुरी, शङ्कर की) तीनों लोकों की विजय का (स्मारक) स्तम्भभूत जो भगवान् वामन का श्रेष्ठ चरण है वह आपको कल्याण प्रदान करे और जो देवताओं से द्वेष करने वाले राक्षसों के लिए यमदण्ड है।। 167 ।।

क्योंकि यहाँ पर 'वितरतु' इस क्रिया के अन्त में अर्थात् श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु पर्यन्त ही वाक्य की पूर्णता (परिसमाप्ति) हो जाती है। अत एव (त्रैविक्रमः श्रेयस्ते वितरतु इस रूप में विशेष्य के कह देने के अनन्तर फिर विबुधद्वेषिणां कालदण्डः इस विशेषण को रखने से) यह दोष आता है। वास्तव में तो क्रिया और कारक रूप से अन्वयबोध हो जाने से फिर प्रयोग किए गये इस विशेषण के साथ अन्वय करने से होने वाली (उस पुनः प्रयुक्त पद की) निराकाङ्क्षता ही यहाँ (समाप्तपुनरात्त) दोष होने का कारण है ऐसा नहीं कहना चाहिए। वह बात भी तो (पूरी तरह) घटती नहीं है क्योंकि फिर (प्रयुक्त किए गए) विशेषणांश में भी (वक्ता का)

---

1. ज अ; नालदण्डः त में परित्यक्त
2. ज अ; अत्र विबुधद्वेषिकाङ्क्षत्वमेव त में अतिरिक्त पाठ

पुनर्विशेषणांशेऽपि तात्पर्यसत्त्वेन तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुभावकत्वरूपाकाङ्क्षायाः सत्त्वान्न दूषकताबीज[1]मिति युक्तं पश्यामः।

अद्र्धान्तरैकवाचकं लक्षयति।

अर्धनिविष्टवाक्यान्वितपरपदस्य परार्द्धप्रविष्टत्वं[2] लक्षणम्।। 111।।

यथा–

कृष्णराज त्वदीयेन दानेन परमाणुताम्।
गतं मधुकणभ्रान्त्या मेरुं पिबति मक्षिका।।168।।

अभिप्राय होने से तात्पर्य के विषय बने हुए अन्वय की अनुभाविका (प्रतीति कराने वाली) रूपिणी आकाङ्क्षा के बने रहने से (इस दोष में) दूषकता का कारण नहीं रहता है अर्थात् यहाँ यह दोष नहीं है। इस बात को हम ठीक समझते हैं।

टि०–समाप्तपुनरात्तता दोष तो इसलिए माना जाता है कि इसमें वाक्य पूरा होने पर बाद में रखे हुए विशेषण की आकाङ्क्षा नहीं होती है और दोषाभाव इसलिए है क्योंकि बाद में प्रयुक्त भी उस विशेषण का वाक्य में अन्वय हो जाता है। समाप्तपुनरात्त पद का शाब्दिक अर्थ है वाक्य की समाप्ति के बाद भी (किसी निराकाङ्क्ष पद के रूप में) पुनः उपादान अर्थात् प्रयोग करना। इस प्रकार यहाँ यह दोष है भी और नहीं भी है।

10. अर्धान्तरैकवाचक–(ग्रन्थकार अर्धान्तरैकवाचक दोष का) लक्षण करते हैं–

किसी श्लोक के पूर्वार्ध के पादों में प्रविष्ट वाक्य के साथ अन्वित होने वाले एक पद का दूसरे उत्तरार्ध के वाक्य में प्रविष्ट हो जाना अर्धान्तरैकवाचक का लक्षण है।। 111।।

टि०–जहाँ प्रथमार्द्ध का एक पद उत्तरार्ध में कथन के लिए सङ्क्रान्त हो जाता है उसको अर्धान्तरैकवाचक कहते हैं। यहाँ इससे उल्टा भी क्रम हो सकता है अर्थात् उत्तरार्ध के वाक्य का पद यदि प्रथमार्ध के वाक्य में आ जाता है तो भी यह दोष होता है।

जैसे–

हे राजा कृष्णराज! तुम्हारे दान के कारण परमाणुता को प्राप्त अर्थात् तुच्छता को प्राप्त होकर कणमात्र बने हुए मेरु को मधुमक्खी शहद के कण के भ्रम से पी रही है।। 168।।

---

1. त;.........नैष दोष इति ज अ
2. ज अ; वाक्यान्वितपदस्यार्धप्रविष्टत्वं त

(यथा वा)[1]

> वक्षःस्थलं मुकुन्दस्य कौस्तुभाङ्कं कपर्दिनः।
> चूडालो बालचन्द्रेण जटाजूटः पुनातु माम्[2] ।। 169 ।।

यथा वा–

> मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
> विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
> तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
> पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ।। 170 ।।

टि०–यहाँ पर 'गतम्' पद की स्थिति पूर्वार्ध में होनी चाहिए।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

कौस्तुभमणि से अङ्कित (युक्त) भगवान् विष्णु का वक्षःस्थल और चन्द्रकला से शिखायुक्त कलगीदार अथवा मुकुट वाला बना हुआ भगवान् शिव का जटाजूट (जटासमूह) मुझे पवित्र करे ।। 169 ।।

टि०–यहाँ 'कपर्दिनः' शब्द का प्रयोग श्लोक के उत्तरार्ध में होना चाहिए था। यहाँ उत्तरार्ध का एक पद पूर्वार्ध में सन्निविष्ट है।

अथवा (दूसरा और उदाहरण) जैसे–

(क्योंकि) पृथिवी कुशाओं से भरी हुई है (तत्–इसलिए) हल्के हल्के पाँव रखकर चलो। धूप तेज हो रही है (इसलिए) साड़ी का पल्ला सिर पर डाल लो। इस प्रकार (वन जाते समय) रास्ते में राहगीरों की (साथ साथ चलने वाली) पत्नियों ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से सीता को देखा और समझाया ।। 170 ।।

टि०–राजशेखरकृत बालरामायण नाटक में सीता को वन में छोड़कर आने पर सुमन्त्र की दशरथ के प्रति यह उक्ति है। यहाँ पृथिवी सदर्भा है इसलिए सावधानी से चलो और धूप तेज़ है इसलिए सिर पर कपड़ा डाल लो इस रूप में हेतुभूत तत् का प्रयोग पूर्वार्ध में होना चाहिए था किन्तु केवल इस एक पद का ही उत्तरार्ध में प्रयोग

---

1. संशोधित; ज अ त में नहीं
2. त; ज अ में यह श्लोक परित्यक्त

नन्वेवमस्थानस्थात्कथं भेद इति चेत्, उच्यते[1]। व्यवधानं द्विविधम्–पदकृतं यतिकृतं च। तत्राद्येऽस्थानस्थता अन्त्ये अर्धान्तरैकवाचकता। एकत्रोभयसन्निपाते यस्योद्भटत्वं तेन व्यवहारः प्राधान्येनेति न्यायात्। दूषकताबीजं च एकत्र पदकृतासत्तिविरहः, अपरत्र यतिकृत इति। आसत्तिश्चाव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थापकपदत्वम्।

किए जाने के कारण यहाँ अर्धान्तरैकवाचक दोष है। काव्यप्रकाश (7, 227) में इस दोष का यही उदाहरण दिया हुआ है।

(शङ्का) इस प्रकार अस्थानस्थ पद से इसका कैसे भेद है यदि ऐसा कहा जाय,

टि०–जो पद ठीक स्थान पर नहीं रखा हुआ हो वह अस्थानस्थपद कहलाता है।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

कुमारसम्भव के इस श्लोकान्त में प्रयुक्त च शब्द का प्रयोग त्वमस्य के स्थान पर त्वं चास्य इस रूप में होना चाहिए क्योंकि च को इतनी दूर रखने से दूरान्वय होता है।

तो यह (हमारी ओर से) कहा जा रहा है। व्यवधान दो प्रकार का होता है–1. पदकृत और 2. यतिकृत। पहले अर्थात् पदकृतव्यवधान में अस्थानस्थता दोष है और अन्तिम अर्थात् दूसरे (यतिकृतव्यवधान) में अर्धान्तरैकवाचकता। यह दोनों दोष (यदि) किसी एक जगह में आ जायें तो जिसकी अधिक प्रचण्डता होगी उसी के नाम से वहाँ व्यवहार होगा अर्थात् उसी दोष का नाम वहाँ माना जायेगा। क्योंकि यह नियम है कि नामकरण प्रधानता को लेकर ही होते हैं। (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति)।

टि०–अस्थानस्थपदता का मूलाधार पद है और अर्धान्तरैकवाचक का मूलाधार यति है। जब पद ठीक स्थान पर नहीं होता तो पहला दोष होता है और जब यति में व्यवधान आयेगा तो दूसरा दोष होता है।

इन दोनों में दूषकता का कारण एक (पहले अस्थानस्थ दोष) में आसत्ति (सन्निधि) का अभाव है और दूसरे (अर्धान्तरैकवाचक दोष) में यतिकृत

---

1. त; ज अ में परित्यक्त

अभवन्मतयोगं लक्षयति–

विवक्षितसम्बन्धाप्रत्यायकवाक्यत्वं लक्षणम्[1] ।। 112 ।।

यथा–

वामां वामाङ्गभागे कलयति मदनप्लोषकीर्तिं च धत्ते
सर्वैश्वर्याकुलस्याप्यशुचिनरशिरो भाति भिक्षाकपालम्।
दाता मुक्तेर्गरीयान् भवति स भुवने यः स्वयं चाविमुक्तः
सोऽयं मायाप्रपञ्चः कलयतु विभवं चन्द्रचूडो जनानाम् ।। 171 ।।

अत्र मायाप्रपञ्चेन सार्धं पूर्वविशेषणानामनन्वयात्। तच्छब्दाक्षिप्तयच्छब्देन सह सुतरामित्यभवन्मतयोगत्वम्।

(आसत्ति का अभाव) है। व्यवधान के बिना अन्वय से सम्बन्धित अर्थात् परस्परान्वित पदों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं।

11. अभवन्मतयोग–(ग्रन्थकार) अभवन्मतयोग दोष का लक्षण करते हैं–
वक्ता द्वारा अभीष्ट (विशेषणादि के) सम्बन्ध के बोधक वाक्य का न होना अभवन्मतयोग कहलाता है। (यह इसका) लक्षण है।। 112 ।।

अभवन्मतयोग का उदाहरण) जैसे–

जो अपनी देह की बाईं ओर सुन्दरी पार्वती को रखते हैं और कामदहन के (कारण उत्पन्न) यश को धारण करते हैं, सारे ऐश्वर्यों से युक्त होते हुए भी जिन महादेव का अपवित्र नरमुण्ड भिक्षाकपाल के रूप में शोभित होता है। और जो संसार में मोक्ष के बहुत बड़े दाता हैं किन्तु स्वयं मुक्त नहीं हैं वे ये माया के विस्तार रूप महादेव लोगों के लिए सम्पत्ति को धारण करें अर्थात् मनुष्यों को वैभव प्रदान करें।। 171 ।।

यहाँ पहले प्रयुक्त विशेषणों का मायाप्रपञ्च के साथ अन्वय न होने के कारण (अभवन्मतयोग है) तत् शब्द से आक्षिप्त यत् शब्द के (अर्थ शिव) के साथ कवि के अभिलषित अर्थ (मायाप्रपञ्च) का यहाँ अच्छी तरह सम्बन्ध नहीं हो रहा है। इसलिए (भी) अभवन्मतयोग (नामक) दोष है।

---

1. ज अ; तत्त्वम् त

सर्वैश्वर्याकुलोऽपि प्रकटयति करे नारमेकं कपालं
स्थायी मायादुरूहस्त्रिजगदिदं पातु चन्द्रावतंस:।।

इति युक्तम्।[1]

दूषकताबीजं चात्राभिमतसम्बन्धाप्रतीति:।

टि०–वहाँ कवि ने पहले तीन पादों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे महादेव के हैं किन्तु सोऽयं मायाप्रपञ्च: कहने से यह प्रतीत होता है कि कवि को इन विशेषणों का सम्बन्ध मायाप्रपञ्च के साथ अभिलषित है परन्तु यहाँ महादेव शिव के वामाङ्गभाग में पार्वती बैठती हैं मायाप्रपञ्च के नहीं। अन्य विशेषणों का भी सीधा सम्बन्ध महादेव के साथ है मायाप्रपञ्च के साथ नहीं। सोऽयं में तत् शब्द के द्वारा यत् शब्द का आक्षेप होता है। यह जो वामाङ्गभाग में वामा को धारण करता है वह मायाप्रपञ्च यह अर्थ सोऽयं कहने से आयेगा। 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध:' इस सम्बन्ध से जहाँ 'जो' कह दिया जाता है तो वहाँ उसके साथ 'वह' का अर्थ भी समझ लिया जाता है। इसी प्रकार 'वह' कहने पर 'जो' का अर्थ भी स्वत: आ जाता है। कहा भी जाता है–

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्य: सततं बुधै:।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्द: समुदाहृत:।।

इसी ग्रन्थकार द्वारा रचित मृगाङ्कलेखा नाटिका (1,1) में दिए गए इसी श्लोक में इसी दोष से विरहित अन्तिम पक्ति इस प्रकार है–

पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथ:।।

सारे ऐश्वर्यों से युक्त होते हुए भी जो अपने हाथ में एक नरमुण्ड के कपाल (खप्पर) को प्रदर्शित करते हैं शाश्वत एवं अपनी माया के कारण अगम्य (अज्ञेय) चन्द्रशेखर शिव इस त्रिभुवन की रक्षा करें। यह (इन अन्तिम दोनों पङ्क्तियों का पाठ) ठीक है।

और यहाँ कवि अथवा वक्ता के अभिलषितार्थ के साथ रहने वाले सम्बन्ध की प्रतीति का न होना ही (इस दोष की) दूषकता का कारण है।

टि०–तिरुपति की प्रति में उपलब्ध पाठान्तर में भी यह दोष नहीं हैं।

---

1. ज अ;
सर्वैश्वर्यप्रपन्नोऽप्यतिदिशति परं पाणिपात्रे कपालम्।
पायान्मायाविलासी सकलमिह जनं कोऽपि चन्द्रार्धचूड:।। इति तु युक्तम्। त

अनभिहितवाच्यं लक्षयति–

विरुद्धार्थबोधापनोदकपदरहितवाक्यत्वम्।। 113।।

यथा–

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः
प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः।
कमपराधलवं मम पश्यसि
त्यजसि मानिनि दासजनं यतः।। 172।।

अत्र तादृशापिपदराहित्यम्। दूषकताबीजं चात्रान्वयप्रतियोग्युपस्थिति–

---

12. अनभिहितवाच्य–(ग्रन्थकार) अनभिहितवाच्य दोष का लक्षण करते हैं–

विरुद्धार्थ के ज्ञान को हटाने वाले पद से रहित वाक्य का होना अनभिहितवाच्य (दोष) होना है।। 113।।

(अनभिहितवाच्य का उदाहरण) जैसे–

हे मानवती सुन्दरी! तुमसे प्रेम करने वाले, प्रिय बोलने वाले और प्रेमभङ्ग से विमुख चित्त वाले अर्थात् प्रेम को न तोड़ने वाले चित्तयुक्त मेरे किस छोटे से अपराध को तुम देख रही हो जिसके कारण इस सेवक (अपने) आदमी को छोड़ रही हो।।172।।

इस श्लोक में तादृश अर्थात् विरुद्धार्थ के ज्ञान को हटाने वाले अपि शब्द का राहित्य है (कमपराधलवमपि पश्यसि पाठ कर देने से दोष हट जायेगा)।

टि०–श्लोक में दिए हुए 'कमपराधलवं मम पश्यसि' से यह अर्थ निकलता है कि तुम मेरे किस छोटे अपराध को देख रही हो, मैं तो और बड़े बड़े अपराधों को करने वाला हूँ। किन्तु वक्ता का यह अभिप्राय है–अपराध के किस छोटे से भाग को भी अर्थात् बहुत छोटे से भी अपराध को देख रही हो और तनिक सी मेरी भूल पर इतना गुस्सा नहीं करना चाहिए। यदि बड़ा अपराध होता तो तुम्हारा गुस्सा करना ठीक होता।

और यहाँ (वाक्य के) अन्वय से सम्बन्धित अर्थ की उपस्थिति के अभाव से युक्त विरुद्धार्थ की प्रतीति दोष होने का कारण है (अर्थात् वास्तविक अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने के कारण यहाँ यह दोष है)। इसीलिए

विरहविशिष्टविरुद्धार्थप्रतीतिः। अतएव न्यूनपदे अन्वयप्रतियोग्युपस्थितिविरहः। विरुद्धे च विरुद्धार्थप्रतीतिर्दूषकताबीजम् प्रकृते च विशिष्टमिति ततो भेद इति।

परे तु पदं द्विविधं वाचकं द्योतकञ्च। पूर्वस्य न्यूनत्वे न्यूनपदत्वमुत्तरस्य न्यूनत्वे अनभिहितवाच्यत्वम्। तथा च न्यूनपदलक्षणे वाचकपदरहितत्वमिह तु द्योतकपदरहितत्वमित्यूचुः।

अस्थानस्थं लक्षयति–

आसत्तिविरहितत्वे सति विरुद्धार्थप्रत्यायकत्वम्।। 114।।

न चाक्रमे अर्धान्तरवाचके वातिव्याप्तिः, तत्र विरुद्धार्थप्रत्यायकपदत्वात्।

यथा–

न्यूनपद में अन्वय को कराने से सम्बन्धित पद की उपस्थिति का अभाव होता है और विरुद्ध दोष में विरोधी अर्थ का ज्ञान दोष होने का कारण होता है। किन्तु प्रकृत (अनभिहितवाच्य) में विशेषणविशिष्ट पद का अभाव दोष का कारण होता है (उपर्युक्त 'अपराधलवम्' में अपि विशेषण की न्यूनता है) इस कारण उन (दोनों दोषों) से इस अनभिहितवाच्य दोष का भेद है।

दूसरे विद्वान् तो इस प्रकार इसकी व्याख्या करते हैं–पद दो प्रकार का होता है–1. वाचक और 2. द्योतक। पहले (वाचक पद) के न्यून होने पर न्यूनपद और बाद के अर्थात् द्योतक पद की न्यूनता होने पर अनभिहितवाच्य दोष होता है। और न्यूनपद दोष के लक्षण में वाचक पद की न्यूनता होती है तथा इस अनभिहितवाच्य दोष में तो द्योतक पद का अभाव होता है।

13. अस्थानस्थ (पद)–(ग्रन्थकार) अस्थानस्थपददोष का लक्षण करते हैं–

आसत्तिरहित होने पर विरोधी अर्थ का बोधक अस्थानस्थ पददोष होता है।। 114।।

और अक्रम या अर्धान्तरवाचक में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि उन दोनों में विरोधी अर्थ को बताने वाला पद होता है।

(अस्थानस्थपददोष का उदाहरण) जैसे–

भगवान् भैरव के दर्शन के समय (मन्दिर में) किसी अनिर्वचनीय चन्द्रमा

भैरवदर्शनसमये कैरवबन्धुर्विलोकितः कोऽपि।
यद्विरहादिदमल्पं दिनमपि कल्पैः समं याति[1] ।। 173 ।।

अत्राल्पमपीति योज्यम्।

(यथा वा)

तस्यां कनकलतायां यदवधि कल्पितः कलाधरः कोऽपि।
अल्पं दिनमपि कल्पं तद्विरहात्केवलं कलये[2] ।। 174 ।।

(रूप सुन्दर युवा अथवा सुन्दर युवती के मुख) को देख लिया जिसके विरह में यह छोटा दिन भी अनेक कल्पों के समान बीत रहा है।। 173 ।।

यहाँ (अल्पं दिनमपि न कहकर) अल्पमपि (दिनम्) इस प्रकार की वाक्ययोजना करनी चाहिए।

टि०–ब्रह्मा के एक दिन (1000 युगव्यापी काल) को कल्प कहते हैं। 'अल्पं दिनमपि कल्पैः समं याति' कहने से यह प्रतीति होती है कि छोटा दिन भी कल्पों के समान बीत रहा है अर्थात् बड़ी रात या बड़ा दिन तो भैरव दर्शन से पहले भी कल्प की तरह बीत रहा था अब दर्शनानन्तर यह छोटा सा दिन भी कल्प के समान बीत रहा है यह विरोधी अर्थ निकल रहा है यह कविविवक्षित अर्थ नहीं है। कवि का आशय तो 'अल्पमपि दिनं कल्पैः समं याति' यही पाठ करने पर स्पष्ट होता है। छोटा सा भी दिन जब कल्पों के समान बीत रहा है तो बड़ा दिन भगवान् जाने किस तरह से बीतेगा? वह तो कल्पों के समान दीर्घकालव्यापी होकर कष्टदायक होगा ही।

(अथवा जैसे दूसरा उदाहरण)–

उस सुवर्णलता रूपी नायिका में जितने समय तक किसी अनिर्वचनीय मुख रूपी चाँद की कल्पना की उसके विरह में छोटा सा दिन भी कल्प के समान समझ रहा हूँ।। 174 ।।

टि०–यहाँ भी अल्पं दिनमपि के स्थान पर अल्पमपि दिनम् इस रूप में प्रयोग होना चाहिए। इसमें भी भैरवदर्शन० इत्यादि श्लोक से मिलता जुलता भाव है।

---

1. ज अ; त में यह श्लोक में नही
2. त; ज अ में यह श्लोक नहीं

अस्थानस्थसमासं यथा–

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे किं मानिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति[1] मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहित:।
उद्यद्दूरतरं प्रसारितकर: कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनि:सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी।। 175।।

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृत:। केचित्तु स्थानं योग्यता तद्विरहो अस्थानं तत्स्थमित्यर्थ:। तेनायोग्यस्थानस्थसमासवत्पदत्वं लक्षणम्।

---

14. अस्थानस्थसमास (का उदाहरण) जैसे–

(मेरे उदित होने पर भी) स्तनों रूपी (ऊँचे नीचे) पर्वतों से बने किलों के कारण अगम्य, मानवती (रूठकर बैठी हुई) नायिकाओं के हृदय (रूपी सुरक्षित स्थान में छिपकर) यह मान बैठना चाहता है, यह मेरे लिए (पौरुष की चुनौती होने के कारण) धिक्कार (तौहीन) की बात है। इसी कारण मानों क्रोध के कारण लाल चन्द्रमा उठे हुए और दूर तक फैले हुए किरण रूपी हाथों से तुरन्त ही खिले हुए कुमुद रूपी कोष (म्यान) के भीतर से बाहर निकलती हुई भ्रमर पङ्क्ति रूपी कृपाण को खींचकर बाहर निकाल रहा है।। 175।।

यहाँ क्रुद्ध (चन्द्रमा) की (प्रथम दो चरणों में कही गई) उक्ति में समास नहीं किया है (और अन्तिम चरण में कही गई कवि की उक्ति में समास किया गया है पर होना इससे विपरीत चाहिए था)।

टि०–काव्यप्रकाश (7, 239) में यह इसी दोष के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है।

कुछ विद्वान् तो (इसका अर्थ यों करते हैं) स्थान का अर्थ योग्यता होता है, उस योग्यता का अभाव अस्थान कहलाता है। अस्थान में अर्थात् योग्यताविहीन स्थल में पाये जाने वाला दोष अस्थानस्थ है यह (व्युत्पत्ति-निमित्तक) अर्थ है। इसलिए (उनके मतानुसार) अयोग्य स्थान पर विद्यमान समास वाले पद का होना ही अस्थानस्थ समास का लक्षण है।

1. अ त; स्थातुं वाञ्छति ज में परित्यक्त

दूषकताबीजं चात्रानुगुणगुणाप्रतीतिः सा चोभयत्र क्रुद्धस्योक्तौ[1] समासाकरणे ओजसोऽप्रतीतिः, अक्रुद्ध[2]स्योक्तौ समासकरणे च प्रसादस्याप्रतीतिरित्याहुः। परे तु दूषकताबीजमासत्तिविरहविशिष्टविरुद्धार्थप्रतीतिरिति प्राहुः।

सङ्कीर्णं लक्षयति–

भिन्नभिन्नवाक्यान्वितानां पदानां परस्परनिरपेक्षवाक्यसन्निधिप्रयुक्तत्वं लक्षणम्।। 115।।

यथा–

अम्बरमम्बुनि पतत्रमरातिः पीतमहीनगणस्य ददाह।
यस्य वधूस्तनयं गृहमब्जा पातु स वो हरलोचनवह्निः।। 176।।

और (रस के) अनुरूप गुणों की अप्रतीति का होना ही यहाँ दूषकता का कारण है तथा वह रसानुकूल गुणों की अप्रतीति उपर्युक्त श्लोक के दोनों पादों में क्रुद्ध की उक्ति में समास न करने पर ओज गुण की अनभिव्यक्ति और अक्रुद्ध की उक्ति में समास करने पर प्रसाद गुण की अनभिव्यक्ति के रूप में है। इस रूप में ये विद्वान् अपने मत का प्रतिपादन करते हैं।

दूसरे विद्वान् तो–आसत्ति (सन्निधि) के अभाव से युक्त विरुद्ध अर्थ की प्रतीति ही (इस दोष में) दूषकता का कारण है–ऐसा कहते हैं।

15. सङ्कीर्ण–(ग्रन्थकार) सङ्कीर्ण दोष का लक्षण करते हैं–

अलग अलग वाक्यों में अन्वय को प्राप्त पदों का एक दूसरे की आकाङ्क्षा न रखने वाले वाक्यों में आसत्ति के साथ प्रयोग करना सङ्कीर्ण दोष का लक्षण है।। 115।।

(सङ्कीर्ण दोष का उदाहरण) जैसे–

जिनका पीला वस्त्र है अर्थात् जो पीताम्बरधारी हैं, जिनका घर जल में है अर्थात् जो क्षीरसागर में निवास करते हैं, जिनका सर्पराजों के समूह का शत्रु –गरुड़ वाहन है, जिनकी वधू लक्ष्मी है, महादेव के नेत्र की अग्नि ने जिनके पुत्र कामदेव को जला दिया था वे (विष्णु भगवान्) आपकी रक्षा करें।। 176।।

---

1. ज अ; क्रुद्धोक्तौ त
2. ज अ; अक्रुद्धोक्तौ त

दूषकताबीजं चात्र वाक्येष्वासत्तिविरहः।

गर्भितं लक्षयति–

अपर्याप्तवाक्यान्तःपातितदननुगुणसमग्रवाक्यत्वं लक्षणम्।। 116।।

तदननुगुणेति विशेषणादर्थान्तरन्यासादौ समग्रेति विशेषणात्सङ्कीर्णादौ नातिव्याप्तिः।

टि०–इस श्लोक में अनेक वाक्य दूसरे वाक्यों में चले गए हैं। ये वाक्य इस रूप में हैं–यस्य अम्बरं पीतम्, यस्य गृहम् अम्बुनि (वर्तते), यस्य पतत्रम् अहीनगणस्य अरातिः, यस्य वधूः अब्जा, हरलोचनवह्निः यस्य तनयं ददाह सः वः पातु।

यहाँ यस्य अम्बरं पीतम् इत्यादि वाक्य स्वतन्त्र रूप से पृथक् अन्वित पदों वाले हैं किन्तु यहाँ इन वाक्यों के पद दूसरे वाक्यों में जाकर निराकाङ्क्ष रूप में स्थित हो गए हैं। कामदेव को भगवान् विष्णु (कृष्ण) का पुत्र कहा जाता है क्योंकि उनकी पत्नी रुक्मिणी से कामदेव प्रद्युम्न के रूप में अवतरित हुए थे।

और यहाँ इन वाक्यों में प्रयुक्त पदों के भीतर आसत्ति न होना ही दोष होने का कारण है।

टि०–इन वाक्यों के पद दूर दूर पड़े हैं। इसी कारण इनका अर्थ ज्ञात ही नहीं होता। इनमें दूरान्वय होने के कारण वाच्यार्थ का ज्ञान नहीं हो रहा है।

16. गर्भित–(ग्रन्थकार) गर्भित दोष का लक्षण करते हैं–

जो वाक्य पूरा नहीं हुआ हो अर्थात् अपूर्ण वाक्य के भीतर आये हुए दूसरे सम्पूर्ण वाक्य का उस (पहले) वाक्य के अनुरूप न होना गर्भित का लक्षण है।। 116।।

'तदननुगुण' इस विशेषण से अर्थान्तरन्यास आदि और समग्र इस विशेषण से सङ्कीर्णादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

टि०–अर्थान्तरन्यास में उत्तरवाक्य पूर्ववाक्य का समर्थक होता है किन्तु गर्भित में यह दूसरा वाक्य दोष को उत्पन्न करता है। सङ्कीर्ण में एक वाक्य का पद दूसरे वाक्य में चला जाता है किन्तु इस दोष में समस्त वाक्य दूसरे वाक्य में चला जाता है। यही इस दोष का अर्थान्तरन्यास और सङ्कीर्ण दोष से भेद है।

यथा–

योग्यो यस्ते पुत्रः सोऽयं दशवदन लक्ष्मणेन मया।
रक्षैनं मृत्युमुखं प्रसह्य लघु नीयते विवशः।। 177।।

अत्र तृतीयः पादो गर्भितः।

दूषकताबीजं चात्र वाक्यान्तरेणाकुलीभावः।

प्रसिद्धि[1]हतं लक्षयति–

अन्यसम्बन्धित्वेन प्रसिद्धस्यान्यत्रोपनिबद्धत्वं लक्षणम्।। 117।।

यथा–

एष क्षुभ्नाति वीथिं तिरयति धरणिं सर्वतो दानपूरैः
पारीन्द्राणां क्षिणोति प्रबलतररवैः कन्दरागर्भशय्याम्।

गर्भित का उदाहरण) जैसे–

हे रावण! जो तुम्हारा योग्य पुत्र है वह यह बेचारा मुझ लक्ष्मण से जल्दी ही जबर्दस्ती मौत के मुँह में ले जाया जा रहा है इसकी रक्षा करो।। 177।।

यहाँ तृतीय पाद गर्भित है।

टि०–यहाँ तृतीय पाद में प्रयुक्त 'रक्षैनं' यह वाक्य सोऽयं विवशः रक्षैनं मया लक्ष्मणेन लघु प्रसह्य मृत्युमुखं नीयते इस दूसरे वाक्य के अन्दर रख दिया है। किन्तु इस वाक्य का प्रयोग दूसरे वाक्य के बाद होना चाहिए। यहाँ सोऽयं विवशः–मृत्युमुखं नीयते एनं रक्ष यह वाक्य रचना होनी चाहिए।

और यहाँ एक वाक्य का दूसरे वाक्य से (क्रम टूटने से बेसिलसिलेवार होकर) बिगड़ जाना ही दूषकता का कारण है।

17. प्रसिद्धिहत–(ग्रन्थकार) प्रसिद्धिहत दोष का लक्षण करते हैं–अन्य के साथ सम्बन्ध रखने के रूप में प्रसिद्ध वस्तु का अन्यत्र सम्बन्ध का उपनिबन्धन (वर्णन कर देना) प्रसिद्धिहत का लक्षण है।।117।।

जैसे–

मदधारा के जलप्रवाहों के कारण (मत्त होकर) यह हाथी गलियों को क्षुब्ध कर रहा है और पृथिवी को चारों ओर से (धूल उड़ाकर, ढाँपकर) अदृश्य कर रहा है। बड़े प्रचण्ड शब्दों से शेरों की गुफाओं के बीच में बनी शय्या की शान्ति को नष्ट कर रहा है अर्थात् इसकी आवाज़ सुनकर उनके दहाड़ने से गुफा में उनकी सोने की जगह कोलाहलयुक्त हो जाती है और सुन्दर

---

1. त; प्रसिद्धिविहतं ज अ

रोषान्मत्तालिमालाकुलविकटकटं किञ्च धूनोत्यजस्रं
विस्रंसच्चारुचामीकरनिकरकृतोद्दामदामा गजेन्द्रः।। 178।।

अत्र रवो मण्डूकध्वनिः बृंहिते अप्रसिद्धः। अतएवोक्तं रुद्रटेन–

मञ्जीरादिषु रणितप्रायान् पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन्।
मणितप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान्।।
दृष्ट्वा प्रयुज्यमानानेवंप्रायांस्तथा प्रयुञ्जीत।
अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि।।[1]

तथा च वाच्येऽर्थे तुल्येऽपि एतेष्वेवार्थेषु एतान् धातून् पूर्वकविभिः प्रयुज्यमानान् दृष्ट्वा तेष्वेव निबध्नीयान्नान्यत्रेति भावः। दूषकताबीजं चात्र हस्तिहस्तिपकन्यायेन सुप्रसिद्धसम्बन्धिप्रतीतिः।

सुवर्णराशि से बनी हुई भयंकर (बहुत बड़ी किन्तु अब) शिथिल होती हुई रस्सी वाला यह श्रेष्ठ हाथी क्रोध में भरकर मस्त भौरों की पङ्क्ति से व्याप्त अपने भयंकर गण्डस्थल को लगातार हिलाता जा रहा है।। 178।।

यहाँ प्रयुक्त रव शब्द मेंढक की आवाज़ (के अर्थ में तो प्रसिद्ध है किन्तु) गजगर्जनवाची बृंहित (गजनिनाद) अर्थ में अप्रसिद्ध है इस लिए रुद्रट ने (काव्यालङ्कार 6, 25-26) कहा है।

नूपुर (घूँघरू) आदि की आवाज़ में रणित जैसे (शब्दों), पक्षियों (के शब्द) में कूजित आदि, सुरत में मणित (सीत्कार) जैसे और मेघादियों की ध्वनि में गर्जित जैसे शब्दों और इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों को (भी) देखकर (रचनाकार) वैसे शब्दों का प्रयोग करे। शब्दों के अर्थों में समानता होने पर भी (तत्तत् शब्द के तत्तत् प्रसिद्धार्थ के अतिरिक्त) दूसरे अर्थों में प्रयुक्त किये गये ये प्रयोग गलत हो जाते हैं।

और (इस प्रकार रणित, कूजितादि शब्दों के) वाच्यार्थ के तुल्य होने पर भी इन्हीं अर्थों में इन शब्दों का पहले कवियों द्वारा प्रयोग होता देखकर (तदनुसार कवि) उन्हीं अर्थों में इनका प्रयोग करे। दूसरे (असम्बद्ध) अर्थों में इनका प्रयोग न करे यह आशय है।

---

1. त; ज अ में इस प्रकार का पाठ है–
मञ्जीरादिषु रणतिप्रायान् पक्षिषु कूजितप्रभृतीन्।
मणतिप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जतिप्रायान्।।

भग्नप्रक्रमं लक्षयति–

येन रूपेणोपक्रमस्तेन रूपेणोपसंहाराभावो लक्षणम्।। 118।।

उपक्रमश्च द्विधा शब्दतः अर्थतश्च। क्रमेण यथा–

नाथे निशाया नियते र्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशापि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति[1]।। 179।।

अत्र गमधातुना प्रक्रमः याधातुना चोपसंहारः। दूषकताबीजं च पदभेदकृतवैरूप्यप्रतिभानम्। केचित्तु उपक्रान्ताननुगुणप्रतीति दूषकताबीजमाहुः।

और यहाँ (इस दोष में) हस्तिहस्तिपकन्याय से सुप्रसिद्ध सम्बन्धी की प्रतीति दूषकता का कारण है।

टि०–जैसे हाथी को देखकर पीलवान (महावत) की स्मृति हो जाती है अथवा महावत को देखकर हाथी का स्मरण हो जाता है वैसे ही एक शब्द को देखकर तत्सम्बन्धी प्रसिद्धार्थक दूसरे अर्थ की स्मृति हो जाती है और यदि उस पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग होता है तो वह अर्थ प्रसिद्धिहत दोष के रूप में प्रतीत होता है।

18. भग्नप्रक्रम–(ग्रन्थकार) भग्नप्रक्रम का लक्षण करते हैं–

जिस रूप से प्रारम्भ किया जाये उसी रूप में समाप्ति का अभाव होना इस दोष का लक्षण है।। 118।।

और यह प्रारम्भ दो प्रकार का है–1. शब्द से प्रारम्भ करना और 2. अर्थ से प्रारम्भ करना। क्रम से दोनों के उदाहरण (दिये जा रहे हैं पहले शब्द से प्रारम्भ करने का है) जैसे–

दौर्भाग्यवशात् रात्रि के पति (अपने पति चन्द्रमा) के अस्त हो जाने पर रात्रि भी चली (विनष्ट हो) गई यह दुःख की बात है (किन्तु) कुलाङ्गनाओं के लिए (पति की मृत्यु रूप इस) दशा के योग्य इससे अधिक अच्छी और बात सम्भव नहीं है।। 179।।

यहाँ गम् धातु से प्रारम्भ है और या धातु से उपसंहार है।

---

1. ज अ; भद्रतमं शमस्ति त

यथा वा–

छाया जायावदायासिततनुरधुना नैव कायात्प्रयाति
क्वापि त्रायात्प्रभायाः पथि पथि पथिकः को नु मायामयोऽपि।
दूरादायात्युमायाः पतिरपि शिखराच्छैलभर्तुः प्रपाया–
मुच्चैः पायादपायाज्जगदिदमखिलं कापि मध्याह्नलक्ष्मीः।। 180।।

अत्रान्त्यपादे अनुप्रासभङ्गः[1]।

टि०–यद्यपि यहाँ पर गता और याता शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं तो भी भिन्न भिन्न धातु का प्रयोग होने से इनका अर्थ भी भिन्न भिन्न सा लगता है ऐसा लगता है कि चन्द्रमा ने और काम किया है और निशा ने कोई दूसरा किया है।

और (भिन्न भिन्न) पदों के प्रयोगभेद से उत्पन्न हुई विरूपता (स्वरूपभिन्नता) की प्रतीति इस दोष में दूषकता का कारण है।

अथवा (इसी दोष का दूसरा उदाहरण) जैसे–

(सम्भोग के अनन्तर) थके हुए शरीर वाली पत्नी की तरह छाया इस समय शरीर से अलग होकर दूर नहीं जा रही है अर्थात् शरीर के साथ ही चिपटी हुई है। प्रत्येक रास्ते में जादूगर होता हुआ भी कौन मुसाफिर कहाँ (छिपकर सूर्य की प्रचण्ड) आतप से अपने आप को बचा सकता है? उमा के पति महादेव भी दूर से हिमालय के शिखर से नीचे उतरकर प्याऊ में आ रहे हैं। इस प्रकार (लोकोत्तर प्रभाव वाली) अनिर्वचनीय मध्याह्नकालिक (सूर्य की दीप्ति रूपी) लक्ष्मी इस सारे जगत् को बहुत बड़े अनिष्ट से बचाये।। 180।।

यहाँ पर अन्तिम पाद में अनुप्रास का भङ्ग हो गया है।

टि०–यहाँ आया आया और पाया पाया के रूप में प्रथम चरण से चौथे चरण तक चलने वाला अनुप्रास चतुर्थ चरण के अन्त में जाकर टूट गया है। इस कारण यहाँ जैसा आरम्भ है वैसा अन्त नहीं हो पाया है। अतः यहाँ भग्नप्रक्रम दोष है। 'नाथे निशायाः' इत्यादि तथा छाया० इत्यादि ये दोनों ही शब्दक्रमभङ्ग कथितपद दोष के उदाहरण हैं।

---

1. ज अ; यथा वा–छाया जाया०–अनुप्रासभङ्गःत में नहीं

ननु कथितपदस्य दोषत्वाभिधानात्कथमेकं पदं द्विःप्रयोज्यमिति चेत्, उच्यते। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यलाटानुप्रासार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यव्यतिरिक्त एव तस्य विषयः प्रत्युत तादृशि[1] विषये तस्यैव सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः।

(एक बार कहे हुए पद को दुबारा कहना कथितपद होता है।) कथितपद के दोष के रूप में कहे जाने के कारण एक ही पद दो बार कैसे प्रयोग के योग्य हो सकता है? यदि (पूर्वपक्षी की ओर से) यह शङ्का की जाय।

टि०–सामान्यतः पदप्रयोग का यह नियम है नैकं पदं द्विःप्रयोज्यं प्रायेण–प्रायः एक पद का दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु सर्वत्र यह नियम लागू नहीं होता। यहाँ इसके कुछ अपवादों को बतलाया जाता है।

तो (उपर्युक्त शङ्का के समाधानार्थ सिद्धान्ती की ओर से) यह कहा जाता है–1. उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य, 2. लाटानुप्रास और 3. अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यध्वनि–इन तीनों से अतिरिक्त स्थल ही कथितपद दोष के विषय होते हैं। इसके विपरीत ऐसे विषय में (इन तीनों में) उसी पद अथवा सर्वनाम के प्रयोग के बिना तो दोष होता है। (इनमें पुनरावृत्तिगुण हैं)।

टि०–काव्यप्रकाश (7, 59 वृत्तिभाग) में भी कथितपद को इन तीन स्थानों में दोष के रूप में नहीं माना गया है। मम्मट ने इसको इस रूप में स्पष्ट किया है–

कथितपदं क्वचिद् गुणः लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्यत्वे च। क्रमेणोदाहरणानि–

(1) सितकरकररुचिविभा विभाकराकार! धरणिधर! कीर्तिः।
पौरुषकमला कमला सापि तथैवास्ति नान्यस्य। काव्यप्रकाश 7,315

यहाँ कर कर, विभा विभा तथा कमला कमला इन तीनों स्थलों पर तात्पर्य का भेद होने पर शब्द तथा अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास है। शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः इस लक्षण के अनुसार यहाँ लाटानुप्रास होने पर पदों की पुनरावृत्ति दोष नहीं है।

---

1. ज अ; तादृशे त

तथा हि–

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

इत्यादौ रक्त एव यदि क्रियते तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव भासमानो नैकरूप्यमावहतीति तत्त्वम्। ननु पर्यायशब्दानां शक्यतावच्छेदकैक्यनियमात्

---

(2) तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयै गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।। 7, 311।।

यहाँ भवन्ति कमलानि कमलानि में दूसरा कमल पद सौरभसौन्दर्यादिविशिष्ट अर्थ का वाचक होने से अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य है इसलिए उसकी पुनरुक्ति दोष नहीं है।

(3) जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः।। 7, 317।।

यह विहितस्यानुवाद्य (उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव) का उदाहरण है।

यहाँ पहले वाक्य में जितेन्द्रियत्व से विनय का विधान किया गया है। दूसरे वाक्य में विनय अनुवाद्य (उद्देश्य) बन जाता है और गुणप्रकर्ष विधेय हो जाता है। पहले वाक्य में विहित अर्थात् विधेय रूप से प्रयुक्त विनय पद जब दूसरे वाक्य में अनुवाद्य या उद्देश्य रूप में प्रयुक्त होता है तब वह दोष नहीं रहता है।

(उदाहरण देकर बात स्पष्ट करते हैं) जैसे–

सूर्य ताम्र (लाल ही) उदय होता है और ताम्र (लाल) ही रहता हुआ अस्ताचल में जाकर छिपता है। सम्पत्ति (सुख के समय) और विपत्ति (दुःख के समय) में महापुरुषों का एक सा रूप रहता है।

इस प्रकार के और स्थलों पर यदि (दुबारा आने वाले ताम्र पद के स्थान पर) रक्त पद कर दिया जाय तो इस दूसरे शब्द से प्रतिपादित वही अर्थ दूसरे (भिन्न) अर्थ की तरह प्रतीत होता हुआ एकरूपता को धारण नहीं करता है यह सारभूत बात है।

टि०–ताम्र और रक्त दो भिन्न भिन्न शब्द हैं। इनका शाब्दबोध भी अलग तरह का होता है। ताम्र शब्द का ताम्रोपहित अर्थज्ञान है और रक्त शब्द का भी रक्तोपहित अर्थज्ञान है। किन्तु इन दोनों शब्दों के अर्थज्ञान में कारणभेद है पहले में ताम्र शब्द और दूसरे में रक्त शब्द के उच्चारण से अर्थज्ञान होता है। कारणभेद होने से जब शाब्दी प्रतीति भिन्न है तो आर्थी प्रतीति स्वतः भिन्न हो जाती है।

कथमन्यत्वेन प्रतीतिरिति चेत्, उच्यते। यन्मते शाब्दे बोधे[1] शब्दोऽपि भासते तन्मते रक्तादिशब्दान्तरस्य भासनादैक्यरूपासम्भवात्।[2]

(पूर्वपक्षी की ओर से) पर्यायवाची शब्दों के भीतर शक्यतावच्छेदक की एकता होने के नियम के कारण भिन्नार्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है? यदि ऐसा कहा जाय

टि०–पर्यायवाची शब्दों का शक्यतावच्छेदक एक होता है। अत: उनके अर्थों में भेद कैसे हो सकता है? यह प्रश्न है। शक्यतावच्छेदक का लक्षण नैयायिक इस प्रकार करते हैं–शक्यत्वे सति शक्यवृत्तित्वे सति शक्योपस्थितौ प्रकारतया भासमानत्वं शक्यतावच्छेदकत्वम्। जो स्वयं शक्य (वाच्य) हो और स्वयं शक्य में रहता हो और शक्य की उपस्थिति में जिसका विशेषण रूप से भान हो वह शक्यतावच्छेदक कहलाता है। जैसे–जात्याकृतिविशिष्टव्यक्ति में शक्ति रहती है। जाति स्वयं शक्य (वाच्य, अभिधाशक्तिलभ्य) है और व्यक्ति रूप शक्यार्थ में उसकी स्थिति है और व्यक्तिरूप शक्यकी उपस्थिति में उसका विशेषण रूप से भान होता है। इस प्रकार जाति शक्यतावच्छेदक है। विजातीय पदार्थों से अलग करने वाला धर्म जाति कहलाता है (विजातीयव्यावर्तको धर्मो जाति:) जैसे सारे मनुष्य व्यक्तियों में रहने वाली मनुष्यत्व जाति एक ही है वैसे ही 'घट:, कलश:' इन पर्यायवाची शब्दों में घटत्व और कलशत्व रूप में दिखाई पड़ने वाली जाति एक ही है और उनका एक ही अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार ताम्र और रक्तपदों में ताम्रत्व और रक्तत्व रूप में प्रतीत होने वाले अर्थों में जब एक ही शक्यतावच्छेदक की प्रतीति होती है तो ये भिन्नार्थक कैसे हो सकते हैं? ऐसा पूर्वपक्षी की ओर से आक्षेप है।

(सिद्धान्ती) तो हम इसका उत्तर देते हैं–क्योंकि जिन नैयायिकों के मत में शाब्दबोध में शब्द भी (विशेषण रूप से) भासित होता है उनके मत में (भी) दूसरे रक्तादि पदों के (ताम्र से) भिन्न पद के रूप में प्रतीत होने के कारण इन दोनों पदों की एकरूपता असम्भव है।

टि०–नैयायिकों के सिद्धान्त का यहाँ उल्लेख करके सिद्धान्ती अपने मत का प्रतिपादन कर रहे हैं। नैयायिकों का सिद्धान्त है–शब्दोऽपि तावच्छाब्दबोधे भासते शब्द भी तो अपने शाब्दबोध में भासित होता है। अर्थात् शब्द का भी शाब्दबोध में प्रवेश होता है। इस कारण प्रत्येक शब्द का अपना अलग ही ढंग का अर्थ हो जाता

---

1. ज अ; शाब्दबोधे त
2. ज अ; ऐक्यरूप्यासम्भवात् त

लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवत् शब्दोपहितशाब्दभानस्यापि स्वीकारात् अन्यथा घटकर्मकशाब्दे कथं हेतुता वाच्या?[1]

है। पर्यायवाची शब्दों की भी आनुपूर्वी (वर्णों का स्वरूप और क्रम) पृथक् पृथक् होने से उन शब्दों और उनके अर्थों में परस्पर भेद होता है। उदाहरणार्थ-हरि शब्द के इन्द्र, केसरी और सिंह पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु क्योंकि उनकी आनुपूर्वी (हरि शब्द में ह और रि वर्ण हैं और सिंह में सिं और ह हैं) भिन्न है इसलिए इनमें आनुपूर्वी की दृष्टि से भेद है। दूसरी ओर इन्हीं शब्दों से होने वाले अर्थों में (शाब्दबोधों में) भी भेद है। अयं घट: से घटत्वाभिन्नघटव्यक्ति का ज्ञान और दूसरे अयं कलश: से कलशत्वाभिन्नकलशव्यक्ति का ज्ञान हो रहा है। इसी भाँति ताम्र और रक्त पदों से ताम्रत्वाभिन्नताम्रव्यक्ति और रक्तत्वाभिन्नरक्तव्यक्ति यह अलग अलग दो प्रकार का शाब्दबोध होता है। इस प्रकार नैयायिकों के मत का अनुसरण करते हुए पर्यायवाची उन ताम्र और रक्त जैसे पदों में और उनके अर्थों में भेद सिद्ध हो जाता है। उन पर्यायवाची पदों और उनके अर्थों में भेद होने के कारण उनके शक्यतावच्छेदकों (घटत्व-कलशत्व, ताम्रत्व-रक्तत्व) में भी भेद की कल्पना कर लेनी चाहिए। ताम्र में ताम्रत्व शक्यतावच्छेदक रहता है जबकि रक्त में रक्तत्व शक्यतावच्छेदक की स्थिति है।

क्योंकि हेतु से युक्त हेतुमान् के बोध की तरह शब्दोपहितशाब्दभान भी शाब्दबोध में स्वीकार किया जाता है इस कारण भी (ताम्र और रक्त इन दोनों पदों में एकरूपता असम्भव है)।

टि०-लिङ्ग हेतु को कहते हैं और लैङ्गिक हेतुमान् को कहते हैं। जैसे हेतु से हेतुमान् (कार्य) का अनुमान होता है वैसे ही शब्द से शब्दोपहित शाब्दबोध होता है। पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् इस अनुमानवाक्य में पर्वतपक्षक वह्निसाध्यक धूमहेतुकज्ञान है और एतद्वृक्ष: कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात् इस दूसरे वाक्य में एतद्वृक्षपक्षक कपिसाध्यक एतद्वृक्षहेतुक ज्ञान है। ये दोनों ही ज्ञान एक दूसरे से भिन्न भिन्न हैं। इस लिङ्गोपहित लैङ्गिक के ज्ञान की भाँति ही ताम्रत्वोपहित ताम्रशाब्दबोध और रक्तत्वोपहित रक्तशाब्दबोध दोनों ही भिन्न भिन्न हैं। पहला ताम्रत्वाभिन्नताम्ररूपात्मक है तो दूसरा रक्तत्वाभिन्नरक्तरूपात्मक है।

लिङ्गोपहित.........शब्दोपहितशब्दभानतया प्रपञ्चितं चिन्तामणिभूषणे यह पाठ त में दिया है। पूरा पाठ इस प्रकार है-लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवत्

1. ज अ; न तावत्- चिन्तामणिभूषणे अतिरिक्त पाठ त

अर्थतो यथा–

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
वविततथमदाध्माते रोषान्मुनावभिधावति।

शब्दोपहितशाब्दभानस्यापि स्वीकारात् अन्यथा घटकर्मकशाब्दे कथं हेतुता वाच्या? न तावत्तदुत्तरा द्वितीयात्वेन तत्पदादिनापि तादृशबोधात्। न च स्वाव्यवहितबोधे तस्य हेतुत्वमनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात्, किन्तु घटद्वितीयदोषहिततादृशशाब्दभाने पटपदोत्तरद्वितीयाया हेतुत्वम्। एवं हि लाघवम्। अतएव तत्पदोपहिते तस्मिंत्तत्पदस्यैव हेतुत्वमित्यादि शब्दभानतया प्रपञ्चितं चिन्तामणिभूषणे। ज अ में न तावदुत्तरा––प्रपञ्चितं चिन्तामणिभूषणे यह भाग नहीं है। यहाँ लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवत्.........कथं हेतुता वाच्या? इतने ही अंश की व्याख्या की है। क्योंकि इससे आगे का स्थल क्लिष्ट और अस्पष्ट है।

नहीं तो (शब्द का शाब्दबोध में प्रवेश अस्वीकार करने पर) घटकर्मक शाब्दबोध में घटशब्द की कारणता कैसे बताई जायेगी?

टि०–शब्द से शब्दोपहित शाब्दबोध ही होता है यदि यह नियम न माना जाय तो देवदत्तो घटं करोति जैसे वाक्यों में देवदत्तकर्तृकघटकर्मतानुकूलकरणव्यापाररूपात्मक शाब्दबोध में घटकर्म की कारणता सिद्ध नहीं हो सकेगी। क्योंकि कलश भी घट का पर्यायवाची शब्द है। इस कारण उपर्युक्त शाब्दबोध में कलश कर्म की भी हेतुता मानी जाने लगेगी। पर्यायवाची होने से ही इनका एक ही शक्यतावच्छेदक मानना पड़ेगा। परन्तु वस्तुतः इन दोनों पदों में आनुपूर्वी (वर्णानुक्रम) के भेद के कारण तथा तत्तच्छब्दोपहित शाब्दबोध में तत्तत् शब्द की ही कारणता है। क्योंकि शब्द भी शाब्दबोध में भासमान होता है इस कारण जिस शब्द का उच्चारण होगा वही शाब्दबोध में जायेगा। इस प्रकार 'देवदत्तः घटं करोति' इस वाक्य के उच्चारण के अनन्तर व्यवधानशून्य उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध में घट कर्म की कारणता होगी और 'देवदत्तः कलशं करोति' इस वाक्य के उच्चारण के अनन्तर व्यवधानशून्य उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध में कलश कर्म की ही कारणता होगी। इस प्रकार नैयायिकों के मत में पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भिन्नता सिद्ध की जाती है। ग्रन्थकार भी इन युक्तियों के आधार पर यही सिद्ध कर रहे हैं कि 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' में ताम्र के स्थान पर रक्त पद रख देने से भिन्नार्थ की प्रतीति होगी और यह प्रतीति भग्नप्रक्रम दोष को उत्पन्न करेगी।

(शब्दक्रमभङ्ग के उदाहरणों के बाद) अर्थ से (अर्थक्रमभङ्ग का उदाहरण) जैसे–
अपरिमित तपस्या, दीप्ति और पराक्रम (के प्रभाव) की महिमा वाले, यश

अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च।। 181।।

अत्र क्रमस्य भङ्गः[1]। पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम्। एवमन्यदपि बोध्यम्।

अक्रमं लक्षयति–

क्रमः परिपाटी। अन्वयप्रतियोग्युपस्थापकपदानामव्यवधानेन सन्निवेशविशेष इति[2] यावत्। तादृशपदानामव्यवहित[3]सन्निवेशराहित्यं लक्षणम्।।119।।

के भण्डार, सच्चे अभिमान से भरे हुए मुनि परशुराम के क्रोधपूर्वक दौड़कर आने पर नई सीखी हुई धनुर्विद्या के दर्प के अनुरूप समर्थ कर्म के लिए अर्थात् धनुष उठाकर लड़ने के लिए और साथ ही मुनि के चरण स्पर्श (पैर छूने) के साथ अभिवादन के लिए वेग से (मेरा) हाथ फड़क रहा है।। 181।।

यहाँ क्रम की भग्नता है पादोपसङ्ग्रहणाय यह पहला विशेषण पहले कहना चाहिए। इसी प्रकार और उदाहरणों को भी समझ लेना चाहिए।

टि०–महावीरचरित नाटक के द्वितीय अङ्क के 30 वें श्लोक में धनुर्भङ्ग से कुपित परशुराम के आगमन के अवसर पर श्रीरामचन्द्र की यह उक्ति है। 'अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि' इस विशेषण का पहले प्रयोग है इसलिए इससे सम्बद्ध पादोपसङ्ग्रहणाय इस विशेषण का कथन क्रम की दृष्टि से पहले होना चाहिए। अवितथमदाध्माते रोषात् इसका सम्बन्ध अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे के साथ है उसका प्रयोग बाद में चौथे चरण में किया जाना चाहिए। प्रचलित शिष्टाचार पद्धति में पहले चरणस्पर्श और बाद में युद्ध करना उचित है। काव्यप्रकाश (7, 252) में भी यह पद्य इसी भग्नप्रक्रम दोष के उदाहरण में दिया है।

19. अक्रम–(ग्रन्थकार) अक्रम दोष का लक्षण करते हैं–

क्रम का अर्थ परिपाटी या शृङ्खला है। (अक्रम का अर्थ परिपाटीविहीन होना है। जहाँ क्रम-सिलसिला विद्यमान न रहे वहाँ यह दोष होता है।) अन्वय के विरोध को उपस्थित करने वाले पदों की बिना किसी रुकावट वाली स्थितिविशेष अक्रम कहलाती है। एतावन्मात्र (इसका लक्षण) है।

---

1. ज अ; प्रक्रमभङ्गः त
2. ज अ; सन्निवेश इति त
3. ज अ; मव्यवधानेन सन्निवेशराहित्यम् त

यथा–

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ! दोषाकरश्री-
वर्क्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति पुरतः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम्।। 182।।

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति न्याय्यम्। दूषकताबीजं चात्रासत्तिविरहः।

उस प्रकार के (क्रमभङ्ग से युक्त) पदों के अव्यवधानपूर्वक विन्यास का अभाव अर्थात् व्यवधान के साथ पदों को रखना ही अक्रम का लक्षण है।। 119।।

(अक्रम दोष का उदाहरण) जैसे–

हे (प्रजा के) स्वामी राजन्! आपकी दोनों बाहुओं में तलवार से उत्पन्न हुई यह शक्ति (पक्षान्तर में निस्त्रिंश-तीस से भी अधिक आदमियों के साथ सम्बन्ध रखने वाली व्यभिचारिणी स्त्री से उत्पन्न यह शक्ति नामक वेश्यापुत्री तुम्हारी बाहुओं में जकड़ी हुई तुम्हारा आलिङ्गन कर रही) है। दोषों की खान यह लक्ष्मी आपके मुख में (चुम्बन प्राप्त कर रही) है। (पक्षान्तर में दोषाकर-चन्द्रमा का सौन्दर्य आपके मुखमण्डल पर विराज रहा है) और यह महाकुट्टनी अत्यन्त दुश्चरित्रा (पक्षान्तर में बड़ा आघात पहुँचाने वाली) खड्गयष्टि आपके पास रहती है। आपकी यह आज्ञा सर्वमान्य होकर शोभा पाती है। आज्ञा नामक प्रेमिका सबके पास पहुँचने वाली व्यभिचारिणी है और तुम्हारे सामने (आकर) विलास करती है। ऐसी दशा में इस बूढ़ी (राजपक्ष में वृद्धि को प्राप्त, दूर दूर तक फैली हुई) मुझ (कीर्ति) से आपका क्या प्रयोजन है? मानों क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहकर चन्द्रकिरणों के समान उज्ज्वल एवं सफेद जिस (राजा) की कीर्त्ति (रूपी रानी) भाग गई है। (राजपक्ष में सब जगह फैल गई है। ऐसे आप प्रभावशाली राजा हैं)।। 182।।

इस (श्लोक में प्रोच्येवेत्थं के स्थान पर) इत्थं प्रोच्येव यह पाठ होना उचित है। यहाँ पर आसत्ति का न होना ही (इस दोष में) दूषकता का कारण है।

टि०–यह श्लोक काव्यप्रकाश (7, 254) में भी इसी दोष के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है। पदानामव्यवधानेनोच्चारणमासत्तिः इस परिभाषा के अनुसार साकाङ्क्ष पदों का व्यवधानरहित उच्चारण आसत्ति कहलाता है। क्रम टूटने से व्यवधान आ जाता है और आसत्ति नष्ट हो जाती है।

न चास्थानस्थबीजसाङ्कर्यम्, तत्रासत्तिविरहविशिष्टविरुद्धार्थप्रतीतेः सत्त्वात्। न चार्धान्तरितबीजसाङ्कर्यं तत्र यतिकृतव्यवधानराहित्यमत्र पदकृतमित्यनयो र्विशेषात्[1]। अमतपरार्थं लक्षयति–

प्राकरणिकरसविरुद्धरसोपस्थापकत्वं लक्षणम्।।120।।

ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ।
रौद्राद्भुते तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः।।121।।

यथा–

विमुञ्चामुं मानं सफलय वचः साधु सुहृदां
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।

और यहाँ अस्थानस्थ पददोष की दूषकता के साथ इसकी दूषकता का साङ्कर्य नहीं होता क्योंकि वहाँ पर आसत्ति के अभाव से युक्त विरुद्ध अर्थ की प्रतीति की विद्यमानता होती है अर्थात् वहाँ आसत्ति के बिना भी विरोधी अर्थ प्रतीत होता है। और न ही अर्धान्तरित (अर्धान्तरैकवाचक) दोष की दूषकता के कारण के साथ (इस दोष की दूषकता के कारण का) साङ्कर्य है, क्योंकि उस दोष में यति के द्वारा व्यवधान का अभाव होता है अर्थात् यति (छन्दोविराम) तो ठीक रहता है परन्तु एक पाद के पद दूसरे पाद में चले जाते हैं। यहाँ पदों के द्वारा व्यवधान तो नहीं किया जाता किन्तु उनका क्रम अशुद्ध हो जाता है यही इन दोनों में भेद है।

टि०–पहले अस्थानस्थ का लक्षण (114) करते समय उसका अक्रम के साथ भेद दिखाया जा चुका है।

20. अमतपरार्थ–(ग्रन्थकार) अमतपरार्थ का लक्षण करते हैं–

प्रकृत रस के विरुद्ध रस का उपस्थापक होना अमतपरार्थ दोष का लक्षण है।।120।।

शृङ्गार और बीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र और अद्भुत एवं हास्य और करुण ये रस परस्पर विरोधी रस समझने चाहिएँ।।121।।

जैसे–

इस प्रणयकोप को छोड़ दो अपने हितैषी मित्रों के सुन्दर वचन को (प्रसन्न

---

1. ज अ; पदकृतमिति भेदात् त

निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः।। 183।।

अत्र शृङ्गारविरोधिशान्तानुभावविभावादिभिः शान्तोऽपि प्रतीयते। दूषकताबीजं चात्र विरुद्धरसप्रतीतिः परस्परविरोधेन द्वयोरेवारस्यत्वम्। अतएव नागानन्दे अहो गीतमहो वाद्यमित्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो वर्णितः। उक्तं च काव्यप्रकाशे–

होकर) सफल करो। हे प्रिये! (तुम्हारी इस नाराज़गी के कारण मेरे) अङ्ग सूखे जा रहे हैं इनके ऊपर अमृत के समान तुम्हारा वचन आनन्दरूपी जल से सिञ्चन करे। (मेरे) सारे सुखों के (एक मात्र) भण्डार अपने इस सुन्दर मुख को जरा मेरे सामने करो। हे मुग्धे (अरी भोली) गया हुआ यह समय रूपी मृग फिर लौटकर नहीं आ सकता है।। 183।।

टि०–इस श्लोक में अपनी रूठी हुई नायिका को मनाने वाले नायक की उपर्युक्त उक्तियाँ हैं।

यहाँ शृङ्गार रस के विरोधी शान्त रस के अनुभाव, विभाव और व्यभिचारिभावादियों से शान्त रस भी प्रतीत हो रहा है।

टि०–'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः' यह वाक्य शृङ्गारविरोधी है और शान्त रस का प्रकाशन करने वाला है। इससे शृङ्गार रस के प्रतिकूल यौवन की अनित्यता प्रकाशन रूप शान्त रस के विभाव और उससे प्रकाशित इसी रस के निर्वेद रूप व्यभिचारिभाव का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यहाँ प्रकृत शृङ्गार रस के प्रतिकूल विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का ग्रहण होने से अमतपरार्थ दोष आ गया है।

और यहाँ पर दूषकता का कारण विरुद्ध रस की प्रतीति है। एक दूसरे के साथ विरोध होने से दोनों ही रसों के भीतर नीरसता आ जाती है। इसलिए नागानन्दनाटक में अहो गीतमहो वाद्यं इस रूप में कहकर अद्भुत रस को मध्य में (व्यवधानकारक के रूप में) रखकर (जीमूतवाहन का) मलयवती के प्रति शृङ्गार का वर्णन किया है।

टि०–हर्षवर्धनकृत नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन के अभिनय में पहले शान्तरस का प्रदर्शन है उसके बाद जब वह मलयवती का गाना सुनता है तो अहो गीतमहो वाद्यं कह उठता है तदनन्तर शृङ्गार रस का निरूपण है। इस प्रकार वहाँ शान्त और शृङ्गार के मध्य अद्भुत रस का सन्निवेश है।

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः।।

इत्यादि। इति वाक्यदोषाः।

वस्तुतस्तु, उपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तमिति त्रयो[1] दोषा न सम्यञ्चः। तथा हि–एतेषां बन्धशैथिल्यापादकत्वमेव दूषकताबीजम्। तथा च बन्धदार्ढ्य[2]रूपश्लेषनाम्नो गुणस्याभावरूपा एवैते न दोषाः।[3] ननु वैपरीत्यमेव कुतो न स्यादिति चेन्न[4]

और काव्यप्रकाश (7, 64) में कहा गया है–

जो रस एक आश्रय के भीतर रहने में विरोधी है उसको भिन्न आश्रय में (वर्णित) करना चाहिए और जो रस नैरन्तर्य से विरोधी (रस) है उसको दूसरे अविरोधी रस से व्यवहित कर देना चाहिए। ऐसी ही (रससम्बन्धी) और बातों का भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वाक्य दोष समाप्त होते हैं।

टि०–वीर और भयानक में एकाश्रयगत विरोध है क्योंकि ये एक आश्रय (नायक, स्थान) में नहीं रह सकते। अतः वीर को नायक में रखा देना चाहिए और भयानक को प्रतिनायक में और जिन रसों में कालिकविरोध अर्थात् नैरन्तर्य से वर्णन करने में विरोध आता है उनका व्यवधान से वर्णन करना चाहिए। शील और शृङ्गार के बीच में अद्‌भुत को रखना चाहिए। इसी रीति से उनमें उपस्थित होने वाले विरोध से बचा जा सकता है।

वास्तव में तो 1. उपहतलुप्तविसर्ग 2. विसन्धि और 3. हतवृत्त ये तीनों दोष ठीक नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण ऐसे है–इन तीनों के भीतर रचना के अन्दर शिथिलता (दृढ़ता के अभाव) को उत्पन्न कर देना (इन दोषों की) दूषकता का कारण है और ये दोष रचना की दृढ़ता रूप श्लेष नामक गुण (बन्धदार्ढ्यं श्लेषः–रचना का सुघटित–दृढ़ होना ही श्लेष है) के अभावात्मक स्वरूप वाले नहीं हैं।

टि०–श्लेष नामक गुण का अभाव ही दोष नहीं कहलाता क्योंकि गुणाभाव का नाम दोष नहीं है अपितु रसापकर्षक होने को दोष कहते हैं।

---

1. ज अ; चत्वारो त
2. ज अ; दीर्घ त
3. त; गुणस्याभावरूपत्वमेव न दोषत्वम् ज अ
4. ज अ; न च वैपरीत्यमेवास्त्विति वाच्यम् त

एतेषामभावेऽपि बन्धदार्ढ्यरूपस्य श्लेषस्य सत्त्वात्[1]। एवं न्यूनपदमधिकपदं कथितपद[2]मेते दोषा अपि न सम्यञ्चः। काव्याकाव्यसाधारणानां दोषाणां काव्ये विशिष्योपादानप्रयासस्यायुक्तत्वात्।[3]

एवमेव पतत्प्रकर्षदूषणमपि[4] न चारु। तथाहि–समता मार्गाभेदः। यया रीत्योपक्रमस्तया समापनं गुणः। तदभाव एव येन दोषः। ननु वैपरीत्यमेव कुतो न स्यादिति चेत् न, यत्र पश्चात्प्रकर्षस्तत्र पतत्प्रकर्षाभावेऽपि समताया अभावात्। एवं

(पूर्वपक्षी– इससे विपरीत ही क्यों न मान लिया जाय) इन दोषों के अभाव में श्लेष होता है ऐसा क्यों न मान लिया जाय? (सिद्धान्ती) ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोषों का अभाव होने पर भी बन्धदार्ढ्य रूप श्लेष होता है (इसे इनका अभावरूपात्मक नहीं माना जा सकता) इसी प्रकार न्यूनपद, अधिकपद और कथितपद ये तीन दोष भी ठीक नहीं हैं। क्योंकि काव्य और काव्येतर इतिहासपुराणादि तथा लोकव्यवहार–दोनों में ही समान रूप से रहने वाले इन दोषों का काव्य में विशिष्ट रूप से ग्रहण करने और वर्णन करने का प्रयास ठीक नहीं है।

टि०–न्यूनपदादि ये दोष काव्यों में भी होते हैं और सामान्य वार्तालाप आदि प्रसङ्गों में भी होते हैं। इस कारण काव्यातिरिक्त स्थलों में भी दिखाई पड़ने के कारण ये काव्य के ही दोष नहीं कहे जा सकते।

इसी प्रकार पतत्प्रकर्ष दोष भी ठीक नहीं है। इसे समझाते हैं–समता (गुण) मार्गाभेदस्वरूपिणी है जिस रीति (ढंग) से प्रारम्भ हो उसी से समाप्त करना समता नामक गुण है। उस गुण का अभाव ही वह कारण है जिससे पतत्प्रकर्ष दोष होता है। यदि (पूर्वपक्षी की ओर से) यह कहा जाय कि इससे उल्टा ही क्यों न माना जाय अर्थात् पतत्प्रकर्ष दोष का अभाव ही समता क्यों न मान ली जाय तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि जहाँ उत्तरोत्तर वाक्य में बन्धदार्ढ्यरूप उत्कर्ष दिखाई पड़ेगा वहाँ इस पतत्प्रकर्ष दोष का अभाव मानने पर भी (क्योंकि ऐसे स्थलों पर यह दोष नहीं माना जाता) समता नामक गुण का अभाव मानना पड़ेगा (वस्तुतः ऐसे स्थलों में समता

---

1. ज; बन्धदीर्घरूपस्य श्लेषस्य सत्त्वात् अ; बन्धदार्ढ्यरूपश्लेषस्य भावात् त
2. ज अ; न्यूनपदं कथितपदमधिकपदम् त
3. ज अ; विशिष्योपादानप्रयासस्यानुचितत्वात् त
4. ज अ; पतत्प्रकर्षमपि न चारु त

समाप्तपुनरात्त[1]मपि न दूषणमिति प्राक् प्रतिपादितम्। एवमर्धान्तरैकवाचकमपि न दूषणम्। तथाहि–अस्थानस्थपद एवान्तर्भावात्, अनासत्तेर्दूषकता बीजस्य तुल्यत्वात्। न च पदकृतासत्तिविरहोऽस्थानस्थपदे दूषकताबीजमत्र तु यतिकृतभेद इति वाच्यम्, यत एवं तादृशयत्किञ्चिद्भेदकल्पने[2] दोषाणामानन्त्यं स्यात्।[3] एवमभवन्मतयोगोऽपि काव्याकाव्यसाधारणमेव दूषणमतः काव्ये विशिष्योपादानवैयर्थ्यम्। एवमनभिहितवाच्यं न्यूनपद एवान्तर्भूतम्। न च न्यूनपदं वाचकपदरहितम् अनभिहितवाच्यं तु द्योतकघटित[4]मिति वाच्यं दत्तोत्तरत्वात् एवं[5] संकीर्णं गर्भितमक्रममेतानि त्रीणि न पृथग्[6]

नामक गुण माना जाता है)। इसी प्रकार समाप्तपुनरात्त दोष भी दोष नहीं है इस बात का पहले प्रतिपादन किया जा चुका है। (उसमें पृथक् विशेषण में भी वक्ता का तात्पर्य होने से दूषकता बीज नहीं है।) इसी प्रकार अर्धान्तरैकवाचक भी पृथक् दोष नहीं है क्योंकि इसका अन्तर्भाव भी अस्थानस्थ पददोष के भीतर हो जाता है और इन दोनों ही दोषों में (पदों में) आसत्तिविरह ही दोष का कारण होता है (ये दो युक्तियाँ दी जा सकती हैं)।

(शङ्का) अस्थानस्थपद दोष में पदकृतासत्ति का अभाव दोष का कारण है और अर्धान्तरैकवाचक में यतिकृतासत्ति का अभाव दोष का कारण है (यह इन दोनों में भेद है) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वैसे छोटे छोटे भेद मानने पर तो अनन्त दोषों को मानना पड़ जाएगा (इसलिए थोड़े थोड़े भेद के आधार पर अलग अलग छोटे छोटे भेद नहीं करने चाहिए)।

इसी प्रकार अभवन्मतयोग भी काव्यों और अकाव्यों में साधारण रूप से पाया जाने वाला दोष है इसलिए काव्य में उसको विशेष रूप से पृथक् ग्रहण करना अर्थात् उसको काव्य का ही दोष बताना व्यर्थ है। इसी प्रकार अनभिहितवाच्य दोष का न्यूनपद दोष के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है (अनभिहितवाच्य में भी पदाभाव होता है और न्यूनपद में भी पदाभाव मिलता है) और न्यूनपद में वाचकपद का राहित्य होता है और

---

1. त; –पुनरात्तं दूषणमिति ज अ
2. त; यत एतादृशत्वभेदकल्पने ज अ
3. ज अ, दोषाणामानन्त्यात् त
4. ज अ; न्यूनपदे वाचकपदरहितत्वमनभिहितवाचके तु द्योतकत्वघटितमिति त.......
5. त; एवं ज अ में परित्यक्त
6. ज अ; पृथग् न त

दूषणानि अस्थानस्थपद एवान्तर्भावात्। एवं प्रसिद्धिविहतभग्नप्रक्रमामतपरार्था-नामनुचितार्थ एवान्तर्भावान्न पृथग्दूषणत्वमिति तत्त्वम्।

अथार्थदोषाः-

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः।
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।। 122।।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः।
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।। 123।।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ।

इति प्राचां दोषास्ते उक्तदोषेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः। तथाहि-पुष्टं पोषणमुत्कर्षः। पश्चान्न विद्यते पुष्टं[1] यत्रेति नञा समासः। तथा च प्रकृतवाक्यो-द्देश्योत्कर्षाहेत्वर्थ[2] रूपापुष्टार्थस्याधिकपदे निरर्थके वा अन्तर्भावः।

अनभिहितवाच्य द्योतक पद (के अभाव) से घटित होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इसका उत्तर पहले दे दिया है। इसी प्रकार सङ्कीर्ण, और गर्भित अक्रम ये तीन अलग अलग दोष नहीं है क्योंकि अस्थान-स्थपददोष में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार 1. प्रसिद्धिविहत 2. भग्नप्रक्रम और 3. अमतपरार्थ-इन तीनों दोषों का अनुचितार्थ में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण अलग से दोषत्व नहीं है यह तत्त्व भरी बात है।

इस (पद, पदांश तथा वाक्य तीनों में रहने वाले 16 दोषों और वाक्य में रहने वाले 21 दोषों के निरूपण) के बाद (23) अर्थदोष हैं-

1. अपुष्टार्थ, 2. कष्ट, 3. व्याहत, 4. पुनरुक्त, 5. दुष्क्रम, 6. ग्राम्य, 7. सन्दिग्ध, 8. निर्हेतु, 9. प्रसिद्धिविरुद्ध, 10. विद्याविरुद्ध, 11. अनवीकृत, 12. नियमपरिवृत्त, 13. अनियमपरिवृत्त, 14. विशेषपरिवृत्त और 15. अविशेष परिवृत्त, 16. साकाङ्क्ष, 17. अपदयुक्त, 18. सहचरभिन्न, 19. प्रकाशितविरुद्ध।। 122-123।।

20. विध्ययुक्त, 21. अनुवादायुक्त, 22. त्यक्तपुनःस्वीकृत और 23. अश्लील अर्थ (दुष्ट होता है)।

इस रूप में प्राचीन मम्मट (काव्यप्रकाश 7, 55-57) प्रभृति आचार्यों के

---

1. ज अ; न पुष्टं विद्यते त
2. ज अ; हेतुरूपापुष्ट त

यथा–

तमालश्यामलाम्भोधिं लङ्घयामास वानरः।। 184।।

कष्टस्य क्लिष्टे अन्तर्भावः। व्याहतस्यानुचितार्थे अन्तर्भावः।[1]

यथा–

अद्यापि स्मरति रसोल्लसन्मनो मे।
मुग्धायाः स्मरचतुराणि चेष्टितानि।। 185।।

मुग्धायाः स्मरचतुराणि कथं चेष्टितानि? स्मरचतुराणि चेच्चेष्टितानि तदा कथं मुग्धा?

(मतों में) जो दोष माने गए हैं वे (पहले) बतलाये हुए दोषों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस कारण उनका अलग से प्रतिपादन नहीं किया है। इसको इस तरह स्पष्ट किया जाता है–(अपुष्ट)-पुष्टम् का अर्थ है पोषण, (पोषण का अर्थ है) उत्कर्ष। जिसमें आगे जाकर अर्थ की पुष्टि नहीं होती है वह अपुष्टार्थ है। यहाँ पुष्ट शब्द का नञ् के साथ समास है। और प्रकृत वाक्य में उद्देश्य के उत्कर्ष में अहेतु बनने वाले उस अहेतु रूप अर्थ अपुष्टार्थ का अधिकपद अथवा निरर्थक में अन्तर्भाव हो जाता है।

(1, अपुष्टार्थ के उदाहरण के रूप में) जैसे–तमाल जैसे श्यामवर्ण समुद्र को हनुमान् ने पार कर लिया।। 184।।

टि०–यहाँ 'अम्भोधिम्' का तमालश्यामलं यह विशेषण व्यर्थ है। इसने समुद्र की किसी विशेषता को नहीं बढ़ाया है। अतिविस्तीर्णमम्भोधिम् जैसे प्रयोग ही सार्थक हो सकते हैं।

2. कष्ट दोष का क्लिष्ट में अन्तर्भाव हो जाता है। 3. व्याहत दोष का अनुचितार्थ में अन्तर्भाव हो जाता है।

(व्याहत का उदाहरण) जैसे–

आज भी रस (आनन्द) से उल्लसित मेरा मन मुग्धा प्रेमिका की काम भरी चतुर चेष्टाओं (लीलाओं) का स्मरण कर रहा है।। 184।।

मुग्धा नायिका की काम भरी चेष्टायें कैसे हो सकती हैं (क्योंकि मुग्धा नायिका तो वह भोली नायिका है जो कामसम्बन्धी भावों को अभिव्यक्त नहीं कर पाती और उसके अन्दर ऐसी चेष्टायें नहीं होतीं) और यदि कामसम्बन्धी चतुर चेष्टायें उसके भीतर हैं तो वह मुग्धा कैसे (कही जा सकती है)?।।185।।

---

1. ज अ; व्याहतस्या........र्भावः त में परित्यक्त

यथा वा–

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः।।86।।

अत्र यदेवापकर्षार्थं तदेवोत्कर्षार्थमारोपितम्।

उक्तञ्च प्राचीनैः–

उत्कर्षो वापकर्षो वा प्राग् यस्यैव निगद्यते।
तस्यैव चेत्तदन्यत्वं व्याहतार्थं तदा भवेत्।।

टि०–यहाँ मुग्धा के उत्कर्ष को सूचित करने के लिए स्मरचतुराणि चेष्टितानि पदों का प्रयोग किया गया है किन्तु इन पदों से मुग्धा नायिका का अपकर्ष ही द्योतित होता है। मुग्धा का उत्कर्ष तो उसके भोलेपन के कारण अदाओं के न जानने से सूचित होता है। परस्परविरुद्ध वचन होने से यहाँ व्याहत दोष है।

अथवा (व्याहत दोष से दूषित का और उदाहरण) जैसे–

नवीन चन्द्रमा की कला आदि वे (प्रसिद्ध) पदार्थ संसार में (अन्य लोगों के लिए बहुत सुन्दर) सर्वोत्कर्षयुक्त हुआ करते हैं और जो अन्य पदार्थ भी (साधारण लोगों के) मन को आह्लादित करते हैं वे भी स्वभावतः सुन्दर हैं ही (नहीं तो वे लोगों को मोहित कैसे कर लेते हैं परन्तु मेरे लिए उनमें कोई आकर्षण नहीं है)। मेरे लिए तो संसार में जो यह (मालती रूप) नेत्रों की चाँदनी (चाँदनी के समान नेत्रों को आनन्ददायक) दिखाई पड़ी है वही इस जीवन में एकमात्र सबसे बड़ा आनन्द है।। 186।।

यहाँ पर जो नवेन्दुकलादि वस्तुएं अपकर्ष के लिए (श्लोक के पूर्वार्ध में पढ़ी गई) हैं उनका ही उत्तरार्ध में उत्कर्ष के लिए नायिका के उपमान के रूप में आरोप किया गया है (इस कारण यहाँ व्याहत दोष है)।

और प्राचीन आचार्यों ने कहा है–

जिस वस्तु की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता पहले बता दी गई है उसी वस्तु का ही यदि तद्वैपरीत्य पाया जाय तो व्याहतार्थ दोष होता है।

एवं पुनरुक्तस्याप्यधिकपदे निरर्थके वा अन्तर्भावः। तथा दुष्क्रमस्याप्य[1]नुचितार्थे अन्तर्भावः। एवं ग्राम्यो ग्रामसम्भवः अविदग्धस्तत्प्रतिपादितः स्वरिरंसादिः तस्याप्यनुचितार्थे अन्तर्भावः[2]। एवं सन्दिग्धस्य सन्दिग्ध एवान्तर्भावः। एवं निर्हेतो र्न्यूनपदे। एवं प्रसिद्धि[3]परिहीनस्यानुचितार्थेऽन्तर्भावः। विद्याविरुद्धस्याप्यनुचितार्थे अन्तर्भावः। विद्येत्युपलक्षणं प्रत्यक्षादिविरोधेऽपि बोध्यम्। यथा–सविषाणस्तुरङ्गमः,

---

टि०–तदन्यत्वम् का अर्थ है उससे विपरीत अथवा भिन्न वर्णन। पहले जिसका उत्कर्ष बताया गया हो और बाद में उसका अपकर्ष कहा जाय अथवा पहले जिसका अपकर्ष बताकर बाद में उत्कर्ष दिखाया हो तब यह दोष होता है।

इसी प्रकार 4. पुनरक्त का भी अधिकपद या निरर्थक में अन्तर्भाव होता है और 5. दुष्क्रम का भी अनुचितार्थ में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार ग्राम्य का अर्थ है–ग्राम में उत्पन्न अर्थात् मूर्ख व्यक्ति। ग्रामीण (मूर्ख) व्यक्ति के द्वारा (स्पष्ट शब्दों में) प्रतिपादित जो अपने रमण (सम्भोग) करने की अभिलाषा आदि बातें जिसके अन्तर्गत आती हैं उस ग्राम्य दोष का भी अनुचितार्थ में अन्तर्भाव हो जाता है।

टि०–देहि मे रतिं प्रिये त्वत्समीपे स्वपिम्यहम् जैसे वाक्यों में ग्राम्य दोष होता है।

इसी प्रकार 7. सन्दिग्ध (अर्थदोष) का सन्दिग्ध (पददोष में अन्तर्भाव हो जायेगा। इसी प्रकार 8. निर्हेतु का न्यूनपद में (अन्तर्भाव हो जाता है)।

टि०–काव्यप्रकाश (7, 264) में निर्हेतु के उदाहरण 'गृहीतं येनासीः' इत्यादि श्लोक में द्रोणाचार्य के शस्त्र छोड़ने का हेतु कहा हुआ है किन्तु अश्वत्थामा के शस्त्रपरित्याग का कोई हेतु नहीं बताया गया है अतः वहाँ निर्हेतु दोष है।

इसी प्रकार 9. प्रसिद्धिविरुद्ध का अनुचितार्थ में अन्तर्भाव (हो सकता है)। 10. विद्याविरुद्ध का भी अनुचितार्थ में अन्तर्भाव (हो जाता है)। यहाँ विद्या शब्द उपलक्षण है (अर्थात् यह शब्द अपना अर्थ तो बताता ही है किन्तु दूसरे प्रत्यक्षादि शब्दों का भी ग्रहण कर रहा है–स्वार्थावबोधकत्वे सति परार्थावबोधकत्वमुपलक्षणत्वम्, इसलिए) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध

---

1. त, दुष्क्रमस्यानुचितार्थे ज अ
2. ज अ, एवं ग्राम्यो.....भावः त में परित्यक्त
3. ज अ; प्रसिद्धिहीनस्य त

अनुमानविरोधे–न कर्ता जगदीश्वरः। आगमविरोधे नरकपालं परं मेध्यमित्याद्यनुचितार्थ एवान्तर्भूतम्[1]।

एवमनवीकृतत्वं पृथग्भङ्ग्यननुपात्तैकार्थत्वं न दोषः किन्तु गुणाभाव उक्तिवैचित्र्यात्मकमाधुर्यगुणस्य[2] विद्यमानत्वात्। अतोऽत्र गुणाभावादेव रसापकर्ष इति। तथा नियमपरिवृत्त[3]स्यापि न्यूनपद एवान्तर्भावः। नियमस्य शब्दादप्रतिपत्ति-र्नियमपरिवृत्तिः।

होने पर भी विद्याविरुद्ध होता है। जैसे 'सविषाणस्तुरङ्गमः' (सींगों से युक्त घोड़ा इस वाक्य में घोड़े के साथ सींगों का विशेषण सङ्गत नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण का विरोध आता है)। अनुमानविरोध होने पर (होने वाले विद्याविरुद्ध का उदाहरण संसारस्य) 'न कर्ता जगदीश्वरः' है (क्योंकि अनुमानप्रमाण से ही ज्ञात हो जाता है कि घट कार्य का कर्ता जैसे कुलाल है वैसे ही संसार रूपी कार्य का कर्ता ईश्वर है इसलिए यहाँ अनुमान का विरोध आने से विद्याविरुद्ध है)। आगमविरोध होने पर विद्याविरुद्ध (का उदाहरण) यह नरमुण्ड बहुत पवित्र है इत्यादि उदाहरण अनुचितार्थ में ही समा जाते हैं।

इसी प्रकार किसी दूसरे अलग प्रकार के शब्दों के अग्रहण के कारण जहाँ एक ही तरह का अर्थ गृहीत होता है वह 11. अनवीकृत नामक अर्थदोष दोष नहीं है अपितु गुण का अभाव (रूप) है। क्योंकि विचित्र प्रकार की उक्तियों से भरा होना माधुर्य गुण उसमें विद्यमान होता है (केवल पदों के वैचित्र्यमात्र से यह गुण नहीं होता जहाँ ऐसा अर्थ भी होता है वहाँ माधुर्य गुण की सत्ता होती है)। इसलिए इस प्रकार की (इन उक्तिवैचित्र्य के अभाव वाले) स्थलों में इस गुण के अभाव से ही रस का अपकर्ष (हानि) होता है। यह (अभिप्राय) है।

टि०–काव्यप्रकाश (7, 271) में प्राप्त 'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्, दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्' इत्यादि श्लोक में 'ततः किम्' इस पदसमूह का चार बार प्रयोग दिखाया गया है। जहाँ नये पद न रखकर पहले प्रयुक्त पदों का ही उसी पुराने अर्थ को बताने के लिए प्रयोग किया जाता है वहाँ अनवीकृत दोष होता है।

1. त;......दि अनुचितार्थे एव अन्तर्भूतम् ज अ
2. त;..........माधुर्यस्य ज अ
3. ज अ, नियमवृत्तस्यापि त

यथा–

यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे–
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्सम्पद–
स्तस्या[1]भासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम्।। 187।।

अत्र[2]छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्त[3]स्याश्मतैवोचिता, इति सनियमत्वं वाच्यम्।

और इसी प्रकार 12. नियमपरिवृत्त का भी न्यूनपद में अन्तर्भाव हो जाता है। नियम की शब्द से प्रतीति न होना ही नियमपरिवृत्ति कहलाती है।

(नियमपरिवृत्त का उदाहरण) जैसे–

जिस (अद्वितीय चिन्तामणि) के सामने विधाता की यह सारी रचना अनुल्लेखनीय व्यक्ति की रचना के समान (नगण्य, निष्प्रयोजन) ही प्रतीत होती है, जिसमें उत्कर्ष के प्रतियोगी (प्रतिद्वन्दी अर्थात् उस पदार्थ से यह कौस्तुभ मणि अच्छी है इस प्रकार उत्कृष्ट गुण वाले उपमान के रूप में होने) की कल्पना करना भी (जिसके) अपमान की पराकाष्ठा (परम अपमान) है, जिसकी (सामर्थ्य) सम्पदायें प्राणियों के मनोरथों की गति को भी पार कर गई हैं (अर्थात् देवता, मनुष्य, राक्षस आदि सभी प्राणियों की आशा से भी बाहर सभी पदार्थ देने की शक्ति जिस चिन्तामणि में है), उसकी चमक (प्रतिबिम्ब) से मणि बनाये जाने वाले पत्थरों के (साथ तुलना आदि करने की अपेक्षा उनके) बीच उस चिन्तामणि का पत्थर (रूप में परिगणित) होना ही उचित है।। 187।।

टि०–नियमपरिवृत्त का यह उदाहरण काव्यप्रकाश (7, 274) में भी दिया हुआ है। जहाँ नियम के निर्धारण सहित बात कहनी चाहिए वहाँ यदि बिना नियम के वर्णन किया जाय तो यह दोष होता है। इसको सनियमवैपरीत्य भी कह सकते हैं। इस दोष के इस उदाहरण में कवि यह भाव प्रकट करना चाहता है कि किसी अलौकिक योग्यताशाली महापुरुष की साधारण पुरुषों के साथ गणना करना या उन क्षुद्र पुरुषों से उसकी तुलना करके उसकी किसी विशेषता का प्रदर्शन करना उसका अपमान करना ही है। यहाँ इस नियम का उल्लंघन है। यहाँ चिन्तामणि को प्रस्तुत विषय बनाकर उसकी प्रशंसा करते हुए कवि ने यह पद्य लिखा है। अपने प्रतिबिम्ब मात्र से यह मणि पत्थर को भी मणि बना देता है। इस कारण पत्थर के साथ इसकी तुलना नहीं करनी चाहिए।

यहाँ (उसकी) छायामात्र से मणि बने हुए पत्थरों में उस मणि की

1. तस्याभास ज अत 2. त; ज अ में परित्यक्त 3. त; मणेरस्याश्मतै० त अ

तथा मात्रार्थे कृते तु[1] गुणान्तरव्यवच्छेदेन निन्दातिशयः प्रतीयते, प्राकृतमणेस्तु गणनायां चिन्तामणेर्गणनानुचितेति कवितात्पर्यविषयीभूतार्थः सिध्यति। तथा च चिन्तामणिवृत्तिगुणव्यवच्छेदाय मात्रार्थो विवक्षित इति निर्गलितार्थः[2] तथा अनियमपरिवृत्तस्याधिकपदे। अविवक्षितनियमस्य शब्देन प्रतिपादनमनियमपरिवृत्तिः यथा–

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।

पाषाणरूपता (से गणना) ही उचित है। इस प्रकार (नियमसूचक 'मात्र' पद को जोड़ कर 'तस्याभास' के स्थान पर 'छायामात्र') इस भाँति सनियमत्व कहना चाहिए। (उस मात्र शब्द का प्रयोग न करने से यह 'सनियमपरिवृत्त' रूप अर्थदोष का उदाहरण बन गया है। इस प्रकार यहाँ तस्याभास के स्थान पर छायामात्र पाठ होना चाहिए तभी उसकी अश्मता उचित होगी)। और मात्र के अर्थ में शब्द का प्रयोग कर देने पर तो दूसरे गुणों का अभाव हो जाने से अत्यधिक निन्दा की प्रतीति होती है अर्थात् भगवान् की रचना को निष्प्रयोजन कर देना और प्राणियों के मनोरथों को पूरा करना आदि इन सारे गुणों का चिन्तामणि में अभाव हो जाता है। इसी से निन्दातिरेक का ज्ञान होता है। साधारण मणि की गिनती के बीच चिन्तामणि की गणना करना अनुचित है यही अर्थ यहाँ कवि के तात्पर्य का विषय है (अतएव इसी अर्थ की प्रधानता है)। और चिन्तामणि में रहने वाले (विशेष) गुणों का (अन्य मणियों में रहने वाले मामूली गुणों से) व्यवच्छेद (पार्थक्य) करने के लिए मात्र शब्द एवं उसका अर्थ यहाँ विवक्षित (कथन के लिए अपेक्षित) है यह पर्यवसित (सारभूत) अर्थ है। और अनियमपरिवृत्त का अधिकपद में (अन्तर्भाव हो जाता है) जो नियम विवक्षित नहीं है उसका शब्द के द्वारा प्रतिपादन करना अनियमपरिवृत्ति है।

टि०–जहाँ अनियम से अर्थात् बिना नियम के बात कहनी उचित है वहाँ नियम या अवधारणपूर्वक वर्णन करने से अनियमपरिवृत्त दोष होता है।

(अनियमपरिवृत्त दोष का उदाहरण) जैसे–

---

1. त; तथाकृते तु ज अ
2. त; चिन्तामणे र्न गणनमित्यर्थः कवितात्पर्यविषयः सिध्यति (तथा च.........इति निर्गलितार्थः यह अंश परित्यक्त) ज अ

वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाषः।। 188।।

अत्र शोण एवेति नियमो न वाच्यः। तथा विशेषपरिवृत्तस्य न्यूनपदे।

श्यामां श्याममलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकै-
र्मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम्।

हे राजन्! आपके मुखकमल में सदा सरस्वती (नदी तथा वाग्देवी) बसती है। आपका अधरोष्ठ सदा शोण (सोन नदी तथा लाल) ही रहता है। ककुत्स्थ राजा के वंश में उत्पन्न हुए रामचन्द्र के पराक्रम का स्मरण दिलाने में समर्थ आपका दक्षिण बाहु दक्षिण समुद्र ही है। ये वाहिनियाँ (पहले पक्ष में नदियाँ और दूसरे पक्ष में सेनायें) तनिक देर के लिए भी निरन्तर आपका साथ नहीं छोड़ती हैं और आपके भीतर स्वच्छ मानस (मानसरोवर झील तथा दूसरे पक्ष में मन) के रहते हुए आपको जल पीने की इच्छा कैसे होती है?।। 188।।

टि०–बल्लालविरचित भोजप्रबन्ध में दिए गये इस श्लोक में राजा विक्रमादित्य के द्वारा जल माँगे जाने पर मागध ने प्रत्युत्तर में इस उक्ति से यह आशय प्रकट किया है–हे राजन् जब आपके मुख में सरस्वती नदी बहती है और आसपास भी और नदियाँ हैं तो आपको जलपान की क्यों इच्छा हो रही है?

(शोण एवाधरस्ते प्रयोग में) आपका ओठ शोण ही है यह नियम नहीं कहना चाहिए।

टि०–यहाँ कवि का विवक्षित अर्थ तो है आपका ओठ लाल रंग वाला होने से सुन्दर है किन्तु इससे निकलने वाला सोन नदीपरक (यह सोन नदी की तरह मनुष्यों को डुबोने वाला है) जो अर्थ प्रतीत हो रहा है वह अमङ्गलसूचक है।

और 14. विशेषपरिवृत्त का न्यूनपद में अन्तर्भाव होता है।

(विशेषपरिवृत्त दोष का उदाहरण जैसे–)

हे सेवको! गहरी काली स्याही की कूचियों से (काली) रात्रि को काली कर दो और मन्त्र तन्त्र का प्रयोग करके सफेद कमलों की शोभा को नष्ट कर दो और चन्द्रमा को पत्थर की शिला पर रख (पटक) करके एक क्षण

चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दशदिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः।। 189।।

अत्र ज्यौत्स्नीमिति श्यामाविशेषो वाच्यः।[1]

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टि-
स्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्० इत्यादि।। 190।।

अत्रापत्यपदं कन्याविशेषात्परिवृत्तमिति विशेषपरिवृत्तिः। तथा अविशेषपरिवृत्तस्य न्यूनपदे।

यथा-

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि रत्नालय मावमंस्थाः।

में कण कण करके पीस डालो जिससे मैं दसों दिशाओं को उसकी मुखमुद्रा से अङ्कित देख सकूँ।। 189।।

टि०–राजशेखरनिर्मित विद्धशालभञ्जिका के तृतीय अङ्क में मृगाङ्कावली के वियोग में आतुर राजा विद्याधर मल्लदेव की यह उक्ति है।

यहाँ 'ज्यौत्स्नीम्' पद का प्रयोग करके चाँदनी रात रूपी विशेष को बताना चाहिए (यहाँ ज्यौत्स्नी रूप विशेष रात्रिवाचक पद के स्थान पर सामान्य 'श्यामा' रूप कृष्णपक्षीय रात्रिवाचक पद का प्रयोग होने से विशेषपरिवृत्त दोष आ गया है।)

(अथवा और उदाहरण) जैसे-

पुत्रवान् होते हुए भी उस राजा की उस सन्तान (पुत्री) पर पड़ी हुई दृष्टि तृप्ति को नहीं प्राप्त हुई इत्यादि (श्लोक है)।। 190।।

यहाँ पर अपत्य पद कन्या रूप विशेष अर्थ से हटा हुआ है (उससे विपरीत है) इस कारण यहाँ विशेषपरिवृत्त दोष है।

और 15. अविशेषपरिवृत्त का न्यूनपद में अन्तर्भाव हो जाता है।

(अविशेषपरिवृत्त का उदाहरण) जैसे-

हे समुद्र! तरङ्गों से चलाये (फैंके गये) इन पत्थरों के कठोर प्रहारों से इन रत्नों का अपमान मत करो। क्या (इन्हीं रत्नों में से केवल) अकेले

---

1. श्यामा......वाच्यः त; ज अ में परित्यक्त

किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
वाञ्छाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि।।191।।

अत्राविशेषप्रतिपादकस्यैकपदस्यैवोचितत्वात् कौस्तुभपदमविशेषपरिवृत्तम्।[1] तथा साकाङ्क्षत्वमाकाङ्क्षापरिपूरकपदशून्यत्वम्, तस्य न्यूनपदे। अपदयुक्तस्याप्यनुचितार्थे।

यथा–

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षु र्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।

कौस्तुभमणि ने पुरुषश्रेष्ठ भगवान् विष्णु को भी आपके सामने निश्चित रूप से याचना के लिए हाथ फैलाने वाला नहीं बना दिया?।।191।।

यहाँ पर अविशेष (सामान्य अर्थ के) बोधक 'एक' इस पद का (ही) प्रयोग उचित होने के कारण (इसके स्थान पर विशेषबोधक) कौस्तुभ पद (अनुचित रूप में प्रयुक्त) है। (अतएव यहाँ) अविशेषपरिवृत्त दोष है।

टि०–यहाँ विशेष रूप से कौस्तुभमणि का नाम न लेकर सामान्य रूप से 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' क्या एक ने उस पुरुषोत्तम को निश्चित ही आपका याचक नहीं बना दिया? यह कहना चाहिए। सामान्यवाचक के स्थान पर विशेष कौस्तुभ का नाम ले देने से यहाँ अविशेषपरिवृत्त दोष है। भल्लटकृत भल्लटशतक के इस श्लोक में एक कौस्तुभ रत्न के हिस्से में इतने बड़े उत्कर्ष के आ जाने से दूसरों का तिरस्कार उचित नहीं है। इस अनौचित्य के कारण भी यहाँ अविशेषपरिवृत्त दोष माना जा सकता है।

और (16. साकाङ्क्ष दोष में) साकाङ्क्षत्व का अभिप्राय है आकाङ्क्षा की पूर्ति करने वाले पदों से शून्य होना, उस दोष का न्यूनपद में अन्तर्भाव किया जा सकता है। 17. अपदयुक्त का भी अनुचितार्थ में अन्तर्भाव हो जाता है।

(अपदयुक्त दोष का उदाहरण) जैसे–

इस रावण की आज्ञा इन्द्र के सिर की शिखामणि (मुकुटमणि) से प्रेम करने वाली है अर्थात् इसकी आज्ञा इन्द्र के लिए भी शिरोधार्य है और शास्त्र नूतन (ज्ञान) नेत्र अर्थात् प्रसिद्ध आँखों से भिन्न आँख है। सब प्राणियों के स्वामी पिनाक नामक धनुष वाले शिव में (जिसकी) भक्ति है

---

1. ज अ; अत्राविशेषपरिवृत्तिर्विशेषोपादानात् (अत्राविशेष......परिवृत्तम् के स्थान पर यह पाठ) त

उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः।। 192।।

अत्र रावणं प्रत्युपेक्षा वाक्यार्थः। स स्याच्चेदेष न रावणः इत्यन्तेन परिसमाप्यः। क्व नु पुनः इत्यादिना[1] समर्थनं नार्हतीत्यनुचितार्थम्। एवमेकसमाहार-निर्दिष्टोत्तमाधमरूपस्य सहचरभिन्नस्याप्यनुचितार्थ एवान्तर्भावः। यथा–

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालङ्क्रियते नरेन्द्रता।।193।।

और लङ्का इस नाम से विख्यात दिव्यनगरी उसका रहने का स्थान है तथा ब्रह्मा के (उच्च) कुल में जन्म हुआ है। इस कारण आश्चर्य है कि ऐसा कोई (इतने गुणों से युक्त) दूसरा वर नहीं मिल सकता है, यदि यह रावण (रावयति रोदयति पीडयति वा लोकान्–परपीडक या दुराचारी) न होता (तो कितना अच्छा होता) तो फिर निश्चय ही सब जगह कहाँ सारे गुण (इकट्ठे) पाये जाते हैं?।। 192।।

यहाँ पर ('स्याच्चेदेष न रावणः' इस) वाक्य का अर्थ रावण के प्रति उपेक्षा के भाव को बताना है (अर्थात् इसको कन्या नहीं देनी चाहिए यह कवि का अभिप्राय है)। इस वाक्य को 'स्याच्चेदेष न रावणः' इस सीमा तक ही समाप्त कर देना चाहिए था और क्व नु पुनः इत्यादि (सर्वत्र सर्वे गुणाः) इस वाक्यांश से इसका समर्थन नहीं किया जाना चाहिए (क्योंकि क्व नु पुनः इत्यादि वाक्य कहने से तो रावण को सीता न देने की बात हल्की पड़ जाती है और उसी को सीता देने का औचित्य भी सिद्ध हो जाता है) इस कारण यहाँ क्व नु पुनः कहने से अनुचितार्थ दोष है।

टि०–यहाँ पीडक होने के बावजूद भी एक दोष की उपेक्षा करके रावण को सीता देनी चाहिए इस अनुचितार्थ की प्रतीति हो रही है।

इसी प्रकार एक पदसमूह में कथित उत्तम और अधम वस्तुओं के स्वरूप वाले 18. सहचरभिन्न दोष का भी अनुचितार्थ में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

(सहचरभिन्न का उदाहरण) जैसे–

(शास्त्र) श्रवण से बुद्धि, (शराब आदि की) बुरी आदत से मूर्खता, (जवानी के) मद से नारी, पानी से नदी, चन्द्रमा से रात्रि, समाधि (की अवस्था) से धैर्य और राजनीति से राजा का पद शोभित होता है।।193।।

1. ज अ; क्व नु पुनरित्यन्तेन पुनः समर्थनं.........त

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम्, उत्कृष्टस्याप्यपकर्षबोधात्।[1] तथा प्रकाशितविरुद्धस्याप्यनुचितार्थे एवान्तर्भावः। यथा–

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या पतन्ती च[2] दृष्टा।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेऽस्तु किञ्चास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः।। 194।।

यहाँ श्रुत आदि उत्कृष्ट सहचारी पदार्थों के साथ व्यसन और मूर्खता इन दो निकृष्ट अर्थों के रखने से सहचरभिन्नता (अर्थदोष) हो जाता है क्योंकि यहाँ उत्कृष्ट वस्तु का भी (निकृष्ट वस्तु के साथ वर्णन होने से) घटियापन प्रतीत हो रहा है। और 19. प्रकाशितविरुद्ध का भी अनुचितार्थ में अन्तर्भाव हो जाता है।

(प्रकाशितविरुद्ध दोष का उदाहरण) जैसे–

इस लोक में जो (मेरी सौत) असियष्टि (तलवार) अनुराग से परिपूर्ण अङ्गों वाली (दूसरे पक्ष में शत्रुओं के लाल रक्त से रंगी हुई) शत्रुओं के गले में मजबूती से चिपट जाती है (पक्षान्तर में गलों को काट देती है) यहाँ जिसको अन्य लोगों ने चाण्डालों (आतङ्कियों) के ऊपर भी गिरते हुए (उसके विपरीत रति के उद्यम को) देखा है (दूसरे पक्ष में हाथियों के ऊपर गिरते देखा है)। उस (दुराचारिणी सौत) तलवार पर रीझा हुआ यह (आपका जामाता और मेरा पति मेरे सम्बन्ध में) कुछ नहीं सोचता समझता है और इसके अतिरिक्त इसने (उदारतावश) मुझ (लक्ष्मी) को अपने सेवकों को (मेरा यथेष्ट भोग करने के लिए) सौंप दिया है यह भी (मेरे पिता) आपको विदित हो। (राजा की पत्नी) लक्ष्मी की आज्ञा से यह कहने के लिए ही मानों जिसकी कीर्ति (रूपी दूती उसकी पत्नी लक्ष्मी के पिता) समुद्र के पास तक जा पहुँची है।। 194।।

टि०–राजा की कीर्ति समुद्र तक फैल गई है यह बात कवि ने यहाँ बताई है। उसके (युद्धप्रियता, दानशीलता आदि) गुणों को भी यहाँ दिखाया है। राजा की पत्नी लक्ष्मी ने कीर्ति को दूती बनाकर अपने पिता समुद्र के पास यह शिकायत भिजवाई है कि यह राजा तो निरन्तर युद्धव्यापृत रहने के कारण मेरी सौत असि (तलवार) यष्टि

---

1. ज अ; उत्कृष्टस्याप्यपकृष्टबोधात् त
2. ज अ, पतन्तीव त

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन वेदितव्यानुचितार्थाभिधानेन क्रोधाभिव्यक्तेः श्रीस्तस्मादपसृतेति विरुद्धं प्रकाश्यते। तथा विध्ययुक्तस्य विधेयाविमर्शे अन्तर्भावः।

यथा–

वाताहारतया जगद् विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः।

पर तो रीझ रहा है किन्तु मेरी उपेक्षा करता है और मुझे भोगने के लिए अपने सेवकों को दे दिया है। यह मेरी सौत तलवार बड़ी दुश्चरित्रा है क्योंकि यह दूसरों के गले से लग जाती है और चाण्डालों के साथ भी व्यभिचार करने में इसे आनाकानी नहीं है।

यहाँ 'विदितं तेऽस्तु' इस वचन से जो वेदितव्य अर्थ (बतलाने योग्य विवक्षित अर्थ–इस राजा की मेरी सौत तलवार के प्रति आसक्ति और मेरे प्रति की जाने वाली उपेक्षा से मैं बड़ी दुःखी हूँ अब मैं इसके साथ नहीं रहूँगी इस विपरीत) अनुचित अर्थ के कहने से और क्रोध की अभिव्यक्ति होने से लक्ष्मी उससे हट गई है यह विरोधी अर्थ प्रतीत हो रहा है (अतः यहाँ प्रकाशितविरुद्ध दोष है)।

टि०–विदितं तेऽस्तु से यह अर्थ प्रतीत हो रहा है–अब आपको यह मालूम हो जाना चाहिए कि यह राजा मेरी परवाह नहीं कर रहा है और मेरी सपत्नी तलवार पर ही अनुरक्त है। आपने ही इसके साथ इसे अच्छा समझकर मेरा विवाह कराया था। इसीलिए आपकी प्रतिष्ठा का ख्याल रखकर मैं जैसे तैसे इसके साथ निर्वाह कर रही हूँ। परन्तु इसी के साथ यह भी अनुचित अर्थ यहाँ निकल रहा है कि अब मैंने इसके इन कारनामों से दुःखी और क्रुद्ध होकर इसे छोड़ने (तलाक देने) का सङ्कल्प कर लिया है इसमें मेरा कोई कसूर नहीं है। वास्तव में कवि का यह विवक्षितार्थ नहीं है कि लक्ष्मी ने उस राजा को छोड़ दिया है।

और 20. विध्ययुक्त दोष का विधेयाविमर्श दोष के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है।

(विध्ययुक्त दोष का उदाहरण) जैसे–

वायु का आहार करने के कारण (योगी और देवता) होने का विश्वास दिलाकर साँपों ने इस संसार को समाप्त कर दिया है और फिर वर्षाजल की बूँदों के ही (पान का) कठिन व्रत धारण करने वाले मयूरों ने उन साँपों को खा लिया है। चमूरु मृग के कठोर चर्म को धारण करने वाले व्याधों ने

तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनै र्नीताः क्षयं लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ।। 195 ।।

अत्र जगन्निःशेषितुं वाताहारत्वमाचरितमित्याद्यर्थे दम्भस्य स्फुरितमित्याद्यर्थान्तरन्यासस्वरसेन च विवक्षणीये विधेरस्य व्युत्क्रमाभिधानेन स्फुट एव विधेयाविमर्शे अन्तर्भावः।

उन मोरों का भी नाश कर दिया है। अविवेकी और कुकर्मी मनुष्य दम्भ के कारनामे (के दुष्परिणाम) को जानता हुआ भी इन (उदात्त) गुणों को चाहता है।।195।।

टि०–विध्ययुक्तता का अर्थ है विधि की अर्थात् रचना की अयुक्तता (असङ्गति)। जहाँ वाक्यरचना किसी नियम के टूटने से अथवा किसी नियम में बँधी न होने से गलत हो जाती है तो वहाँ विध्ययुक्त दोष आ जाता है। प्रस्तुत उदाहरण भल्लटशतक से लिया गया है। इसमें साँप आदि का वर्णन करके धार्मिक तपस्वी बनने का ढोंग करने वाले व्यक्तियों की ओर सङ्केत किया गया है। साँपों ने यह दिखलाया है कि हम तो योगियों की भाँति केवल वायुभक्षण करके जीवित रहते हैं अतः हम किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायेंगे, मोरों ने वर्षाजल की बूँदों का पान करने के व्रत का प्रदर्शन किया है और व्याधों ने मृगचर्म धारण कर तपस्वी बनने का ढोंग किया है।

यहाँ पर संसार को समाप्त करने के लिए (साँपों ने) वायुभक्षण का व्रत धारण कर लिया है इत्यादि (जलबिन्दुकणिकाओं का पान और कठोर चमूरु मृग के वसन को धारण करना इस) अर्थ में ढोंग और उसका दुष्परिणाम (दिखाया गया) है।

टि०–जो वायु खाकर जीने वाले साँप थे उनको जलकणों को पीने वाले मोरों ने मार दिया, जो जलबिन्दुकणिका पीने वाले मोर थे उन्हें मृगवसनधारी व्याधों ने मार दिया। इस प्रकार एक ढोंगी को दूसरे ढोंगी ने मार दिया इस रूप में यहाँ प्रत्येक के सम्बन्ध में यह दिखा दिया है कि दूसरों को धोखा देने के लिए ही उसने उस उस व्रत को धारण किया है।

इस रूप में अर्थान्तरन्यास के साथ अनुकूलता विवक्षणीय है अर्थात् एक दूसरे का समर्थ्यसमर्थकभाव अपेक्षित है जोकि इस विधि (नियम के क्रम) के उलटे हो जाने के कथन के कारण (नहीं हो पाया है अतः यहाँ

तथा विधेयविरोध्यनुवादरूपस्यानुवादायुक्तस्याप्यनुचितार्थ एवान्तर्भावः।[1]
यथा-

अये रामाहस्ताभरण! भसलश्रेणिशरण!
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन! विरहिप्राणदमन!
सरोहंसोत्तंस! प्रचलदल! नीलोत्पल! सखे!
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना।। 196।।

विध्ययुक्तता है इसका) यहाँ स्पष्ट रूप से ही विधेयाविमर्श में अन्तर्भाव है।

टि०-व्रतशास्त्र में व्रत धारण करने का क्रम यह है-पहले मनुष्य मुनियों जैसे वल्कलवस्त्रों को धारण करता है तदनन्तर यत्किञ्चित् जलपान करता है और अन्त में वायु पर ही आश्रित हो जाता है। वाताहार का व्रत सबसे कठिन है। उसकी अपेक्षा अभ्रतोयकणिकापान का व्रत सरल है और मृगचर्म का धारण करना सबसे सरल है। यहाँ सरल से कठिन की ओर जाना चाहिए था और इस प्रकार वर्णन होना चाहिए था-जो चमूरु मृग को धारण करने वाले व्याध हैं उन्होंने जलकणों को पीने वाले मोरों को मार दिया और जो जल पीने वाले मोर हैं उन्होंने वायुभक्षण करने वाले साँपों को मार दिया। यहाँ पर अलग अलग तीनों प्राणियों में दम्भ की एक एक बात बताई गई है अन्त में व्यङ्ग्य अर्थान्तरन्यास से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चमूरु धारण करने वाले, जल पर रहने वाले तथा वायुभक्षण करने वाले व्यक्तियों द्वारा अथवा इन तीनों विशेषताओं से युक्त किसी एक व्यक्ति द्वारा संसार आसानी से नष्ट किया जा सकता है। यहाँ प्रथम तीन पङ्क्तियों के विशेष वचनों का अन्तिम पङ्क्ति में कहे गये सामान्य वचन के द्वारा समर्थन होने से वाच्य अर्थान्तरन्यास भी है।

और विधेय के विरोधी अनुवाद (उद्देश्य) रूप 21. अनुवादायुक्त का अनुचितार्थ में अन्तर्भाव (कर लेना चाहिए)।

हे सुन्दरी नायिकाओं के हाथ के आभूषण! भ्रमरसमुदाय के शरणदाता, कामक्रीड़ा में होने वाली लज्जा का (उद्दीपन द्वारा) शमन (विनाश) करने वाले, विरही प्राणियों के प्राणों का नाश करने वाले, उत्तम तालाबों की शोभा के जनक, चञ्चलपत्रों वाले, हे मित्र नीलकमल! मैं (अपनी प्रियतमा के वियोग में) अत्यन्त दुःखी हूँ। मेरे मोह को दूर करो और बताओ कि वह चन्द्रमुखी कहाँ है?।। 196।।

---

1. ज अ;..........नुवादस्यानुवादायुक्तस्याप्यनुचितार्थ एव त

अत्र विरहिप्राणदमनत्वं विरहिमोहश्लथीकरणत्वमत्यन्तविरुद्ध[1]मित्यनुचितार्थ-मिति।

एवं त्यक्त[2]पुनःस्वीकृतस्य समाप्तपुनरात्ते तथाश्लीलस्याप्यानुचितार्थे।[3]

नन्वेवमधिकपदादीनामपि निरर्थकेऽन्तर्भावः स्यादिति चेत् का नो हानिरिति नवीनः पन्थाः।

दोषानुक्त्वा तदाभासान् सम्प्रति ब्रूमहे वयम्।।124।।
न दोषः पौनरुक्त्यं स्यादर्थाधिक्यस्य[4]बोधनात्।

टि०–यहाँ कोई विरही अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में कमल से पूछ रहा है कि बताओ वह कहाँ है? जहाँ अनुवाद (उद्देश्य) की अयुक्तता होती है अर्थात् विधेय के साथ उद्देश्य का ठीक ढंग से प्रयोग नहीं किया जाता है वहाँ यह दोष होता है। यहाँ विरहिप्राणदमनत्व (रूप विशेषण उद्देश्यभूत मोहं श्लथय से प्रकाशित) विरहिमोहश्लथीकरण रूप विधेय के अत्यन्त विरुद्ध है (क्योंकि जो विरहियों के प्राणों को समाप्त करने वाला है वह उनकी मूर्च्छा या अज्ञान को कैसे दूर करेगा?) इस कारण (यह दोष अलग न होकर) अनुचितार्थ (स्वरूपात्मक) है।

इसी प्रकार 22. त्यक्तपुनःस्वीकृत का समाप्तपुनरात्तता दोष में अन्तर्भाव हो जाता है और 23. अश्लील दोष का भी अनुचितार्थ में अन्तर्भाव हो सकता है।

(शङ्का) इस प्रकार अधिकपदादि दोषों का भी निरर्थक दोष में अन्तर्भाव हो जायेगा यदि ऐसा कहा जाय तो (इसके उत्तर में हमारा कहना है) इस बात को स्वीकार करने में हमारा क्या नुकसान है? अर्थात् इस प्रकार से जो अनावश्यक रूप से दोषविस्तार है वह जितना कम हो उतना ठीक है। यह नवीन मार्ग है (इसका अनुसरण सबको करना चाहिए)।

दोषों को कहकर अब हम दोषाभासों को बतलाते हैं।।124।।

1. ज अ;..........विरुद्धार्थम् त
2. ज अ; त्यक्तपुनः पद त में नहीं
3. त; अश्लीलस्यानुचितार्थे ज अ
4. त;......दर्थाधिकस्य ज अ

यथा–

धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव।। 197।।
अत्र धनुर्ज्यापदं तदारूढत्वप्रतिपादनाय।

यथा वा–

दोलाविलासेषु विलासिनीनां कर्णावतंसाः कलयन्ति कम्पम्।। 198।।
लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमण्डितेयम्।।199।।

अधिक अर्थ को बतलाने के लिए यदि कहीं पुनरुक्ति की गई हो तो वह दोष नहीं हुआ करती।

(पौनरुक्त्य के दोष न बनने का उदाहरण) जैसे–

धनुष की (धनुष पर चढ़ी हुई) डोरी के द्वारा बनाये गये किण (घाव के अच्छे होने के बाद बने काले काले धब्बों) के निशान वाली तुम्हारी भुजा फड़क उठी।। 197।।

यहाँ धनुर्ज्या पद उस धनुष की डोरी के चढ़ी हुई होने के अर्थ को दिखलाने के लिए (प्रयुक्त किया गया) है।

टि०–ज्या नाम धनुष की डोरी के लिए प्रयुक्त होता है। यह डोरी धनुष से उतरी हुई होने पर भी ज्या कहलाती है। यहाँ उसके ऊपर यह चढ़ी हुई है यह अधिक अर्थ प्रतीत हो रहा है इस कारण यहाँ धनुष् पद की पुनरुक्ति होते हुए भी दोष नहीं है। पूरा श्लोक काव्यप्रकाश (7, 289) में इस प्रकार है–

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव।।

अथवा (पौनरुक्त्य के दोष न होने का दूसरा उदाहरण) जैसे–

हिंडोलों पर झूलने के समय की क्रीड़ाओं में सुन्दरियों के कान के आभूषण कम्पन को धारण करते हैं।। 198।।

टि०–अवतंस का अर्थ ही कान का आभूषण होता है (अवतंसः कर्णभूषणम्)। इसके साथ कर्ण पद का प्रयोग पुनरुक्त है परन्तु यहाँ कर्णावतंस का अर्थ 'कर्णनियोजितावतंस प्रतीत हो रहा है। अवतंस तो वह तब भी होता है जब वह संदूकची में रखा होता है।

क्रीडा से चञ्चल श्रवणकुण्डल से यह (सुन्दरी) शोभित हो रही है।। 199।।

आययुर्भृङ्गमुखरा: शिर:शेखरशालिन:।।200।।
प्राणेश्वर[1]परिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभि: ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम्।।201।।
त्यज करिकलभ त्वं प्रेमबन्धं करिण्या:।।202।।
इत्यादिषु। अतएव वामन:-

टि०-यहाँ कुण्डल शब्द कान ही के आभूषण के अर्थ को बता रहा है। किन्तु श्रवण शब्द के प्रयोग से कानों में पहने हुए कुण्डल इस अधिक अर्थ की प्रतीति हो रही है इस कारण यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है।

(इसके बाद) भौंरों के समान वाचाल (बातूनी) सिर के आभूषण से शोभित होने वाले पुरुष आ गये।।200।।

टि० यहाँ शिर:शेखर इस पद में शिरस् की पुनरुक्ति है क्योंकि (शेखरं शिरोभूषणम्) शेखर सिर के आभूषण को कहते हैं। परन्तु शिरस् का प्रयोग करने से सिर के ऊपर रखे गये आभूषण अर्थ की प्रतीति होने से यहाँ उक्त दोष नहीं है।

काव्यप्रकाश (7, 288) में पूरा श्लोक इस प्रकार है

अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्तत: ।
आययुर्भृङ्गमुखरा: शिर:शेखरशालिन:।।

प्राणों के स्वामी (प्रियतम) के आलिङ्गन से उत्पन्न कामकेलियों की अनुभूतियाँ होने के कारण (प्रसन्न) चमकते हुए मोतियों के हार के रूप में दोनों स्तन मानों हँस रहे हैं।।201।।

टि०-यहाँ पर हार शब्द का अर्थ ही मोतियों का हार होता है। किन्तु मुक्ता पद को जोड़ने से उत्कृष्ट मोतियों का हार यह अर्थ सूचित होने के कारण यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है। काव्यप्रकाश (7, 291) में भी यह उदाहरण है।

हे हाथी के बच्चे! तुम हथिनी के प्रति अपने इस प्रेमबन्धन को छोड़ दो।।202।।

टि०-कलभ शब्द का अर्थ ही हाथी का बच्चा है। करिकलभ प्रयोग होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है। किन्तु इसे जोड़ देने से सुन्दर हाथी का बच्चा यह अधिक अर्थ प्रतीत होता है इस कारण यह दोष यहाँ नहीं है।

1. ज अ; प्राणेश्वरी त

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः।
सन्निधानादिबोधार्थं स्थितेष्वेतत्समर्थनम्।।

तथा च–

न नितम्बकाञ्चीत्यपि तथोष्ट्रकलभ इत्यपि।
ख्याते निर्हेतुतादोषं न स्वीकुर्वन्ति कोविदाः।। 125।।

यथा–

शोकात्कोकयुवा करोति करुणं तारं विरावं परं
जानीते तरुणीं न वा विरहिणीं पार्श्वैकदेशे स्थिताम्।

इत्यादि (इस प्रकार के पुनरुक्ति वाले) स्थलों पर (यह पुनरक्ति दोष नहीं है)। इसलिए वामन (काव्यालङ्कार 2, 2, 19 वृत्तिभाग) ने कहा है–

कर्णावतंस आदि पदों में (केवल अवतंस पद से ही कान के आभूषण रूप अर्थ का ग्रहण हो जाने से) कर्ण आदि पदध्वनियों का प्रयोग (उन कर्ण आदि में) सन्निधान (धारण करने) आदि के बोधन के लिए होता है (अतः उसको दोष नहीं समझना चाहिए)। परन्तु पहले से स्थित (स्थापित हुए) अर्थात् पुराने कवियों द्वारा प्रयुक्त इन पदों का ही यह समर्थन है (नये कवियों को ऐसे पुनरुक्ति वाले पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए)।

और इसके अतिरिक्त–

नितम्बकाञ्ची (नितम्ब पर धारण की जाने वाली करधनी) तथा उष्ट्रकलभ जैसे प्रयोग भी (नहीं करने चाहिएं)।

टि०–काञ्ची का अर्थ नितम्ब (कटिप्रदेश) पर पहनी जाने वाली करधनी तथा कलभ का अर्थ ऊँट का बच्चा स्वतः ही होता है उनके साथ नितम्ब और उष्ट्र जैसे पद जोड़कर नहीं रखने चाहिए।

ख्यात अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता (हेतु के न होने रूप दोष) को काव्यशास्त्र के विद्वान् नहीं मानते हैं।। 125।।

(निर्हेतुतादोष की अदोषता का उदाहरण) जैसे–

(वियोगजन्य परम कष्ट के कारण उत्पन्न) शोक होने से युवा चक्रवाक पक्षी अत्यधिक ऊँची आवाज़ में करुणापूर्ण शब्द कर रहा है और एक किनारे खड़ी हुई अपनी तरुणी वियोगिनी चक्रवाकी का भी उसे पता नहीं

एताभिः प्रतिमन्दिरं मृगमदैरासिच्य देहं निजं
गुञ्जन्मञ्जुलभृङ्गसुन्दररवं मञ्जीरमुत्तार्यते।।203।।

अत्र सन्ध्यायां चक्रवाकवियोगस्य प्रसिद्धत्वाद् धेतुर्नापेक्षितः।

अनुवादे तु सर्वेषामदोषत्वमिहेष्यते।

यथा–

आन्दोलिकाभराक्रान्तो बाधति स्कन्ध एष ते।
न तथा बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते।।204।।

है। घर घर कस्तूरी के (चूर्ण से मिश्रित) जलों से अपनी देह का आसिञ्चन (छिड़कन) करके इन नायिकाओं के द्वारा गुञ्जार करने वाले सुन्दर भौंरों के मनोहारी शब्द के समान आवाज़ वाले नूपुर (घूंघरू) उतारे जा रहे हैं।।203।।

यहाँ सन्ध्या समय में चक्रवाक (दम्पती) के वियोग (की बात) के प्रसिद्ध होने के कारण हेतु (का बताना) अपेक्षित नहीं है।

टि०–यह सुविदित ही है कि दिन के समय चकवा चकवी मिल जाते हैं और रात्रि के समय वियुक्त हो जाते हैं। इस कारण सन्ध्याकाल के इस वर्णन में यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि चक्रवाक पक्षियों का जोड़ा क्यों दुःखी है?

अनुवाद (पूर्वज्ञात को स्मरण कराने के लिए फिर से कहने) में तो काव्य के भीतर सारे दोषों की दोषहीनता मानी जाती है।

(अनुवाद की अदोषता का उदाहरण) जैसे–

विहङ्गिका (बैंहगी) के भार से लदा हुआ क्या तुम्हारा यह कन्धा पीड़ित हो रहा है? (प्रश्नकर्त्ता से यह पूछे जाने पर उत्तर देने वाला कहता है कि तुम्हारे मुख से सुना हुआ) 'बाधति' मुझे जितना पीड़ित कर रहा है कन्धे का दर्द उतना पीड़ित नहीं कर रहा है।।204।।

टि०–यहाँ पर प्रश्नकर्त्ता ने (अपि भारस्तव स्कन्धं बाधति?) इस अपने प्रश्न में बाधति शब्द का प्रयोग किया है। व्याकरण में बाध् धातु आत्मनेपदी मानी जाती है उसका बाधते रूप ही शुद्ध माना जाता है। प्रयोक्ता को उसकी भूल समझाने के लिए सुनने वाले ने 'बाधति' इस अशुद्ध शब्द को फिर से दोहरा दिया है। ऐसे स्थलों पर च्युतसंस्कृति दोष से युक्त बाधति शब्द का प्रयोग दोष नहीं माना जायेगा।

दोषोऽपि गुणतां याति वक्त्रौचित्यादिना क्वचित्।। 126।।

यथा शकारोक्तौ पौनरुक्त्यम्।[1]

शिलशि मम णी लीणे भाव शुज्जश्श पादे
शउणिखगविहंगा लुक्ख शाहाशु[2] लीणा।
णलपुलिशमणुश्शा उण्हदीहं शशन्ता
घलशलणणिशण्णा आदवं णिव्वहन्ति।। 205।।

[शिरसि मम निलीनो भाव सूर्यस्य पादः
शकुनिखगविहङ्गा वृक्षशाखासु लीनाः।
नरपुरुषमनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो
गृहशरणनिषण्णा आतपं निर्वहन्ति।। संस्कृतच्छाया]

एवं विदूषकोक्तावपि ग्राम्यादिकं बोध्यम्।

श्लेषनिर्वाहकश्चेत्स्यान्न दोषो निहतार्थता।

कहीं कहीं वक्ता आदि के औचित्य के कारण दोष भी गुण बन जाता है।। 126।।

जैसे शकार (राजश्यालक–राजा के साले) की उक्ति में पुनरुक्ति (गुण बन जाती है)।

हे भाव! (समादरणीय!) सूर्य की किरणें मेरे सिर पर गिर रही हैं, तरुओं की शाखाओं पर पक्षी छिप कर बैठे हुए हैं, मनुष्यगण घर में बैठे हुए गर्म और ठंडी साँस छोड़ते हुए (धूप से उत्पन्न) उष्णता का निवारण कर रहे हैं।। 205।।

टि०–मृच्छकटिक (8, 12) के इस श्लोक में राजा के साले शकार के द्वारा किये गये ग्रीष्मवर्णन में कवि के द्वारा उसकी मूर्खता का प्रकाशन भी विवक्षित है। यहाँ शकुनि के पर्यायवाची खग, विहङ्ग, नर के पर्यायवाचक पुरुष, मनुष्य तथा गृह के पर्यायवाची शरण शब्दों की पुनरुक्ति हुई है किन्तु यहाँ मूर्ख वक्ता होने के कारण इस पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जायेगा।

इसी प्रकार विदूषक की उक्ति में ग्राम्यादि दोषों की निर्दोषता समझनी चाहिए।

---

1. ज अ; पौनरुक्त्या त
2. ज अ; शाहासु त

यथा–

नित्यमुद्वहते तुभ्यमन्तःसारङ्गरञ्जितम्।
भूतिपाण्डुर गोवाह सोमस्वामिन् नमो नमः[1] ।। 206 ।।

अत्र शिवचन्द्रयोर्नमस्कारः।

निहतार्थ इत्युपलक्षणम्। अप्रयुक्तमपि बोध्यम्।

यदि निहतार्थता दोष श्लेष का सम्पादक होता है तो वह दोष नहीं रहता।

1. शिवपक्ष–सारङ्ग (मृग) से सुशोभित चन्द्रमा को (अपनी जटाओं के) भीतर सदा धारण करने वाले, सफेद भस्म से श्वेत वर्ण वाले, बैल की सवारी करने वाले, चन्द्राधिपति हे महादेव! आपको बार बार नमस्कार है।

2. चन्द्रपक्ष–गर (विष) को जीतने वाले अमृत को अपने अन्दर नित्य वहन करने वाले, भस्म के समान सफेद किरणों को धारण करने वाले, सोमलता के स्वामी हे चन्द्रमा! आपको बार बार नमस्कार है।। 206 ।।

इस श्लोक में शिव और चन्द्रमा दोनों को नमस्कार किया गया है।

टि०–जो शब्द दोनों अर्थों का वाचक होने पर भी अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हो वह निहतार्थ होता है। सारङ्ग शब्द हरिण अर्थ में तो प्रसिद्ध है किन्तु गर (विष) अर्थ में और सार अमृत अर्थ में कम प्रसिद्ध है। सोम शब्द चन्द्र के अर्थ में कम प्रसिद्ध है, इसी प्रकार गोवाह शब्द का शिव अर्थ में प्रयोग तो अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि शिव बैल की सवारी करने वाले हैं किन्तु चन्द्रमा के विशेषण के रूप में प्रयुक्त गोवाह शब्द में गो का किरण अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। अतः निहतार्थता दोष है किन्तु श्लेष होने के कारण यहाँ यह दोष समाप्त हो जाता है।

यहाँ निहतार्थ का उल्लेख उपलक्षण के रूप में है इससे अप्रयुक्त दोष को भी समझ लेना चाहिए।

टि०–कोश आदि में उस अर्थविशेष में पढ़ा गया किन्तु कवियों द्वारा उस अर्थ में न अपनाया गया पदप्रयोग अप्रयुक्त कहलाता है। यह अप्रयुक्त दोष भी यदि श्लेष में सहायक सिद्ध हो तो दोष नहीं रहता है।

1. ज अ; नमोऽस्तु ते त

अङ्गीकृता क्वचिद् विज्ञैरश्लीलस्याप्यदोषता।। 127।।
प्रसिद्धे पादशब्दादौ क्वचिल्लाक्षणिके तथा।

अत एवाह वामनः–

संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम्।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना।।

लाक्षणिकं यथा–

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हरति दृशं मालतीमाला।। 207।।

कहीं कहीं विद्वानों ने (चरणादि अर्थों में) प्रख्यात पाद आदि शब्दों के प्रयोगों में अश्लील दोष की भी अदोषता स्वीकार की है।। 127।।

टि०–गुदानिस्सृत अपानवायु को भी पाद कहा जाता है किन्तु पूज्यपाद गुरु जैसे प्रयोग में दोष नहीं है

और कहीं कहीं लाक्षणिक अर्थात् लक्षणा के द्वारा (दूसरे अश्लील) अर्थ को बताने वाले पद में भी (दोषराहित्य स्वीकार किया है)।

टि०–यहाँ पादशब्दादौ में प्रयुक्त आदि पद से श्रीयुक्ता अर्थ में प्रयुक्त भगवती (अन्य अश्लील अर्थ–योनि को धारण करने वाली) भगवान् (अन्य अश्लील अर्थ लिङ्ग–शिश्न को धारण करने वाला) आदि शब्द भगवान् रामादि उच्च व्यक्तियों के साथ प्रयुक्त होने पर अश्लील नहीं माने जाते हैं।

इसलिए वामन आचार्य का कहना है–

ढकी हुई वस्तु के दोषों को खोजना मनुष्यों के लिए उचित कार्य नहीं है। शिवलिङ्ग के मन्दिर (शिवालय) में शिवलिङ्ग को देखकर किसके मन में असभ्य अर्थ का विचार आता है।

टि०–अभिप्राय यह है कि यदि किसी पद के श्रवण अथवा मनन से उसके असभ्य अर्थ की ओर भी ध्यान जाय तो उसे प्रकट करना अच्छा नहीं समझा जाता। क्योंकि उससे प्रकट करने वाले के ही दुर्विचारों का लोगों को पता चलता है। शिवमन्दिर जैसे पवित्रस्थलों पर लिङ्ग (शिश्न) जैसे शब्दों के अर्थों पर न तो स्वयं विचार करना चाहिए न दूसरों का ध्यान इनके अर्थों की ओर आकृष्ट करना चाहिए।

लाक्षणिक (पद में अश्लील दोष न रहने का उदाहरण) जैसे–

अज्ञात गुणों वाली भी उत्तम कवि की उक्ति कानों में मधुधारा को उड़ेल देती है। न जानी गई सुगन्धि को धारण करने वाली चमेली की माला भी नेत्रों को आकर्षित करती है।। 207।।

अत्र वमतीति।

हर्षभयादियुक्ते वक्तरि न्यूनपदमधिकपदं गुण इति न पृथक् प्रतिपादनमर्हति वक्त्रौचित्येनैव गतार्थत्वात्। विहितस्यानुवाद्यत्वे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये लाटानुप्रासे[1] कथितपदं न दोषः। तत्र द्वयं प्रागुदाहृतम्, लाटानुप्रासे उदाहरिष्यते।

यहाँ 'वमति' शब्द (लाक्षणिक है और इसमें अदोषता) है।

टि०–वमति शब्द अभिधा से 'कानों में उल्टी (कै) को डालता है' इस जुगुप्सापरक वाच्यार्थ को बताता है। परन्तु लक्षणा से 'उड़ेलता है' (प्रवाहयति) इस अर्थ को बताता है। इसी प्रकार परिमल पद के मल इस अंश से मूत्रपुरीषादि की प्रतीति होती है किन्तु लक्षणा से यहाँ सुगन्धित अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इन दोनों से प्रतीत होने वाले लक्ष्यार्थ में जुगुत्सा रूप अश्लीलता नहीं रहती है।

वक्ता के प्रसन्नता, भय आदि से युक्त होने पर न्यूनपद और अधिकपद गुण होता है इस बात का पृथक् प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह बात वक्ता के औचित्य से ही गतार्थ (प्रतीत) हो जाती है। विहित को अनुवाद बनाने में (विधेय को उद्देश्य रखने में) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि और लाटानुप्रास में कथितपद दोष नहीं होता। प्रथम दो के उदाहरण पहले दिखा दिये हैं और लाटानुप्रास में इसका (उदाहरण) आगे दिखाया जायेगा।

टि०–वाक्यदोषों के प्रकरण में 7वें वाक्यदोष कथितपद का सोदाहरण लक्षण पहले (सूत्र 108) बताया जा चुका है। 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' (सूत्र 118 वृत्ति) इस उदाहरण में पहले ताम्र शब्द विधेय रूप में पठित है उसी को फिर उद्देश्य रूप में पढ़ा है अतः यहाँ कथितपद (या पुनरुक्त) दोष नहीं है। इसी प्रकार ऊपर दिये गये 'कदली कदली करभः करभः' (3,17) में भी अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि होने के कारण इस शब्द की पुनरुक्ति होने पर कथितपद दोष नहीं है। दोषों का वर्णन समाप्त कर अब ग्रन्थकार मम्मटप्रतिपादित रसदोषों का निरूपण करेंगे।

---

1. ज अ; लाटानुप्रासेऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये त

रसदोषानाह[1]–

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।। 128।।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।। 129।।
अकाण्डे प्रथनं छेदोऽप्यङ्गस्याप्यथ विस्तृतिः।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।। 130।।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।। 131।।

व्यभिचार्यादीनां स्वशब्दोपादाने रसध्वनित्वं भावध्वनित्वं च न स्यात् व्यञ्जितानामेव तेषां तद्रूपत्वात्।

अतएव काव्यप्रकाशे–

...........व्यभिचारी तथाञ्जितः।

रसदोषों का निरूपण करते हैं–

टि०–रसदोषानाह–इस के आगे 'रसदोषत्वं चासाक्षात् सविद्योत्तेजकत्वम्। यह रसदोषसामान्य का लक्षण तिरुपति की प्रति में ही है। इसका अर्थ है–रसदोष वे हैं जो विद्वान् सामाजिक के चित्त को अप्रत्यक्ष रूप से दुःखी करते हैं।

1. व्यभिचारिभावों, 2. रसों और 3. स्थायिभावों का अपने वाचक शब्दों के द्वारा कथन करना, 4. अनुभाव और 5. विभाव की कष्टपूर्वक कल्पना के द्वारा अभिव्यक्ति, 6. (रस के) विपरीत विभावादि का ग्रहण करना, 7. (रस की) बार बार दीप्ति (अर्थात् एक बार प्रदर्शित किये रसादि को बार बार वर्णन करके प्रकट करना), 8. (रस का) अनवसर में विस्तार कर देना, 9. और अनवसर में विच्छेद (तोड़) देना, 10. अप्रधान रस (अङ्गरस) का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, 11. अङ्गी (प्रधान) रस को त्याग देना, (उल्लेख न करना, भूल जाना), 12. प्रकृतियों (उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों के स्वरूप) के भीतर उलट फेर करना और 13. और अनङ्ग (अर्थात् जिसका सम्बन्ध न हो ऐसे प्रकृत रस के अनुपकारक) का कथन। इस प्रकार ये 13 दोष रस में रहने वाले होते हैं।। 128–131।।

व्यभिचारिभावादियों के अपने शब्दों के द्वारा ग्रहण होने पर उनमें रसध्वनि और भावध्वनि नहीं रह जाती क्योंकि व्यञ्जना से जाने गये ही उन व्यभिचारिभावादियों में तद्रूपता (रसध्वनित्व और भावध्वनित्व) रहती

---

1. ज अ; रसदोषानाह–रसदोषत्वं चासाक्षात् सविद्योत्तेजकत्वम् त

तथा–अभिव्यक्तश्चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

एवम्–

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।।

इत्यादि च।

व्यभिचारिस्वशब्दोपादानं यथा–

त्वमग्रतः सञ्चर चञ्चलाक्षि त्वमेव जीवेश्वर निःसराग्रे।
इति ब्रुवन् वेश्मनि वह्निदीप्ते मिथोऽनुरागान् मिथुनं विपन्नम्[1] ।। 208 ।।

है। इसीलिए काव्यप्रकाश (4, 35 की 'रतिर्देवादिविषया) व्यभिचारी तथाञ्जितः। (भावः प्रोक्तः'.......इस कारिका) में व्यञ्जना से अभिव्यक्त होने वाले व्यभिचारिभाव को भाव कहा है। और (अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत में रसनिष्पत्तिप्रक्रिया की व्याख्या में (लोके प्रमदादिभिः......... अभिव्यक्तः अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः–काव्यप्रकाश 4, 28 वृत्ति का रसप्रकरण) और व्यञ्जना से अभिव्यञ्जित चमत्कार को उत्पन्न करने वाला शृङ्गारादि रस कहलाता है (यह बताकर व्यञ्जनावृत्तिगम्य शृङ्गारादि को ही रस रूप में स्वीकार किया गया है) और इसी प्रकार (विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः। व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।। काव्यप्रकाश 4, 28 इस कारिका में) उन आलम्बन और उद्दीपन रूप विभावादियों से व्यञ्जना से अभिव्यक्त स्थायिभाव रस कहलाता है इत्यादि ऐसे वचन हैं। (जिनसे यह सिद्ध होता है कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारिभावों से प्रतीत रत्यादिभाव तभी रसरूपता को प्राप्त करते हैं जब वे व्यञ्जना से अभिव्यक्त किये जाते हैं)।

1. व्यभिचारिभाव का स्वशब्द से ग्रहण (करने का उदाहरण) जैसे–

हे चञ्चल नेत्रों वाली! तुम ही आगे चलो! हे प्राणेश्वर! तुम ही आगे निकलो। इस प्रकार (एक दूसरे के प्रति) वचनों को कहते हुए पारस्परिक अनुराग के कारण (प्रेमियों का वह) जोड़ा आग से जलते हुए घर में मर गया।। 208 ।।

---

1. त; विविन्नम् ज अ

रसस्य स्वशब्दोपादानं यथा–

श्रृङ्गारी गिरिजानने सकरुणो रत्यां प्रवीरः स्मरे
बीभत्सोऽस्थिभिरुत्फणी च हसकृन्मूर्त्याद्‌भुतस्तुङ्गया।
रौद्रो दक्षविमर्दने च भयकृद् भग्ने प्रशान्तश्चिरा-
दित्थं सर्वरसात्मकः पशुपतिर्भूयात् सतां भूतये।। 209।।

एवं स्थायिभावस्य बोध्यम्[1]। कष्टकल्पनयेति। वस्तुतस्तु एतस्य क्लिष्ट एवान्तर्भावः।

प्रतिकूलविभावादीति।

टि०–यहाँ अनुराग (स्नेह) व्यभिचारिभाव का स्वशब्द से ग्रहण किया गया है।

रस का स्वशब्द से ग्रहण (का उदाहरण) जैसे–

पार्वती के मुख के विषय में शृङ्गारयुक्त (कामदेव की पत्नी) रति के बारे में करुण रस वाले, कामदेव (के दाह) के सम्बन्ध में वीररस वाले, हड्डियों (को पहनने) के कारण बीभत्स (रूप वाले) साँपों को उठाकर चलने वाले होकर (सपेरा बनकर) हास को पैदा करने वाले, ऊँचे शरीर के कारण (विस्मयजनक होने से) अद्‌भुत रस वाले, दक्ष के संहार (करने के समय) में रौद्र रस वाले तथा (दक्ष प्रजापति के) ध्वंस के समय भयोत्पादक (होने के कारण भयानक रस वाले) और सनातन काल से प्रशान्त रूप वाले (अतएव शान्तरसोपेत) इस प्रकार (भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न रूपों को धारण करने के कारण) सारे रसों के स्वरूप वाले और सब प्राणियों के स्वामी पशुपति शिव सज्जन व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी हों।। 209।।

टि०–यहाँ शृङ्गार, करुणादि रसों का अपने वाचक शृङ्गार, करुणादि शब्दों से कथन होने के कारण स्वशब्दवाच्यत्व नामक रसदोष है।

3. इसी प्रकार स्थायिभाव की (भी स्वशब्दवाच्यता रति आदि शब्दों के प्रयोग से हो जाती है) ऐसा समझ लेना चाहिए (और 4. अनुभाव और 5. विभाव की जहाँ) कष्टकल्पना से (अभिव्यक्ति होती है वहाँ भी रसदोष होता है)। वास्तव में तो इस रसदोष का क्लिष्ट दोष के अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाता है। प्रतिकूलविभावादि (ग्रह) अर्थात् जो रस के प्रतिकूल (विरुद्ध) विभावादियों का ग्रहण करना रसदोष माना जाता है उसकी व्याख्या इस प्रकार है।

1. त; बोध्यम् ज अ में नहीं

प्रकृतरसविरुद्धव्यञ्जकत्वं[1] लक्षणम् ।। 132 ।।

विरुद्धव्यञ्जकत्वेन च विभावानुभावव्यभिचारिणां त्रयाणां परिग्रहः। दूषकताबीजं चात्र प्रकृतरसविरुद्धव्यञ्जकप्रतीतिः।

वस्तुतस्त्वस्यामतपरार्थ एवान्तर्भावान्न पृथग्दोषत्वम्।[2]

यथा–

रङ्गे मयि प्रणयकेलिकलाविलासैरापूर्य देहमिह साथ ययौ वनान्ते।
पश्य प्रतिक्षणमपूर्वरसप्रधानमायुःपयः पिबति कालविडाल एषः ।। 210 ।।

(विभावादियों के द्वारा) प्रकृत रस के विरुद्ध अर्थ की व्यञ्जकता का होना ही प्रतिकूलविभावादिग्रह नामक रसदोष का लक्षण है ।। 132 ।।

विरुद्धव्यञ्जकत्वेन इस पद के द्वारा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव इन तीनों का ही ग्रहण है।

और यहाँ प्रकृत रस के विरोधी दूसरे रस के अभिव्यञ्जक (विभावादि की) प्रतीति का होना (इस दोष की) दूषकता का कारण है।

वास्तव में तो अमतपरार्थ नामक अर्थदोष में अन्तर्भाव हो जाने के कारण इस दोष की पृथक् दोष के रूप में सत्ता नहीं रह पाती है।

टि०–अमतपरार्थ में ही इस दोष का अन्तर्भाव होने से इसे पृथक् दोष नहीं मानना चाहिए। जहाँ दूसरा अर्थ अमत अर्थात् प्रकृत अर्थ के विपरीत हो उसको अमतपरार्थ कहते हैं। प्रतिकूलविभावादि में भी प्रकृत रस के विरोधी दूसरे रस का अभिव्यञ्जन होता है अतः इसका उसमें अन्तर्भाव हो सकता है।

6. (प्रतिकूलविभावादि के ग्रहण का उदाहरण) जैसे–

रङ्गमञ्च पर (नाचते समय) मेरे भीतर प्रेमक्रीड़ा और अनेक प्रकार की कलाओं की शोभाओं से अपने शरीर को भर कर (अर्थात् अपने मनोमोहक रूप को मेरे चित्त में प्रविष्ट करके) वह सुन्दरी वनप्रदेश में चली गई (वानप्रस्थिनी हो गई)। देखो! असाधारण (विलक्षण) रसप्राचुर्य से भरे हुए इस आयु रूपी दूध को यह मृत्यु रूपी बिलाव प्रतिक्षण पी रहा है ।। 210 ।।

---

1. ज अ; प्रकृतविरुद्धव्यञ्जकं त
2. ज अ; वस्तुतस्तु.......दोषत्वम् त में नहीं

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशकरूपो विभावस्तत्प्रकाशितश्च व्यभिचारी उपात्तः स समूलं शृङ्गारमुन्मूलयति। दीप्तिः पुनःपुन इति,[1] विच्छिद्य विच्छिद्य ग्रहणम्। यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे परिपूर्णस्यापि रसस्य। अथ सा पुनरेव विह्वलेत्युद्दीपनं कृत्वा मधुदर्शनेन विच्छिद्य तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशमित्यादिना पुनरुपादानं परिमलवद्वैरस्यमावहति[2]।

इस शृङ्गार में (अनित्यता को प्रकट करने के स्वरूप वाले इसके) विरोधी शान्त रस के विभाव (कालविडाल) और उससे प्रकाशित व्यभिचारिभाव (निर्वेद) को ग्रहण किया गया है। वह (कालविडालरूप) विभाव शृङ्गार रस को जड़ से ही उखाड़ रहा है।

7. रस की बार बार दीप्ति का अभिप्राय है–बार बार समाप्त करके फिर वर्णन करना, तोड़ तोड़कर पुनः उसको शुरू कर देना। जैसे–कालिदासप्रणीत कुमारसम्भव में रतिविलाप में करुण रस के पूरे वर्णन के अनन्तर भी फिर उसका वर्णन करना।

'अथ सा पुनरेव विह्वला' इसके बाद वह फिर शोकातुर हो गई इस वाक्य से (मदनदाह के प्रकरण के समाप्त होने के बाद भी) दुबारा उद्दीपन करके वसन्त रूपी अपने सम्बन्धी के देखने से (एक बार विलाप को समाप्त करके पुनः) 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्' उसको देखकर वह बहुत रोई इत्यादि पद्य से फिर इस वर्णन का पुनः ग्रहण (एक बार उपभोग के बाद पुरानी पड़ी हुई कुसुम–) सुगन्धि की तरह अरुचि को उत्पन्न करता है।

टि०–कुमारसम्भव के 'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति.......भस्मावशेषं मदनं चकार' (5,) इस श्लोक में मदनदाह का वर्णन करने के उपरान्त कामदेव की पत्नी रति का विलाप आरम्भ हो गया है। वहाँ 'अथ मोहपरायणा सती' (4,1) से फिर करुण रस है तदनन्तर 'अथ सा पुनरेव विह्वला' (4, 4) कहा गया है। वहाँ अथ तथा पुनः शब्दों से उस रस की दीप्ति करके 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्' (4,26) इत्यादि से करुण रस को फिर उद्दीप्त किया गया है। इस प्रकार एक बार आस्वाद किये गये रस का बार बार वर्णन उपभुक्त कुसुमपरिमल के समान सहृदयों की अरुचि को उत्पन्न करता है। ध्वन्यालोक में भी पौनःपुन्येन एक ही रस के उद्दीपन को दोष माना गया है।

---

1. ज अ; इति त में नहीं
2. त; वैरस्यावहमिति ज अ

दूषकताबीजं चात्र विच्छिद्य पुनरङ्गोपनिबन्धप्रतीतिः[1]। वस्तुतस्तु वेद्यान्तरसम्बन्धेन रसधाराविच्छेदो भवतीति तदेव[2] दूषकताबीजम्। अकाण्डे प्रथनम्– यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के सैनिकक्षये सम्प्रवृत्ते दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्। शोकोद्रेकानुबन्धेन प्रतिनृपतिचित्ते शृङ्गारः पदमेव न धत्ते कुतः परिपोषः? न चापरिपुष्टः[3] स्वदते इति भावः। छेद इति। विषयान्तरव्यासङ्गवर्णनया अनवसरे प्रकृतविच्छेदः।

यथा–वीरचरिते रामजामदग्न्योर्धाराधिरूढे वीररसे कङ्कणमोचनाय गच्छामीति

परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च।।

ध्वन्यालोक 3, 19।।

विच्छेद होकर (विच्छिन्न) रस के विभावादि अङ्गों की फिर दोबारा प्रस्तुतीकरण से होने वाली प्रतीति ही यहाँ इस (दोष में) दूषकता का कारण है। वास्तव में तो विषयान्तर के साथ सम्बन्ध होने से रसधारा का भङ्ग हो जाता है इसी लिए वही दोष का कारण बनता है।

8. अनवसर में वर्णन (करने का उदाहरण) जैसे वेणीसंहार नाटक के भीतर द्वितीय अङ्क में सैनिकों का संहार होना आरम्भ हो जाने पर (भानुमती के साथ सम्भोगशृङ्गार रूप) दुर्योधन का शृङ्गारवर्णन (अनुचित रूप से वर्णित) है। वहाँ प्रत्येक राजा के चित्त में (अपने अपने सम्बन्धियों के मारे जाने के कारण) शोक के तीव्र प्रवाह के सातत्य के कारण (करुण की ही चित्त में प्रतिष्ठा होने से जब) शृङ्गार रस पैर ही नहीं रखता है तो उसकी वहाँ पुष्टि तो कैसे हो सकती है? और अपरिपुष्ट रस आस्वाद (आनन्द) नहीं देता है यह भाव है।

9. (अनवसर में रस का) छेद करने का यह अर्थ है–

दूसरे विषय (घटना या रस) के प्रसङ्ग के साथ किये गये पृथक् वर्णन से अनवसर में ही प्रकृत रस का भङ्ग कर देना अकाण्डच्छेदन कहलाता है।

(अकाण्डच्छेदन का उदाहरण) जैसे महावीरचरित नाटक में रामचन्द्र और परशुराम मुनि के मध्य वीररस के द्वारा धारा का रूप प्राप्त कर लेने पर

---

1. ज अ; विच्छिद्य प्रतीतिः त
2. ज अ; विच्छेदो वा दूषकताबीजम् त
3. त; चापरिपक्वः ज अ

रामस्योक्तौ। दूषकताबीजं चात्र अनवसरे परित्यागप्रतीतिः। अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः। अङ्गिनमुपेक्ष्याङ्गानां[1] गुणशीलाद्युत्कर्षः[2]।

यथा–हयग्रीववधे हयग्रीवस्य। अत्र बलवता दुर्बलस्य बाध[3] इति न्यायाद् वैपरीत्यबोध एव दूषकताबीजम्।[4]

(दोनों के द्वारा एक दूसरे के प्रति विपरीत और जोशीली उक्तियों और प्रत्युक्तियों को बोलने के समय) मैं अब विवाह (विधि में कङ्कण खोलने के लिए जाता हूँ) राम के इस कथन में (यह दोष आ गया) है।

टि०–'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' राम की इस उक्ति में अनवसर में वीर रस का विच्छेद इसलिए है क्योंकि वाग्युद्ध अथवा युद्ध के अवसर पर शत्रु से किसी प्रकार का समय माँगकर और कोई कार्य नहीं किया जाता है। इस प्रकार का समय माँगने पर कायरता समझी जाती है और जोश भी ठंडा पड़ जाता है।

और यहाँ बेमौके रस को छोड़ देने की प्रतीति ही दोष का कारण है।

10. अङ्ग का भी बहुत अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन (रसदोष है इसका यह अभिप्राय है) अङ्गी अर्थात् प्रधान की उपेक्षा करके उसके अङ्गों के गुण और स्वभाव आदि के उत्कर्ष का वर्णन करना। जैसे हयग्रीववध नाटक में हयग्रीव का (गुणातिशयवर्णन है)।

टि०–हयग्रीववध में भगवान् विष्णु नायक हैं और हयग्रीव प्रतिनायक है। वहाँ हयग्रीव के पराक्रम को विष्णु के पराक्रम से अधिक दिखाया गया है।

यहाँ 'बलवान् के द्वारा दुर्बल दबा दिया जाता है इस स्वाभाविक नियम के विपरीत बोध होना ही (इस दोष की) दूषकता का कारण है।

टि०–इस नाटक में यह प्रतीति होने लगती है कि हयग्रीव की अपेक्षा भगवान् विष्णु अधिक दुर्बल हैं। जहाँ इस तरह उक्त नियम के विपरीत प्रतीति होती है वहीं यह दोष आ जाता है।

---

1. त; उपेक्ष्य अङ्गानां अ; अङ्गानां पद ज में नहीं
2. ज अ; गुणाद्युत्कर्षः त
3. ज अ; बाधा त
4. ज अ; बीजमित्याहुः त

अङ्गिनोऽननुसन्धानमिति। प्रधानस्याप्रतीतिरिति यावत्। यथा-रत्नावल्यां बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः। अङ्गिनि अङ्गकृतपरिपुष्टि[1] राहित्यं दूषकताबीजम्। तथाहि–प्रबन्धे नानारसेन भवितव्यं तदवयवकथानां[2] नानाविधत्वात्। तत्र च न सर्वेषां प्राधान्यं परस्परनैरपेक्ष्ये एकवाक्यताभङ्गप्रसङ्गात्। एको रसः अङ्गी इतरेषां तद्वैचित्र्याधायकत्वेनाङ्गत्वम्। तथा चोक्तं [3]ध्वनिकृता–

प्रसिद्धे हि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।[4]
अङ्गी रसो भवेदेकस्तदुत्कर्षकराः परे।।

---

11. अङ्गी का अनुसन्धान न करना (अर्थात् नायक नायिका को भूल जाना) इसका इतना अभिप्राय यह हुआ कि प्रधान रस और प्रधान पात्र का वर्णन न करके और और बातें करते जाने से उनका पता न लगना (उदाहरणार्थ) जैसे रत्नावली नाटिका में (चतुर्थ अङ्क में सिंहलेश्वर के कञ्चुकी) बाभ्रव्य के जाने पर (नायक उदयन के विजयवर्मा के वृत्तान्त को सुनने में लगने पर उसे) सागरिका की विस्मृति हो जाती है (और इससे शृङ्गार रस में विच्छेद आ जाता है)। यह अङ्गी अर्थात् प्रधान की अङ्ग अर्थात् अप्रधानों के द्वारा पुष्टि का न किया जाना ही (इस दोष में) दूषकता का कारण है (अतः जहाँ अङ्ग अङ्गी की पुष्टि नहीं कर रहे होते वहाँ प्रकृत रस में बाधा पड़ती है)। (इस बात को स्पष्ट करते हैं) जैसे कहा भी जाता है–प्रबन्ध में अनेक रसों (के समावेश) को होना चाहिए क्योंकि उसकी अवयवभूत (छोटी छोटी) कथायें नाना प्रकार की होती हैं। (किन्तु) वहाँ सारे रसों की प्रधानता नहीं होती क्योंकि (यदि सारे रसों की प्रधानता होने लग जाय तो) एक दूसरे की आकाङ्क्षा न होने पर एकवाक्यता (प्रधानता) की समाप्ति का दोष आ जाता है (यदि एक प्रधान हो और बाकी उसी को पुष्ट करते हों तो उनमें एक ही वाक्य की पुष्टि होती है)। एक रस अङ्गी होता है और दूसरों की उसके अन्दर विचित्रता (चमत्कार) का आधान करने के कारण अङ्गता होती है। और वैसा ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने (भी) कहा है–

प्रबन्धों (महाकाव्य और नाटकादि) में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध

---

1. त; पुष्टिराहित्यम् ज अ
2. ज अ; तदवयवानां त
3. ज अ; तदुक्तं त
4. ज अ; प्रसिद्धे.......निबन्धने त में नहीं

तथा चाङ्गिनः[1] अनुपस्थितौ कुतोऽङ्गानां[2] वैचित्र्याधानमिति भावः। प्रकृतीनां विपर्यय इति।

रसानुपकारकत्वे सति अन्यथा प्रमाणप्रतिपन्नस्यान्यथावधारणं लक्षणम्।। 133।।

सत्यन्तविशेषणान्न रूपकालङ्कारादिष्वतिव्याप्तिः।

(भरतमुनि आदि से प्रतिपादित तथा प्रचलित) होने पर भी किसी एक रस को तो अङ्गी (प्रधान) होना चाहिए और दूसरे रसों को (गौण बनकर) उसका उत्कर्षकारी होना चाहिए।

टि०–यह कारिका ध्वन्यालोक (3,21) में दी हुई है। किन्तु वहाँ दूसरी पङ्क्ति में–एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता–यह पाठ मिलता है। प्रबन्धों में अनेक रसों की स्थिति होती है।

और अङ्गी की अनुपस्थिति में अङ्गों के द्वारा वैचित्र्य का आधान कैसे सम्भव है? यह अभिप्राय है।

12. प्रकृतियों के विपर्यय का लक्षण–रसों का उपकारी न होने पर (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों के द्वारा जो वस्तु अन्य रूप में सिद्ध हो किन्तु उसके वास्तविक रूप का ज्ञान भिन्न प्रकार का होता हो तो यह प्रकृतिविपर्यय का लक्षण है।। 133।।

'रसानुपकारकत्वे सति' यहाँ तक के सतिपर्यन्त विशेषण के कारण इस लक्षण की रूपकालङ्कार आदियों में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

टि०–प्रकृतिविपर्यय का अर्थ है–नाटक के पात्रों की वेशभूषा एवं क्रियाकलाप में उलटफेर का होना। यदि उत्तमप्रकृतिक नायक अधमप्रकृतिक नायक के समान वेशधारण और निम्न स्तर के कार्य करता है और उनसे रस की किसी प्रकार की पुष्टि भी नहीं होती है तो उसकी ये चेष्टायें प्रत्यक्षादिप्रमाणों के द्वारा उल्टे प्रकार का ज्ञान कराती हैं। सामाजिकों को स्पष्ट रूप में निश्चय हो जाता है कि यहाँ इस पात्र का अभिनय इस रूप में अनुचित है। जैसे दिव्यादिव्य पात्र राम के द्वारा छद्म से बालिवध कराना अनुचित है। ऐसी चेष्टायें राम की प्रकृति के विरुद्ध हैं। रूपकालङ्कार में भी प्रकृतियों का विपर्यय पाया जाता है। 'मुखं चन्द्रः' में अपकृष्टगुणवान् उपमेय को उत्कृष्ट गुणवान् उपमान बनाया जाता है और मुख में चन्द्रमा का अवधारण किया जाता है। प्रकृतीनां विपर्ययः नामक इस रसदोष में भी यह विशेषता पाई जाती है। किन्तु रूपकादि अलङ्कारों में रसोपकारकता धर्म रहता है और इस दोष में वह नहीं रहता यही इन दोनों में भेद है।

1. ज अ; चाङ्गिनाम् त 2. त; कुत्राङ्गानां ज अ

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च।[1] धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ता उत्तमाधममध्यमाश्च[2]। तासां[3] च[4] लोकशास्त्रातिक्रमेणान्यथावर्णनं विपर्ययः। दूषकताबीजं चात्रानौचित्यप्रतीतिः। अनङ्गस्याभिधानमिति। रसपरिपोषकमनादृत्यापरिपोषकस्तुतिः।

प्रकृतियाँ (नायकों के प्रकार) 1. दिव्य 2. अदिव्य और 3. दिव्यादिव्य ये (तीन) हैं।

टि०–1. दिव्य नायक इन्द्रादि देवता 2. अदिव्य नायक वत्सराज उदयनादि तथा 3. दिव्यादिव्य नायक राम कृष्ण आदि मनुष्यावतारधारी होते हैं।

(फिर ये नायक) 1. धीरोदात्त 2. धीरोद्धत, 3. धीरललित, और 4. धीरप्रशान्त (इन चार भेदों में विभक्त किये जाते) हैं। और (इनके भी) उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद हो जाते हैं।

टि०–इस प्रकार नायकों के पहले तीन और फिर उनमें से प्रत्येक के चार भेद करने से 12 भेद हो जाते हैं। अब इन 12 भेदों के फिर उत्तम मध्यम तथा अधम ये तीन भेद हो जाते हैं। इस भाँति नायक या प्रकृतियों के 36 भेद हैं।

और इन प्रकृतियों का लोक और शास्त्र (के नियमों) का उल्लङ्घन करके अन्य प्रकार से (उल्टे रूप में) वर्णन करना ही प्रकृतिविपर्यय कहलाता है।

टि०–जो जैसा पात्र है तदनुरूप वैसा वर्णन न होने से यह प्रकृतिविपर्यय नामक दोष आता है। जैसे धीरोदात्त नायक श्रीरामचन्द्र का धीरोद्धत नायक की भाँति कपट से बालिवध रूप अनुचित कार्य करना अथवा कुमारसम्भव में उत्तम देवता उमा तथा शङ्कर के सम्भोगशृङ्गार का वर्णन और इसी प्रकार देश, काल आदि के नियमों के विपरीत वर्णन करना भी प्रकृतिविपर्यय है।

और यहाँ दूषकता का कारण अनौचित्य की प्रतीति है।

13. अनङ्ग के अभिधान का अभिप्राय यह है–प्रकृत रस के अनुपकारक

---

1. ज अ; दिव्या अदिव्याश्च त
2. ज अ; उत्तममध्यमाधमाश्च त
3. त; तेषां ज अ
4. त; ज अ में नहीं

नायकावैदग्ध्योपस्थापकव्यापारत्वं लक्षणम्।।134।।

यथा कर्पूरमञ्जर्यामात्मनो नायिकायाश्च वर्णनमनादृत्य वन्दिवर्णितस्य[1] राज्ञः प्रशंसनम्[2]।

दूषकताबीजं चात्र नायकावैदग्ध्यप्रतीतिः।

अत्र नव्याः–एते प्रतिकूलविभावादिग्रह इत्यारभ्य ईदृशा इत्यन्ता अनुचितार्थ एवान्तर्भूताः। अतएवोक्तं ध्वनिकृता–

का कथन करना। (प्रकृत) रस को पुष्ट करने वाले अङ्ग की उपेक्षा करके अपुष्ट करने वाले (विरोधी) का वर्णन करना।

और नायक की मूर्खता (अनिपुणता) को उपस्थित करने वाले व्यापार का होना (अनङ्गस्याभिधानम् नामक) इस दोष का लक्षण है।।134।।

जैसे–कर्पूरमञ्जरी नाटिका में अपने तथा नायिका के द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की उपेक्षा करके वन्दिजनों से किये गये इस ऋतु के वर्णन की राजा द्वारा की गई प्रशंसा (इस दोष का उदाहरण) है।

टि०–कर्पूरमञ्जरी नाटिका में प्रथम जवनिकान्तर के बाद नायिका विभ्रमलेखा ने और स्वयं राजा ने वसन्त ऋतु का वर्णन किया है। बन्दिगणों ने भी वहाँ इस ऋतु की प्रशंसा की है। राजा ने वहाँ न तो अपने वर्णन की बड़ाई की है और न ही विभ्रमलेखाकृत वसन्तवर्णन को सराहा है किन्तु स्तुतिपाठकों के द्वारा किये गये वर्णन को उत्तम बताया है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार रस के परिपोषक अपने तथा नायिकाकृत वर्णन की उपेक्षा कर दी गई है।

नायक का अवैदग्ध्य अर्थात् नासमझी ही (इस दोष की) दूषकता का कारण है।

यहाँ पर नवीन आचार्यों का कहना है–प्रतिकूलविभावादिग्रहः इस छठे रसदोष से प्रारम्भ करके अनङ्गस्याभिधानं रसे दोषाः स्युरीदृशाः। तक ये आठों दोष अनुचितार्थ नामक अर्थदोष में अन्तर्भूत हो जाते हैं (क्योंकि इन रसदोषों का मूल कारण अनुचित वर्णन ही है)।

---

1. त; वर्णनस्य त अ
2. ज अ; प्रशंसा त

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

इति श्रीविश्वनाथदेवविनिर्मिते साहित्यसुधासिन्धौ दोषोत्सारणं नाम पञ्चमस्तरङ्गः।[1]

इसीलिए ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने (ध्वन्यालोक 3,14 वृत्ति) कहा है-

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग (रसविच्छेद) का और कोई दूसरा कारण नहीं है। प्रसिद्धि के अनुरूप ही औचित्यपूर्ण अर्थात् औचित्य का ध्यान रखकर की गई रचना तो रस की परम उपनिषद् है (अर्थात् रसपरिपोष का परम रहस्य है)।

टि०–औचित्य का महत्त्व बताते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है-

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।

औचित्य विचारचर्चा 3 कारिका

रुचिकर चर्वणागर्भित काव्य में औचित्य चमत्कार उत्पन्न करता है और वह रस का प्राण है।

इस प्रकार श्रीविश्वनाथदेवरचित श्रीसाहित्यसुधासिन्धु में दोषोत्सारण नाम की पञ्चम तरङ्ग समाप्त हुई।

—•—

1. संशोधित; इति श्रीसाहित्यसुधासिन्धौ पञ्चमस्तरङ्गः। ज अ; इति साहित्यसुधासिन्धौ विश्वनाथविनिर्मिते दोषोत्सारणं नाम पञ्चमस्तरङ्गः त

षष्ठस्तरङ्गः

श्रीगणेशाय नमः। दोषानुक्त्वा प्राप्तावसरान् गुणानाह–

रसत्वसमानाधिकरणत्वे सति उत्कर्षहेतुत्वं गुणत्वम्[1] ।। 135 ।।

अलङ्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्। उत्कर्षश्च रत्याद्यवच्छिन्नस्य[2] चैतन्यस्य

श्रीगणेश को नमस्कार है। दोषों को कहकर अवसर को प्राप्त गुणों को (ग्रन्थकार इस छठी तरङ्ग में) बतला रहे हैं।

टि०–आचार्य विश्वनाथ देव ने पहली तरङ्ग (1, 3 वृत्ति) में भोजराजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण में दिये गये 'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्' इत्यादि काव्यलक्षण का अनुमोदन किया है। इस लक्षण में अदोष, गुण और अलङ्कार यह क्रम दिया हुआ है। पाँचवीं तरङ्ग में पहले दोषों का वर्णन किया जा चुका है। इसके बाद गुणों का निरूपण क्रम को प्राप्त है। इसी ओर ग्रन्थकार ने यहाँ सङ्केत किया है।

गुणलक्षण रसत्व के साथ समानाधिकरण होने पर जो रस के उत्कर्ष–(उपादेयता और उत्कृष्टता) का कारण बनता है वह गुण कहलाता है।। 135 ।।

टि०–इस लक्षण में गुण के सम्बन्ध में दो बातें कही हैं–1. गुण का रस के साथ समानाधिकरणत्व (सामानाधिकरण्य) होता है। समानाधिकरणत्व का अर्थ है एक आश्रय वाला होना। गुणत्व और रसत्व इन दोनों में समानाधिकरणत्व है क्योंकि एक अधिकरण रस में गुणत्व और रसत्व ये दोनों धर्म रहते हैं। रसत्व रस का अवच्छेदक धर्म है और गुणत्व गुण का। गुणत्व गुण में तो रहता ही है किन्तु रस में भी रहता है। 2. गुण रस के उत्कर्ष का कारण होता है।

अलङ्कार (के लक्षण) में अतिव्याप्ति हटाने के लिए (यहाँ) सतिपर्यन्त विशेषण है।

---

1. त; गुणत्वम् पद ज अ में नहीं
2. ज अ; रत्याद्यवच्छिन्न त।

आनन्दांशे आवरणस्य सम्यगुच्छेदः। नन्विदमसम्भवि गुणानां वर्णधर्मत्वादिति चेत्, न। लाघवेन रससमवेतत्वस्यैवाङ्गीकारात्। तथाहि–रसापेक्षया वर्णाः समासो रचनाश्चातिप्रभूततरा इति लाघवसहकृतप्रमाणेन माधुर्यादीनां रसवृत्तित्वकल्पनात्[1]।

टि०–'रसत्वसमानाधिकरणत्वे सति उत्कर्षहेतुत्वं गुणत्वम्' इस रूप में यहाँ गुण का लक्षण ग्रन्थकार ने रखा है। 'रसत्व.........सति' इस सतिपर्यन्त विशेषण को रख देने से यह लक्षण अलङ्कार के लक्षण में अतिव्याप्त नहीं होता है। यद्यपि अलङ्कार भी गुण की भाँति ही रसोत्कर्ष का कारण होता है तथापि वह रस के साथ समानाधिकरणत्व से नहीं रहता है। उसका समानाधिकरणत्व शब्द और अर्थ के साथ है। इस कारण अलङ्कार का शब्द और अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है और रस के साथ परम्परासम्बन्ध है क्योंकि पहले वह शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करता है उसके बाद रस को। इसके विपरीत गुण साक्षात् रूप से रस का धर्म है और परम्परा-सम्बन्ध से शब्द और अर्थ का धर्म बनता है। यही इन दोनों का पारस्परिक भेद है।

और रत्यादि से युक्त चैतन्य के आनन्दांश पर पड़े हुए आवरण का अच्छी तरह से भङ्ग हो जाना ही उत्कर्ष है।

टि०–अभिप्राय यह है कि रत्यादिभावों से युक्त चैतन्य आत्मा के आनन्दांश में बाधकभूत तमोगुणजन्य अज्ञान के आवरण का पूरी तरह विनष्ट हो जाना ही उत्कर्ष कहलाता है।

गुण का यह लक्षण असम्भव है क्योंकि गुण रस के धर्म न होकर वर्ण के धर्म हुआ करते हैं। यदि पूर्वपक्षी यह कहे,

टि०–गुण वर्णों के भीतर रहा करते हैं। ट, ठ, ड, ढ, ण, श, ष आदि वर्णों में ओज गुण रहता है। ञ, म, ङ, ण, और न इन वर्णों में माधुर्य गुण रहता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गुण वर्णों में रहते हैं न कि रस में।

(तो पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक) नहीं है क्योंकि लाघव से गुण को रस के साथ समवायसम्बन्ध से रहने वाले धर्म के रूप में ही माना जाता है।

टि०–वस्तुतः गुण रस में तो साक्षात् रूप से रहते हैं। किन्तु जैसे रस में गुणों की स्थिति होती है वैसे ही यदि शब्द और अर्थ में भी गुणों की स्थिति मान ली जाय तो गुण के दो आश्रय (रस एवं शब्दार्थ) मान लेने से गौरव आ जाता है। इस गौरव से

1. ज अ; लाघवसहकृत.......कल्पनात् इतना अंश त में नहीं

न च गुणस्य रसमात्रसमवेतत्वे मधुरो वर्ण इत्यादि बुद्धिर्न स्यादिति वाच्यम्, तत्र तादृशगुणव्यञ्जकत्वेनापि निर्वाहात्। लाघवस्यैव विनिगमकत्वात्।

बचने के लिए गुणों की स्थिति केवल रस में मान लेनी चाहिए। ऐसा मानने में लाघव है।

(इसी बात की) और अधिक व्याख्या करते हैं–रस की अपेक्षा वर्ण, समास और रचना की सङ्ख्या अधिक है इस कारण (गुणों को रसमात्रवृत्ति रूप) लाघव से युक्त (अधिक आश्रयों में स्थिति की अपेक्षा एक आश्रय में स्थिति मानना अधिक सङ्गत है एतद्रूप) प्रमाण से माधुर्यादि गुणों की रसवृत्ति (रसमात्र में रहने वालों के रूप में) मानने की कल्पना की जाती है (इस कारण गुणों को वर्णों का धर्म मानना ठीक नहीं है)।

टि०–सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि वर्ण, समास, रचना आदि अनन्त हैं। इन सबमें यदि गुणों की स्थिति मानेंगे तो इनको अनन्त आश्रयों में रहने वाला मानना पड़ेगा, इससे गौरव हो जायेगा। किन्तु रस का समष्टि रूप में एक भेद है और व्यष्टि रूप में ये अधिक से अधिक 12 भेद के आसपास हैं। माधुर्यादि इन गुणों की रसमात्रवृत्ति मानने से आश्रयों की सङ्ख्या कम हो जाने से लाघव हो जायेगा। अतः इनकी रसवृत्ति ही स्वीकार करनी चाहिए।

और यदि गुणों को रसमात्र में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ मानें तो 'मधुरो वर्णः' अर्थात् यह वर्ण माधुर्यगुणोपेत है इत्यादि इस प्रकार की (विशेष्यविशेषणभावात्मक) प्रतीति नहीं होगी।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि लोकव्यवहार में देखा जाता है कि 'मधुरो वर्णः' यह वर्ण मधुर है ऐसे प्रयोगों के अनन्तर इन वर्णों में मिठास है–इस प्रकार का बोध होता है इससे यही सिद्ध होता है कि माधुर्यादि गुण वर्णों में ही रहते हैं। यदि गुण रसमात्र के धर्म होते तो 'मधुरो वर्णः' जैसे प्रयोग गलत माने जाते। इसलिए लोकव्यवहार को देखते हुए भी गुणों को वर्णों का धर्म मानना उचित प्रतीत होता है।

(उपर्युक्त ढंग से पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि वहाँ ('मधुरो वर्णः' जैसे स्थलों में भी) उस प्रकार के अर्थात् रसमात्र में रहने वाले गुणों के व्यञ्जक वर्ण होते हैं इस रूप में इसका अर्थ मानकर भी काम चलाया जा सकता है और लाघव वाला नियम ही रसमात्रवृत्ति मानने में विनिगमक हेतु (एकतरपक्षपातिनी अर्थात् इसी पक्ष को पुष्ट करने वाली युक्ति) है।

अथ गुणानां भिदाः–

माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।
आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।। 136।।

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे द्रुतिर्विगलितत्वम्। वर्णविशेषव्यङ्ग्या उत्कर्षरूपा

टि०–क्योंकि शब्द और अर्थ रसाभिव्यञ्जक होते हैं और गुण रस में रहते हैं इस कारण स्वाश्रयरसाभिव्यञ्जकत्वसम्बन्ध रूप परम्परासम्बन्ध से गुण रस में रहते हुए शब्दार्थ में भी रहते हैं। गुण का आश्रय रस और रस को प्रकट करने वाले शब्द और अर्थ होते हैं। इस प्रकार गुणों का रस के साथ साक्षात् सम्बन्ध और शब्द और अर्थ के साथ असाक्षात् सम्बन्ध है (गुण+रस+शब्दार्थ)। इस प्रकार गुण शब्दार्थ में भी चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त गुणों को रसमात्रवृत्ति मानने में लाघव है। गुण रस में रहते हैं और रस शब्दार्थ में रहते हैं ऐसा मानने से गुणों को रस और शब्दार्थ दोनों में मानने से गौरव होता है। इतनी लम्बी प्रक्रिया मानने के स्थान पर यदि गुण रस में रहते हैं इतना मान लिया जाय तो गौरव से बच जाते हैं।

इसके बाद गुणों के भेद (दिखाते) हैं–

1. माधुर्य, 2. ओज और 3. प्रसाद नाम के वे तीन ही गुण होते हैं किन्तु (वामन के अभिप्रेत) वे दस (गुण तो) नहीं होते हैं।

माधुर्य गुण–(चित्त के) द्रवीभाव का कारण और शृङ्गार में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है वह माधुर्य (नामक गुण कहलाता) है।। 136।।

टि०–यह कारिका काव्यप्रकाश (8, 68) में दी हुई है। यहाँ आह्लादकत्व का अर्थ आह्लादजनकत्व नहीं अपितु आह्लादस्वरूपत्व है, क्योंकि शृङ्गारादि आह्लादजनक नहीं अपितु आह्लादस्वरूप होते हैं। इस कारण आह्लादकत्व का अर्थ आह्लादजनकत्व न करके आह्लादस्वरूप ही करना चाहिए। आह्लादयति इति आह्लादः यह व्युत्पत्ति न करके पहले भाव में (आह्लादनम् आह्लादः) घञ्प्रत्यय करके आह्लाद शब्द बना लेना चाहिए, फिर स्वार्थ में क प्रत्यय करके आह्लादक पद बन जायेगा। आह्लादक पद में रहने वाला धर्म आह्लादकत्व कहलायेगा।

'शृङ्गारे' अर्थात् सम्भोग शृङ्गार में। द्रुति का अर्थ है पिघल जाना।

टि०–इस कारिका में प्रयुक्त शृङ्गार शब्द का अर्थ है सम्भोग शृङ्गार और द्रुति का अर्थ है चित्त का द्रवीभाव अर्थात् पिघल जाना।

जातिर्माधुर्यमिति प्राञ्चः। शक्तिसादृश्यादिवदतिरिक्त एव पदार्थ इत्यर्वाञ्चः[1]। शृङ्गारादिवृत्तिर्माधुर्यमित्यपरे।

इह हि सामाजिकानां चित्तेषु नवरसजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः–द्रुति र्विस्तारो विकासश्च। तत्र शृङ्गारकरुणशान्तेभ्यो द्रुतिः। वीरबीभत्सरौद्रेभ्यो विस्तारः। हास्याद्भुतभयानकेभ्यो

विशेष प्रकार के वर्णों से अभिव्यक्त होने वाली उत्कर्षस्वरूपात्मक एक जातिविशेष का नाम माधुर्य है ऐसा प्राचीन आचार्य कहते हैं। शक्ति, सादृश्यादि की तरह यह एक अतिरिक्त पदार्थ है ऐसा अर्वाचीन आचार्य कहते हैं तथा शृङ्गारादि रसों में रहने वाला (धर्मविशेष) माधुर्य है ऐसा दूसरे विद्वान् कहते हैं।

टि०–यहाँ माधुर्य गुण के सम्बन्ध में तीन मत बताये हैं–1. प्राचीनों के मत में माधुर्य विशेष प्रकार के वर्णों से प्रकट होने वाला जातिरूप धर्मविशेष है, 2. अर्वाचीन आचार्य माधुर्य को वैसा ही एक अलग पदार्थ मानते हैं जैसा कि सादृश्य या शक्ति असडि को अलग पदार्थ माना जाता है और 3. कुछ विद्वानों ने शृङ्गार में रहने वाले धर्मविशेष को माधुर्य माना है। अर्वाचीन माधुर्य को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं। इनका कहना है कि जैसे मीमांसक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति और सादृश्य को अलग पदार्थ मानते हैं वैसे ही माधुर्य को भी अलग पदार्थ मानते हैं। अग्नि के पास यदि चन्द्रकान्तमणि को रखा जाये तो उसकी दहनशक्ति निवृत्त हो जाती है। यदि चन्द्रकान्तमणि के रहते हुए भी सूर्यकान्तमणि रख दी जाय तो फिर वह शक्ति आ जाती है। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रकान्तमणि के रखने से वह दहनशक्ति हट जाती है और सूर्यकान्तमणि को रख देने से वह आ जाती है। इस आगमन और निर्गमन से ज्ञात होता है कि यह शक्ति नाम का पदार्थ अलग ही है। इसी प्रकार 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्' अर्थात् चन्द्र से भिन्न होने पर चन्द्रगत आह्लादकत्वादि धर्म मुख में भी रहा करते हैं। इस लक्षण वाला सादृश्य एक अलग पदार्थ है। यह पदार्थ उपमान और उपमेय में रहता हुआ भी उनसे पृथक् पदार्थ है।

इस काव्य में सामाजिकों के चित्त में रहने वाली नवरसजन्य तीन अवस्थायें (कही जाती) हैं–1. द्रुति (द्रवीभाव), 2. विस्तार और 3. विकास। उनमें शृङ्गार, करुण और शान्त इन रसों से (चित्त की) द्रुति होती है, वीर, बीभत्स और रौद्र इन रसों से (चित्त का) विस्तार होता है, हास्य, अद्भुत

---

1. त; ज अ में इत्यर्वाञ्चः नहीं

विकासः।[1] अद्भुते नयनविकासः।[2] भयानके द्रुतापसरणमिति।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ।। 137 ।।

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तिहेतुरोजः।

वीरे बीभत्सरौद्रयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु।

वीराद् बीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः।[3] एवं हास्ये शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टम्।

और भयानक से उस (चित्त) का (विकास) होता है, अद्भुत में आँखों का विकास होता है, अर्थात् इसमें आँखें फैल जाती हैं और भयानक में (व्यक्ति का) तेजी से भाग जाना होता है। (इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं के साथ चित्त का सम्बन्ध है)।

(सम्भोग शृङ्गार में रहने वाला) वह माधुर्य गुण करुण, विप्रलम्भ (शृङ्गार) तथा शान्त (रस) में (उत्तरोत्तर) अधिक चमत्कार (को उत्पन्न करने) वाला होता है।

2. ओज गुण–और कान्तिविशेष से अपने विस्तार का कारणभूत (अर्थात् विशेष प्रकार की चमक के कारण चित्त के विस्तार को करने वाला) ओज गुण वीररस में रहता है।। 137 ।।

चित्तविस्ताररूपिणी दीप्ति का कारण ओज (गुण होता) है।

टि०–'करुणे........स्थितिः' यह कारिका ज्यों की त्यों काव्यप्रकाश (8,69) में मिलती है।

वीर, बीभत्स और रौद्र में क्रमशः उस ओज गुण का आधिक्य (अधिक चमत्कारजनकत्व) रहता है।

वीर की अपेक्षा बीभत्स और उससे भी अधिक रौद्ररस में ओज चमत्कारान्वित होता है।

टि०–'वीरे........तु' यह कारिका थोड़े परिवर्तन के साथ और वीराद्......मोजः यह पङ्क्ति ज्यों की त्यों काव्यप्रकाश (8, 70) में मिलती है।

---

1. त; विकाश : ज अ
2. त;.........विकाश; ज अ
3. ज अ; सातिशयधीरोजः त

विकास[1]धर्मतया ओजोऽपि प्रकृष्टम्[2]। एवमद्भुतेऽप्योजः माधुर्यमप्याह्लादकत्वरूपतया।[3] एवं भयानकेऽपि माधुर्यम्। भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्तिरसतया ओजः प्रकृष्टं च।

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।। 138 ।।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम्।[4] यदा वीररसादिषु चित्तं व्याप्नोति तदा

इसी प्रकार शृङ्गार का अङ्ग होने से हास्य में माधुर्य की मात्रा प्रकृष्ट अर्थात् अधिक होती है।

विकास धर्म वाला होने के कारण (हास्य रस में) ओज भी अधिक मात्रा में रहता है। इसी प्रकार (विकास रूप होने के कारण) अद्भुत में भी ओज (अधिक) होता है। आह्लाद अर्थात् प्रसन्नता रूप होने के कारण (अद्भुत में) माधुर्य भी (अधिक) हुआ करता है। इसी प्रकार भयानक में भी माधुर्य (अधिक) होता है।

टि०–भयानक रस में बच्चों और स्त्रियों को डरते हुए देखना लोगों को रुचिकर लगने से प्रसन्नताप्रद होता है।

चित्तवृत्ति को भग्न करने के स्वभाव वाला होने पर भी ओज गुण (भयानक रस में) विभाव के (चित्त के) भीतर दीप्ति से युक्त रस होने के कारण अधिक मात्रा में रहता है।

टि०–भयानक रस में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक मात्रा में रहता है। वस्तुतः ओज की प्रवृत्ति चित्त का विकास करने वाली होती है किन्तु वह ओज जब भयानक रस में आता है तो वह चित्तवृत्तियों को भग्न करते हुए (मन में निराशा भरते हुए) भी चित्त का विकास करता है।

सूखे इन्धन (में अग्नि) के समान, स्वच्छ (धुले हुए साफ वस्त्र में) जल के समान जो दूसरे (द्रव्य) में अर्थात् चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है।। 138 ।।

वह सर्वत्र (सब रसों में) रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है।

'अन्यत्' इस पद से यहाँ व्याप्य चित्त का ग्रहण करना चाहिए।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने यह कहा है कि जैसे सूखे इन्धन में अग्नि सहसा व्याप्त

---

1. ज अ.....हेतुतया त
2. त; प्रकृष्टः ज अ
3. ज अ; आह्लादकतया त
4. ज अ; चित्तवृत्तिः त

शुष्केन्धनाग्निवत्। यदा शृङ्गारकरुणादिषु चित्तं व्याप्नोति तदा स्वच्छजलवत्। तदयं विवेकः। शृङ्गारहास्यकरुणाद्भुतशान्तेषु पञ्चसु माधुर्यं वीररौद्रभयानकबीभत्सेषु चतुर्षु ओजः। सर्वरसेषु प्रसाद इति द्रष्टव्यम्[1]।

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयो र्मता।। 139।।

गुणवृत्त्या उपचारेण।

हो जाती है उसी प्रकार जो चित्त में एकदम और अनायास व्याप्त हो जाता है वह प्रसाद नामक गुण कहलाता है। वह सारे रसों और सारी रचनाओं में रहता है। काव्यप्रकाश (8, 70-71) में भी यही कारिका है वहाँ भी शुष्केन्धनाग्निवत् इस पाठ के साथ स्वच्छजलवत् यह पाठ दिया हुआ है। वस्तुतः शुष्केन्धनाग्निवत् प्रयोग की ही भाँति स्वच्छवस्त्रजलवत् का प्रयोग भी इन्हें और मम्मटाचार्य को करना चाहिए था।

जब वीररसादियों में प्रसाद होता है तो वह चित्त को व्याप्त करता है (वह दीप्त होकर फैलता है) उस समय उसकी वैसी ही स्थिति होती है जैसी सूखी लकड़ियों में अग्नि की। जब शृङ्गार करुणादियों में प्रसाद होता है तो उससे चित्त (द्रवीभूत होकर) फैलता है। उस समय प्रसाद की स्थिति स्वच्छ वस्त्र में (स्वच्छ) जल की भाँति होती है।

उन दोनों (गुणों का परस्पर) यह भेद है–

शृङ्गार, हास्य, करुण, अद्भुत और शान्त इन पाँचों रसों में माधुर्य है। वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स इन चारों में ओज है और सारे रसों में प्रसाद गुण है–इस बात को देखना चाहिए अर्थात् यह बात अपने ध्यान में रखनी चाहिए।

(यद्यपि वे गुण मुख्य रूप से रस के धर्म हैं परन्तु) गौणी वृत्ति से शब्द और अर्थ में भी उनकी स्थिति मानी जाती है।। 139।।

(कारिका में आये हुए) 'गुणवृत्त्या' (पद का अर्थ है गौणी लक्षणा वृत्ति से) उपचार (लाक्षणिक प्रयोग) से।

टि०–जैसे शरीर में आत्मा के धर्म शौर्य आदि गुणों की स्थिति उपचार से मानी जाती है उसी प्रकार उपचार से रस के धर्म माधुर्य आदि गुणों की शब्द और अर्थ में

---

1. ज अ; प्रद्रष्टव्यः त

न पुनर्दशेति तथा च ते त्रय एव स्वीकार्या न पुनः प्राचां दश गुणा इति भावः। ते तु वक्ष्यन्ते।

अथ तेषां व्यञ्जकवर्णानाह–

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः।

के कस्य[1] इत्यत आह

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।। 140।।

भी स्थिति मानी जाती है। शौर्यादि गुण आत्मा के हैं, आत्मा शरीर में रहती है और एक दूसरे के साथ परम्परासम्बन्ध से आत्मा के शौर्यादि गुणों को शरीर का धर्म मान लिया जाता हैं। माधुर्य आदि गुण भी रस के धर्म हैं और रस शब्दार्थ के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस परम्परासम्बन्ध से गुणों को शब्दार्थ का भी धर्म मान लिया जाता है। इस प्रकार उपचार (स्वाश्रयरसाभिव्यञ्जकत्व रूप परम्परासम्बन्ध) के कारण गौणी लक्षणा से गुणों को शब्दार्थ का धर्म माना जाता है। (गुण+रस+शब्दार्थ) वस्तुतः शूरता, वीरतादि धर्मों का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। शरीर तो उनकी अभिव्यक्ति का साधन है किन्तु शरीर में भी उन्हें आरोपित करके आकृत्या शूरः जैसे व्यवहार हो जाते हैं। ठीक इसी तरह माधुर्यादि गुण यद्यपि रस रूप आत्मा के धर्म हैं और उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम शब्दार्थ होता है किन्तु शब्दार्थ में भी उन्हें आरोपित करके 'मधुरो वर्णः' जैसे प्रयोग उपचार (सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित गौणी लक्षणा) के कारण कर दिये जाते हैं।–

(अभी पहले पढ़ी हुई 'माधुर्योजः... न पुनर्दश उस 136वीं कारिका में) जो 'न पुनर्दश' इस प्रकार कहा है उसका यह अभिप्राय है कि ये तीन (गुण) ही मानने योग्य हैं न कि प्राचीन आचार्यों के दस गुण (स्वीकार करने योग्य) हैं। वे (तीनों गुण) तो आगे कहे जायेंगे।

और इसके बाद उनके व्यञ्जक वर्णों को (मम्मट के शब्दों में ही) ग्रन्थकार कहते हैं–

वर्ण, समास और रचना उन गुणों के व्यञ्जक बनते हैं।

कौन (वर्ण आदि) किस गुण के अभिव्यञ्जक होते हैं) इसलिए ये कहते हैं–

1. संशोधित; के इत्यत ज अ; के त इत्याह त

अवृत्ति र्मध्यवृत्ति र्वा माधुर्ये घटना तथा।

शिरसि निजनिजवर्गान्त्ययुक्ताः स्पर्शाः कादयो मान्ताः टवर्गवर्जम्।

उदाहरणम्–

अमन्दसुन्दरीगणैरनिन्द्यचन्दनानिले ।
कलिन्दनन्दिनीतटे ननन्द नन्दनन्दनः।। 211।।

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।। 141।।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।

अपने सिर पर स्थित अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण, ह्रस्व रकार तथा णकार, समासरहित अथवा स्वल्पसमास वाली (समासासमासा) रचना माधुर्य में (व्यञ्जिका) होती है।। 140-141।।

अपने सिर पर विद्यमान (अर्थात् अक्षर के ऊपर) अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त क से लेकर म पर्यन्त वर्ण स्पर्श कहलाते हैं इनमें से टवर्ग (अर्थात् ट-ठ-ड-ढ) को निकाल देना चाहिए।

उदाहरण–

विदग्ध सुन्दरियों के समूह के साथ नन्द गोप के पुत्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रशंसनीय चन्दन की सुगन्धि से युक्त वायु वाले यमुना नदी के तट पर (क्रीडा करते हुए) प्रसन्न हो रहे थे।। 211।।

टि०–यहाँ पर अमन्दसुन्दरी आदि पदों में बहुत स्थानों पर दकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है, रनिन्द्य में ह्रस्व रेफ है तथा टवर्ग का भी (ण के अतिरिक्त) कोई वर्ण नहीं है। प्रत्येक चरण में स्वल्प समास है इस कारण यह रचना माधुर्यगुणोपेत है और वैदर्भी रीति वाली है।

(कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग चारों वर्णों के) 1. प्रथम (क-च-त-प रूप) और तृतीय (ग-ज-द-ब रूप) वर्णों के साथ उनके बाद के (द्वितीय ख-छ-थ-फ) तथा (चतुर्थ घ-झ-ध-भ) वर्णों (का नैरन्तर्य अव्यवधान से प्रयोग) और 2. रेफ के साथ योग (अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूप में रकार का किसी भी वर्ण के साथ योग जैसे वस्त्र, वज्र, निर्ह्राद आदि पदों में) और 3. तुल्य वर्णों का योग (जैसे वित्त, उच्च, उद्दाम आदि पदों में) 4. टादि (ट-ठ-ड-ढ वर्ण) तथा 5. श ष (ये सब वर्ण तथा) 6. दीर्घसमास एवं 7. उद्धत गुम्फन (रचना) ओज (गुण) में (व्यञ्जक) होते हैं।। 141-42।।

उदाहरणम्–

प्राक्खण्डितरिपुस्कन्धप्रोच्छलच्छोणितछ्टाः ।
आनन्दयन्ति वैजात्यताण्डवैः प्रमथाधिपम्[1] ।। 212 ।।

(यथा वा)[2]

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटाऽन्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।

उदाहरण–

पहले (किन्हीं खड्गादियों से) काटे गये शत्रुओं के कन्धों से उछल उछल कर (वेगपूर्वक) निकलती हुई रुधिर की बौछारें अपने अद्भुत ताण्डवों (भयङ्कर नर्तनों) से भूतनाथ शिव को आनन्दित कर रही हैं।। 212 ।।

टि०–यह किसी राजा के समराङ्गण के शौर्य का वर्णन है। उसके खड्ग अथवा बाणों से आहत शत्रुओं के कन्धों से निकलकर छलछलाती हुई रक्तधारायें पृथिवी पर गिर रही हैं। यहाँ क्ख, च्छ् में पहले दूसरे अक्षरों का योग है, प्राक्, प्रोच्छलत् और प्रमथ में रकार का योग तथा पूर्वार्ध में एक समस्त पद होने से ओज गुण है।

(अथवा और उदाहरण–)

(स्वयं मन्थनदण्ड बनकर किये गये) मन्थन से क्षुब्ध समुद्र के जल से व्याप्त गुफाओं वाले मन्दराचल के शब्द के समान गम्भीर (भेरीशतसहस्त्रों और ढक्काशतों के एक साथ बजने से उत्पन्न) कोणाघातों (बहुत ज़ोर के शोरों के) अवसर पर (उसके साथ) गर्जन करते हुए प्रलयकालीन मेघों के समूह के परस्पर सङ्घर्षण (जन्य शब्द) के समान भयङ्कर, द्रौपदी के क्रोध का (सूचक) कौरव वंश के नाश (की सूचना) के लिए उपद्रवपूर्ण

---

1. त; ज अ में यह पूरा श्लोक नहीं
2. संशोधित; ज अ त में नहीं

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्[1]?।। 213।।

एवंविधा घटना गौडी। एतदुभयभिन्ना घटना पाञ्चाली। तदुक्तम्–

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै वैदर्भी रीतिरिष्यते।। 142।।
ओजः प्रकाशकैर्गौडी[2] पाञ्चाली तैस्तथापरैः।

निर्घात (मेघ और वायु के सङ्घर्षण से उत्पन्न अशुभसूचक शब्द से युक्त) वायु रूप और मुझ भीमसेन के सिंहनाद की प्रतिध्वनि के सदृश यह दुन्दुभि किसने बजाई है?।। 213।।

टि०–वेणीसंहार में भीमसेन के द्वारा कहे गए इस श्लोक को काव्यप्रकाश (8, 352) में ओजोगुण वाली रचना के उदाहरण के रूप में दिया गया है। यहाँ रकार के साथ संयुक्ताक्षरों तथा दीर्घसमास वाली उद्धत रचना होने से ओज गुण है।

इस प्रकार की रचना गौडी कहलाती है। इन दोनों (अर्थात् वैदर्भी और गौडी) से भिन्न रचना पाञ्चाली कहलाती है। (इस सम्बन्ध में) ऐसा कहा है– माधुर्यव्यञ्जक वर्णों से युक्त वैदर्भी रीति माननी चाहिए।। 142।। ओजोगुण के अभिव्यञ्जक उन (उपरिनिर्दिष्ट) वर्णों से युक्त गौडी तथा दूसरे उन माधुर्याभिव्यञ्जक वर्णों वाली रीति को पाञ्चाली रीति समझना चाहिए।

टि०–साहित्यदर्पण (9, 2-4) में वैदर्भी और गौडी रीति को इस प्रकार बताया गया है–

माधुर्यव्यञ्जकै वर्णै रचना ललितात्मिका।।
अवृत्तिरल्पवृत्ति र्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।
ओजःप्रकाशकै र्वर्णै बर्न्ध आडम्बरः पुनः।।
समासबहुला गौडी वर्णैः शेषैः पुन र्द्वयोः।

ग्रन्थकार ने इन दोनों का लक्षण साहित्यदर्पण से लिया है।

---

1. ज अ, त में यह दूसरा उदाहरण नहीं
2. त,.......स्तैस्तु ज अ

इयमेव प्रसादव्यञ्जिका। यथा–

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।।214।।

समासव्यञ्जकत्वं स्वयमुदाहर्यम्[1]। रचनाव्यञ्जकत्वमुदाहरिष्यते।

तदपरे न क्षमन्ते। तथाहि–तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावित्याहुर्मम्मटचरणाः, अदोषं गुणवत्काव्यमिति तथा–

यही पाञ्चाली रीति प्रसाद गुण की अभिव्यञ्जिका होती है। जैसे–

सुन्दर लौंग की लताओं के स्पर्श (को पाने) से कोमल (वसन्त ऋतु की) मलयानिल से युक्त, भौंरों के समूह (के शब्दों) से मिश्रित, कोयल पक्षियों की कूकों से गूँजते हुए और लताओं से घिरे प्रदेश वाली कुटिया में (भगवान् कृष्ण सुशोभित हो रहे हैं)।।214।।

टि०–यह श्लोक जयदेवविरचित गीतगोविन्द से लिया गया है। इसके पूर्वार्ध में सात और उत्तरार्ध में भी सात पदों का समास है इस कारण यहाँ ओज गुण है किन्तु कोमलाक्षर एवं मधुर वर्णों का प्रयोग होने से माधुर्य है। इन दोनों गुणों का मेल होने से यहाँ पाञ्चाली रीति है।

(इन रीतियों के) समासों के द्वारा होने वाली अभिव्यञ्जना के उदाहरण स्वयं ढूँढ लेने चाहिए और जो रचना इन रीतियों की अभिव्यञ्जिका होती है उसके उदाहरण आगे दिये जायेंगे।

टि०–ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि हमने इस षष्ठ तरङ्ग में यहाँ तक जो गुण और रीतियों के सम्बन्ध में कहा है वह आचार्य मम्मटादि प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए कहा है। आगे वे मम्मट तथा भोजराज के विरोधी आचार्यों के गुण और रीति से सम्बद्ध विचारों को दिखा रहे हैं।

(मम्मटादि आचार्यों के द्वारा माने गए गुणरीतिविषयक) इन सिद्धान्तों को दूसरे आचार्य नहीं सहन करते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है–

1. दोष रहित और गुणों से युक्त शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं ऐसा पूजनीय आचार्य मम्मट ने कहा है (यहाँ सगुणौ एवं शब्दार्थौ पद से यह प्रतीत हो रहा है कि गुण शब्द और अर्थ में रहते हैं)। इस लक्षण से

---

1. ज अ,..........मूहनीयम् त

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं[1]
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।

इत्यादि व्यवहारदर्शनाद् गुणानां शब्दवृत्तित्वमुपचारं विनैव कल्प्यताम्[2] किं रसधर्मत्वकल्पनादुर्व्यसनेनेति।[3] न चोक्तस्य लाघवतर्कस्य विनिगमकत्वमिति वाच्यम्, एवंविधस्य गौरवस्यापि न्याय्यत्वात्।

---

2. और दोष रहित और गुणों वाला काव्य होता है (यहाँ काव्य अर्थात् शब्द और अर्थ गुणयुक्त होता है आचार्य भोज के) इस लक्षण से तथा
3. यदि भगवान् कृष्ण के स्मरण में रसयुक्त मन है और यदि (उनकी) विलास भरी क्रीड़ाओं के प्रति उत्सुकता है तो मिठास भरी, मृदु और सुन्दर पदसमूह वाली महाकवि जयदेव की वाणी (कविता) को सुनो। (इन तीनों वचनों में गुणों की शब्दवृत्तिता का प्रतिपादन है)।

इत्यादि काव्य में प्रचलित व्यवहार (प्रयोगों को देखने) से गुणों के शब्द में ही रहने के धर्म (प्रवृत्ति) की उपचार (परम्परा पर आधारित गौणी लक्षणा) के बिना ही कल्पना कर लीजिए, गुण रस के धर्म हैं इस कल्पना के दुराग्रह (बुरी आदत) से क्या लाभ? इस प्रकार (ये विरोधी आचार्य आक्षेप करते हैं)।

टि०–'शब्दार्थौ सगुणौ', 'अदोषं गुणवत्काव्यम्' तथा 'मधुरकोमलकान्तपदावलिं' इन तीनों प्रयोगों के आधार पर ये विरोधी आचार्य यह सिद्ध करते हैं कि गुणों की शब्दवृत्तिता साक्षात् ही हो जाती है। इसे औपचारिक रूप में मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती अर्थात् पहले गुणों को रस में मानें उसके बाद उन्हें उपचार से शब्द (और अर्थ) में मानें इतनी लम्बी प्रक्रिया न मानकर उन्हें सीधे शब्द में ही मान लेना चाहिए। इस कारण इन प्रतिपक्षी आचार्यों की दृष्टि में प्राचीन मम्मटादि आचार्यों का गुणों की शब्दों में असाक्षात् औपचारिक स्थिति (पारम्परिक स्थिति) मानने का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

'और गुणों को शब्द तथा रस इन दोनों में मानने के स्थान पर यदि केवल

---

1. ज अ, पदावलीं त
2. त; कल्पताम् ज अ
3. ज अ; व्यसनेनेति

अपि च[1] आह्लादकत्वं माधुर्यम् इत्युक्तं तत्कथमाह्लादरूपतया व्यवस्थिते रसे वर्तताम्? अथाह्लादत्वमेवाह्लादकत्वं तर्हि तत्[2] सर्वरससाधारणमिति कथं रसविशेषे स्वीकृतम्? तस्य सुखत्वापरपर्यायस्य गुणत्वासम्भवाच्च। ननु कथं तर्ह्यलङ्कारादृ गुणानां

शब्द में मान लिया जाय तो लाघव होता है' उक्त रूप में लाघव के लिये दिया गया तर्क विनिगमक अर्थात् रस में गुणों की स्थिति मानने के पक्ष को पुष्ट करने वाली युक्ति है ऐसा (भी आचार्य मम्मटादि के पक्ष की ओर से) नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में गौरव का होना ठीक ही मानना उचित है। (इसके होने पर भी गुणों की शब्दवृत्तिता रहती है।)

टि०–गौरव होने से जहाँ प्रयोजन पूरा होता हो तो वहाँ गौरव होने पर दोष नहीं होता। पहले गुणों की शब्दार्थवृत्तिता स्वीकार कर लेनी चाहिए और फिर ये शब्दार्थ में रहकर रस को अभिव्यक्त करते हैं इसलिए इनके भीतर रसवृत्तिता भी होती है ऐसा मान लेना चाहिए ऐसा मानने पर यद्यपि गौरव आता है किन्तु गुणों का शब्द, अर्थ और रस के साथ सम्बन्ध समझने में इससे सहायता मिलती है। अतः ऐसे स्थलों पर गौरव होने से किसी प्रकार का दोष नहीं होता। इसके विपरीत इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गुणों का शब्द के साथ साक्षात् सम्बन्ध है और रस के साथ असाक्षात्। पहले इनका सीधा सम्बन्ध शब्दों के साथ होता है तदनन्तर रस के साथ होने वाले व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध के ज्ञान के साथ होता है।

इसके अतिरिक्त आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् अर्थात् चित्त के द्रवीभाव का कारण और शृङ्गार में रहने वाला ऐसा जो आह्लादस्वरूपत्व है वह माधुर्य नामक गुण है (काव्यप्रकाश 8, 68 की इस कारिका में) आह्लाद होना ही माधुर्य है यह बात कही है (इस प्रकार यदि माधुर्य को आह्लादरूप में मानते हो) तो वह आह्लाद रूप में अवस्थित रस में कैसे रह सकता है?

टि०–प्रतिपक्षियों का आशय यह है कि माधुर्य भी आह्लादस्वरूप है और रस भी आह्लाद रूप है। आह्लाद आह्लाद में कैसे रह सकता है एक मनुष्य स्वयं अपने ऊपर कैसे रह सकता है। न हि अत्यन्तनिपुणोऽपि स्वयं स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति इस उक्ति के अनुसार आधार और आधेय की भिन्न सत्ता हुआ करती है।

और यदि आह्लादत्व अर्थात् आह्लादमात्र को आह्लाद मानते हो तो वह

---

1. ज अ; अथ आह्लादमेवाह्ला.......त
2. ज अ; तत् पद त में नहीं

भेद[1] इति चेत्, उच्यते। गुणविशिष्टकाव्यशोभाकारिणोऽलङ्कारा:। न हि निर्गुणस्य काव्यस्यालङ्कारैर्विधीयते शोभा। ओज:प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति[2] शोभाकरत्वम्।

तथा च सूत्रम्–

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा:।

अतएव वामन:–

आह्लाद तो सारे ही रसों में समान रूप से रहता है तो उसकी (शृङ्गारादि किसी) विशेष रस में ही क्यों स्थिति मानते हो? और यदि आह्लाद को सुख का दूसरा पर्याय मानते हो तो उसका गुण होना असम्भव है। (इस स्थिति में रस और गुण में धर्मधर्मिभाव मानना कठिन हो जाएगा इस प्रकार गुण रसों के धर्म नहीं माने जा सकते यह पक्ष सिद्ध हो जाता है)।

(प्राचीन आचार्यों की ओर से शङ्का की जा सकती है कि यदि गुणों को रसादि का धर्म नहीं मानें) तो अलङ्कारों से गुणों का कैसे भेद होगा? (मम्मटविरोधी इन उत्तरवर्ती आचार्यों का कहना है कि) यदि यह शङ्का की जाय तो हमारा यह उत्तर है–गुणयुक्त काव्य की शोभा करने वाले अलङ्कार होते हैं। गुणरहित काव्य की शोभा अलङ्कारों से नहीं की जाती। ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों में और किसी की सहायता किए बिना ही अकेले ही शोभाजनक होने का धर्म होता है।

टि०–इनका कहना है कि गुण काव्य की शोभा को स्वयं बढ़ा देते हैं उन्हें और किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती।

और (इस मत को पुष्ट करने वाला आचार्य वामन का) यह सूत्र है–

उस (काव्यशोभा) के अतिशय के हेतु तो अलङ्कार होते हैं।

टि०–आचार्य वामन ने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में गुण और अलङ्कार का भेद दो सूत्रों में स्पष्ट किया है। पहला सूत्र (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3, 1, 1) है– काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा:–काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण होते हैं और दूसरा सूत्र है–तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा: (काव्यालङ्कार सू० वृ० 3, 1, 2) उस शोभा के अतिशय (उत्कर्ष) के कारण तो अलङ्कार होते हैं।

इसलिए वामन (ने कहा है)–

---

1. ज अ, भिदेति त
2. ज अ, दीनामस्ति केवलानां त

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते।।

अपरञ्च गुणास्त्वचलस्थितयः। अलङ्कारास्तु चलस्थितय इत्यनयोर्विवेकः।
तत्रादौ शब्दगुणानाह–

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।। 143।।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ।

हे मित्र! (शुद्ध अर्थात् अलङ्कारों से अमिश्रित ओज, प्रसाद आदि गुण जिसमें हों) ऐसा शुद्ध गुण वाला वह काव्य भी युवती के (अलङ्कारविहीन शुद्ध) रूप के समान (रसिक जनों के लिए) अत्यन्त आस्वादकर होता है और अत्यधिक सुन्दर अलङ्कार रचनाओं से प्रेम करने वाले रूप की तरह अलङ्कार रचना विभूषित काव्य भी अत्यन्त आह्लाददायक होता है (युवती में सौन्दर्य रूप गुण होने पर अलङ्कार हों या न हों इन दोनों अवस्थाओं में रसिकों को वह रूप रुचिकर लगता है, यही स्थिति काव्य की होती है)। (परन्तु) यदि स्त्री के यौवनवन्ध्य-(जिसमें यौवन भी लावण्य को उत्पन्न न कर सकने के कारण व्यर्थ हो ऐसे लावण्यशून्य अथवा यौवनविहीन) शरीर के समान यदि काव्यवाणी गुणों (ओज प्रसाद आदि) से शून्य हो तो निश्चय ही (उसके द्वारा धारण किये हुए) लोकप्रिय अलङ्कार भी भद्देपन को प्राप्त करते हैं (और बुरे मालूम होने लगते हैं)।

टि०–इन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि गुणों के होने पर तो अलङ्कारों के बिना भी काव्य की शोभा हो सकती है किन्तु गुणों के अभाव में केवल अलङ्कारों से काव्य की शोभा नहीं होती। इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक से गुण ही काव्य शोभा के उत्पादक हैं और अलङ्कार उस शोभा की वृद्धि के हेतु होते हैं।

इसके अतिरिक्त गुण स्थिर होते हैं और अलङ्कार अस्थिर–यह इन दोनों में भेद है। (ये गुण शब्द में साक्षात् सम्बन्ध से रहते हैं।)

टि०–यहाँ तक मम्मटादिसम्मत गुणों के रसवृत्तित्व सिद्धान्त का खण्डनमात्र किया गया है किन्तु उत्तर पक्ष के रूप में उनके इस वृत्तित्व का प्रतिपादन नहीं है।

इस (गुणविवेचन के प्रसङ्ग) में पहले ग्रन्थकार (आचार्य दण्डी के द्वारा प्रतिपादित) शब्दगुणों को कहते हैं–

1. श्लेष 2. प्रसाद 3. समता 4. माधुर्य 5. सुकुमारता 6. अर्थव्यक्ति

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः[1]।। 144।।

(क्रमेण लक्षणोदाहरणानि)

यत्रैकपदवद्भानं पदानां भूयसामपि।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः।। 145।।

यथा–

परिणतफलशङ्किपक्षिचञ्चुपुटगलदिन्दुसुधाभिरात्तजीवे
इह शरभमृगेन्द्रवृन्दे धुतवपुष्युद्यति दुद्रवु र्द्विपेन्द्राः।। 215।।

श्रुतमात्रेण शब्दानां यत्रार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।। 146।।

---

7. उदारत्व 8. ओज 9. कान्ति और 10. समाधि इस रूप में ये दस गुण वैदर्भी रीति के प्राण के रूप में कहे जाते हैं।। 143-144।।

टि०–ये दस गुण दण्डी के काव्यादर्श (1, 41-42) में दिए हुए हैं।

(क्रम से इन गुणों के लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं)

1. श्लेष–जहाँ न दिखाई देने वाली सन्धि से युक्त बहुत सारे पदों की एक पद के समान प्रतीति हो वहाँ वह श्लेष (नामक) परम गुण है।। 145।।

टि०–वामनकृत काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (3, 1, 25 पर श्लोक 3) में यह लक्षण मिलता है।

जैसे–

यहाँ (चन्द्रमा में) पके हुए फल की शङ्का करने वाले पक्षियों की चोंचों के दोनों भागों में से टपकती हुई चन्द्रमा की चाँदनी रूपी अमृतजल से जीवन प्राप्त करने वाले पशुओं के राजा शरभों के समूह के शरीर हिलाकर आक्रमण करने के लिए उद्यत होने पर श्रेष्ठ हाथी (भी) भाग खड़े हुए।।215।।

टि०–यहाँ पूर्वार्ध के दोनों पादों में आए हुए अनेक समास को प्राप्त पद एक पद के समान प्रतीत हो रहे हैं इस कारण यहाँ श्लेष है। शरभ आठ पैरों वाला एक पुराणप्रसिद्ध जन्तु है जिसको शेर और हाथियों से भी अधिक बलवान् माना जाता है।

2. प्रसाद–जहाँ शब्दों के सुनने मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाए वहाँ वह सारे रसों और रचनाओं में समान रूप से पाये जाने वाला प्रसाद गुण रहता है।। 146।।

---

1. ज अ, दश समीरिताः त

यथा–

असकल[1]नयनावलोकितेन स्फुटपरिहासमनोहरै र्वचोभिः।
कमलमुखि मुरारिरेवमेव कथय कियन्ति दिनानि वञ्चनीयः।। 216।।

यथा वा–

दिशि दिशि परिहासगूढगर्भाः पिशुनगिरो गुरुगञ्जनं च तादृक्।
सहचरि हृदये निवेदनीयं भवदनुरोधवशादयं विपाकः।। 217।।

टि०–प्रसाद का यह लक्षण थोड़ी भिन्नता के साथ काव्यप्रकाश (8, 76) में मिलता है।

जैसे–

हे कमल के समान सुन्दर मुख वाली सुन्दरि ! अपूर्ण अर्थात् पूरे न खुलने वाले (अधखुले) नेत्रों के द्वारा देखने से, स्पष्ट (बेबाक) और दिल्लगी भरे सुन्दर सुन्दर वचनों से ऐसे ही अर्थात् केवल बातों से टरका कर–टाल मटोल करके ही बताओ तुम मुरारि को कितने दिन और इसी प्रकार ठगती रहोगी?।। 216।।

टि०–यहाँ पर सरल शब्दों का प्रयोग है। इनके सुनने मात्र से ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है इस कारण यहाँ प्रसाद गुण है।

अथवा जैसे–

हे मेरे साथ रहने वाली प्रेयसि ! प्रत्येक दिशा में (चारों ओर) छिपे हुए परिहास से भरी हुई चुगलखोरों की बातें और उस प्रकार का (असह्य और शर्मनाक) बड़ा भारी अपमान यह सबका सब हृदय को ही बतलाने लायक है अर्थात् बाहर किसी से न कहकर चुपचाप अपने दिल में ही रखने योग्य है। मुझ पर यह (सारी) विपत्ति आपमें प्रेम का आग्रह रहने के कारण आई है।। 217।।

टि०–प्रेम के कारण बदनाम हो जाने वाले किसी युवक की अपनी प्रेमिका को लक्ष्य करके कही गई यह उक्ति है। इसमें शब्दविन्यास बहुत सरल ढंग से रखा गया है। शब्दों के सुनते ही अर्थ की प्रतीति हो जाने से यहाँ प्रसाद गुण है।

वस्तुतः यह प्रसाद गुण ही सम्पूर्ण रसों और सम्पूर्ण रचनाओं में रह सकता है। जैसे अन्य गुणों की नियतविषयता है वैसा प्रसाद गुण के लिए कोई बन्धन नहीं है। इसे किसी भी रस और किसी भी रचना में समाविष्ट किया जा सकता है।

1. ज अ, सकलनयन.........त

केचित्तु ओजोगुणमिश्रितं शैथिल्यं प्रसादः। ननु गाढागाढयोः परस्परविरहरूपयोः कथं मिश्रितत्वमिति चेत्, अनुभवं पृच्छ नास्मान्। अतएवोक्तम्-

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः।

यथा-

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।। 218।।

कुछ आचार्य तो ओज गुण से मिश्रित हुए रचनाशैथिल्य (माधुर्य) को प्रसाद कहते हैं।

किन्तु गाढ (विकट) और अगाढ (मसृण) रचना एक दूसरे के अभाव स्वरूप वाली है इन दोनों अभावात्मकों का मिश्रण कैसे हो सकता है? यदि (पूर्वपक्षी की) ऐसी शङ्का हो तो (सिद्धान्ती का कहना है) तुम अनुभव से पूछो हमसे नहीं।

टि०-यह बात साक्षात् अनुभव से प्रतीत हो जाती है कि विकट रचना का अपना पृथक् स्वरूप है और मसृण रचना का भी पृथक् अस्तित्व है। ये एक दूसरे के अभाव स्वरूप वाले नहीं हैं।

इसीलिए (आचार्यवामनकृतकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3, 1, 9 श्लोक 9) में कहा गया है-

करुण रस के नाटकों में (विरोधी) सुख दुःख का सम्मिश्रण (या सहस्थिति) जैसे (सहृदयों के) अनुभव से सिद्ध है वैसे ही ओज और प्रसाद का मिश्रण भी अनुभवसिद्ध है। जैसे-

इसके बाद (सांसारिक) विषयों से हटे हुए चित्त वाले राजा दिलीप ने श्वेत छत्र राजकीय राजचिह्न को विधिपूर्वक (राज्याभिषेक की शास्त्रीय विधि के द्वारा) अपने नवयुवक पुत्र रघु को देकर उस देवी सुदक्षिणा के साथ मुनियों के तपोवन के वृक्षों की छाया का आश्रय लिया। क्योंकि क्षीण आयु वाले (वयोवृद्ध) इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न राजाओं का यही कुलधर्म है।। 218।।

टि०-यहाँ पहली दो पङ्क्तियों में ओज गुण की प्रधानता है और अन्तिम दो में श्लथत्व (ढीलापन) है इसलिए यहाँ प्रसाद है।

अतएवोक्तम्–

श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः।।

इत्यप्याहुः।

प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः।। 147।।

यथा–

यः श्रीखण्डतमालपत्रति दिशः प्राच्याः स्मरक्ष्मापतेः
पाण्डुच्छत्रति दन्तपत्रति लसल्लक्ष्मीकुरङ्गीदृशः।
केलिश्वेतसहस्रपत्रति रतेः किञ्च क्षपायोषितः
क्रीडाराजतसीधुपात्रति शशी सोऽयं जगन्नेत्रति।।218।।

इसीलिए (वामन ने काव्यालङ्कार सू०वृ० 3, 1, 25 श्लोक 2 में) कहा (भी) है–और ओज से मिश्रित (रचना के) शैथिल्य को प्रसाद (गुण नाम से) कहते हैं। इस (प्रसाद गुण) के बिना वस्तुतः (काव्यमार्ग काव्यरचना और काव्यगत रीतियों) का आनन्द ही नहीं आता है।

(इसके समर्थन में उपर्युक्त) यह (बात) भी कहते हैं।

3. समता–श्लोक के प्रत्येक पाद और प्रत्येक श्लोक में एक से मार्ग (शैली) का ग्रहण करना समता नामक गुण माना गया है। इस प्रकार की रचना का सम्पादन करना बहुत कठिन है और उसको जानना और पहचानना भी बहुत मुश्किल है।। 147।।

जैसे–

जो प्राची दिशा के (ललाट पर शृङ्गारार्थ लगाये हुए) चन्दन तिलक और (कपोल पर बनाई हुई) तमालपत्ररचना के समान आचरण कर रहा है अर्थात् प्राची दिशा रूपी नायिका के मस्तक पर तिलकबिन्दु और गालों पर रची पत्ररचना के समान दिखाई दे रहा है, कामदेव रूपी राजा के सफेद (राज) छत्र के समान आचरण कर रहा है, दीप्तिमयी लक्ष्मी रूपी मृगनयनी नायिका के दाँत से बने कर्णपूर के समान लग रहा है, रति के लीलापुष्प श्वेत कुन्द के समान आचरण कर रहा है और इसके अतिरिक्त रात्रि रूपी नायिका के रतिक्रीडा के समय (सुशोभित होने वाले) चाँदी के सुरा के

ननु–

मातङ्गाः! किमु बृंहितैः[1] किमफलैराडम्बरै र्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटा[2]कोटेरिभारेःपुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद् गर्जितं गर्जितम्।।

इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणवर्णत्यागो गुण इति समताया अभावस्य गुणत्वमिति कथमस्या गुणत्वमिति चेत्, उच्यते।

पानपात्र के समान आचरण कर रहा है। (इन गुणों से युक्त) वह यह चन्द्रमा सारे संसार के नेत्र की तरह लग रहा है।। 218।।

टि०–यहाँ पत्रति छत्रति आदि एक ही जैसे पदों का प्रयोग होने से समता नामक गुण है। पत्रति आदि पदों में सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वक्तव्यः से 'इव आचरति' अर्थ में क्विप् प्रत्यय हुआ है और फिर क्विप् का सर्वापहारी लोप होकर 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा हो गई है।

(पूर्वपक्षी की ओर से) शङ्का है–

अरे हाथियो! (सिंह की अनुपस्थिति में) चिंघाड़ लगाने से क्या लाभ है? अरे गीदड़ो! निष्फल चिल्लाहटों के करने से क्या होता है? अरे मृगो और भैंसो! तुम मतवाले क्यों हो रहे हो? सूने स्थानों में (किसी वीर के न होने पर) कौन बहादुर नहीं हो जाते? परन्तु क्रोध के आवेश के कारण प्रचण्ड और भयङ्कर गर्दन के बालों के किनारों वाले, हाथियों के शत्रु समुद्र की आवाज़ के समान (दहाड़ते हुए उस) शेर की हुँकार निकलने पर जो गर्जन प्रकट होता है वही वास्तविक गर्जन (ज़ोर की आवाज़ कहलाने योग्य) है।

इस 'मातङ्गाः' इत्यादि श्लोक में शेर के वर्णन में कोमल वर्णों का परित्याग करना ही गुण है। इस कारण समता का अभाव ही यहाँ गुण माना गया है तब इस समता की स्वतन्त्र रूप से गुणता कैसे है? (यदि यह शङ्का की जाए तो) (हमारी ओर से) यह कहा जाता है–

---

1. ज अ, गर्जितैः त
2. ज अ,......समुद्भवोद्भटशटा त

वक्त्राद्यौचित्यवशाद् यथा दोषस्य क्वचिद् गुणत्वं तथा गुणस्यापि क्वचिद् दोषत्वे[1] को दोष इति।

बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यं कथितं बुधैः।
अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुच्युतः।। 148।।

पृथक्पदत्वमित्युपलक्षणमल्पसमासो[2] मध्यसमासो वा ग्राह्यः। उदाहरणम्–

रहः सखीभिः शपथैरनेकैरापृच्छमानापि नताननैव।
स्मितेन लज्जामधुरेण गौरी निवेदयामास निजामवस्थाम्।। 219।।

वक्ता आदि के औचित्य के कारण जैसे दोष कहीं गुण होता है वैसे ही गुण को भी कहीं दोष मान लेने पर क्या हानि है? (इस प्रकार न तो दोषत्व (दोष में रहने वाला धर्म) हटता है और न गुणों का गुणत्व समाप्त होता है)।

4. माधुर्य–रचना में पृथक्पदत्व (समासरहित पदों के प्रयोग) को विद्वानों ने माधुर्य कहा है। इस (माधुर्य) के होने से पदरचना मधुधारा की अत्यन्त वृष्टि करने वाली होती है।। 148।।

टि०–काव्यालङ्कार (3, 1, 25 श्लोक 6) में वामन ने भी माधुर्य का यह लक्षण दिया है।

पृथक् पृथक् पदों का होना यहाँ उपलक्षण है। इससे अल्पसमास (2–3 पदों के थोड़े समास वाला होना) अथवा मध्यसमास (3–4 पदों के समास वाला होना) यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

उदाहरण–

(हम तुम्हारा भेद किसी को नहीं बतायेंगी इस प्रकार कहकर) अनेक शपथों के साथ एकान्त में सखियों से पूछी जाती हुई भी पार्वती झुके हुए मुख वाली ही रहीं। ऐसी अवस्था में लज्जा के कारण मधुर मुस्कुराहट से ही पार्वती ने अपनी अवस्था को सखियों को बता दिया।। 219।।

---

1. ज अ, दोष इति को दोषः त
2. ज अ;.......समासो ग्राह्यः (मध्यसमासो वा नहीं) त

यथा वा–

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीभृतामाद्यः प्रणवश्च्छन्दसामिव।। 220।।

बन्धस्याजठरत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम्।
एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः।। 149।।

यथा–

न स्यन्दते चन्दनगन्धवाहो न कोकिलः कूजति काननान्ते।
स कोऽपि देशः परिशीलितः किं न यत्र वा पल्लवितो रसालः।। 221।।

अथवा जैसे–

बुद्धिमान् पुरुषों में सम्माननीय वैवस्वत (विवस्वान् के पुत्र राजा) मनु राजाओं में उसी प्रकार अग्रणी थे जैसे वेदमन्त्रों में ओम् अग्रणी होता है।। 220।।

टि०–प्रत्येक वेदमन्त्र के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण करने की परिपाटी है। जैसे वेदों के मन्त्रों में सबसे पहले ओम् (प्रणव) होता है वैसे ही राजाओं के आदि में मनु हुए थे। उपर्युक्त दोनों उदाहरण पृथक् पदत्व रूप माधुर्य के हैं।

5. सुकुमारता–रचना की कोमलता (अपारुष्य) को सौकुमार्य गुण कहा जाता है। इस (सौकुमार्य गुण) से रहित वाणियाँ रूक्ष होने से (सहृदयों के) सुनने के योग्य नहीं होती हैं।। 149।।

टि०–यह लक्षण रुद्रटकृत काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (3, 1, 25 श्लोक 8) में है।

जैसे–

जहाँ चन्दन की गन्धयुक्त वायु नहीं बहती है और जंगल के प्रदेश में कोयल नहीं बोलती है अथवा जहाँ नये नये पत्तों से युक्त आम का वृक्ष नहीं है। क्या यहाँ कोई भी ऐसा देश (स्थान) रखा गया है? अर्थात् नहीं देखा गया क्योंकि यहाँ सर्वत्र सुगन्धित वायु, कोयल की कूक और हरे भरे आम्र वृक्ष हैं।। 221।।

यथा वा[1]–

वासन्तीरसबिन्दुसुन्दरभिन्दिन्दिरा इह चरन्ति।
चिरमन्दिरमरविन्दं मन्दं मन्दं परिहरन्ति।। 222।।

पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः।
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात् सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः।। 150।।

अत्रार्थपदेन वाक्यार्थ उक्तः। तेन प्रसादात् भेदः।

यथा–

चरणनिपतितः पतिस्तवायं
वयमपि चाटुपरा हताः सपत्न्यः।
किमपरमवशिष्यते यदर्थं
कथय करोषि सरोरुहाक्षि मौनम्।। 223।।

अथवा जैसे–माधवी (जूही) लता के रस (मकरन्द) के बिन्दुओं से सुन्दर होकर (अर्थात् पुष्परस में सराबोर होकर मस्ती भरे) भौंरे इस उपवन में (उड़कर) घूम रहे हैं। और (रात्रि के समय के) चिरकालिक आवास बने हुए कमल को धीरे धीरे छोड़ रहे हैं।। 222।।

6. अर्थव्यक्ति–जहाँ पदों की गति मानो पीछे हो और अर्थ की अभिव्यक्ति मानो पहले हो जाय वहाँ अर्थ की (तुरन्त और स्पष्ट) अभिव्यक्ति होने के कारण उसको अर्थव्यक्ति (नामक गुण) कहते हैं।। 150।।

टि०–यह लक्षण काव्या० सू० वृ० (3, 1, 5 श्लोक 10) में भी मिलता है। यहाँ अर्थ पद से वाक्यार्थ बताया गया है इस कारण प्रसाद गुण से भेद है। (प्रसाद गुण शब्दों में रहता है जबकि अर्थव्यक्ति गुण अर्थ में रहता है)।

जैसे–

तुम्हारा यह पति तुम्हारे पैरों में पड़ा हुआ है, हम हतभाग्य (अभागिनी) सौतें भी (तुम्हारी तथा नायक) की खुशामदी हैं (क्योंकि तुम्हारी अदाओं पर फिदा वह नायक अब हमारी ओर देखता भी नहीं है)। हे कमलनयनी सुन्दरी! बताओ अब कौन सी बात बची हुई है जिसके कारण तुमने मौन धारण किया हुआ है।। 223।।

1. ज त, यथा वा–अ में नहीं

यथा वा[1]–

वैखानसैः परिवृतेषु वनेषु वास-
स्ताताज्ञया जननि तत्र तवानुरोधः।
प्राणाधिकस्य भरतस्य च राज्यलाभो
रामेण देवि किमतः परमर्जनीयम्।। 224।।

विकटत्वञ्च बन्धस्य कथयन्ति त्वुदारताम्।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते तेन शून्याः पदक्रमाः।।151।।

अथवा जैसे–

पिता की आज्ञा से वानप्रस्थियों से घिरे हुए वनों में मुझे रहना है। हे माता! उस बात में आपका (भी) आग्रह है (अर्थात् मेरे वन चले जाने से पिता दशरथ तथा आप दोनों की सन्तुष्टि हो रही है) प्राणों से भी अधिक प्यारे भाई भरत को राज्य की प्राप्ति हो रही है। हे देवी! बतलाइए राम के लिए इससे अधिक और क्या प्राप्त करने योग्य है? (मुझ राम को सब कुछ मिल गया है अब और कुछ नहीं चाहिए)।। 224।।

टि०–जम्मू, अलवर और तिरुपति की हस्तलिखित प्रतियों में अर्थव्यक्ति गुण के उपर्युक्त दो उदाहरण दिए हुए हैं किन्तु तिरुपति में इन दोनों के उदाहरणों के अनन्तर यह तीसरा उदाहरण भी मिलता है–

यथा वा–

वनभुवि तनुमात्रत्राणमाज्ञापितं मे सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि।
तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायामयमपि च गरीयानेव ते पक्षपातः।।

(हे माता कैकेयी!) वनभूमियों में मेरे लिए (तो आपने) केवल शरीर भर की रक्षा करने के लिए आज्ञा दी है (किन्तु) प्रिय भरत के सिर पर (राजगद्दी देकर) सारे संसार का भार रख दिया है। तो इस सम्बन्ध में हम दोनों की आसानी के बारे में विचारने पर आपका यह भी (मेरे प्रति) अत्यधिक पक्षपात है (ऐसा ज्ञात होता है)।

क्योंकि यह श्लोक तथा इससे पहले का श्लोक एक ही प्रकार के भाव को अभिव्यक्त करता है और केवल तिरुपति की प्रति में ही मिलता है इस कारण इसे ऊपर न रख कर इस टिप्पणी में ही रखा है।

7. उदारत्व–रचनाशैली की विकटता (अर्थात् पदों का नाचते हुए सा प्रतीत होना) को तो उदारता नामक गुण कहते हैं जिसके बिना पदों (की रचना) का क्रम विचित्रता रूप सौन्दर्य को नहीं प्राप्त कर पाता है।।151।।

1. ज त; यथा वा अ में नहीं

विकटत्वञ्च[1] पदानां नृत्यत्प्रायत्वमित्यर्थः।
यथा–

नमन्नृपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुर्दिन–
स्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदोक्तदोःसम्पदा।
अनेन सृजतेतरां तुरगमेधमुक्तभ्रम–
तुरङ्गखुरचन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी।। 225।।
श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदुच्यते।
यथा नीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः।।[2]

और पदों की विकटता (उनकी) नाचने जैसी स्थिति है यह अभिप्राय है।
जैसे–

(प्रणाम के लिए) झुकी हुई राजमण्डली के मुकुट रूपी चन्द्रिका के लिए दुर्दिन (मेघाच्छन्न अमङ्गलदिवस) चरणों के बने हुए थिरकते प्रत्येक पदन्यास से अभिव्यक्त होने वाली भुजशक्ति (वीरता) के द्वारा इस राजा से यह पृथिवी अश्वमेध यज्ञ में छोड़े गये और घूमते हुए घोड़े के खुरों के चन्द्राकार चिह्नों के समूहों से चित्रित (सुन्दर) होती जा रही है।। 225।।

टि०–यहाँ किसी राजा के शौर्य का वर्णन है। 'चरणपल्लव–प्रतिपदोक्तदोःसम्पदा' का अभिप्राय है कि राजा का प्रत्येक चरण बड़ी मजबूती और रौब के साथ पड़ रहा है और भुजबल भी है। उससे उसके पराक्रमशाली होने का अनुमान हो जाता है। नमन्नृपतिमण्डली इत्यादि पदों का उच्चारण तेजी के साथ हो रहा है इस कारण यहाँ पद नाचते हुए से प्रतीत हो रहे हैं।

कुछ विद्वानों ने प्रशंसनीय विशेषणों से युक्त पदों को उदार अर्थात् उदारत्व–गुणविशिष्ट कहा है जैसे लीलाम्बुज, क्रीडासर, हेमाङ्गद (बाजूबन्द) आदि पद हैं।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने काव्यादर्श (1, 79) में दिये हुए उदारगुणोपेत पदों को बताया है। अम्बुज आदि पदों में लीला आदि विशेषण लगा देने से उनके सौरभ आदि विशेष गुणों का उत्कर्ष प्रतीत होने लगता है।

1. त; विकटत्वञ्च ज अ में नहीं
2. त; ज अ में यह कारिका नहीं

पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम्।।152।।

यथा–

मा पुनस्तमभिसीसरमागस्कारिणं मदविमोहितचेताः।
योषिदित्यभिललाष न हालां दुस्त्यजः खलु[1] सुखादपि मानः।।226।।

दण्ड्यादयस्तु समासभूयस्त्वमोजोगुणमाहुः। तत्रेदमुदाहरणम्–

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा।
पीनस्तनस्थितातामक्रम्रवस्त्रेव वारुणी।।

कान्तिरौज्ज्वल्यमित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।[2]
पुराणचित्रस्थानीयं तेन नव्यं कवेर्वचः।।153।।

---

8. ओज–कविराज (कविशिरोमणि) पदविन्यास की प्रौढि (उत्कटता) को ओज कहते हैं। इस ओज गुण से युक्त पद अधिकतर कानों के लिए रसायन (आनन्ददायक या प्रिय) होते हैं।।152।।

टि०–का० सू० वृ० (3, 1, 25) में यह लक्षण दिया गया है।

जैसे–

शराब के नशे से मोहित चित्त वाली होकर मैं उस अपराध करने वाले शठनायक के साथ फिर अभिसरण न करने लग जाऊँ (अर्थात् मान छोड़ कर उसके साथ भोग करने में न प्रवृत्त होऊँ) इस (भय) से उस सुन्दरी ने मदिरा की अभिलाषा नहीं की (अर्थात् शराब नहीं पी)। यह ठीक भी है क्योंकि (अपने) सुख की अपेक्षा मान को छोड़ना भी अधिक कठिन है।।226।।

दण्डी आदि आचार्यों ने (काव्यादर्श 1, 80, 82) अधिक समास वाली रचना का होना ही ओज गुण है ऐसा कहा है। ओज गुण का उन्होंने वहाँ यह उदाहरण दिया है–

अस्ताचल पर्वत के शिखर पर फैली सूर्य की समस्त किरण समूह वाली यह पश्चिम दिशा मांसल एवं पुष्ट कुचों पर थोड़े थोड़े लाल और सुन्दर वस्त्रों को धारण करने वाली नायिका के समान प्रतीत हो रही है।।153।।

---

1. त, किल ज अ
2. ज अ; लौकिकार्थानतिक्रमात् त

यथा–

कलक्वणितगीतेन[1] कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः।
पारावतः परिभ्रम्य[2] रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम्।। 227।।

आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत्।
समाधि र्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती।। 154।।

टि०–यहाँ पश्चिम दिशा का वर्णन है। सायंकाल में सूर्य की रक्तदीप्ति वाली किरणें अस्ताचल के शिखर पर फैल रही हैं। कवि कहता है कि मानों पश्चिम दिशा रूपी नायिका अस्ताचलशिखर रूपी पीन स्तन भाग पर लाल कपड़े को धारण कर रही है। यहाँ समासों के प्राचुर्य होने से ओज गुण है।

9. कान्ति–गुणों को जानने वाले विद्वान् (पदों के) औज्ज्वल्य को कान्ति तथा इस कान्ति गुण को पुराणचित्रस्थानीय कहते हैं। उस कान्ति गुण से कवि का (पुराना) वचन (फिर से) नया हो जाता है।

टि०–पुरानी मूर्त्तियों को साफ़ कर देने से और पुराने चित्र पर फिर से रंग भर देने से जैसे नवीनता आ जाती है वैसे ही इस गुण के कारण कवि की वाणी में नवीनता आ जाती है। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (3, 1, 25 श्लोक 11) में यह पद्य मिलता है।

जैसे–

मधुर और अव्यक्त शब्दों से युक्त गीतों वाले कण्ठ को धारण करने वाला, आँखों को घुमाने वाला और रमण करने के लिए इच्छुक यह कबूतर (पहले उसके) चारों ओर घूमकर अपनी प्रिया कबूतरी का चुम्बन कर रहा है।। 227।।

10. समाधि–जहाँ (श्लोकों के पादों की) यतियाँ क्रम से चढ़ती और उतरती हैं वह समाधि नामक गुण होता है और उससे (कवि की) वाणी पवित्र होती है।। 154।।

टि०–समाधि का यह लक्षण का० सू० वृ० (3, 1, 25 श्लोक 5) में दिया हुआ है।

---

1. ज अ; गर्भेण त
2. अ; परिरभ्य ज; परिक्रम्य त

यथा–

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणशोचि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।। 228।।

यथा वा–

अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे[1] ।।229।।

न च[2] सुकुमारताकान्ती कष्टत्वग्राम्यत्वदोषद्वयत्यागादेवाश्रिते न गुणाविति वाच्यं वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात्। अपि च कष्टत्वमोजोव्यञ्जकवर्णवत्त्वं[3] सुकुमारता तु

जैसे–

चञ्चल भुजाओं के द्वारा घुमाई जाती हुई प्रचण्ड गदा के प्रहारों से तोड़ी गई दोनों जङ्घाओं वाले दुर्योधन के चिकने, जमे और घने रुधिर से (सने होने से) लाल दीप्ति वाला भीमसेन–हे देवि द्रौपदी! तेरे बालों को सजायेगा।। 228।।

टि०–यहाँ पर वर्णों के उच्चारण करते समय आरोह और अवरोह होने से समाधि गुण है।

अथवा जैसे–

हे प्रशस्त अङ्गों वाली (संहतस्तनी) सुन्दरि! तुम्हारी सुन्दर भुजाओं के बीच में विद्यमान, बढ़ते हुए इन दोनों स्तनों (के मध्य) में यथेष्ट (काफी, थोड़ा सा भी) स्थान नहीं है।। 229।।

और सुकुमारता तथा कान्ति ये गुण कष्टत्व और ग्राम्यत्व इन दो दोषों के परित्याग (रूप अभाव) से ही स्वीकार किये गये हैं इसलिए (दोषाभाव-स्वरूप होने के कारण) ये गुण नहीं हैं ऐसा (पूर्वपक्षी को) नहीं कहना चाहिए क्योंकि वैपरीत्य नामक पदार्थ की (पृथक् स्थिति) भी आसानी से कही जा सकती है।

---

1. त; ज अ में यह श्लोक नहीं
2. त; ननु ज अ
3. ज अ; वर्णत्वं त

मधुररसव्यञ्जकवर्णवत्त्वं तथा चानयोः परस्पराभावरूपत्वाभावा[1]त्कथं कष्टत्वत्यागात्सुकुमारतापरिग्रहः। एवमविदग्धयुक्तत्वरूपग्राम्यत्वविदग्धप्रयुक्तस्वरूप[2] कान्त्योरपि बोध्यम्। तस्माद् विनिगमनाविरहाद् द्वयोरेव दोषगुणत्वं सिद्धमित्यलं पल्लवितेन। इति शब्दगुणाः।

सम्प्रत्यालङ्कारिकमूर्धन्यैः कृतापलापानर्थगुणान् प्रकाशयामः।

टि०–दार्शनिकों ने वैपरीत्य को भी पृथक् पदार्थ माना है। सुकुमारता और कष्टत्व ये दोनों तथा कान्ति और ग्राम्यत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने से विपरीत गुण हैं और इनकी स्थिति भी पृथक् पृथक् है। जैसे प्रकाश से उल्टा तिमिर और तिमिर से उल्टा प्रकाश होता है और उन दोनों की स्थिति भी पृथक् होती है उसी प्रकार इन गुणों की भी यही दशा है।

इसके अतिरिक्त ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों वाला होना कष्टत्व है और सुकुमारता तो मधुर रस के व्यञ्जक वर्णों के होने को कहते हैं तो इन दोनों के एक दूसरे के अभावस्वरूप वाले न बनने के कारण कष्टत्व के त्याग से सुकुमारता का ग्रहण कैसे हो सकता है? यही नियम मूर्खों से प्रयुक्त होने के स्वरूप वाले ग्राम्यत्व दोष और चतुर व्यक्तियों से प्रयुक्त स्वरूप वाले कान्ति गुण में लागू होता है। अर्थात् इन दोनों के परस्पराभावस्वरूपात्मक न होने से ग्राम्यत्वाभाव के अन्दर कान्ति का अथवा कान्त्यभाव के भीतर ग्राम्यत्व का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इस कारण विनिगमन (विरोधी के पास एकतरपक्षपातिनी– अपने एक पक्ष को सिद्ध करने वाली युक्ति के) न होने से दोषत्व और गुणत्व रूप अवच्छेदक धर्म की सत्ता सिद्ध हो गई है। (अतः दोष गुणाभाव स्वरूप नहीं है और गुण दोषाभाव स्वरूप नहीं है इस सिद्धान्त को ही मानना चाहिए)। इस प्रकार इसका अब और विस्तार नहीं करना चाहिए। (अब इसकी और अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।) इस प्रकार शब्दगुण समाप्त हो गये हैं।

अब अलङ्कारशास्त्रियों में मूर्धन्य (मम्मट तथा विश्वनाथ आदि) आचार्यों के द्वारा अपलापित (स्वीकार न किए गए) अर्थगुणों को हम प्रकाशित करते हैं।

टि०–आगे दिये अर्थगुणों के विस्तारपूर्वक निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि

1. ज अ; परस्पराभावत्वाभावात् त
2. ज अ; ग्राम्यत्वविदग्धप्रयुक्तत्वरूप यह अंश त में नहीं

तत्र–

क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तिरूपयोगघटनात्मा[1] श्लेषः।।155।।

अस्यार्थः–क्रमः क्रियापरम्परा, कौटिल्यं विदग्धचेष्टितम्। अनुल्वणत्व-मस्फुटत्वम् उल्वणं विशदं स्पष्टमित्यमरः। उपपत्तिरुपपादकयुक्तिविन्यासः। एषां योगः[2] सम्मिलनं स एव यस्या रूपं घटनायास्तद्रूपः श्लेषः[3]।

यथा–

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्या
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।

पूर्वाचार्यों से खण्डित उन शब्दगुणों और अर्थगुणों को ग्रन्थकार आचार्य विश्वनाथ-देव ने स्वीकार किया है। मम्मटादियों ने उन 10 शब्दगुणों और 10 अर्थगुणों का तीन ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों में ही अन्तर्भाव कर दिया है किन्तु ये इनकी स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। इस प्रकरण में इन्होंने काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में प्रतिपादित तीन गुणों के सिद्धान्त को अस्वीकार किया है।

उन (अर्थगुणों) में (श्लेष का लक्षण)

1. श्लेष–काव्य में क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति रूप वाली और इनके सम्मेलन से निर्मित रचना की प्रकृति (स्वरूप) वाला श्लेष (कहलाता) है।। 155।।

इसका अर्थ है– क्रियाओं की परम्परा को क्रम कहते हैं और चतुर चेष्ठा कौटिल्य कही जाती है। अनुल्वण का अर्थ है अस्पष्ट होना। अमरकोश में उल्वण का पर्याय विशद और स्पष्ट बताया है (इस कारण अनुल्वण का अर्थ अस्पष्ट होता है)। किसी पक्ष को सिद्ध करने वाली युक्तियों का रखना उपपत्ति कहलाता है। इन सबका योग अर्थात् सम्मिलन (मिश्रण) जिस रचना का स्वरूप है उस रूप वाली रचना को श्लेषगुणोपेत माना जाता है।

टि०–श्लेष गुण की यह विस्तृत व्याख्या साहित्यदर्पण (8, 16 वृत्तिभाग) में दी हुई है। वहीं से ग्रन्थकार ने यह अंश लिया है।

(पार्वती महादेव शिव से पूछ रही हैं) तुम्हारे सिर पर यह कौन सौभाग्यवती विराजमान है? (महादेव का उत्तर) यह शशिकला (चन्द्रकला) है। (पार्वती

---

1. त;........पपत्तिरूपघटनात्मा ज अ
2. ज अ; त में योग पद नहीं
3. त; श्लेष पद ज अ में नहीं

नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदिन्दु-
देव्या निह्नोतुमिच्छोरपि सुरसरितं शाठ्यमव्याद् विभोर्वः।। 230।।

यथा वा-

दर्भाङ्कुरेण चरणक्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।। 231।।

का प्रश्न) क्या सचमुच (सिर पर बैठी हुई) इस (स्त्री) का यह वही नाम है? (महादेव का उत्तर) इसका वही (जो मैंने अभी बताया है) नाम ही है किन्तु तुम्हें वह मालूम होते हुए भी किस कारण भूल गया है? (इस पर पार्वती कहती हैं) मैं (तुम्हारे सिर पर बैठी हुई) इस नवयुवती को पूछ रही हूँ किन्तु चन्द्रमा को नहीं पूछती हूँ (चन्द्रमा तो मुझे भी अपनी आँखों से दिखाई दे रहा है) (किन्तु महादेव इसका 'मैं नारी से पूछना चाहती हूँ चन्द्रमा से नहीं' यह दूसरा अर्थ लेकर उत्तर देते हैं) यदि तुम्हें इस चन्द्रमा पर विश्वास नहीं है) तो विजया (नाम की तुम्हारी सहेली) तुम्हें (ठीक ठीक) बतलाये (कि मेरे सिर पर स्थित इस वक्राकार अर्धचन्द्र का नाम चन्द्रकला है या नहीं)। इस प्रकार देवी पार्वती से (सौत बनी देवनदी गङ्गा को छिपाने की इच्छा वाले प्रभु महादेव की धूर्तता आप सामाजिकों की रक्षा करे।। 230।।

टि०-प्रस्तुत श्लोक मुद्राराक्षस नाटक के आदि में ही मङ्गलाचरण का प्रथम श्लोक है। महादेव के सिर पर भगवती भागीरथी की जलधारा के साथ ही उनका मूर्त्त रूप भी विद्यमान है। उस मूर्तिमती गङ्गा के सम्बन्ध में पार्वती सौतिया डाह से दुःखी होकर महादेव से उसका नाम पूछने का प्रयास कर रही हैं किन्तु महादेव वाक्चातुर्य का प्रयोग कर गङ्गा नाम बताने से बच रहे हैं।

अथवा जैसे-

दर्भ घास के अग्रभाग से (मेरे) पैर में घाव हो गया है इस प्रकार का बेमौके ही (बहाना बनाकर कष्ट दिखाने के लिए) टेढ़े (मोड़े हुए) मुख वाली होकर वह सुन्दरी शकुन्तला कुछ कदम चलने के बाद ही खड़ी हो गई। और वह छोटे वृक्षों की शाखाओं में न फंसे हुए भी वल्कल वस्त्र को निकालते हुई खोल रही थी।। 231।।

इत्यादिषु बहुषु[1] काव्येषु दर्शनाद् गुणत्वं निर्व्यूढमेव।

न च वैचित्र्यमात्रमेतन्न[2] गुण इति कस्यचिद् दूषणमस्तीति[3] वाच्यम्। अहो आचार्याणां परगुणद्वेषमहिमा यद्गुणत्वसाधकमेव तद्[4] गुणत्वबाधक[5]तयोपन्यस्यते।

(इस प्रकार धन्या केयम् तथा दर्भाङ्कुरेण) इत्यादि बहुत सी कविताओं में (इन चारों के सम्मिलन के) दिखाई पड़ने से श्लेष गुण का यहाँ निर्वाह किया ही गया है (इससे इस गुण की सिद्धि हो ही जाती है क्योंकि श्लेष गुण का सम्पूर्ण लक्षण इन उदाहरणों में घट जाता है)।

टि०–ग्रन्थकार का कहना है कि इन दोनों पद्यों में क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व एवं युक्ति इन चारों तत्त्वों का सुन्दर रीति से समावेश होने के कारण यहाँ श्लेष गुण है। अतः श्लेष नामक अर्थगुण की पृथक् सत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

यह श्लेष गुण केवल विचित्रता रूप है इस कारण गुण नहीं है इस रूप में जो किसी आचार्य (मम्मट) के द्वारा (इसे गुण मानने में) दोष दिखलाया है (इसलिए इसे गुण नहीं मानना चाहिए) यह नहीं कहना चाहिए।

टि०–आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश (8, 72 वृत्तिभाग) में क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्–क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्तियों का सम्मिलन रूप जो श्लेष है। वह विचित्रतामात्र स्वरूप वाला है यह कहकर इस गुण की पृथक् सत्ता नहीं मानी है इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार ने (श्लेषो विचित्रतामात्रम्.......परम्। श्लेषः क्रमकौटिल्यानुल्वण-त्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा साहित्यदर्पण 8, 16 एवं वृत्तिभाग) मम्मट के शब्दों को दोहरा कर श्लेष गुण को पृथक् नहीं माना है। इन दोनों आचार्यों के मतों की ओर यहाँ ग्रन्थकार का सङ्केत है।

इन आचार्यों की दूसरों के गुणों के प्रति द्वेष की वह भावना आश्चर्यजनक है (क्योंकि उनके द्वारा) जो गुणों को सिद्ध करने वाली ही विशेषतायें हैं उनको गुणों के बाधक (नष्ट करने वाली) के रूप में रखा जा रहा है।

1. त; बहुकाव्येषु ज अ
2. ज त; वैचित्र्यमेतन्न गुणः त
3. ज अ; इति दूषणमिति त
4. त; तद् पद ज अ में नहीं
5. ज अ; गुणत्व पद त में नहीं

यद् वैचित्र्यचमत्कारानुगुण्यस्य गुणत्वसाधकत्वात्। इत्थं च तेषा[1]मन्यदपि वचनमनादरणीयम्।

क्योंकि वैचित्र्य रूप चमत्कार की अनुकूलता ही गुणों का साधन होती है (अत: विचित्रता रूप चमत्कार को लाने वाला तत्त्व तो गुण का साधक तत्त्व है वह बाधक नहीं हो सकता)।

टि०–ग्रन्थकार का कहना है वैचित्र्य या विचित्रता से युक्त श्लेष को गुण न मानना आश्चर्यजनक बात है। विचित्रता विध्यात्मक तत्त्व है और वह गुणों में रहकर चमत्कार को उत्पन्न करती है अत: उसे गुण के रूप में मानना चाहिए।

इस प्रकार उन आचार्यों के (इन गुणों को गुण न मानने के पक्ष में कहे गए) दूसरे भी वचनों का आदर नहीं करना चाहिए।

टि०–यहाँ जम्मू और अलवर की प्रतियों में दिए हुए प्रलपताम् पद को छोड़कर तिरुपति के 'इत्थं च तेषाम्' पाठ को स्वीकार किया गया है क्योंकि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं इतने अनादर से मम्मट के विरुद्ध नहीं बोलते हैं। इसके आगे ग्रन्थकार ने वामनोक्त अर्थगुणों का लक्षण करते हुए उन्हें सोदाहरण थोड़े परिवर्तन और परिवर्धन के साथ स्पष्ट किया है। वामन ने अर्थगुणों के लक्षण काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में इस प्रकार दिए हैं–

1. अर्थस्य प्रौढिरोज: 3, 2, 2
2. अर्थवैमल्यं प्रसाद: 3, 2, 3
3. घटना श्लेष: 3, 2, 4
4. अवैषम्यं समता 3, 2, 5
5. अर्थदृष्टि: समाधि: 3, 2, 6
6. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् 3, 2, 10
7. अपारुष्यं सौकुमार्यम् 3, 2, 11
8. अग्राम्यत्वमुदारता 3, 2, 12
9. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्ति: 3, 2, 13
10. दीप्तरसत्वं कान्ति: 3, 2, 14।

---

1. त; प्रलपतां तेषाम् ज अ

अर्थवैमल्यं यावदर्थपदता प्रसादः ।। 156 ।।

यथा–काञ्चीपदमिदम्[1]। विमलमणिपदस्याधिक्यात्।

अवैषम्यं क्रमाभेदः समता ।। 157 ।।

यथा–उदेति सवितेत्यादौ[2] ।। 232 ।।

केचित् तु समता[3] अवैषम्यं सुगमत्वमिति यावत्[4]।

---

2. प्रसाद–अर्थ की विमलता (स्पष्टता, स्फुटता) और जितना अर्थ हो उतने पदों का प्रयोग अर्थात् नपे तुले पदों के प्रयोग को प्रसाद कहते हैं।। 156 ।।

जैसे कि यह काञ्चीपद (इस गुण का उदाहरण है)। क्योंकि इसके साथ विमलमणि पद का प्रयोग अधिक ही होगा (और वह निरुपयोगी भी होगा)।

टि०–काञ्चीपद का अर्थ ही विमलमणियों से विभूषित तगड़ी होता है। इस पद में अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने का पूर्ण सामर्थ्य है। विमलमणि विशेषण लगा देने से इसमें किसी प्रकार का चमत्कार नहीं आता है। किसी पद का अधिक होना एक प्रकार का मल है उसका परित्याग करने से ही विमलता आ जाती है।

3. समता–विषमता का न रहना और क्रम का न तोड़ना समता गुण है।। 157 ।।

जैसे–'उदेति सविता' इत्यादि उदाहरणों में।। 232 ।।

टि०–इस श्लोक में पहले ताम्र पद का प्रयोग किया गया है और बाद में भी ताम्र पद को ही रखा है।

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।। काव्यप्रकाश 7, 245

यहाँ दूसरे ताम्र पद के स्थान पर रक्त पद रखने से विषमता आ जाती है। इस दोष से बचने के लिए ताम्र पद का दुबारा प्रयोग किया गया है।

कुछ आचार्य तो समता का अर्थ विषमता (कठिनता) राहित्य अर्थात् सुबोधता इतना मात्र अर्थ करते हैं।

---

1. ज अ; इदम् पद त में नहीं
2. ज अ; उदेतीत्यादौ त
3. त; समता पद ज अ में नहीं
4. त, इति यावत् ज अ में नहीं

यथा–

केयमवगुण्ठनवती नाति[1]परिस्फुटरूपलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलय[2]मिव पाण्डुपत्राणाम्।।

उक्तेर्वैचित्र्यं माधुर्यम्।।158।।

एकस्यैवार्थस्य[3] भङ्ग्यन्तरेण कथनं तदेव नवीकृतत्वं गुणः।
यथा–

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।

जैसे–

(सूखे, जीर्ण और) पीले पत्तों के बीच नई कोपल की तरह इन (बूढ़े और पीतवर्ण) तपस्वियों के बीच घूँघट किये हुए (अतएव) बहुत अच्छी तरह अपनी रूप छवि को न प्रकट करने वाली अर्थात् रूपसम्पत्ति की झलक भर दिखाने वाली यह कौन सुन्दरी है?

4. माधुर्य–उक्ति की विचित्रता (कहने के ढंग के अनूठेपन) को माधुर्य कहते हैं।। 158।।

एक ही बात को प्रकारान्तर से जो कहना है वह माधुर्य है और वही नवीकृतत्व नामक गुण है। जैसे–

अमृत अमृत (ही) है (अर्थात् वह अत्यधिक मीठा एवं स्वादिष्ट होता है) इसमें सन्देह की बात ही क्या है? (यह निर्विवाद है)। शहद भी मीठे होते हैं (इसके विपरीत अर्थात् कड़वे नहीं हुआ करते हैं) और आम का फल भी (मन को) आह्लादित करने वाले रस से भरा हुआ होता है (और बहुत मीठा और स्वादु भी होता है)। किन्तु (दूसरे) रसों के (आपसी) भेद को जानने वाला (पारखी) व्यक्ति मध्यस्थ (एवं निष्पक्ष) होकर एक बार तो बतलाये कि क्या इस संसार में प्रेयसी के ओठ से अधिक स्वादिष्ट कोई

---

1. त, नाति पद ज अ में नहीं
2. ज अ, किशलयमिव त
3. ज अ, एकस्य भ० त

सकृदपि परं[1] मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु किमिहान्य[2]त्स्वादु स्यात् प्रियारदनच्छदात्।। 233।।

अपारुष्यं सौकुमार्यमकाण्डे शोकदायित्वाभावः।। 159।।

परुषः अर्थः[3] यथा–

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति लसन्ति[4] नो कङ्काः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये।। 234।।

दूसरी चीज़ होगी? अर्थात् वह भी यदि बतलायेगा तो यही कहेगा कि प्रियतमा के ओठ से बढ़कर और स्वादिष्ट कोई भी वस्तु नहीं है।।233।।

टि०–यहाँ प्रिया का अधरोष्ठ समस्त उपमानों से अधिक आनन्ददायक है इस बात को विचित्र एवं नवीन प्रकार से कहा गया है इस कारण यहाँ माधुर्य गुण है।

5. सौकुमार्य (सुकुमारता) अपारुष्य (शोकप्रदायकता का न होना) ही सौकुमार्य है अनवसर में शोकप्रद न होना (इसका अभिप्राय है)।।159।।

परुष अर्थ (सुकुमारता) का उदाहरण जैसे–

(राजपक्ष) कीचड़ भर जिसमें बच गई है (इस कारण सूखे हुए) तालाब की तरह इस भूलोक में राजा विक्रमादित्य के यशोमात्र शेष रह जाने अर्थात् दिवङ्गत हो जाने पर वह रसिकता (सरसता) समाप्त हो गई है, क्षुद्र नये नये कवि शोभित हो रहे हैं और कङ्क जैसे बनावटी चाटुकार दरबारी कवि क्या शोभा नहीं पा रहे हैं? अर्थात् वे शोभा और ऐश्वर्य को प्राप्त हो रहे हैं। (सरोवर पक्ष) यशःशेष को प्राप्त विक्रमादित्य के समान (पानी सूख जाने के कारण) केवल कीचड़ भर बच जाने पर सरोवर में वह जलवत्ता तथा वह हंसों का होना समाप्त हो गया है (क्योंकि वे अन्यत्र चले गये हैं)। क्या अब वहाँ बगुले नहीं शोभित हो रहे हैं? और क्या वहाँ कङ्क (बगुले से मिलते जुलते मांसाहारी पक्षी) पक्षिगण शोभा नहीं पा रहे हैं?।।234।।

टि०–सुबन्धु ने अपनी कृति वासवदत्ता के मङ्गलाचरण में इस श्लोक को रखा है किन्तु बगुले, कङ्क तथा मृत्यु का वर्णन होने से यहाँ शोकदायक अमङ्गल की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण अमांगल्य रूप परुषता आ जाने से यहाँ सौकुमार्य गुण नहीं है। यहाँ ग्रन्थकार ने इस गुण का उदाहरण न देकर इसका प्रत्युदाहरण उपस्थित करके अपनी बात स्पष्ट की है।

---

1. त; जनो ...वित् परं ज अ
2. त; यदिहान्यत् ज अ
3. ज अ, परुषः अर्थः त में नहीं
4. ज अ, लसन्ति पद त में नहीं

तथा–

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ।। 160 ।।

वस्तुनः स्वभावस्फुटत्वं वर्णनया व्यक्तीकरणं यत्र सा अभिव्यक्तिः।[1]

यथा–

आधाय कोमलकराम्बुजकेलिमाली–
मालीसमाजमधिकृत्य समालपन्ती।
मन्दस्मितेन मयि साचि[2]विलोकितेन
चेतश्चकोरनयना चुलुकीचकार[3] ।। 235 ।।

यथा वा–

मृदुकरपरिरम्भारम्भरोमाञ्चिताया:
सरसकिसलयाग्रग्रासशेषार्पणेन।

---

6. अर्थव्यक्ति–वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता होने का नाम अर्थव्यक्ति है।। 160 ।।

वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता अर्थात् जहाँ स्फुट वर्णन के द्वारा उसको अभिव्यक्त किया जाता है उस की वह अभिव्यक्ति (अर्थव्यक्ति) कहलाती है।

जैसे–कोमल हस्त कमल से खेलने वाली सखी को पकड़कर सहेलियों के समूह को लक्ष्य करके सम्भाषण करती हुई धीमी मुस्कुराहट के साथ मेरी ओर टेढ़ी नज़र से देखने से चकोर के सदृश नेत्रों वाली उस सुन्दरी ने मेरे चित्त को चुल्लू बना दिया (परिणामस्वरूप मैंने अपने चित्त रूपी चुल्लू में भर भर कर उसकी रूपमदिरा का सेवन किया) ।। 235 ।।

टि०–यहाँ पर नायक नायिका पर पूर्णतया आसक्त हो गया है उसके इस भाव को कवि ने इस वर्णन द्वारा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर दिया है। अपने हाथ से सहेली को पकड़कर नायिका ने विविध चेष्टायें की हैं।

अथवा जैसे–

कोमल सूँड के द्वारा किये गये आलिङ्गन के व्यापार से पुलकित (रूठी हुई) अपनी प्रेमिका हथिनी के प्रणयलीलाजन्य कोप को–कोमल और अधमुँदी (ईषन्निमीलित) आँखों वाला, खुशामद करने वाला और

---

1. ज अ; वस्तुनः ....सा अभिव्यक्तिः यह अंश त में नहीं
2. अ; साति........ज त
3. ज अ, यह श्लोक त में नहीं इसके स्थान पर मृदुकरपरिरम्भा इत्यादि अगला श्लोक है।

मृदुमुकुलितचक्षुश्चाटुकारी करीन्द्रः
शिथिलयति रिरंसुः केलिकोपं प्रियायाः[1] ।। 236 ।।

इत्यर्थव्यक्तिं व्याख्याय (केचित्तु) स्वभावोक्तावन्तर्भावयन्ति तदबोधविजृम्भितम्। अर्थस्याभिप्रेतस्य वस्तुनो[2]ऽभिव्यक्तिर्भावाभिव्यक्तिरिति यावदित्यर्थात्।

यथा–

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
व्याकृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।

रमणाभिलाषी गजराज रसभरी नई नई कोपलों के अग्रभाग वाले अधखाये ग्रास को (उसके मुख में) देने से शिथिल कर रहा है अर्थात् उसके प्रणयलीलाजन्यकोप को उपर्युक्त विधि से शान्त कर रहा है।। 236 ।।

टि०–यह श्लोक नलचम्पू (6, 48) से लिया गया है।

इस प्रकार की अर्थव्यक्ति की व्याख्या करके (कुछ प्राचीन आचार्य तो) इसका स्वभावोक्ति में अन्तर्भाव करते हैं। (किन्तु उनका) वह कार्य अज्ञान का विस्तार है। क्योंकि अर्थ का अभिप्राय है विवक्षित वस्तु उस विवक्षित वस्तु (के भाव) की अभिव्यक्ति अर्थात् उसके भावों के प्रकटीकरण का नाम अर्थव्यक्ति है। इतना मात्र कहना है।

टि०–वामन ने अर्थव्यक्ति का स्वरूप वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः (का० सू० वृ० 3, 213) बताया है। किन्तु ग्रन्थकार के अनुसार अर्थव्यक्ति का अर्थ किसी वस्तु या व्यक्ति के भावों का प्रकाशन है। मम्मट तथा विश्वनाथ ने इस अलङ्कार का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति अलङ्कार में कर दिया है। किन्तु ग्रन्थकार का कहना है कि स्वभावोक्ति अलङ्कार में किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्यों का त्यों वर्णन होता है जबकि अर्थव्यक्ति में उस पदार्थ या व्यक्ति के हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण पदार्थभावाभिव्यक्तिस्वरूपा अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्ति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि वस्तु के बाह्यस्वरूप का वर्णन और उसका आन्तरिक भाववर्णन अलग अलग बातें हैं।

जैसे–

बार बार टेढ़ी की हुई गर्दन से युक्त और (अपने) डंठल से काटे हुए कमल

---

1. त; ज अ में यह श्लोक नहीं, उसके स्थान पर आधाय इत्यादि पिछला श्लोक है।
2. ज अ; अर्थस्याभिप्रेतवस्तुनो त

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः।। 237।।

अग्राम्यत्वमुदारता[1] ।। 161।।

यथा–

कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्यो[2]ऽर्थो रसावहः।। 238।।

प्रौढिरोजः ।।162।।

के सदृश उस मुख को धारण करने वाली, जाती हुई और सुन्दर पलकों वाली उस सुन्दरी ने अमृत और विष दोनों से बुझा हुआ (अर्थात् उन दोनों से सम्पृक्त) कटाक्ष रूपी बाण मेरे हृदय में गहरे रूप में मानो गाड़ सा दिया है।। 237।।

7. उदारता–ग्राम्यदोषराहित्य का नाम उदारता है।। 161।।

जैसे–

हे सुन्दर नेत्रों वाली सुन्दरि! भले ही यह क्रूर कामदेव मेरे ऊपर तो बहुत अधिक निर्दय है किन्तु सौभाग्य से तुम्हारे विषय में ईर्ष्यारहित है (तुम्हारे प्रति कृपालु होने से निर्दयता नहीं दिखाता है)। इस प्रकार का यह अग्राम्यार्थ सरसता को उत्पन्न कर देता है।। 238।।

टि०–दण्डी ने काव्यादर्श (1, 64) में पहले ग्राम्य दोष का उदाहरण देकर फिर अग्राम्य अर्थात् सुसंस्कृत उक्ति के उदाहरण के रूप में इस श्लोक को तुरन्त उस के बाद रखा है। इससे पहले का ग्राम्यदोषसूचक श्लोक इस प्रकार है–

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।।

काव्यादर्श 1, 63

8. ओज–प्रौढ़ि को ओज कहते हैं।। 162।।

---

1. ज अ; अग्राम्यत्वमुदाहरति त
2. त; दिष्ट्या स ग्राम्योऽर्थो ज अ

पदार्थे वाक्यरचनं[1] वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च।।

क्रमेणोदाहरणानि–चन्द्र इत्येकपदार्थे–

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः[2] ।। 239 ।।

द्वितीयं यथा–कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केते[3] साभिसारिका।।

इति[4] बहुषु[5] पदार्थेष्वेकाभिसारिकापदाभिधाने।। 247 ।।

यथा वा–

---

1. पद के (प्रतिपाद्य) अर्थ (के बोधन) में वाक्य की रचना 2. वाक्य के (प्रतिपाद्य) अर्थ में पद का कथन करना 3. विस्तार तथा 4. संक्षेप करना और 5. अर्थ का (विशेष रूप से) साभिप्रायत्व (यह पाँच प्रकार की) प्रौढ़ि होती है।

टि०–काव्यप्रकाश (8, 72 वृत्तिभाग) में ये पङ्क्तियाँ दी हुई हैं।

क्रम से (इस प्रौढिगुण के भेदों के) उदाहरण (दिये जा रहे) हैं–

I. (पद के अर्थ में वाक्यरचना) चन्द्र इस एक पद के अर्थ में (उदाहरण)–इसके बाद द्युलोक के भीतर (स्थित) अत्रि मुनि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति अर्थात् चन्द्र की तरह (इतने बड़े वाक्य की रचना की जाती है) ।। 239 ।।

टि०–रघुवंश 1, 76 में यह श्लोक मिलता है–

II. (वाक्यार्थ में पद का कथन)

दूसरे भेद का उदाहरण जैसे–जो प्रिय से मिलने की अभिलाषिणी होकर सङ्केत स्थान पर जाती है वह तो अभिसारिका कहलाती है।।

इस प्रकार बहुत पदों के अर्थ में एक अभिसारिका पद के कहने पर (दूसरे प्रकार की) प्रौढि है।। 247 ।।

अथवा (इसका और उदाहरण) जैसे–

---

1. त, वाक्यरचना ज अ
2. त, ज्योतिरत्रेरिति ज अ
3. संशोधित; सङ्केतं त ज अ
4. ज अ, साभिसारिकेति त
5. त; बहु ज अ

अस्य ते सरसा वाणी सुधापानाय कर्णयोः।
स्वर्लोकोऽप्ययमेवास्य तन्वि त्वं चेत् प्रसीदसि।। 241।।

इत्यत्र

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्।।

इति वक्तव्ये स्वः पदं कृतमिति।

तथा एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्येन प्रतिपादनं व्यासः विस्तारः। अनेकवाक्यार्थस्य एकवाक्येन प्रतिपादनं समासः। क्रमेणोदाहरणम्–

(व्यासो यथा)

यदेव तनुमध्याया मध्यमालम्ब्य जायते।
तन्निरालम्बनं ज्ञानमसदालम्बनं च तत्।। 242।।

तुम्हारी सरस वाणी इसके कानों के लिए सुधापान (अमृतपान) के लिए होती है (अर्थात् अमृतोपम आनन्द को उत्पन्न करती है)। हे सुन्दरी! यदि तुम प्रसन्न होती हो तो यही (लोक) इसके लिए स्वर्गलोक भी है।। 241।।

इस स्थान पर–

जो (पहले) भी दुःख से सम्मिश्रित नहीं हो और जो बाद में भी दुःखपूर्ण न हो और जो स्वयं अपनी इच्छा से लाया हुआ हो अर्थात् जिसको पाने के लिए व्यक्ति स्वयं लालायित रहता है वह सुख 'स्वः' पद का आश्रय है (अर्थात् स्वःपद का वाच्यार्थ इन उक्त विशेषताओं से युक्त सुख है)।

और अनेक पदों के द्वारा प्रतिपाद्य इतने (बड़े वाक्यार्थ के) प्रतिपाद्य (विवक्षित) होने पर यहाँ 'स्वः' पद का प्रयोग ही पर्याप्त है अथवा इस विस्तृत अर्थ की अभिव्यक्ति स्वः पद ने ही कर दी है।

III. व्यास–और एक वाक्य के अर्थ का अनेक वाक्यों (के अर्थ) से प्रतिपादित करना व्यास अर्थात् विस्तार है।

IV. समास–अनेक वाक्यों के अर्थ का एक वाक्य (के अर्थ) से प्रतिपादन समास है। क्रम से (इन दोनों के) उदाहरण (दिये जाते हैं)।।

(व्यास का उदाहरण) जैसे–

पतली कमर वाली उस सुन्दरी के मध्य भाग (कटिप्रदेश) के सहारे जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान निराधार है। और वह मिथ्या आलम्बन वाला है।। 242।।

अत्र मध्यं नास्तीति वक्तव्ये तथोक्तम्।

समासो यथा–

पतिश्वशुरता ज्येष्ठे पतिदेवरतानुजे।
इतरेषु च पाञ्चाल्यास्त्रितयं त्रितयं त्रिषु।। 243।।

अत्रैकवाक्यार्थस्य बहुवाक्यार्थे निबन्धनात् समासः।

दीप्तरसत्वं कान्तिः।। 163।।

दीप्ताः शृङ्गारादयो रसा यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः।

यहाँ पर (नायिका का) मध्यभाग है (ही) नहीं इस (तनुत्व से उत्पन्न सौन्दर्य बोधक रूप) एक वाक्यार्थ को बताने के लिए उस प्रकार से (अनेक वाक्यों के द्वारा) कहा गया है।

समास (का उदाहरण) जैसे–

(पाँचों पाण्डवों की पत्नी) द्रौपदी का सबसे बड़े (युधिष्ठिर) में पतिभाव और श्वशुरभाव दोनों हैं, (सबसे) छोटे भाई सहदेव में पतिभाव और देवर का सम्बन्ध दोनों हैं। और दूसरे तीनों (भीम, अर्जुन और नकुल नाम के भाइयों) में तीन तीन सम्बन्ध (श्वशुरत्व, पतित्व और देवरत्व) हैं।। 243।।

टि०–नववधू के लिए अपने पति का बड़ा भाई धर्मपिता के समान पूजनीय होने से श्वसुर होता है। इस कारण अपने पति भीम के बड़े भाई होने के कारण युधिष्ठिर श्वसुर भी हैं और सीधे रूप से पति होने से पति भी हैं। इस प्रकार उनके साथ द्रौपदी का श्वसुर और पति रूप से दो प्रकार का सम्बन्ध है। पाण्डवों में सबसे छोटे भाई सहदेव के साथ द्रौपदी का पतिभाव और देवरभाव है। अर्जुन के बड़े भाई होने के कारण द्रौपदी के लिए भीम श्वसुर भी हैं, पति रूप से सीधा सम्बन्ध होने से पति भी हैं और युधिष्ठिर के छोटे भाई होने के कारण देवर भी हैं। इसी प्रकार अर्जुन और नकुल के साथ भी द्रौपदी का श्वसुर, पति और देवर के रूप में सम्बन्ध बना हुआ है।

यहाँ बहुत सारे वाक्यार्थों में एक वाक्यार्थ के प्रयोग के कारण समास है।

टि०–यहाँ पांचवें सभिप्राय भेद का कोई उदाहरण नहीं दिखाया गया है।

9. कान्ति–रसों का दीप्त (उज्ज्वल) रूप में होना कान्ति है।। 163।।

जिसके भीतर शृङ्गारादि रस दीप्त होकर रहते हैं वह दीप्तरस है उसका भाव दीप्तरसता कहलाता है यही दीप्तरसता कान्ति नामक गुण है।

यथा–

प्रेयान्सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत्प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्नीविनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः।। 244।।

अर्थदृष्टिरूपः समाधिः।। 164।।

अर्थो[1] द्विविधः–अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च।

क्रमेण यथा–

आश्वपेहि मम सीधुभाजनाद्
यावदग्रदशनै र्न दश्यसे

जैसे–

सुन्दरी नायिका ने (मैं सत्य कहता हूँ कि मैं अब कभी किसी अन्य स्त्री के पास नहीं जाऊँगा इस प्रकार की) शपथपूर्वक (पूर्वापराध की क्षमाप्राप्ति के लिए उसके) पैरों पर झुके हुए ऐसे इस (अत्यन्त प्रेमास्पद प्रियतम) को फटकार दिया, जिससे खिन्न मन वाला होकर (यह निरुपाय एवं विवश होने के कारण चल दिया परन्तु) जब तक वासभवन से बाहर यह दो तीन पग भी नहीं चल पाया था कि तब तक इस (अपने पूर्वव्यवहार) के विपरीत (सम्भोग की उत्कट अभिलाषा के कारण) खुलती हुई नीवी (लहँगे, पेटीकोट) की गाँठ को हाथों से थामे हुए और प्रणाम करते हुए दौड़कर उसके द्वारा इसको पकड़ लिया गया। आश्चर्य है कि प्यार का रास्ता (तरीका) निराला है।। 244।।

टि०–यह श्लोक काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (3, 2, 15) तथा काव्यप्रकाश (4, 98) में दिया हुआ है।

10. समाधि–अर्थ के दर्शन के स्वरूप वाले को समाधि कहते हैं।। 164।।

अर्थ दो प्रकार का होता है–1. अयोनि और 2. अन्यच्छायायोनिः।

टि०–अयोनि का अर्थ है बिना कारण अर्थात् बिना किसी अन्य कवि की रचना से प्रेरणा पाकर लिखी हुई रचना। ऐसे अर्थ में बिलकुल नई मौलिक कल्पना होती है। अन्यच्छायायोनि वह अर्थ है जिसमें दूसरे किसी कवि के अर्थ की छाया ली गई हो।

क्रम से (दोनों के उदाहरण, पहला अयोनि का उदाहरण) जैसे–

1. ज अ; अर्थोऽपि त

चन्द्र मद्दशनमण्डलाङ्कित:
खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात् ।। 245 ।।

यथा वा–

सद्यो मुण्डितमत्तहूणचुबुकप्रस्पर्द्धि नारङ्गकम् ।। 246 ।।

द्वितीयो यथा–

निज[1]नयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुश: प्रतारिता कापि।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी ।। 247 ।।

(मदिरापात्र में प्रतिबिम्बित) हे चन्द्र! मेरे इस मदिरापात्र (को छोड़कर यहाँ) से जल्दी भाग जाओ! जब तक (प्रिया या प्रिय का मुख समझकर) मैं तुम्हें अपने अगले दाँतों से न काट लूँ (उसके पहले ही यहाँ से निकल जाओ तो अच्छा है। नहीं तो फिर) मेरे दाँतों के द्वारा (काटने से बनाये) मण्डलाकार दन्तक्षत के चिह्नों से अङ्कित होकर अपनी प्रिया रोहिणी (को यह दन्तक्षतयुक्त मुख कैसे दिखाओगे? उस) के भय से (दुबारा यहाँ से लौटकर) आकाश को भी न जा सकोगे।। 245 ।।

टि०–यह नायक या नायिका की उक्ति है। यह कवि की अपनी अनूठी कल्पना है इसी को अयोनि अर्थ कहते हैं। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (3, 2, 8 श्लोक 7) में यह श्लोक है।

अथवा और (उदाहरण) जैसे–

तुरन्त मूँडे गये मत्त हूण की ठोडी का स्पर्धालु नारङ्ग (सन्तरे का यह फल) है।। 246 ।।

टि०–यहाँ सद्योमुण्डितमत्तहूणचुबुक से नारंगी की उपमा दी है। नारंगी का रंग गहरा लाल पीला होता है। हूणों (पठानों) का रंग भी लाल पीला होता है। उनके मुख पर शराब के नशे से मत्त होने से और भी लालिमा आ जाती है। का० सू० वृ० (4, 2, 2 श्लोक 2) तथा साहित्यदर्पण (8, 16 वृत्तिभाग) में यह उदाहरण मिलता है।

दूसरा (अन्यच्छायायोनि का उदाहरण) जैसे–

कोई मालिन पानी में अपने नेत्रों की छाया से बहुत बार धोखा खा लेने पर (अर्थात् नेत्रों के प्रतिबिम्ब में मुझे नील कमलों की भ्रान्ति हो चुकी है ऐसा बोध हो जाने पर) वास्तविक नीलकमल पर भी हाथ लगाते समय सोचती

---

1. ज अ, विवृत........त

अत्र नयनोत्पलयोः सादृश्यमन्येनापि वर्णितमित्यन्यच्छायायोनिः। इत्याद्यास्वादोत्कर्षहेतूनामपलापः कर्तुमयोग्यः पूज्यपादानाम्। तदुक्तम्–

गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते[1]।।
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत्क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः।।
गुणानां दशतात्यक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम्।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः।

है (क्योंकि उसे यह आशङ्का होती है कि कहीं यह भी मेरी आँखों का प्रतिबिम्ब न हो और पहले की तरह यहाँ भी मेरा श्रम व्यर्थ न हो जाय)।।247।।

यहाँ नेत्रों और नीलकमलों की समानता दूसरे कवि के द्वारा भी वर्णित है इस कारण यह (दूसरे की छाया नकल या प्रभाव से उत्पन्न होने से) अन्यच्छायायोनि का उदाहरण है। इस प्रकार के अन्य भी उत्कृष्ट रसास्वाद के हेतुभूत (किन्तु अन्यच्छायायोनि होने के कारण किञ्चित् अपकर्ष को प्राप्त) उदाहरणों में पूज्यचरण माननीय कवियों की निन्दा करनी उचित नहीं है (इन्होंने यह भाव अमुक स्थान से चुराया है ऐसा कहना ठीक नहीं है)।

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3, 2, 15 श्लोक 1–3 में वामन ने) यह कहा है–

गुणों की स्फुटता की पूर्णता को काव्यपाक कहते हैं और आम्रपाक के साथ उसकी उपमा दी जाती है। जिसमें सुप् तिङ् का संस्कारमात्र रूप सार (तत्त्व) हो (अर्थात् केवल व्याकरण को पढ़े व्यक्ति ने ही जिसे बनाया हो और कथावस्तु (एवं काव्य) गुण क्लिष्ट (अस्फुट) हो वह काव्य वृन्ताकपाक (कद्दू या बैंगन के पाक के समान पाक वाला) होता है और सहृदय लोग उससे घृणा करते हैं।

जिस (काव्य) का अर्थ (वर्ण्य वस्तु) दसों (प्रकार के शब्दगुणों तथा अर्थगुणों) से रहित हो। वह काव्य व्यर्थ है। (दाडिमानि अर्थात् दाडिम अपूप, बदरिका आदि दस पदों को महाभाष्यकार ने अनर्थक पदों के उदाहरण के रूप में दिया है जैसे वे निरर्थक पद हैं वैसे ही गुण रहित काव्य

---

1. त; चायमनुमीयते ज अ

भी निरर्थक होते हैं) दस दाडिम (अनार) इत्यादि (अनर्थक पदों) के समान वह (कवि का निर्गुण) वचन मात्र रूप काव्य विचार के योग्य नहीं है।

टि०–वामन ने अनेक काव्यपाकों में से आम्रपाक और वृन्ताकपाक का यहाँ उल्लेख किया है। काव्यमीमांसा में प्रथमाधिकरण के पाँचवें अध्याय की समाप्ति पर राजशेखर ने इन 9 प्रकार के काव्यपाकों का वर्णन किया है–

स (पाकः) च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति। तत्र 1. आद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम् 2. आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम् 3. आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम् 4. आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्ताकपाकम् 5. आद्यन्तयो र्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम् 6. आदौ मध्यममन्ते च स्वादु सहकारपाकम् 7. आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम् 8. आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्, 9. आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलपाकमिति। वह पाक कविता का अभ्यास करने वाले कविगणों की रचना में नवविध होता है। उनमें 1. आदि और अन्त में जो अस्वादु हो वह पिचुमन्दपाक होता है 2. जो पहले अस्वादु हो और परिणाम में मध्यम हो वह बदरपाक कहाता है। 3. जो पहले अस्वादु हो और परिणाम में स्वादु हो वह मृद्वीकापाक (द्राक्षापाक) कहाता है। 4. जो पहले मध्यम हो और अन्त में अस्वादु हो उसकी सञ्ज्ञा वार्ताकपाक है 5. जो आदि और अन्त में मध्यम हो उसे तिन्तिडीकपाक कहते हैं 6. सहकार (आम्र) पाक वह होता है जो पहले मध्यम और अन्त में स्वादु हो 7. जो पहले उत्तम और अन्त में अस्वादु हो वह क्रमुकपाक कहाता है 8. आदि में उत्तम और अन्त में मध्यम हो उसका नाम त्रपुस (ककड़ी) पाक है। 9. जो पहले और अन्त में स्वादु होता है उस को नारिकेलपाक कहते हैं।

इनमें तीन तीन पाकों का एक एक गण होता है जैसे पिचुमन्द (नीम) बदर (बेर), मृद्वीका (द्राक्षा) पाकों का एक गण और वार्ताक (बैंगन) तिन्तिडीक (इमली) सहकार पाकों का दूसरा गण हुआ। क्रमुक (सुपारी) त्रपुस (ककड़ी) नारिकेल (नारियल) पाकों का तीसरा गण। इस तरह तीन गण हुए।

इन 9 प्रकार के पाकों में से 1, 4, 7 अर्थात् 1 पिचुमन्दपाक, 4. वार्ताकपाक 7. और क्रमुकपाक इन तीन को त्याज्य 2, 5, 8 अर्थात् 2 बदरपाक 5. तिन्तिडीकपाक और 8. त्रपुसपाक इन तीन को संस्कार्य तथा 3, 6, 9 अर्थात् 3 मृद्वीकापाक 6 सहकारपाक 9 और नारिकेलपाक इन तीन को उपादेय माना है। सुवर्ण के 12 रंग होते

यत्तु कैश्चिदुक्तम्–केचिदन्तर्भवन्त्येष्विति तन्न। शब्दार्थधर्माणां गुणानां रसधर्मेषु तेष्वन्तर्भावाभावात्[1]। यदपि दोषत्यागात् परे श्रिता इति तदपि मन्दम्। दोषा एव गुणाभावाः सन्तु वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् तथा च विनिगमनाविरहाद् द्वावपि गुणदोषौ पृथक्। यदप्युक्तम्–अन्ये भजन्ति दोषत्वं तदपि (अयुक्तम्)[2] वक्त्रौचित्यवशाद् द्वयोरप्यन्यथात्वमभ्युपगतमेवेत्युपरम्यते।

इति श्रीविश्वनाथदेवविरचिते[3] साहित्यसुधासिन्धौ गुणनिर्णयो नाम[4] षष्ठस्तरङ्गः।

हैं किन्तु जब उसमें अग्नि का संस्कार हो जाय तब वह सुवर्ण सुवर्ण है। जिस काव्य में किसी भी तरह का पाक नहीं उसे कपित्थ (कैथ) पाक कहते हैं।

जो तो किन्हीं (मम्मट आदि) आचार्यों ने कहा है–'कुछ गुण इन्हीं (ओज, प्रसाद, माधुर्य गुणों) में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

टि०–आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश (8, 72) में 'तीन ही गुण क्यों होते है दस क्यों नहीं इस मत के प्रतिपादनार्थ यह कारिका लिखी है–

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।।

इन (वामन के दस गुणों) में से कुछ तो इन (माधुर्य, ओज और प्रसाद रूप तीन गुणों) में अन्तर्भूत हो जाते हैं और 2. कुछ दोषाभाव रूप होते हैं तथा 3. कुछ गुण न होकर दोषरूप हो जाते हैं। इसलिए दस (गुण) नहीं माने जा सकते हैं।

इस कारिका में दिये हुए–'केचिदन्तर्भवन्त्येषु', 'दोषत्यागात्परे श्रिताः' 'अन्ये भजन्ति दोषत्वम्' इन तीनों खण्डों को पृथक् पृथक् लिखकर एक एक का खण्डन आगे किया है।

(ग्रन्थकार की ओर से कहा जा रहा है उनका) यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द और अर्थ के धर्मभूत इन (10 शब्दगुणों और 10 अर्थ गुणों) का रस के धर्म उन (ओज, प्रसाद और माधुर्य) गुणों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है और जो कुछ गुण दोषाभाव रूप होते हैं यह कहा है वह भी

---

1. संशोधित, तेष्वन्तर्भावात् ज अ त
2. संशोधित, ज अ त में नहीं
3. त, इति..........विरचिते यह अंश ज अ में नहीं
4. गुणनिर्णयो नाम का प्रयोग हिमालयो नाम (अव्यय) कुमार सम्भव 1,1 की तरह हुआ है। अन्यत्र भी ऐसा प्रयोग किया गया है।

(मत) निर्बल है (यदि यह कहा जाय कि दोषाभाव का नाम गुण है तो) दोष ही गुणाभावस्वरूप हैं (अर्थात् गुणाभाव का ही नाम दोष है) इस प्रकार की विपरीत युक्ति भी सरलतापूर्वक कही जा सकती है और इस प्रकार एक पक्ष को सिद्ध करने वाला कोई अनुकूल तर्क न होने के कारण इन गुण और दोष दोनों को पृथक् पृथक् मानना चाहिए।

और यह जो कहा है–दूसरे कुछ (समता आदि) गुण न होकर दोष रूप हो जाते हैं (अतः समतादि गुणों की पृथक् सत्ता नहीं) है।

उपर्युक्त यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वक्ता के औचित्य से उन (दोषाभाव और दोष रूप) दोनों प्रकार के गुणों का अन्यथाभाव (गुणाभाव और गुणत्व) भी स्वीकार किया गया है।

टि०–जैसे 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' (काव्यप्रकाश 7, 300) इत्यादि में सिंह का वर्णन करने में तृतीय चरण में कोमल मार्ग का परित्याग गुण हो गया है यदि उसका परित्याग न करके मार्गाभेद रखा जाता तो वह वहाँ दोष हो जाता। इसलिए समता को गुण नहीं माना जा सकता है। कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व के दोष कहे जाने से उनके परित्याग द्वारा क्रमशः अपारुष्य रूप सौकुमार्य तथा औज्वल्यरूप कान्ति गुण भी दोषाभाव रूप से स्वीकृत कर लिये गये हैं इसलिए दस शब्द गुण मानना उचित नहीं है यह आचार्य मम्मट का मत यहाँ पूर्वपक्ष है।

इस विधि से इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त किया जा रहा है।

टि०–मम्मट ने 1. जिन गुणों को दोष रूप में स्वीकार किया है वे और 2. जिन गुणों को दोषाभाव के रूप में माना है वे–ये दोनों ही प्रकार के गुण वक्ता के औचित्य से अन्यथा हो जाते हैं अर्थात् जिन्हें दोषाभावस्वरूपात्मक गुण माना जा रहा है वह गुण वक्ता के औचित्य से गुणाभाव रूप भी हो सकते हैं। इसी प्रकार जो गुण दोष रूप में माने जा रहे हैं वे भी वक्ता आदि के औचित्य से गुण रूप में हो सकते हैं।

इस प्रकार श्रीविश्वनाथदेवविरचित साहित्यसुधासिन्धु में गुणनिर्णय नाम की षष्ठ तरङ्ग समाप्त हुई।

—•—

सप्तमस्तरङ्गः

अवसरसङ्गत्या अलङ्कारनिरूपणे प्रस्तुते पुरःस्फूर्त्तिकत्वाच्छब्दालङ्कारानाह–

तत्र शब्दालङ्कारत्वं शब्दमलङ्कृत्य रसोपकारकत्वम्।। 165।।

सामान्यलक्षणं तु प्रागुक्तमनुसन्धेयम्।

अवसर की उपयुक्तता की दृष्टि से अलङ्कारों के प्रतिपादन (की बारी) उपस्थित होने पर पहले प्रतीति होने के कारण शब्दालङ्कारों को ग्रन्थकार (पहले) कहते हैं।

टि०–ग्रन्थकार पहले भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण के 'अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्' इत्यादि काव्यलक्षण (साहित्यसुधासिन्धु 1, 3 वृत्ति) का अपनी ओर से प्रतिपादन कर चुके हैं। इसमें क्रमशः दोष, गुण और अलङ्कार की काव्य में स्थिति मानी गई है। पञ्चम और षष्ठ तरङ्ग में दोष और गुण को बता देने पर अलङ्कारनिरूपण का अवसर आने से इस तरङ्ग में अलङ्कारों का निरूपण किया जा रहा है। अलङ्कारों में भी पहले शब्दालङ्कारविवेचन इसलिए किया जा रहा है क्योंकि शब्दालङ्कार का ज्ञान श्लोक को पढ़ते ही पहले हो जाता है इसके विपरीत अर्थालङ्कारों का ज्ञान शब्दश्रवणानन्तर अर्थ का ज्ञान होने पर ही होता है। इसलिए ग्रन्थकार पहले ज्ञात हो जाने वाले शब्दालङ्कारों का यहाँ पहले प्रतिपादन करते हैं।

शब्दालङ्कार–उन (शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार नाम के भेदों) में शब्द की शोभा बढ़ाकर रस का उपकार करना ही शब्दालङ्कारत्व है।।165।।

टि०–इस लक्षण के अनुसार पहले शब्द की शोभा बढ़ाकर फिर रस की शोभा को उत्पन्न करने वाले तत्त्व अलङ्कार कहलाते हैं। यह अलङ्कार का विशेष लक्षण है।

अलङ्कार का सामान्य लक्षण तो पहले (साहित्यासुधासिन्धु 6, 143 वृत्ति पर गुणविशिष्टकाव्यशोभाकारिणोऽलङ्काराः। नहि निर्गुणस्य काव्यस्य विधीयते शोभा। इस रूप में) बता दिया है उसको (वहीं देखकर) समझ लेना चाहिए।

तद्भेदानाह–

वक्रोक्तिः स्यादनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके[1]।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट्।। 166।।

क्रमेण लक्षणोदाहरणानि–

वक्त्रा यदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभङ्गैः ज्ञेयासौ श्लेषवक्रोक्तिः।। 167।।

यथा–

सखे सदैव सेव्येयं भव्या सुरतरङ्गिणी।
अद्याप्येवमविद्यायास्त्वं वशी मा वशीभव।। 148।।

उन (शब्दालङ्कारों) के भेद ग्रन्थकार कहते हैं–

1. वक्रोक्ति 2. अनुप्रास 3. यमक 4. श्लेष 5. चित्रक (चित्रालङ्कार) और 6. पुनरुक्तवदाभास ये छः तो (शब्दालङ्कार) हैं।। 166।।

क्रम से उन अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण (दिये जाते) हैं।

1. वक्रोक्ति– I. श्लेषवक्रोक्ति–वक्ता ने जो कुछ और तरह से बात कही होती है उसका उत्तर देने वाला जब उसका पद भङ्ग करके और प्रकार से अर्थ लगाकर उसका उत्तर देता है तब उस प्रकार की वह उक्ति श्लेषवक्रोक्ति समझनी चाहिए।। 167।।

जैसे–

पूर्ववक्ता हे मित्र! यह रमणीय देवनदी गङ्गा हमेशा ही सेवन करने (भक्ति करने) योग्य है?

(उत्तरदाता कहता है) जितेन्द्रिय तुम आज भी इस तरह अविद्या (अज्ञान) के वश में मत होओ।।148।।

टि०–मित्र के 'सुरतरङ्गिणी' इस पद के कहने पर सुनने वाले मित्र ने इस पद को तोड़कर (सुराणां तरङ्गिणी यह अभिलषितार्थ न लेकर सुरते रङ्गिणी अर्थात् सुरत काल में मनोरञ्जन करने वाली सम्भोगयोग्य रमणी यह दूसरा अर्थ ले लिया है। इस अर्थ को लेकर वह अपने मित्र को उत्तर देते हुए कह रहा है–यह सुरत में सदा आनन्द देने वाली सुन्दरी सदा ही सेवनी या अर्थात् भोग्या है? तुम्हें ऐसी अविद्यापूर्ण बातें नहीं कहनी चाहिए।

---

1. संशोधित, चित्रयुक् ज अ; चित्रयुक्तम् त

विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीति[1]र्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः।।168।।

क्रियमाणात् उच्चार्यमाणात्।

यथा–

शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालाहलदिग्धम्।
धीरै र्न पुनरकारणकुपितखलालीककटुवचनम्।।249।।

II. काकुवक्रोक्ति–जहाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से किये गये विशेष प्रकार के कण्ठ स्वर अर्थात् उच्चारण के द्वारा अक्लिष्ट (अर्थात् किसी प्रकार की कल्पना किये बिना नितान्त सरल) अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है, वहाँ काकुवक्रोक्ति अलङ्कार माना जाता है।।168।।

यहाँ 'क्रियमाणात्' पद का अर्थ है उच्चार्यमाण होने से।

जैसे–

अपने वक्षःस्थल पर मर्मभेदी हालाहल विष में बुझे हुए (अत एव अत्यन्त विषैले) एवं (हृदय के) अन्तर्भाग (मर्मस्थल) को बींधने वाले बाण (के प्रहार) को तो धैर्यशाली पुरुषों के द्वारा सहन कर लिया जाता है किन्तु उनसे बिना कारण ही कुपित हुए दुष्टों का झूठा एवं कठोर वचन नहीं सुना जा सकता।।249।।

टि०–यहाँ काकु (भिन्न कण्ठध्वनि) से अर्थात् भिन्न प्रकार की गले की आवाज़ से 'शल्यमपि' पर बल दिया जाय और न पुनः को भी जोर से कहा जाय तो खलालीककटुवचनदुःसहता अर्थात् दुष्ट पुरुषों के दुर्वचनों को न सहन कर पाने का अर्थ निकलता है। यदि पूर्वार्ध की पङ्क्ति को हल्के स्वर में और उत्तरार्द्ध की पङ्क्ति को बल देकर कहें तो खलवचन की सुसहता प्रकट होती है। अर्थात् जो सज्जन कठोर बाणों को सहन कर लेते है वह खलवचनों को सहन कर ही सकते हैं। किन्तु ऐसे काकुयुक्त प्रयोग प्रायः 'बाण का प्रहार तो सहा जा सकता है किन्तु दुर्जनों की कटूक्तियाँ नहीं' इसी तरह के भाव को व्यक्त करने के लिए कहे जाते हैं। चमत्कारिणी उक्ति (सा०1, वृत्ति और अतिशयोक्ति को भी वक्रोक्ति का पर्याय कहा जाता है।[2]

1. ज अ; प्रतीतेर्ज्ञेया त
2. सा. सु. सि. 1, 4 वृत्ति

अत्रान्येनेति विवक्षणात् स्वोक्ते: स्वयमन्यथाकरणे अपह् नुतौ नातिव्याप्ति:। सा यथा–

काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठितासि तरले न हि न हि सखि पिच्छिल: पन्था:।।

अथानुप्रास:–

आवृत्ति र्यदि वर्णानामन्यत्र यमकाद् भवेत्।
अदूरे भूरिभाव्योऽसावनुप्रासो निगद्यते।। 169।।

यहाँ (इस काकुवक्रोक्ति के लक्षण में) अन्येन इस पद की विवक्षा है (अत: इसका भी समावेश होना चाहिए था) इस कारण जहाँ स्वयं अपनी उक्ति का अन्यथाकरण दूसरा अर्थ बताया जाता है ऐसी अपह्नुति में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी (अपह्नुति में जो बोलने वाला है वही स्वयं अपनी उक्ति को दोहरा कर दूसरा अर्थ बता देता है)।

उस अपह्नुति का (उदाहरण) जैसे–

(नायिका की सखी के प्रति उक्ति) बादलों के समय में (अर्थात् वर्षा ऋतु में) बिना पति के (अपतितया–पतिराहित्य तथा बिना गिरी हुई होकर) नहीं रहा जा सकता? (सखी का उत्तर) हे चञ्चल सुन्दरी। (क्या तुम पति के लिए) उत्कण्ठित हो (और इसी लिए कहती हो कि पति के अभाव में कोई नहीं रह सकता)। (नायिकोक्ति–सखी मेरा यह आशय नहीं है किन्तु) यह रास्ता पङ्कयुक्त है (यह मैं बता रही हूँ)।

टि०–'अपतितया' शब्द का बोलते समय अर्थ है–पति की उपस्थिति के बिना कौन नायिका वर्षा ऋतु में अकेली रह सकती है। यही अर्थ लेकर सखी के द्वारा प्रश्न करने पर बात खुल जाने के डर से नायिका ने अपतितया' का दूसरा अर्थ (विना गिरी) बताकर स्वयं ही पहली बात का निषेध कर दिया है इस कारण यहाँ अपह्नुति है किन्तु काकुवक्रोक्ति में सुनने वाला दोहरा कर दूसरा अर्थ बताता है। काव्यप्रकाश 9, 78 में कहा है–यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथान्येन योज्यते। श्लेषेण काक्वा वा.....।।

2. अनुप्रास–इसके बाद अनुप्रास (का लक्षण किया जाता) है।

यदि यमक से अन्यत्र वर्णों की आवृत्ति हो जाय तो समीप समीप और बार बार (होने वाली वर्णों की आवृत्ति से निष्पन्न) होने वाला अनुप्रास अलङ्कार कहलाता है।। 169।।

तत्त्वं च यमकान्यत्वे सति अदूरतया व्यञ्जनावृत्तित्वम्। न च यमकेऽप्यनुप्रासान्यत्वे सतीति विशेषणादन्योन्याश्रय इति वाच्यम्। एकार्थप्रतिपादकत्वराहित्ये सति विरुद्धानुपूर्वीराहित्यादिना यमकलक्षणं स्थिरीकृत्य तदन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्।

छेकवृत्तिगतत्वेन द्विविधोऽसौ प्रकीर्तितः।

और इसका सार (भूत–परिनिष्ठित लक्षण यह) है कि यमकालङ्कार से भिन्नता होते हुए समीप समीप व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति का होना ही अनुप्रासत्व (अनुप्रास का लक्षण) है।

(शङ्का) यमक के लक्षण में भी अनुप्रासान्यत्व (अनुप्रास से भिन्न होना) यह विशेषण होने पर अर्थात् अनुप्रासान्यत्वं यमकत्वम् इस प्रकार का लक्षण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि यदि 'यमकादन्यत्र वर्णानामावृत्तिरनुप्रासः इस रूप में अनुप्रास का लक्षण किया जाता है तो संक्षेप में यमकान्यत्वमनुप्रासत्वम् यह अनुप्राससामान्य का लक्षण हो जायेगा इसी प्रकार 'अनुप्रासान्यत्वम् यमकत्वम्' यह यमकालङ्कार का लक्षण बन जाने से अन्योन्याश्रय दोष आता है (परस्परसापेक्षत्वमन्योन्याश्रयत्वम्)। इसलिए अनुप्रास का यह लक्षण ठीक नहीं है।

(सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी को यहाँ अन्योन्याश्रय दोष है) इस प्रकार नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ 'एकार्थप्रतिपादकत्वराहित्ये सति विरुद्धानुपूर्वीराहित्यम् (एकार्थ की प्रतिपादकता न होने पर सार्थक होने पर भिन्नार्थक और एक सार्थक और एक निरर्थक होने पर अथवा दोनों ही के निरर्थक होने पर अविरुद्ध स्वरूप और क्रमादि वाले अर्थात् ज्यों के त्यों दोहराये जाने वाले होना) यह यमक का लक्षण स्थिर करके ही यमक से भिन्नता की (अनुप्रास के लिए) विवक्षा है।

टि०–सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि यमक और अनुप्रास वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होकर रहने वाले नहीं है अर्थात् यमकाभाव का नाम अनुप्रास और अनुप्रासाभाव का नाम यमक है इस रूप में उनकी स्थिति नहीं है अपितु वे दोनों अलङ्कार परस्परनिरपेक्ष होने से अपनी स्वतन्त्र सत्ता वाले होते हैं। क्योंकि वे परस्पर सापेक्ष नहीं हैं इस कारण यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। आगे दिये गये यमक के परिनिष्ठित लक्षण में–यमक में आवृत्त पदों के द्वारा एक ही अर्थ को नहीं बताया

छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च। छेको विदग्धः। तद्वल्लभत्वाच्छेकोऽनुप्रासः। केचित्तु गृहासक्ताः पक्षिमृगाः[1] छेका इत्यमरः[2] तथा च छेकवद् वल्लभत्वाच्छेकानुप्रास इत्याहुः। वृत्तिर्माधुर्यादिगुणव्यञ्जिका,[3] तत्तदानुपूर्वीरूपा। गतो ज्ञातः। आभ्यामुपाधिभ्यामिति शेषः।

तत्र वृत्तिं विभजते–

मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।। 170।।

जाता और उन आवृत्त पदों में स्वरूप और क्रम दोनों समान होते हैं उन दो व्यावर्तक धर्मों को बताने वाला यमकालङ्कार अनुप्रास से पृथक् है ऐसा हमने बताया है। अनुप्रास और यमक दोनों में पदों और वर्णों की आवृत्ति होती है इस रूप में तो समानता है किन्तु उन दो धर्मों की सत्ता यमक में ही होने से अनुप्रास में यमकान्यत्व या यमकभिन्नता है यही अन्यत्व पद का अभिप्राय है।

I छेकगत और II वृत्तिगत होने से वह अनुप्रास दो प्रकार का होता है। (इस प्रकार वे दो भेद) छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास हैं। छेक–छेक का अर्थ है चतुर। उनका प्रिय होने से वह छेकानुप्रास कहलाता है। कुछ विद्वान् तो घर में रहने वाले पालतू पक्षी और हरिणादि पशुओं को अमरकोश में छेक बताया गया है और क्योंकि वह अलङ्कार छेक (पालतू पशु पक्षी) की भाँति प्रिय होता है इसलिए वह छेकानुप्रास है–ऐसा कहते हैं।

वृत्ति- माधुर्यादि गुणों को अभिव्यक्त करने वाली और उन 2 वर्णों की आनुपूर्वी अर्थात् एक ही स्वरूप और क्रम वाली वृत्ति होती है। (छेकवृत्तिगतत्वेन इस कारिकांश में प्रयुक्त) गतः पद का अर्थ है ज्ञात। इस कारिका के साथ आभ्यामुपाधिभ्याम् इतना अंश और होना चाहिए था। इस छोड़े गये पद को जोड़कर छेक और वृत्ति से इन दो धर्मों (विशेषण–उपाधि) से ज्ञात (छेकानुप्रास और वृत्त्यन्नप्रास होता है यह अर्थ हो जाता है)।

उस (काव्य) में (पाई जाने वाली) वृत्ति का विभाग करते हैं–

1. मधुरा, 2. प्रौढा, 3. परुषा, 4. ललिता और 5. भद्रा नामक पाँच वृत्तियाँ

1. ज अ; मृगपक्षिणः त
2. ज अ; इत्यमरोक्तेः त
3. त; मधुरगुणव्यञ्जिका ज अ

वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः।

अस्येत्यनुप्रासस्य।

तत्र मधुरालक्षणम्–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगेत्यादि।

उदाहरणम्–

अमन्दसुन्दरीगणैरित्यादि।। 250।।

प्रौढा यथा–

अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्ययणा उपरि रेफसंयुक्ताः।। 171।।
कपयुक्तश्च तकारः प्रौढायां कस्तयुक्तश्च।

होती हैं। वर्णों के अनेक (मधुर, कोमल, परुषादि) प्रकारों के होने के कारण इस (अनुप्रास) की इन वृत्तियों के ये नाम अन्वर्थ अर्थात् अपने अपने अर्थ के अनुसार नाम रूप फल वाले हैं (अर्थात् इन वृत्तियों के नामों के जैसे जैसे अर्थ हैं वैसा वैसा ही उनका स्वरूप है)।। 170-171।।

टि०–यहाँ मधुरा आदि वृत्तियों के जैसे जैसे नाम हैं उसी उसी प्रकार के उनके स्वरूप हैं। उदाहरणार्थ मधुरा का अर्थ माधुर्यगुणोपेत है। इस मधुरावृत्ति में मधुर वर्णावली रहती है।

यहाँ (कारिका में आये हुए) 'अस्य' इस पद का इस अनुप्रास की- यह अर्थ है। इन (वृत्तियों) में (से पहली वृत्ति)

1. उस (काव्य) में मधुरा का लक्षण–मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा इत्यादि है।

टि०–षष्ठ तरङ्ग में भी इसका लक्षण इस प्रकार पहले दिया जा चुका है–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्ति र्मध्यवृत्ति र्वा माधुर्ये घटना तथा।। 6, 140-41।।

(इसका) उदाहरण–'अमन्दसुन्दरीगणैः' इत्यादि है।। 250।।

टि०–वहीं षष्ठ तरङ्ग में इसका उदाहरण दिखा दिया है–

अमन्दसुन्दरीगणैरनिन्द्यचन्दनानिले।
कलिन्दनन्दिनीतटे ननन्द नन्दनन्दनः।। 6, 211।।

2. प्रौढा (का लक्षण) जैसे–

वर्गों के अन्तिम वर्ण ङ् ञ् ण् न् म् और ट्, ठ्, ड् और ढ् को छोड़कर ऊपर

अस्यार्थः–प्रौढायां वृत्तौ वर्ग्याः कादयो यकारणकारौ चोपरिभागे रेफेण संयुक्ता भवन्ति ङञणनमान् टवर्गं च मुक्त्वा। तथा ककारपकाराभ्यामुपरिभागे तकारश्च संयुक्तो भवति कस्तयुक्तश्च[1]। यथा–

कार्याकार्यमनार्यैरुन्मार्गनिरर्गलै गलन्मतिभिः।
नाकर्ण्यते विकर्णै[2] र्युक्तिनियुक्तमुक्तमपि।। 251।।

विकर्णै र्जडैः। परुषालक्षणं तु प्रागुक्तम्। योग आद्यतृतीयाभ्यामिति। उदाहरणं तु मन्थायस्तेत्यादि[3] ।। 252।।

से रेफ से संयुक्त वर्गों के क्, ख्, ग् आदि वर्ण यकार, णकार, ककार और पकार से युक्त तकार तथा तकार से युक्त ककार प्रौढा वृत्ति में होते हैं।। 171-72।।

इसका यह अर्थ है–प्रौढा वृत्ति में कादि वर्ग के वर्ण (कवर्ग में रहने वाले क पूर्वक क्, ख, ग्, घ् वर्ण), वर्णों के भीतर क्, ख्, ग् कादि वर्ण, यकार णकार ऊपर भाग में रेफ से संयुक्त होते हैं और ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, और टवर्ग से मुक्त (छूटे) होते हैं और क्, प् के साथ ऊपर के भाग में तकार का संयोग होता है। इसी प्रकार ककार भी ऊर्ध्वभाग में तकार से युक्त होता है। जैसे–

कुपथ में स्वच्छन्द होकर चलने वाले, निर्बुद्धि और कानों से रहित (किसी की भी बात को न सुनने वाले) दुर्जनों के द्वारा युक्तियों से युक्त करके भी कहा गया कार्य और अकार्य (दुष्कृत्य) से सम्बन्ध रखने वाला वचन नहीं सुना जाता है।। 251।।

टि०–इस प्रौढा वृत्ति का लक्षण तथा उदाहरण इसी रूप में रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (2, 24-25) में मिलता है। 'कार्याकार्यम्' इत्यादि श्लोक में निरर्गलैर्गलन्' में गकार के ऊपर रकार, विकर्णैः में णकार के ऊपर रकार, कार्याकार्यमनार्यैः और नाकर्ण्यते में यकार के ऊपर र का संयोग तथा युक्तिनियुक्तमुक्तमपि में ककार से युक्त तकार होने से प्रौढा वृत्ति है।

(यहाँ इस उदाहरण में आये हुए) विकर्णैः का अर्थ जडैः (मूर्ख) है और

1. त; ज अ में नहीं
2. त; विकर्ण्यैः ज अ
3. ज अ; मन्थायस्तेत्यादि उदाहरणम् त

पूर्वोक्तमेव[1]।

ललिताभद्रयोर्लक्षणमाह–

ललितायां घधभरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्तः।। 172।।
परिशिष्टा भद्रायां पृथगथवा श्रव्यसंयुक्ताः।

अस्यार्थः–ललितायां वृत्तौ घकारधकारभकाररेफसकारा असंयुक्ता भवन्ति तथा लकारश्चासंयुक्तो भवति। भद्रायां तु वृत्तौ परिशिष्ट्या वृत्तिचतुष्टयोपयुक्तवर्णविशेषास्ते च पृथगसंयुक्ता भवन्ति। संयुक्ताश्चेत् श्रव्यैः श्रुतिसुखै र्योज्या इति। क्रमेण यथा–

---

3. परुषा वृत्ति का लक्षण योग आद्यतृतीयाभ्याम् कहकर पहले ही षष्ठ तरङ्ग में कहा जा चुका है।

टि०–परुषा का पूरा लक्षण इस प्रकार है–

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।

साहित्यसुधासिन्धु 6, 141–142

(इस परुषा वृत्ति का) उदाहरण तो 'मन्थायस्तार्णवाम्भः' इत्यादि (श्लोक 213 को उपस्थित करके षष्ठ तरङ्ग में) पहले ही कह दिया है।। 252।।

(अब ग्रन्थकार) 4. ललिता और 5. भद्रा के लक्षण को कहते हैं–

ललितावृत्ति में लघु घ, ध, भ, रेफ और सकार, अन्य वर्णों से असंयुक्त लकार होता है तथा भद्रा वृत्ति में शेष (अर्थात् पिछली चारों वृत्तियों में न गिनाये गये) वर्ण होते हैं। ये पृथक् (अर्थात् संयोग रहित–शुद्ध) हों अथवा (यदि असंयुक्त न रखकर संयुक्त वर्ण रखे जायें) संयुक्त हों तो कानों को सुख देने वाले अर्थात् श्रुतिमधुर होने चाहिए।। 172–73।।

इसका यह अर्थ है–ललिता वृत्ति में घकार, धकार, भकार, रेफ और सकार असंयुक्त होते हैं और लकार (अन्य वर्णों के साथ) असंयुक्त होता है और भद्रा वृत्ति में तो पिछली चार वृत्तियों के अनुरूप विशेष वर्णों के अतिरिक्त वर्ण (अर्थात् वृत्तियों में प्रयुक्त होने वाले वर्णों से बचे वर्ण प्रयुक्त) होते हैं ये वर्ण पृथक्– असंयुक्त (संयोग रहित) होते हैं। यदि ये वर्ण संयुक्त हों तो सुनने योग्य अर्थात् श्रुतिमधुर वर्णों (वाले पदों) की वहाँ योजना (प्रयोग) करनी चाहिए यह अभिप्राय है।

---

1. त; ज अ में नहीं

प्रागुदाहृतं ललितलवङ्गेत्यादि।। 253।।

तथा–

उत्कटकरिकरटतटस्फुटपाटनसुपटुकोटिभिः कुटिलैः।
खेलेऽपि[1] हि न खलु नखैरु[2]ल्लिखति हरिः खरैराखुम्।। 254।।

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः

पूर्वः छेकानुप्रासः। अनेकस्य सकृदावृत्तिः।

क्रम से (इन दोनों के उदाहरण) जैसे–'ललितलवङ्ग इत्यादि (ललितावृत्ति का) उदाहरण पहले (षष्ठ तरङ्ग में) दिया जा चुका है।। 253।।

टि०- ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।। 6, 214

यहाँ ल, और र इन असंयुक्त वर्णों का अनेक बार प्रयोग हुआ है इस कारण यहाँ ललिता वृत्ति है। ललिता और भद्रा इन दोनों वृत्तियों का यह लक्षण और यहाँ दिया हुआ वृत्तिभाग रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (2, 29) से लिया हुआ है।

और (भद्रावृत्ति का उदाहरण जैसे–)

हाथी के कठोर गण्डस्थल के उभरे भाग को स्पष्ट रूप से फाड़ने में अत्यन्त चतुर अग्रभाग वाले तेज नाखूनों से शेर खेल में भी चूहे को (खरोंच कर) नहीं कुरेदता है।। 254।।

टि०–यहाँ अन्योक्ति से यह बताया गया है कि बहुत बड़ा व्यक्ति बहुत छोटे व्यक्ति को हानि नही पहुँचाता है। यहाँ बतलाये हुए शुद्ध क, ट और ख पूर्वोक्त चारों वृत्तियों में प्रयुक्त नहीं किये जाते हैं।

वह (छेकानुप्रास) बहुत सारे व्यञ्जनों (के समूह) की एक बार आवृत्ति वाला होता है।

(कारिका में प्रयुक्त) पूर्व का अर्थ है छेकानुप्रास। अनेक वर्णसमूह की एक बार आवृत्ति (का उदाहरण)

---

1. ज अ; खेलत्यपि त
2. त; नखै ज अ

यथा-

पम्पासम्पातसुभगाश्चन्दनानन्दनन्दनाः ।
अनङ्गसङ्गर[1]श्रान्तिचौराश्चञ्चन्ति मारुताः।। 255।।

एकस्याप्यसकृत्परः।। 173।।

परो वृत्त्यनुप्रासः। यथा-

भूमिभूहृदयभूषणीभवन्-
नीलनीलमणिवामहारिणि।
रामनामनि गुणैकधामनि
श्यामधामनि मनोऽस्तु मामकम्।। 256।।

अपि शब्दादनेकस्यानेकवारमावृत्तिः।

जैसे-

पम्पा सरोवर नामक प्रपात से सुन्दर, चन्दनवृक्षों के (सम्पर्क से उत्पन्न) आनन्द से आनन्दित (हर्षित) करने वाली और कामदेव के सङ्ग्राम अर्थात् रतिक्रीडा के श्रम (थकावट) को हरने वाली (मलयाचल की) वायु (दक्षिणपवन-वसन्तवायु) चल रही हैं।। 255।।

टि०-यहाँ पम्पासम्पात में म्प् चन्दनानन्दनन्दनाः' में नन्द नन्द, 'अनङ्गसङ्गर' में अङ्ग इन अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

एक व्यञ्जन की भी बार बार आवृत्ति वाला दूसरा अनुप्रास वृत्त्यनुप्रास कहलाता है।। 173।।

जैसे-

पृथिवी से उत्पन्न होने वाली (पृथिवीकन्या) सीता के हृदय की आभूषण बनी हुई (उनकी प्रेमपात्र) नीली नीलमणि के सुन्दर हार से सुशोभित, गुणों की एकमात्र स्थान और राम नामक सांवली देह (वाले श्रीरामचन्द्र) में मेरा मन (लगा हुआ) रहे।। 256।।

टि०-यहाँ भ, न्, म् इन वर्णों में से प्रत्येक वर्ण की बार बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

(वृत्त्यनुप्रास के एकस्याप्यसकृत्परः इस विशेषण में प्रयुक्त) अपि शब्द से अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति (का ग्रहण होता) है।

---

1. ज अ; अनङ्गस्याति त

यथा–

उत्तरङ्गय कमललोचने लोचने कमलगर्वमोचने।
अस्तु सुन्दरि कलिन्दनन्दिनीवीचीडम्बरगभीरमम्बरम्।। 257।।

यथा वा–

यञ्चेव भाति पवनो मकरन्दवृन्दैः
स्नातोऽध्वनीनपशुभि र्मदनाग्निहोता।
आचान्त एष सुरतान्तनितान्तकान्त-
कान्तालकान्तविगलज्जलशीकरेण[1]।। 258।।

अत्रा[2]नुल्वणो ऽनुप्रासः श्रेयान्।

(अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति का उदाहरण) जैसे–

हे कमल के समान सुन्दर आँखों वाली सुन्दरी! कमलों के अभिमान को दूर करने वाले नेत्रों को उत्कम्पित करो (पलकें खोलकर अन्तरिक्ष की ओर अपने कटाक्ष फैंको) जिससे यह आकाश यमुना की तरङ्गों की शोभा के समान (नीली) शोभा से गहरा (नीला) हो जाय।। 257।।

टि०–यहाँ पर ओचने, न्द् और अम्बर इन अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से यह भी वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण है।

अथवा (वृत्त्यनुप्रास का और उदाहरण) जैसे–

पुष्परसों के समूहों से स्नान किया हुआ, (वियोगी) पथिक रूपी पशुओं से कामरूपी अग्नि में आहुति डालने वाला और सम्भोग के अन्त में अत्यन्त मनोहर सुन्दरियों के केशपाश के किनारों से बहकर गिरते हुए जलकणों से आचमन किया हुआ यह वायु यजमान की तरह सुशोभित हो रहा है।। 258।।

टि०–यहाँ इस श्लोक के पूर्वार्ध में व् द् इन दोनों वर्णों में से प्रत्येक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने से पहले प्रकार (एकस्यासकृत् आवृत्तिः) का वृत्त्यनुप्रास है। उत्तरार्ध में 'आन्त' इन अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति होने से दूसरे प्रकार का (अनेकस्यानेकवारमावृत्तिः) वृत्त्यनुप्रास है।

इन (अनुप्रासों) में अकठोर (कम मात्रा वाला–मसृण) अनुप्रास अधिक अच्छा रहता है।

---

1. ज अ; सीकरेण त
2. त; तत्रा ज अ

यथा–

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।। 259।।

उल्वणस्तु न श्रेयान्[1] स यथा–

हृष्यत्कृष्यासिपिष्टोत्कटकरटिघटाकुम्भकूटावटान्त-
निर्धूतासृक्तटिन्यास्तटनिकटनटत्कौणपाट्टाट्टहासा।
श्रीराम! त्वद्गुणक्ष्मा क्षतभटविकटोरःस्थलास्फोटकुप्यद्-
गृध्रौघत्रोटिकोटिप्रकटचटचटाशब्दरौद्राऽभवद् द्राक्।। 260।।

पादानुप्रासोऽपि पादयमकवत्।

जैसे–

ब्रह्मा के समान (पूजनीय) उस गुरु के द्वारा प्रेरित की गई, मस्त चकोर के नेत्रों के समान (नशीले) नेत्रों वाली और बड़े नितम्बभाग वाली उस दुलहिन ने शर्मीली होकर अग्नि में लाजाओं (खीलों) की आहुतियाँ छोड़ीं।। 259।।

और कठोर (या उत्कट) अनुप्रास अधिक अच्छा नहीं माना जाता है। वह (उल्वण अनुप्रास का उदाहरण) जैसे–

हे श्रीरामचन्द्र महाराज! तुम्हारे (शौर्य) गुण से संवलित यह पृथिवी बहुत जल्दी ही प्रसन्न तथा खींची हुई तलवार से पीसे गये (अर्थात् काटे गये या मारे गये) भयङ्कर हाथियों के समूहों के गण्डस्थलों के शिखर (अर्थात् कनपटियों) के गड्ढों के अन्दर से निकलती हुई खून की नदियों के किनारे के निकट नाचते हुए राक्षसों के ऊँचे ऊँचे स्वर वाले अट्टहास (को प्राप्त करने) वाली तथा घायल योद्धाओं के भयङ्कर वक्षःस्थल को तोड़ने वाले क्रुद्ध गीध पक्षियों के समूह की चोंचों के अग्रभागों से (प्रहार करने के द्वारा) प्रादुर्भूत होने वाले (हड्डियों के टूटने की आवाज़ के) चटचट शब्द से रौद्र (भयङ्कर) हो गई है।। 260।।

टि०–यहाँ ष्ट्, ओटि, चट इन अनेकों वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास तथा अट इस वर्णसमूह की अनेक बार एवं ट्, क्, र् इन वर्णों की अनेक

1. त; ज अ में नहीं

अयमेव लाटानुप्रास इत्यपरे। यथा[1]–

कविराजमविज्ञाय कुत: काव्यक्रियादर:।
कविराजं च विज्ञाय कुत: काव्यक्रियादर:।। 261।।

अथ यमकम्–

आनुपूर्व्या समानानामसमानार्थताजुषाम्।
आवृत्ति र्यदि वर्णानां वर्ण्यते यमकं तदा।। 174।।

जराराजेत्यादावतिव्याप्तिवारणायाद्यं विशेषणम्। लाटानुप्रासातिप्रसङ्ग-

---

बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है। किन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने रचना की दृष्टि से बहुत सारे कठोर वर्णों का प्रयोग होने के कारण इसे अच्छा नहीं कहा है और उल्वण अनुप्रास के उदाहरण के रूप में रखा है। वस्तुत: यदि रौद्र रस की दृष्टि से देखा जाय तो यह उदाहरण अनुचित नहीं प्रतीत होता।

III. पादानुप्रास भी पादयमक की तरह होता है।

टि०–जैसे एक पाद के पदों का यदि दूसरे पाद के पदों में दुबारा प्रयोग होता है तो वह पादयमक कहलाता है उसी प्रकार यदि एक पाद के वर्णसमूहों का दूसरे पाद में फिर से पुनरावर्तन होता है तो वह पादानुप्रास होता है।

यही लाटानुप्रास है ऐसा दूसरो आचार्य मानते हैं।

(पादानुप्रास का उदाहरण) जैसे–

कविराज (नामक महाकवि) को बिना जाने काव्यकर्म (काव्य के पठन और निर्माण) में कैसे आदर हो सकता है? तथा कविराज को जान लेने के बाद भी काव्यक्रिया में आदर कैसे सम्भव है।। 261।।

टि०–अभिप्राय यह है कि क्योंकि कविराज के काव्यग्रन्थ को पढ़े बिना तो कविता का स्वरूप ही ज्ञात नहीं हो पाता अत: कवितामात्र का ज्ञान न हो सकने के कारण कविता में रुचि नहीं हो सकती। परन्तु जब कविराज की कविता पढ़ लेते हैं तो अन्य कवियों की रचना में आनन्द नहीं आता।

3. यमक–इसके बाद यमक (का निरूपण) है।

एक जैसे स्वरूप और क्रम वाले तथा असमान (अर्थात् भिन्न भिन्न) अर्थों वाले वर्णों की यदि आवृत्ति होती है तो यमक होता है।। 174।।

---

1. ज अ; त में नहीं

वारणायापरम्[1]। विविधेत्यादेरेकवर्णयमकासम्मत[2]त्वात्तद्वारणायान्त्यं वर्णानामिति बहुवचनम्। समरतेऽमरतेजसि पार्थिव इत्यत्रार्थस्याप्रसिद्ध्याऽसमानार्थताजुषामिति-विशेषणाभावादव्याप्तिरिति न वाच्यम्, एकार्थप्रतिपादकत्वराहित्ये सतीत्यत्रैव तात्पर्यात्। एवं च[3] तद् गर्जितं गर्जितम् इत्याद्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये अतिव्याप्तिवारणाय मुख्यार्थाबाधे सतीति पूरणीयम्।

'जरा राज' इत्यादि (स्थल) में अतिव्याप्ति रोकने के लिए (आनुपूर्व्या) यह पहला विशेषण रखा है (इस कारण जरा राज में उसी स्वरूप और क्रम से वर्णों की आवृत्ति न होने से यमक नहीं है)।

लाटानुप्रास में अतिव्याप्ति हटाने के लिए दूसरा (अर्थात् असमानार्थताजुषाम् यह) विशेषण रखा है (लाटानुप्रास में एकार्थक पद होते हैं। किन्तु यमक में सार्थक पद होने पर भिन्नार्थकता होती है)। 'विविध' इत्यादि पदों में (वि) एक वर्ण वाला यमक अस्वीकार्य होने के कारण उसे (यमक का भेद बनने से) रोकने के लिए 'वर्णानाम्' (अनेक वर्णों की) यह बहुवचनान्त अन्तिम विशेषण रखा है (अर्थात् अनेक वर्णों की आवृत्ति होने पर ही यमक होता है एक वर्ण की आवृत्ति होने पर नहीं होता)।

(शङ्का) 'समरतेऽमरतेजसि पार्थिवः' इस स्थान पर अर्थसिद्धि न होने के कारण 'असमानार्थताजुषाम्' यह विशेषण नहीं लागू होता। इस कारण (पूर्वोक्त यमक के लक्षण की) अव्याप्ति हो जाएगी।

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है कि यमक के लक्षण में 'वर्णानाम्' का विशेषण 'असमानार्थताजुषाम्' बताया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सार्थक किन्तु भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति होने पर यमक होता है किन्तु 'समरतेऽमरतेजसि पार्थिवः' इस श्लोकांश में 'मरते' वर्णसमूह की आवृत्ति हुई है ऐसे स्थलों में यमक माना जाता है किन्तु यहाँ निरर्थक वर्णों की आवृत्ति है इस कारण 'असमानार्थताजुषाम् वर्णानाम् आवृत्तिः यमकम्' यह यमक का लक्षण यहाँ नहीं घटता।

इस प्रकार की (पूर्वपक्षी को) शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि ('असमानार्थताजुषाम्' विशेषण का अन्तर्गर्भित अर्थ यही है कि) यदि

---

1. त; लाटानुप्रासाप्रसङ्गवारणाय ज अ
2. ज त; यमकासङ्गतत्वात् अ
3. त; वर्णानामिति..........एवं च तक ज अ में नहीं

पादतद्भागवृत्तित्वाद् भिद्यते तदनेकधा।

पादयमकं यथा–

वहति यः परितः कनकस्थलीः स हरितालसमाननवांशुकः।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः।।262।।

सार्थकता हो तो एक अर्थ का प्रतिपादन न होने पर ही यमक होता है इसी बात के प्रतिपादन में ही हमारा तात्पर्य है।

टि०–सिद्धान्ती का कहना है कि यदि दोनों पद सार्थक हों तो दोनों का अर्थ भिन्न भिन्न होना चाहिए इसी अर्थ को बतलाने में हमारा तात्पर्य है। समरतेऽमरतेजसि पार्थिवः जैसे उदाहरणों में 'मरते' जैसे निरर्थक पदों की आवृत्ति में यमक मानने से कोई कठिनाई नहीं होगी। क्योंकि हमारा यह नियम सार्थक पदों के लिए ही है। उनमें भिन्नार्थता अवश्य होनी चाहिये। और दोनों पदों के निरर्थक होने पर वहाँ यमक मानने में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती इस कारण 'समरते' इत्यादि उदाहरणों में यमक का लक्षण लागू हो जाता है।

और इसी प्रकार 'तद्गर्जितं गर्जितम्' इत्यादि अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि के स्थलों में अतिव्याप्ति निवारण के लिए मुख्यार्थाबाधे सति (मुख्यार्थ का बाध न होने पर) यह विशेषण भी (यमक के लक्षण) में सम्मिलित कर लेना चाहिए।

टि०–यमक में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता है किन्तु तद् गर्जितं गर्जितम् में मुख्यार्थ का बाध होता है। इस कारण वहाँ यमकालङ्कार नहीं है और मुख्यार्थबाध होने से वहाँ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि का अवकाश माना जायेगा।

वह यमक पादवृत्ति (पाद में रहने वाला) होने से I. पादयमक और II. पादभागवृत्ति (पाद के एक अंश में रहने वाला) होने से अनेक प्रकार का होता है।

टि०–जब एक पाद के वर्णसमूह की दूसरे पाद के वर्णसमूह में आवृत्ति होती है तो पादयमक होता है। जब किसी एक पाद के कुछ टुकड़े की आवृत्ति दूसरे पाद में होती है तो पादभागवृत्तियमक हो जाता है।

पादयमक (का उदाहरण) जैसे–

जो अपने चारों ओर स्वर्णभूमियों को धारण करता है पीले रङ्ग के कबूतर के समान नई कान्ति वाला वह यह पर्वत पीली हल्दी से शोभित होने वाले नये नये कपड़े वाले आपके समान शोभित हो रहा है।।262।।

पादार्धयमकं यथा[1]–

सपदि कृतपदस्त्वदीक्षितेन स्मितशुचिना स्मरतत्त्वदीक्षितेन।
भवति बत जनः सचित्तदाहो न खलु कुत एव तस्य चित्तदाहः।। 263।।

एवमर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिरुदाहार्या[2]।

एतस्य बहवो भेदा अत्यन्तमनुपयुक्तत्वादुपेक्षिताः। केचित्त्वक्षरयमकमेकाक्षरमनेकाक्षरं चेति[3] स्वीकुर्वन्ति[4]।

टि०–हरिताल पीले कबूतर को कहते हैं और हरिता हल्दी का नाम है। यहाँ द्वितीय पाद के वर्णों की चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से पादयमक है।

(पादार्धयमक का उदाहरण) जैसे–

बड़ा आश्चर्य है–मुस्कुराहट के कारण शृङ्गाररसपूर्ण, कामदेव की तत्त्वभरी बातों से शिक्षित (अर्थात् कामदेव को भड़काने की विद्या को जानने वाले) तुम्हारे कटाक्ष के द्वारा स्थान बनाया गया (अवलोकित कोई भी) व्यक्ति (सुधबुध खोकर) उस चेतनता के दाह (विनाश) से युक्त हो जाता है। फिर निश्चय ही उसका चित्तदाह (दिल का जलना) क्यों नहीं हो?।। 263।।

टि०–यहाँ पर पहले त्वदीक्षितेन वर्णसमूह की पहले और दूसरे पाद में आवृत्ति है। तीसरे और चौथे पाद में 'चित्तदाह की आवृत्ति है और अर्थभिन्नता भी है। इसलिए ये दोनों स्थल पादार्धयमक के उदाहरण हैं।

इसी प्रकार III. अर्धावृत्ति–आधे श्लोक की आवृत्ति और IV. पूरे श्लोक की आवृत्ति का उदाहरण दिया जाना चाहिए।

इसके बहुत सारे भेद हैं किन्तु वे (रसपोषक न होने से गलगड्डुक के समान) अत्यन्त अनुपयोगी होने के कारण यहाँ उपेक्षित कर दिये गये हैं (इसी कारण यहाँ उनके उदाहरण भी नहीं दिखाये हैं)।

कुछ आचार्य V. अक्षरयमक को एकाक्षरयमक और अनेकाक्षरयमक इन दो भेदों में मानते हैं।

---

1. ज अ; वहति..........पादार्धयमकं यथा इतना अंश त में नहीं
2. ज अ; वृत्तिर्वोदाहार्या त
3. ज अ;..........च त
4. ज त; स्वीकुर्वन्तीति ज अ

तदुदाह्रियते–

नानाविधेन कान्ताभ्रूराराधितमनोभुवा।
विविक्तेन विलासेन ततक्ष हृदयं नृणाम्।। 264।।

अनेकाक्षरं स्वयमुत्प्रेक्ष्यम्।

शृङ्खलादिकृताद् बन्धाद्[1] यमकं शोभतेतराम्।। 175।।

आदिपदात्परिवर्तकपरिग्रहः।

अखण्डवर्णविन्यासचलनं शृङ्खला मता।
अनेन खलु भङ्गेन यमकानां विचित्रता।। 176।।

स यथा–

तन्नास्ति नगरं यच्च नाग्रहारविराजितम्।
न वक्षः सुन्दरीणां तन्नाग्रहारविराजितम्।। 265।।

उस एकाक्षरयमक का उदाहरण दिया जाता है–

कामदेव को प्रसन्न करने वाले, अनेक प्रकार के और उज्ज्वल (अर्थात् भड़कीली) रतिचेष्य (अदा) के मनोरञ्जन से उस सुन्दरी की भौंह ने मनुष्यों के हृदय को काट दिया (अर्थात् उनके दिल को घायल कर दिया) ।।264।।

टि०–यहाँ नाना पद में ना, ना और ततक्ष में त, त अलग अलग वर्ण निरर्थक हैं। इस कारण यहाँ एकाक्षरयमक है। विध, और क्ष से मिलकर ही इनकी सार्थकता होती है। इस प्रकार सार्थक होने से अनुप्रास से भेद हो जाता है।

अनेकाक्षरयमक के उदाहरणों को स्वयं सोचकर समझ लेना चाहिए।

VI. शृङ्खलाबन्ध यमक– जंजीर आदि की तरह बनाई गई अर्थात् एक पद के साथ दूसरे पद को जोड़ने से बनने वाली रचना से बना हुआ यमक बहुत अधिक शोभा देता है।। 175।।

आदि पद से परिवर्तकयमक का ग्रहण है।

शृङ्खला–अखण्डित वर्णों की रचना का चलना शृङ्खला कहलाता है। इस प्रकार की रचना से यमकों के अन्दर विचित्रता आ जाती है।। 176।।

वह जैसे–

(उस देश में) वह नगर नहीं है जो अग्रहार (ब्राह्मणों को दान में दी गई–उपवन, बावड़ी, कूपादि से युक्त सुन्दर और रम्य भूमि के खण्ड) से शोभित न हो और (वहाँ) सुन्दरियों (रूपसियों) का वह वक्षःस्थल नहीं है जो श्रेष्ठ हारों से सुशोभित न हो।। 265।।

---

1. त; भङ्गाद् ज अ

यदन्यसङ्गमुत्सृज्य नेपथ्यमिव नर्तकः।
शब्दस्वरूपमारोहेत् स ज्ञेयः परिवर्तकः।। 177।।

यथा–

असज्जनवचो यस्य कलिकामधुगर्हितम्।
तस्य न स्याद् विषतरोः कलिकामधुगर्हितम्।। 266।।

अथ श्लेषः-

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसन्धि।
युगपदनेकवाक्यं यत्र विधीयते स श्लेषः।। 178।।

टि०–यहाँ पूर्वार्ध में प्रयुक्त नाग्रहारविराजितम् तथा उत्तरार्ध में प्रयुक्त नाग्रहारविराजितम् इन भिन्नार्थक सार्थक पदों की आवृत्ति हुई है। ये पद सारे श्लोक को शृङ्खला की तरह बाँधे हुए हैं।

VII परिवर्तकयमक–अपनी एक वेशभूषा को छोड़कर दूसरी का ग्रहण करने वाले नर्तक के समान जो एक को छोड़कर दूसरे शब्दस्वरूप को धारण करे वह परिवर्तक जानना चाहिए।। 177।।

जैसे–

झगड़े की कामना को बढ़ाने वाला (अर्थात् पारस्परिक उपद्रव का प्रेरक) दुष्ट व्यक्ति का वचन जिस (भले आदमी) को आदरणीय हो जाय उसके लिए विषवृक्ष की कलिका का मकरन्द निन्दित अर्थात् हानिकारक नहीं होगा। 266।।

टि०–जो व्यक्ति दुर्जन के दुर्वचन को सह लेता है उसके लिए विषवृक्ष के ज़हर को सहन कर लेना आसान है। दुष्ट के दुर्वचनों का प्रभाव विषवृक्ष के रस से भी अधिक उग्र है। यहाँ द्वितीय पाद में जो कलिकामधुगर्हितम् पद प्रयुक्त हुए हैं वह चतुर्थ पाद में अर्थ की अपेक्षा से नये पदों के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। द्वितीय पाद में रखे हुए कलिकामधुगर्हितम् की रचना कलि+कामधुक्+अर्हितम् इन पदों के रखने से बनी है और चतुर्थ पाद में प्रयुक्त इस पदसमूह की रचना कलिका+मधु+गर्हितम् इन पदों के द्वारा निष्पन्न हुई है।

इसके बाद 4. श्लेष (का निरूपण किया जाता है)–

अर्थ बताने में समर्थ अर्थात् सार्थक, अच्छी तरह मिले हुए, क्लिष्टता

तदर्थोऽपि–शिलष्टविशेष्यकवाचकपदमहिम्ना शिलष्टविशेषणैरेव यत्रापरार्थप्रतीतिः स श्लेष इति। आद्यविशेषणात् समासोक्तौ न प्रसङ्गः।

ननु धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायादर्थान्तरे व्यञ्जनैव किं न स्यादिति चेत्, उच्यते। द्वयोरप्यर्थयोः प्रकरणादिनियामकसत्त्वे[1] नियामकविरहे वा

(कष्ट कल्पना) के दोष से रहित, नाना प्रकार के (सुबन्त और तिङन्त) पदों की सन्धि वाले, एक साथ एक ही समय अनेक वाक्यों की जहाँ रचना की जाती है वह श्लेष कहलाता है।। 178।।

टि०–रुद्रट के काव्यालङ्कार (4,1) में यह कारिका दी हुई है।

इसका यह भी अर्थ अर्थात् परिनिष्ठित लक्षण है–

श्लेषयुक्त विशेष्यभूत वाचक पदों की महिमा से (साथ ही) श्लेषयुक्त विशेषणों से ही जहाँ पर दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वह श्लेष है इस प्रकार (समझना चाहिए)। पहले (शिलष्टविशेष्यकवाचकपदमहिम्ना इस) विशेषण से (इस श्लेष के लक्षण का) समासोक्ति अलङ्कार के लक्षण में अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) नहीं होता।

टि०–श्लेषालङ्कार में विशेषण और विशेष्य दोनों ही शिलष्ट होते हैं। जैसे–

प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः।।

सा०द० 10, 58 वृत्तिभाग

यहाँ साध्वीः क्रियाः आदि विशेषण और विभाकरः यह विशेष्य दोनों ही शिलष्ट हैं जबकि समासोक्ति में केवल विशेषण पद ही शिलष्ट होते हैं विशेष्य पद शिलष्ट नहीं होते जैसे–

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः।।

काव्यप्रकाश 9, 383 वृत्तिभाग

इस श्लोक में विशेष्य रूप से आये हुए सन्ध्या और दिवसः पद शिलष्ट नहीं हैं केवल अनुरागवती और पुरस्सर यही दो विशेषण पद शिलष्ट हैं।

1. ज अ; नियमसत्त्वे त

विनिगमनाविरहेणाहमहमिकतया अभिधाया अवारितप्रसरात्[1] प्रथमचरमभावे तेषां कलहं कः समादध्यात्? कुत्राभिधा कुत्र व्यञ्जनेति विनिगन्तु[2] मशक्यत्वाच्च। तस्माद् यत्रैकत्रैव प्रकरणादिकं तत्रापरार्थे व्यञ्जना यत्र चोभयार्थकं[3] प्रकरणादिकं तदभावो वा तत्र श्लेष इति निष्कर्षः।

(शङ्का) धर्मी की कल्पना की अपेक्षा धर्म की कल्पना करने में लाघव होता है–इस नियम से दूसरे अर्थ (के ज्ञान में) व्यञ्जना ही क्यों नहीं मान ली जाय?

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है–श्लेष में दो अर्थ होते हैं। ये दोनों अर्थात् पहला अर्थ तथा दूसरा अर्थ इन्हीं धर्मियों (शब्दों) से आ जाते हैं यह मानने की अपेक्षा इन शब्दों में रहने वाले धर्म व्यञ्जना व्यापार से ही उस अर्थ का ज्ञान होता है ऐसा मानने में लाघव होता है इसलिये दूसरे अर्थ का ज्ञान व्यञ्जना से मान लेना चाहिए।

यदि (पूर्वपक्षी की ओर से ऐसी) शङ्का की जाय तो (हमारी ओर से) यह कहा जाता है। (श्लेष में प्रतीत होने वाले) दोनों अर्थों के प्रकरण आदि के नियामक होने पर अथवा प्रकरणादि के नियामक (एकार्थ में प्रतिबन्धक) न रहने पर अनुकूल तर्क न होने पर 'अहं पूर्वम् अहं पूर्वम्' इस रीति से आने वाले इन अर्थों में निर्बाधप्रसार होने से पहले पहला अर्थ आया है और बाद में दूसरा (अन्त में ज्ञात होने वाला) अर्थ आया है–इस प्रकार के पूर्वापर अर्थ में उनकी कलह का कौन समाधान करेगा? और (जब अभिधा से ही दोनों अर्थ एककालावच्छेद से प्रतीत हो रहे होते हैं तो) कौन से अर्थ में यहाँ अभिधा है और कौन से अर्थ में व्यञ्जना है यह जानना अशक्य अर्थात् असम्भव होने से दूसरे अर्थ में व्यञ्जना नहीं मानी जा सकती। इसलिए जहाँ एक अर्थ प्रकरणादि के कारण अभिधा से ज्ञात होता है वहाँ दूसरे अर्थ में व्यञ्जना होती है और जहाँ प्रकरणादि उभयार्थक हैं अर्थात् प्रकरण से ही दोनों अर्थों की प्राप्ति हो रही होती है अथवा प्रकरणादियों का अभाव होने पर भी समानकोटिक दोनों अर्थ आ रहे होते हैं वहाँ पर श्लेष होता है यह सारांश है।

---

1. ज अ; अवारितप्रसरत्वेन त
2. ज अ; नियन्तुम्........त
3. अ;.......चोभयार्थं ज; यत्रोभयार्थं त

वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अत्रायं मतिमद्भि र्विधीयमानोऽष्टधा भवति।। 179।।

अत्रेति शब्दालङ्कारे। अत्र केचित्–पदग्रहणेन लिङ्गग्रहणं प्रत्ययग्रहणेन[1] च विभक्तिवचन[2]ग्रहणमिति कथमष्टधा श्लेष इति वदन्ति। तन्न चारु। तथाहि–हारो मुक्ताकलापो हरस्यायं हार इति पदश्लेषेऽपि लिङ्गश्लेषो न विद्यते सर्वत्र पुंल्लिङ्गत्वात्।

श्लेष के भेद– यहाँ इस शब्दालङ्कार श्लेष के ये भेद हैं– 1. वर्ण 2. पद, 3. लिङ्ग, 4. भाषा, 5. प्रकृति, 6. प्रत्यय 7. विभक्ति और 8. वचन इन सबके कारण बुद्धिमानों के द्वारा बनाया गया यह श्लेषालङ्कार आठ प्रकार का होता है।। 179।।

कारिका में आये हुए इस अत्र शब्द का अर्थ है–इस शब्दालङ्कारभेद में (अगले आठवें तरङ्ग में अर्थश्लेष का निरूपण किया जायेगा। यहाँ पहले शब्दश्लेष का निरूपण है)। इस (शब्दश्लेष के विषय) में कुछ विद्वान् (श्लेष के इन भेदों में) पद के ग्रहण से लिङ्ग का ग्रहण हो जाता है और प्रत्यय के ग्रहण से विभक्ति और वचन का उपादान हो जाता है–इस प्रकार यह श्लेष आठ प्रकार का कैसे हो सकता है? यह कहते हैं।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय यह है कि पदश्लेष में लिङ्गश्लेष और प्रत्ययश्लेष में विभक्ति श्लेष और वचन श्लेष का अन्तर्भाव होने से श्लेष के आठ भेद न होकर पाँच ही भेद क्यों नहीं मान लेने चाहिए?

(सिद्धान्ती का कहना है कि इन आचार्यों का) यह मत सुन्दर नहीं है। इस बात को इस रूप में समझाया जा सकता है–जैसे हारः पद का अर्थ है मोतियों का समूह और 'हरस्यायं हारः' कहकर दूसरा अर्थ होगा महादेव से सम्बन्धित वस्तु (इस प्रकार) यहाँ पदश्लेष के होने पर भी लिङ्गश्लेष नहीं है क्योंकि सब जगह अर्थात् इन दोनों ही स्थानों में हार शब्द (समान रूप से) पुंल्लिङ्ग ही है)।

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है कि पदश्लेष होने पर लिङ्गश्लेष स्वतः हो जाता है। फलतः इन दोनों भेदों को पृथक् पृथक् न मानकर एक ही मानना चाहिए किन्तु सिद्धान्ती ने यहाँ उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि पदश्लेष होने पर लिङ्गश्लेष ही हो यह जरूरी नही है। इसलिये इन दोनों की स्थिति अलग अलग ही माननी चाहिये।

---

1. त; प्रत्ययेन अ ज।
2. ज अ; विभक्तिग्रहणम् त

मित्रोदय इत्यत्र मित्रं सुहृत्, मित्रः सूर्य इति (लिङ्ग)[1] श्लेषेऽपि पदश्लेषाभावात्[2] तथा पद्मयोनिरित्यत्र पद्मं कमलं पद्मा श्रीरिति लिङ्गश्लेषेऽपि पदश्लेषाभावात्।[3] तथा तापन इत्यत्र तपनस्यायं तापन[4]स्तापयतीति वा तापन इत्यादिषु प्रत्ययभेदेऽपि विभक्तिवचनभेदो

'मित्रोदय' इस प्रयोग में मित्रम् (इस रूप में नपुंसकलिङ्ग मानने पर) सुहृत् (दोस्त अर्थ) और मित्रः (इस रूप में पुंल्लिङ्ग मानने पर) सूर्य (यह अर्थ होता है) इस कारण (लिङ्गश्लेष तो यहाँ बन गया है। परन्तु इस) लिङ्गश्लेष के होने पर भी पदश्लेष का अभाव ही रहेगा (क्योंकि पद तो मित्रोदय इस रूप में है मित्रम् अथवा मित्रः इस रूप में नहीं है। इस कारण पदश्लेष में लिङ्गश्लेष अन्तर्भूत नहीं हो सकता)।

टि०–इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि पदश्लेष और लिङ्गश्लेष इन दोनों का साथ साथ रहना अनिवार्य नहीं है। यह जरूरी नही है कि जहाँ पदश्लेष हो वहाँ लिङ्गश्लेष हो और जहाँ लिङ्गश्लेष हो वहाँ पदश्लेष हो क्योंकि यह दोनों श्लेष अकेले अकेले भी हो सकते हैं।

और पद्मयोनि इस पद में पद्म का अर्थ कमल और पद्मा का अर्थ लक्ष्मी है। यहाँ पर लिङ्गश्लेष होने पर भी पदश्लेष का अभाव ही रहेगा (क्योंकि पद्मयोनि एक ही पद है)।

टि०–इस प्रकार हार वाले उदाहरण में केवल पदश्लेष है लिङ्गश्लेष नहीं है और पद्मयोनि में केवल लिङ्गश्लेष है पदश्लेष नहीं है। इनका परस्पर अन्वयव्यतिरेक न बन पाने से यह सिद्ध हो जाता है कि पदश्लेष में लिङ्गश्लेष अन्तर्भूत नहीं होता। इस कारण इन दोनों की पृथक् पृथक् स्थिति होने से इन भेदों का पृथक् पृथक् उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है।

और 'तापनः' इस स्थल पर 'तपनस्यायम्' यह सूर्य का है (इसलिए) तापन है अथवा जो तपाता है वह तापन है। यहाँ (पहले तापन में तपन+अण् तथा दूसरे तापन में तप्+णिच्+ल्युट् इस रूप में) तथा ऐसी और जगह प्रत्ययों के भेद होने पर भी विभक्ति और वचन में भेद नहीं है।

---

1. संशोधित; ज अ त में नहीं
2. मित्रोदय.........पदश्लेषाभावात् त; ज अ में नहीं
3. पद्म.......श्लेषाभावात् ज अ; त में नहीं
4. ज अ; त में नहीं

न विद्यते[1]। एवं विभक्तावप्यन्ये वचनमन्तर्भावयन्ति। तदपि न, (सन्मुख्य इत्यत्र) सतां मुख्यः पुरःसरः, सत् शोभनं मुखं यासां ताः सन्मुख्य इति वचनभेदेऽपि विभक्तिभेदाभावात्। यथाक्रमेण[2] लक्षणोदाहरणानि।

यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादैक्यरूप्यमापतति।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विज्ञेयः।।180।।

यथा[3]–

कपालपाणिरेकाकी भिक्षाचारी दिगम्बरः।
ईशोऽपि कालकूटाशी मूर्ध्नि वक्रे विधौ स्थिते।।267।।

टि०–पूर्वपक्षी ने पहले कहा है कि प्रत्यय के ग्रहण अर्थात् उसके नामोल्लेख से विभक्ति और वचन का ग्रहण हो जाता है और इस कारण ये दोनों भेद भी प्रत्यय के भीतर ही अन्तर्भूत हो सकते हैं। इसके उत्तर में यहाँ सिद्धान्ती ने यह बताया है कि प्रत्यय का विभक्ति और वचन के साथ अन्वयव्यतिरेक न बनने के कारण प्रत्यय, विभक्ति और वचन इन तीनों प्रकार के श्लेषों की स्थिति पृथक् पृथक् ही माननी चाहिए।

और इसी प्रकार दूसरे आचार्य विभक्ति में भी वचनों का अन्तर्भाव मान लेते हैं। वह भी ठीक नहीं क्योंकि सन्मुख्यः इस शब्द में सतां मुख्यः प्रधानः पुरःसरः (अग्रणी एवं सज्जनों में प्रमुख) और जिनका मुख सुन्दर है ऐसी सुन्दरियाँ यह भी दूसरा अर्थ है यहाँ पर वचन का भेद होने पर भी विभक्ति के भेद का अभाव है।

क्रम के अनुसार लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं–

I. वर्णश्लेष–जहाँ विभक्ति, प्रत्यय और वर्ण के कारण अनेक प्रकार के वर्णों में एकरूपता (साम्य) आ जाती है उसे वर्णश्लेष जानना चाहिए।।180।।

(वर्णों के श्लेष का उदाहरण) जैसे–

(पहला विधुपरक अर्थ) सिर के ऊपर वक्र विधु अर्थात् अमङ्गलकारक बालचन्द्र के विराजमान होने पर सबके स्वामी महादेव भी हाथ में नरमुण्ड (को धारण करने) वाले, अकेले, भिक्षा के लिए भ्रमण करने वाले और दिशा रूपी वस्त्रों को धारण करने वाले (अर्थात् नंग धड़ंग होकर घूमने वाले) और कालकूट अर्थात् हालाहल नामक अत्यन्त भयङ्कर विष के भक्षण करने वाले हो जाते हैं।

---

1. त;......भेदा न विद्यन्ते ज अ
2. संशोधित, ज अ त में नहीं
3. ज अ; क्रमेण त

यस्मिन् विभक्तियोगः समासयोगश्च जायते विविधः।
पदभङ्गेषु विविक्तो विज्ञेयोऽसौ पदश्लेषः।। 181।।

यथा–

ते कौपीनधनास्त एव हि परं धात्रीफलं भुञ्जते
तेषां द्वारि नदन्ति वाजिनिवहास्तैरेव लब्धा क्षितिः।

(दूसरा विधिपरक अर्थ) अपने विधि अर्थात् भाग्य के विपरीत होने पर अत्यन्त सामर्थ्यवान् पुरुष भी खप्पर हाथ में लिए हुए (अत्यन्त दरिद्र) अकेले (सहयोगियों से रहित), भीख माँगकर अपना गुज़ारा करने वाले, नग्न (अत्यन्त अभावग्रस्त) यहाँ तक कि कपड़ों को भी न जुटा पाने वाले) और प्राणघातक विषभक्षण (करने के कारण अपने प्राणों के प्रति मोह न) करने वाले हो जाते हैं।। 267।।

टि०–यहाँ 'विधौ' इस पद में विधु (चन्द्रमा) और विधि (भाग्य) शब्दों के अन्तिम वर्ण (उकार और इकार) सप्तमी विभक्ति में आकर औकार के रूप में आ गये हैं। अतः इन दोनों वर्णों में एकरूपता के कारण यहाँ वर्णश्लेष है।

II. पदश्लेष–जिसमें पदों के भङ्गों के होने पर (पदों को तोड़ तोड़ कर अर्थ करने पर) अलग अलग नाना प्रकार के विभक्तिसम्बन्ध और समाससम्बन्ध हो जाते हैं उसे पदश्लेष समझना चाहिए।। 181।।

(पदश्लेष का उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्!) रुष्ट अथवा सन्तुष्ट परमशक्तिशाली तथा परमैश्वर्यवान् आपने जिन लोगों को देख लिया है–

1. रुष्ट होने पर आपके द्वारा देखे गये वे लंगोटीमात्र धन वाले ही (अर्थात्–निर्धन हो जाते हैं और वे ही खाने को कुछ न मिलने के कारण) प्रायशः आँवलों को खाने लगते हैं। अथवा उनके दरवाजे पर बकरी पालने वाले (अर्थात् उन जैसे दरिद्र लोग) शोर मचाते हैं, उन्हें पृथिवी ही मिलती है (वे पृथ्वी पर ही सोते हैं) और उन्होंने अपना यह कुल मलिन बना लिया है (अवनत होने के कारण उनके खानदान की प्रतिष्ठा गिर गई है)।

तैरेतत्समलङ्कृतं निजकुलं किं वा बहु ब्रूमहे
ये दृष्ट्याः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा।। 268।।

अत्रोभयत्र[1] प्रकरणाद्यभावात् श्लेषत्वम्।

स्त्रीपुन्नपुंसकानां शब्दानां भवति[2] यत्र सारूप्यम्।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः।। 182।।

इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में बहुत अधिक क्या कहा जाय (यह सब उन लोगों से रुष्ट होने का दुष्परिणाम है)।

2. और (आपके द्वारा सन्तुष्ट होकर देखे गये) वे लोग इस भूमि पर प्रचुर सम्पत्ति वाले हो जाते हैं वे ही पृथिवी (की धनसम्पदा एवं नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ रूप) फल का उपभोग करते हैं, उनके दरवाज़े पर घोड़ों के समूह हिनहिनाते हैं, उनको ही पृथिवी प्राप्त हो जाती है (वे भूमि के स्वामी बन जाते हैं) और उन्होंने अपना यह कुल भूषित कर लिया है। इससे अधिक हम उनके सम्बन्ध में क्या कहें (यह सब उनके प्रति तुम्हारी कृपादृष्टि का सुपरिणाम है)।। 168।।

टि०–यहाँ 'कौपीनधनाः' पद में कौपीनम् एव धनं येषां कौपीन ही है धन जिनका यह अर्थ करने पर पदों के भिन्न होने पर भिन्नसमास वाला एक रूप बनता है फिर कौ (भुवि) पीनं धनं येषां ते पीनधनाः इस प्रकार से पदों को तोड़कर रखने पर भिन्नसमास वाला और भिन्नविभक्ति वाला रूप बनता है। 'कौ' यह सप्तमीविभक्त्यन्त पद है। निजकुलं के विशेषण समलङ्कृतम् पद का रुष्टि वाले अर्थ में मलेन सहितं समलं तादृशं कृतम् समलङ्कृतम् इस तरह भिन्नविभक्ति के साथ सम्बन्ध है और तुष्टि वाले अर्थ में सम्+अलङ्कृतम्=समलङ्कृतम् में पद को तोड़ना नही पड़ता है।

यहाँ इन दोनों अर्थों में प्रकरणादि का अभाव होने से (एक अर्थ के अभिधा से नियन्त्रित हो जाने पर दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से नहीं हो रही है। इस कारण दूसरा अर्थ भी अभिधा से ही प्रतीत हो रहा है इसलिए) श्लेषालङ्कार ही है।

III. लिङ्गश्लेष–स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग वाले शब्दों के

---

1. त; उभयार्थे ज अ
2. ज अ; भवति शब्दानां त

यथा–

लोचने रूपसम्पत्तिस्तस्याः पद्मानुकारिणी।
भ्रूलते किञ्च कबरी सुमनोहारिणी सदा।। 269।।

अत्र नपुंसकलिङ्गस्त्रीलिङ्गश्लेषः[1]।

(यथा वा)[2]

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।

भीतर (मात्रा के) ह्रस्वत्व, दीर्घत्व और समास होने के कारण जहाँ (एक जैसे शब्दों के होने रूप) समानरूपता होती है वहाँ वह श्लेष लिङ्गश्लेष समझना चाहिए।।182।।

टि०–'लघुदीर्घत्वसमासैः' का अभिप्राय है–लघुत्व, दीर्घत्व और समास होने से। यह लक्षण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (4, 8) में दिया हुआ है।

जैसे–

उस (सुन्दरी) के नेत्र और सौन्दर्यसम्पदा–ये दोनों ही कमलों का अनुवर्तन करने वाली हैं अर्थात् दोनों ही कमल जैसी हैं और इसके अतिरिक्त उसकी सुन्दर भौहें और कबरी (केशपाश–जूड़ा) ये दोनों भी सदैव मन को अच्छी तरह आकर्षित करने वाली (मन को भली लगने वाली–सुन्दर) हैं।

यहाँ नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में श्लेष है।। 269।।

टि०–पद्मानुकारिणी शब्द जब लोचने का विशेषण बनता है तो यह नपुंसकलिङ्ग के द्विवचन के रूप में सामने आता है किन्तु जब यह रूपसम्पत्ति का विशेषण बनेगा तो यह स्त्रीलिङ्ग में एक वचन माना जायेगा। इस प्रकार यहाँ नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्व इकार के रूप में प्रयुक्त इस शब्द को दीर्घ ईकार का रूप मिल जाता है क्योंकि पद्मानुकारि, पद्मानुकारिणी, पद्मानुकारीणि ऐसे रूप बनते हैं। इस कारण यहाँ लिङ्गश्लेष है। इसी तरह सुमनोहारिणी पद जब भ्रूलते का विशेषण बनता है तो यह नपुंसकलिङ्ग का द्विवचन माना जायेगा किन्तु जब कबरी का विशेषण बनेगा तो यह स्त्रीलिङ्ग में एकवचन माना जायेगा। इस भाँति यहाँ भी नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में श्लेष बनता है और लिङ्गश्लेष के साथ ही साथ वचनश्लेष भी है।

---

1. अ त; यथा–लोचने........श्लेषः यह ज में नहीं
2. संशोधित; ज अ त में नहीं

लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।। 270।।

अयमेव वचनश्लेषोऽपि।[1]

(अथवा दूसरा और उदाहरण जैसे)–

1. नेत्रपक्ष (ईश्वर के विषय में परानुरक्ति रूप) भक्ति से नम्र हुए (भक्तजनों) को (कृपापूर्वक) देखने के लिए अनुरागयुक्त, नीलकमलों के साथ मुकाबला करने वाले (उनके सदृश सुन्दर), हित (रूप मोक्ष) की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ योगियों के द्वारा (अपने) ध्यान के विषय बनाये हुए, (अपरिमित) सौन्दर्य के बड़े भण्डार और (अपनी पत्नी) लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाले भगवान् विष्णु के दोनों नेत्र तुम्हारे भवजन्य कष्टों को शान्त करें।

2. तनुपक्ष–भक्ति से नम्र अर्थात् विनीत भक्तजनों से अनुरागपूर्वक देखी गई, (रंग तथा सौन्दर्य दोनों में) नीलकमलों के साथ स्पर्धा करने वाली (नीलकमलों के सदृश) अभीष्ट सिद्धि के लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा ध्यान का विषय बनाई गई (अर्थात् उनके द्वारा बार बार ध्यानपूर्वक चिन्तन की गई) सौन्दर्य की बहुत बड़ी आगारभूत और लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाली विष्णु की देह (लता) तुम्हारी सांसारिक पीडा का नाश करे।। 270।।

टि०–इस श्लोक में लिङ्गश्लेष है। इसके चतुर्थ चरण में 'हरेः नेत्रे तनुर्वा युष्माकं भवार्तिशमनं कुरुताम्' यह मुख्य वाक्य है–विष्णु के नेत्र कष्ट दूर करें अथवा उनका शरीर तुम्हारे संसार के दुःखों का नाश करे यह इसका अर्थ है। शेष तीन चरणों में उन 'नेत्रे' तथा 'तनुः' के विशेषण हैं। इनमें से नेत्रे 'यह नपुंसकलिङ्ग' नेत्र शब्द का प्रथमा विभक्ति के द्विवचन का रूप है और 'तनुः' यह स्त्रीलिङ्ग 'तनु' शब्द का प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। ये दोनों ही इस वाक्य के कर्तृपद हैं। शेष तीनों चरणों में जो विशेषण दिए गए हैं वे एक बार नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा के द्विवचन के रूप में और दूसरी बार स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन के रूप में अन्वित होते हैं। इसलिए यह लिङ्गश्लेष का उदाहरण तो है ही, साथ ही यह वचनश्लेष का भी उदाहरण है। 'कुरुताम्' इस पद में आत्मनेपद तथा परस्मैपद का भी श्लेष है। 'नेत्रे' इस द्विवचनान्त कर्ता के साथ अन्वित होने पर 'कुरुताम्' यह पद परस्मैपद में कृञ्

---

1. त; ज अ में नहीं।

यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाणि।
वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः[1]।। 183।।

(यथा)[2]

इह हि नववसन्ते मञ्जरीपुञ्जरेणु-
च्छुरणधवलदेहा बद्धहेलं सरन्ति।
तरलमलिसमूहा हारिहुङ्कारिकण्ठा
बहुलपरिमलालीसुन्दरं सिन्दुवारम्।। 271।।

अयमखण्डो भाषाश्लेषः।

धातु के प्रथमपुरुष के द्विवचन का रूप होता है और 'तनुः' इस एकवचनान्त कर्ता के साथ अन्वित होने पर यह आत्मनेपद के प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप होता है। इस प्रकार इस एक उदाहरण में अनेक प्रकार के श्लेष पाये जाते हैं। यहाँ यह लिङ्गश्लेष और वचनश्लेष दोनों के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है जैसाकि इस श्लोक के तुरन्त बाद में लिखी गई पङ्क्ति से स्पष्ट हो रहा है। लिङ्गश्लेष का यह उदाहरण काव्यप्रकाश (7, 372) में भी दिया हुआ है। यहाँ स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी आदि एकवचनान्त पद नपुंसकलिङ्ग में दीर्घ ईकारान्त रूप होकर लिङ्गश्लेष और वचनश्लेष के उदाहरण बन जाते हैं।

यही (श्लोक तनुपक्ष में एक वचन तथा नेत्र पक्ष में द्विवचन होने से) वचनश्लेष (का उदाहरण) भी है।

IV भाषाश्लेष–(एक ही प्रयत्न से उच्चार्यमाण) जिस श्लेष में भली भाँति स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त भिन्न भिन्न भाषाओं वाले वाक्य कवि के विवक्षित (आवश्यकतानुसार अपेक्षित) अर्थों में घटते हैं उसे भाषाश्लेष समझना चाहिए।। 183।।

इस नवीन वसन्त ऋतु में (आम्र आदि के) बौरों के समूह के पराग के लेप (के पुतने या चिपकने) के कारण सफेद देह वाले, मनोहर (हुँ हुँ) हुङ्कार भरी ध्वनियों से भरे गले वाले भ्रमरसमूह घनी सुगन्धराशि से शोभित सिन्दुवार (निर्गुण्डी) के पुष्प के ऊपर चञ्चलता के साथ खेल करते हुए मँडरा रहे हैं।। 271।।

यह भाषाश्लेष यहाँ अखण्ड रूप में है।

टि०–संस्कृत भाषा के साथ यहाँ और कौन सी दूसरी भाषा है यह नहीं बताया

---

1. अ त; ज में यह कारिका नहीं।
2. संशोधित; ज अ त में नहीं।

सिद्ध्यति यत्रानन्यैः सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः।
प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः।। 184।।

गया है। ऐसा लगता है कि श्लेष की अनेकार्थाभिधानता (शिलष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते (साहित्यदर्पण 10, 11) रूप परिभाषा को महत्त्व न देकर ग्रन्थकार ने रुद्रट का अनुसरण करते हुए (रुद्रटकृतकाव्यालङ्कार 4, 10 में भी भाषाश्लेष का यही लक्षण है) इसे श्लेष का एक भेद माना है। परन्तु अन्य आचार्यों के भाषाश्लेष से यहाँ इस उदाहरण में थोड़ी भिन्नता हो जाती है। अन्य आचार्यों के भाषाश्लेष के उदाहरणों की तरह न तो यहाँ अर्थद्वय की प्रतीति हो रही है और न ही विभिन्न स्वरूप वाले शब्दों का शिलष्टत्व परिलक्षित होता है। परन्तु इसका स्वरूप साहित्यदर्पणोक्त (10, 10) भाषासम अलङ्कार से बहुत कुछ मिलता जुलता है। वहाँ उदाहरण के रूप में यह श्लोक दिया है–

मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे।
विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे।।

इसके अनन्तर यह टिप्पणी है–

एष श्लोकः संस्कृतप्राकृतसौरसेनीप्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकविध एव। सा०द० 10, 10 वृत्ति। सम्भवतः ग्रन्थकार ने इस भाषासम अलङ्कार को इसी आधार पर भाषाश्लेष स्वीकार किया है कि यहाँ दो विभिन्न भाषाओं में एक ही अर्थ वाले एवं समान स्वरूप वाले शब्दों का शिलष्टत्व अर्थात् अभिन्नोच्चारण होता है और यही इस भाषाश्लेष का चमत्कार है। एवं अर्थ की भिन्नता को चमत्कारहेतु न मानकर केवल शब्दगत चमत्कार को ही श्लेषत्व का प्रतिपादक मान लिया है। वस्तुतः महदेसुरसं धं से। (सा. 10,10 वृत्ति) इस उदाहरण में महदे सुरसन्धं मे और मम देसु सं धम्मे उस रूप में संस्कृत और महाराष्ट्री के पाठों के कारण भाषाश्लेष है। मह्यं देहि रसं धर्मे और मह (मम) देसु रसं धम्मे इस प्रकार के पाठ हो जायेंगे।

वस्तुतः भिन्न प्रकृति (वाक्यरचना, शब्दविन्यास और व्याकरण आदि) वाली दो भाषाओं का समान रूप से समान अर्थ में सङ्घटित हो जाना अपने में एक चमत्कार अवश्य है। उदाहरणार्थ–

आगे चले बहुरि रघुराया। ऋष्यमूक पर्वत नियराया।।

तुलसीकृत रामचरितमानस की इस चौपाई में नियराया शब्द द्रष्टव्य है। यहाँ नियराया हिन्दी में जैसे सामीप्य का बोधक है अंग्रेज़ी में भी ठीक वैसे ही नीयर (near) सामीप्य का वाचक है। कहीं कहीं इस प्रकार अचानक दीख पड़ने वाला साम्य चमत्कार का हेतु बन जाता है।

V. प्रकृतिश्लेष–जहाँ उन्हीं अर्थात् एक ही प्रत्ययों, आगमों और उपपदों से नाना प्रकार की प्रकृतियों की समरूपता सिद्ध होती है उसे प्रकृतिश्लेष समझना चाहिए।। 184।।

यत्र प्रत्ययैरागमैरुपपदैश्चानन्यैस्तैरेव प्रकृतीनां तु नानाप्रकाराणां सारूप्यं समानरूपता सिद्ध्यति स प्रकृतिश्लेषः। यथा–

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणाञ्च नृपात्मजः।। 272।।

यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम्।
सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः[1]।।185।।

जहाँ तदनतिरिक्त अर्थात् उन्हीं प्रत्ययों, आगमों, उपपदों से नाना प्रकार की प्रकृतियों की सारूप्य–एकरूपता सिद्ध होती है वह प्रकृतिश्लेष है। (यहाँ प्रयुक्त 'अनन्यैः' का अर्थ–'उन्हीं से' इस रूप में है।)

टि०–'सिद्ध्यति स प्रकृतिश्लेषः' इतना अंश रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (4, 24 वृत्तिभाग) में मिलता है। ग्रन्थकार ने यहाँ कारिका को स्पष्ट करने के लिए अन्वय दिखा दिया है। और 'अनन्यैः' पद का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है। कुम्भकारः जैसे पदों में पूर्व प्रयुक्त कुम्भ आदि पद उपपद कहलाते हैं।

जैसे–

यह राजपुत्र (राजकुमार) सब शास्त्रों को हृदय में धारण करेगा और बुद्धिमानों के बीच (उन्हें) कहेगा। यह शत्रुओं की शक्ति को काटने वाला है और मित्रों के सामर्थ्य का करने वाला (अर्थात् बढ़ाने वाला है)।। 272।।

टि०–यहाँ वक्ष्यति और सामर्थ्यकृत् इन दो स्थलों में प्रकृतिश्लेष है। वक्ष्यति में वह् (प्रापणे)+स्य+ति इस प्रकार की रचना है और वच् (परिभाषणे) +स्य+ति इस विधि से भी यह रूप बन जाता है। सामर्थ्यकृत् पद की रचना भी दो तरह से हो जाती है–1. सामर्थ्य+कृती (छेदने)+क्विप्, 2. सामर्थ्य+कृ (डुकृञ् करणे)+क्विप् यहाँ क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाने पर पहला रूप तो स्वाभाविक ढंग से स्वयं बन जाता है। दूसरे में 'ह्रस्वस्य पिति किति तुक्' से तुगागम होने पर भी सामर्थ्यकृत् यह रूप बन जाता है। साहित्यदर्पण (10, 12 वृत्तिभाग) में भी यह उदाहरण मिलता है।

VI. प्रत्ययश्लेष–जहाँ पर अनेक प्रकार की प्रकृतियों और प्रत्ययों के समुदायों की एकरूपता प्रत्यय के कारण होती है उसे प्रत्ययश्लेष समझना चाहिए।। 185।।

---

1. ज अ; त में यह कारिका नहीं।

यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां प्रत्ययात्सकाशात् सारूप्यं समानरूपता भवति स प्रत्ययश्लेषो विज्ञेयः। यथा–

रजनिरमणमौले: पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम्।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे।। 273।।

(इसका अभिप्राय है) जहाँ प्रकृतियों और प्रत्ययों के समुदायों का प्रत्ययों के माध्यम से सारूप्य (अर्थात् समानरूपता) होता है उसे प्रत्ययश्लेष जानना चाहिए।

टि०–'यत्र.......विज्ञेयः' इतना अंश कारिका और वृत्तिभाग के रूप में रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (4, 26 वृत्तिभाग) में मिलता है।

(प्रत्ययश्लेष का उदाहरण) जैसे–

(हे शिव महाराज!) तुम्हारी कृपा से चन्द्र को सिर पर धारण करने वाले (तुम्हारे) चरणकमलों के अवलोकन के हर्षदायक समय में प्राप्त, असाधारण हज़ारों प्रकार की सम्पत्ति (रूप आनन्द) के साथ कभी (एक बार) मैं (तुम्हारे) गणों (सेवकों) के समुदाय के मध्य में (प्राप्त किये) सही (सच्चे) प्रेम वाला एवं आनन्दित हो जाऊँ और (तभी) मेरा नन्दिभाव हो जाये (अर्थात् मैं तुम्हारा वाहन नन्दी बन जाऊँ)।। 273।।

टि०–शिव के किसी उपासक के द्वारा अपने भविष्य के सम्बन्ध में उनको लक्ष्य करके यह प्रार्थना की गई है। यहाँ 'स्यान्नन्दिता' पदों में प्रत्ययश्लेष है। दो प्रकार के पद यहाँ सन्धिच्छेद करने पर निकलते हैं–एक 'स्याम् नन्दिता' और दूसरा 'स्यात् नन्दिता'। 'अहं नन्दिता (आनन्दयुक्त) स्याम्' और 'सा नन्दिता मे स्यात्' इन दो प्रकारों से अन्वय होता है। इस प्रकार 'स्याम्' और स्यात् पदों में अस् धातु से विधिलिङ् में उत्तम पुरुष के मिप् तथा प्रथम पुरुष के तिप् प्रत्ययभाग मात्र का भेद होने से प्रत्ययश्लेष है। इसी प्रकार 'नन्दिता स्यात्' पक्ष में 'नन्दिनो भावः नन्दिता इस विग्रह में तद्धित का तल् प्रत्यय होता है और 'नन्दिता स्याम्' इस पक्ष में कृत्सञ्ज्ञक तृच् प्रत्यय होता है। इसलिए इन दोनों पदों में प्रत्ययमात्र का भेद होने से यह प्रत्ययश्लेष का उदाहरण है। यह श्लोक काव्यप्रकाश (9, 375) में भी प्रत्ययश्लेष के ही उदाहरण के रूप में दिया हुआ है।

सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति।
सोऽत्र विभक्तिश्लेषो वचनश्लेषस्तु वचनानाम्।। 186।।

यथा–अलिकालयाऽप्यलकवल्लरीमालया समं शोभते तिलकमञ्जरी तस्याः। इत्यादि।

वचनश्लेषो यथा–

आर्योऽसितरोमाल्यः सत्योऽनतकुक्षयः स्तवावाच्यः।
सन्नाभयो युवतयः सन्मुख्यः सुनयना वन्द्यः।। 274।।

VII. विभक्तिश्लेष तथा VIII. वचनश्लेष–जहाँ सुप् और तिङों का आपस में सर्वथा सारूप्य (एक जैसा रूप) होता है वह इस (श्लेष) प्रसङ्ग में विभक्तिश्लेष समझना चाहिए और वचनों में तो (जो आपस में समानरूपता होती है उसे) वचनश्लेष (मानना चाहिए)।। 186।।

(विभक्तिश्लेष का उदाहरण) जैसे–

उस (प्रियङ्गुमञ्जरी) की मस्तक के स्थान वाली (मस्तक पर लगी हुई) तिलकपत्ररचना भौंरों के समान काले सुन्दर वेणीबन्धन (जूड़े) के साथ शोभा दे रही है। इत्यादि (उदाहरण विभक्तिश्लेष के हो जाते) हैं।

टि०–नलचम्पू के द्वितीय उच्छ्वास में प्रियङ्गुमञ्जरी के वर्णन (पृ० 128) में यह पाठ कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ मिलता है '(यस्याः)..... अलिकालयाप्यलकवल्लरीमालया सह विराजते तिलकमञ्जरी।'

यहाँ 'अलिकालया' यह पद 'अलकवल्लरीमालया' इस तृतीयान्त पद तथा 'तिलकमञ्जरी' इस प्रथमान्त पद–इन दोनों का ही विशेषण बना हुआ है। इस कारण यह तृतीया और प्रथमा इन दोनों विभक्तियों के श्लेष का उदाहरण बन जाता है। तृतीया विभक्ति में इसका विग्रह 'अलिवत् कालो वर्णो यस्याः सा तया' है तथा प्रथमा विभक्ति में अलिकं ललाटमालयः स्थानमस्याः सा इस रूप में है। तिलकमेव मञ्जरी तिलकमञ्जरी–तिलकाकार टीके के चिह्न को तिलकमञ्जरी कहा है।

(वचनश्लेष का उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्!) आप श्रेष्ठ, अग्निस्वरूप और (शोभाधायक) पुष्पहार से युक्त सच्चे (अवितथवाक्), न झुकने वाले (अर्थात् अविनीत) शत्रुओं की भूमि का विनाश करने वाले, स्तुतियों से प्रशंसा न किये जा सकने

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलङ्कारम्[1]।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययोः।। 187।।

ननूपमासमुच्चययोः कथमिह सम्भवः साधर्म्यासम्भवा[2]दित्यत आह–

योग्य (अर्थात् अनिर्वचनीय पराक्रमादि गुणसम्पदा वाले) उदास (क्षीण) व्यक्तियों को अभयदान देने वाले, युवकों की रक्षा करने वाले (युवकों को प्रेरणा देने वाले) सज्जनों में प्रमुख, सुनीति वाले पुरुष और पूजनीय (व्यक्ति) हैं।

(हे राजन्! तुम्हारे) शत्रुओं की पत्नियाँ कृष्ण रोमपङ्क्ति वाली, साध्वी, झुकी कोख (उदर) वाली (तुम्हारी) अर्थात् कृशोदरी एवं स्तुति करने के लिए नीचे की ओर झुकी अर्थात् झुके हुए मुख और शरीर वाली, सुन्दर नाभियों से युक्त, रमणीय मुखों से उपलक्षित, शोभन नयनों वाली जो रमणियाँ हैं वे अब वन्दिनी (कैदी) बना ली गई हैं।। 274।।

टि०–यहाँ 'आर्यः' आदि पद एक वचन और बहुवचन दोनों में प्रयुक्त हैं। इस कारण यह वचनश्लेष का उदाहरण है। साथ ही इन सभी पदों का पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में प्रयोग हुआ है इसलिए यहाँ लिङ्गश्लेष भी है। किन्तु ग्रन्थकार ने यह वचनश्लेष के उदाहरण के ही रूप में रखा है। यहाँ आर्योऽसि, आर्योऽसित आदि विग्रह है।

भाषाश्लेष से रहित (भाषाश्लेष के अतिरिक्त अन्य सात प्रकारों वाला) यह शब्दश्लेष (अलङ्कार) अधिकांश स्थलों पर दूसरे अलङ्कार का भी स्पर्श करता है। उपमा और समुच्चय अलङ्कार में तो यह बहुत अच्छी तरह विचित्रता (चमत्कार) को धारण करता है।। 187।।

(शङ्का)–इन उपमा और समुच्चय अलङ्कारों के भीतर इस श्लेष का स्पर्श कैसे हो सकता है? क्योंकि श्लेष में (उपमा और समुच्चय के साथ) साधर्म्य का अभाव है इसलिए (इसके उत्तर में रुद्रट ने भी) कहा है–

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है कि श्लेष शब्दालङ्कार है और उपमा, समुच्चय अर्थालङ्कार हैं ऐसी स्थिति में उपमा और समुच्चय में श्लेष का साथ कैसे सङ्गत होगा? क्योंकि श्लेष की उपमा और समुच्चय के साथ समानधर्मता नहीं है और

---

1. त;..........प्यलङ्कारः ज अ।
2. त; साधर्म्याभावा.........ज अ।

स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः।। 188।।

यथा–

जननीतिमुदितमनसा सततं सुस्वामिना कृतानन्दा।
सा नगरी नगतनया गौरीव मनोहरा भाति।। 275।।

शब्दालङ्कार का शब्दालङ्कार के साथ सम्बन्ध हो सकता है और अर्थालङ्कार का अर्थालङ्कार के साथ सम्बन्ध सम्भव है। इसका उत्तर ग्रन्थकार के द्वारा रुद्रट के शब्दों (काव्यालङ्कार 4, 32) में दिया गया है।

(यद्यपि) उपमा और समुच्चय ये दोनों स्पष्ट रूप में अर्थालङ्कार हैं किन्तु शब्दमात्र रूप साधर्म्य का आश्रय लेकर (अर्थात् शब्द की समानता के आधार पर) ये दोनों यहाँ (शब्दालङ्कारों) में भी हो सकते हैं।। 188।।

टि०–यह सत्य है कि उपमा और समुच्चय अपने अर्थालङ्कार होने के स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं किन्तु 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' जैसे स्थलों पर केवल शब्दसाम्य के आधार पर उपमा को शब्दालङ्कार भी कहा जा सकता है। आगे दिए हुए 'वसुधामहित' आदि समुच्चय अलङ्कार में शब्दों की समानता दृष्टिगोचर हो रही है इस कारण वह भी शब्दालङ्कार कहा जा सकता है।

(उपमा का उदाहरण) जैसे-

(नगरीपक्ष) राजनीति से प्रसन्न मन वाले, उत्तम राजा से अनवरत आनन्दित की गई, सदाचार को न छोड़ने वाली (न गतनया-सदाचरणमयी) अर्थात् सदाचारी लोगों से युक्त और मनोहर वह नगरी गौरी (पार्वती) की तरह सुशोभित हो रही है।

(गौरीपक्ष) प्रसन्न मन वाले अच्छे (बालक) स्कन्द के द्वारा 'जननी' (माता) इस रूप में सम्बोधन किये जाने के कारण लगातार आनन्दित की जाती हुई पर्वतपुत्री गौरी (पार्वती) देवी सुन्दर नगरी के समान सुशोभित हो रही हैं।। 275।।

टि०–यहाँ गौरी की तरह सुशोभित होने वाली नगरी में (जननीतिमुदितमनसा आदि) समान विशेषणों के अतिरिक्त और किसी तरह का न तो गुणसाम्य है और न क्रियासाम्य है। ऐसे उदाहरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उपमा में जिस तरह गुणसाम्य और क्रियासाम्य (उपमान और उपमेय का साधारण धर्म) माना जाता है ठीक उसी तरह शब्दसाम्य को भी साधारण धर्म माना जाता है। और इसी शब्दसाम्य का अन्वयव्यतिरेक उपमा की शब्दालङ्कारता को सिद्ध करता है। इस

समुच्चयो यथा–

वसुधामहितसुराजितनीरागमना भवांश्च वर्षाश्च।
सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते।।276।।

अयं शब्दार्थयोरलङ्कारः[1]। प्रकृते शब्दस्यैव प्राधान्याच्छाब्दत्वम्। आर्थस्तूदाहरिष्यते। अत्र केचित्–एतादृशस्य श्लेषस्य स्वत एव चमत्कारिता, न तु

प्रकार के परिवृत्त्यसह शब्दों की अवस्थिति होने पर ही उपमालङ्कार की सत्ता होती है। यह श्लोक नलचम्पू (1, 30) में भी है।

(समुच्चय का उदाहरण) जैसे–

हे राजन्! आप और वर्षायें समान हैं। (क्योंकि) आप धन और तेज के कारण हितकारी (परोपकारपरायण) देवताओं के द्वारा भी न हराये जाने वाले और रागरहित चित्त वाले हैं और वर्षायें पृथिवी पर पूजित सुशोभित जलागमन से युक्त हैं (यहाँ च शब्द समुच्चयबोधक है)। और इसी प्रकार भलीभाँति रचे गये सुन्दर युद्ध का पोषण करने वाले आपका तथा उत्तम रूप से बने हुए (धारण किये) वराह के शरीर वाले विष्णु भगवान् का साम्य घट (सङ्गत हो) रहा है (यहाँ भी 'च' समुच्चयार्थक है)।।276।।

टि०–यहाँ पूर्वार्ध में भवत्पक्ष में वसुधामभ्यां हितः सुरैरजितः नीरागं च मनो यस्य सः तथा वर्षापक्ष में वसुधायां महितं सुराजितं नीरागमनं यासु ताः यह विग्रह हो जायेगा। उत्तरार्ध में तव के विशेषण का विग्रह सुरचितं वरम् यद् आहवं तस्य पुषः तथा 'हरेः' के विशेषण का सुरचितं वराहवपु र्येन स तस्य इस रूप में विग्रह हो जायेगा।

यह अलङ्कार शब्द और अर्थ दोनों का है। (जिस श्लेष का ऊपर वर्णन किया गया है इस) प्रस्तुत श्लेष में शब्द की ही प्रधानता होने से शब्दालङ्कारत्व है (ये सब शब्दश्लेष के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं)। अर्थसम्बन्धी अर्थात् अर्थश्लेष का लक्षणसहित उदाहरण तो (अष्टम तरङ्ग में आगे) दिया जायेगा।

यहाँ पर कुछ विद्वानों का इस प्रकार कहना है–

---

1. त;........रपि अलङ्कारः ज अ।

पदार्थद्वयोपस्थित्यनन्तरं जायमाने रसोद्बोधे उपकारकतया तथा चास्य कथ[1]मलङ्कारत्वमिति?

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

इस प्रकार के श्लेष की तो अपने आप ही अपने लिए अर्थात् अपने शब्दों के सौष्ठव के लिए ही चमत्कारिता होती है और न कि शब्दों के दोनों अर्थों की उपस्थिति के बाद उत्पन्न होने वाले रस की प्रतीति के उपकारी होने के रूप में (इसकी चमत्कारकारकता होती है इस कारण) इस स्थिति में इसको अलङ्कार कैसे माना जा सकता है?

टि०–यहाँ इन आक्षेपकर्ताओं का ग्रन्थकार के ऊपर इस रूप में आक्षेप है कि वे इसी तरङ्ग के आरम्भ में यह स्वीकार कर चुके हैं कि शब्दालङ्कार वह है जो शब्द को अलङ्कृत करके रस का उपकारी बने (तत्र शब्दालङ्कारत्वं शब्दमलङ्कृत्य रसोपकारकत्वम् 7, 165) और यहाँ यह कहने लग पड़े हैं कि 'वसुधामहित' इत्यादि उदाहरणों में शब्दमात्र के साम्य के आधार पर श्लेषालङ्कार है किन्तु इस प्रकार का श्लेषालङ्कार तो शब्दगत चमत्कार तक ही सीमित है इस कारण इसमें शब्दों का उत्कर्ष तो बढ़ जाता है किन्तु रस का उत्कर्ष नहीं बढ़ पाता। किन्तु मम्मटमतानुयायी विश्वनाथ आदि आचार्यों ने तो यही कहा है–

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः।। साहित्यदर्पण 1, 3

अलङ्कार का अलङ्कारत्व इसी में है कि वह रस का उपकार करे किन्तु शब्दमात्र के साम्य वाला श्लेषालङ्कार तो अलङ्कार ही नहीं कहा जा सकता। 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' में श्लेषानुप्राणित उपमालङ्कार की अलङ्कारता ही सिद्ध नहीं होती क्योंकि यहाँ यह अलङ्कार किसी रस को पुष्ट नहीं कर रहा है।

और जो (काव्य में) विद्यमान उस (अङ्गी रस) को (शब्द तथा अर्थ रूप) अङ्गों के द्वारा (निश्चित रूप से और सदा नहीं अपितु) कभी कभी उपकृत (उत्कर्षयुक्त करते हैं, वे अनुप्रास और उपमादि (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार शरीर के शोभाधान के द्वारा परम्परया शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक) हार आदि (दैहिक अलङ्कारों) के समान (काव्य के अलङ्कार) होते हैं।

---

1. ज अ, कथमस्यालङ्कारत्वमिति त।

इति तल्लक्षणादित्थं[1] प्राचां वाचां विलासमास्कन्दयन्ति तत्र नातितरामस्माकं प्रद्वेषः।

सन्निवेशविशेषेण वर्णानां खड्गादिवत् स्थितिः।
चित्रं भवति तत्काव्यं प्रायो रसविवर्जितम्।। 189।।

खड्गाकारप्रदर्शकवर्णविन्यासकत्वं लक्षणम्। आदिपदाच्छत्रबन्धादि।

खड्गबन्धो यथा–

इस प्रकार (आचार्य मम्मट के द्वारा काव्यप्रकाश 8, 2 में कहे गये) इस (अलङ्कार) लक्षण से वे प्राचीन आचार्यों की शङ्का रूपी वाग्विलास की इस रूप में वे (उनकी) भर्त्सना करते हैं अर्थात् श्लेष अलङ्कार जब रसोपकारक ही हो तभी वह अलङ्कार कहलायेगा इस मत को असङ्गत मानते हैं। इसमें हमारा बहुत अधिक द्वेष नहीं है। अलङ्कारों की रसोपकारता को हम भी अनिवार्य नहीं मानते।

टि०–मम्मटकृत इस अलङ्कार लक्षण में अलङ्कारों की ये तीन विशेषतायें बताई हैं।

1. सन्तं तमुपकुर्वन्ति यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः– अर्थात् काव्य में यदि रस होता है तो अलङ्कार उसके उत्कर्ष को बढ़ाते हैं। यदि नहीं होता तो वह फिर उसकी शोभा न बढ़ाकर स्वयं उक्तिवैचित्र्य रूप में प्रतीत होकर काव्य होते हैं।
2. अङ्गद्वारेण उपकुर्वन्ति–रस के अङ्ग बनकर ही उपकार करते हैं।
3. जातुचित् उपकुर्वन्ति–कभी कभी रस का उपकार करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं। इन विशेषताओं को देखते हुए शब्दसाम्य के आधार पर प्रयुक्त शब्दश्लेष रस का उपकार न करने पर भी अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकार मम्मट की इस प्रामाणिक उक्ति के आधार पर ये विद्वान् प्राचीन आचार्यों के उपर्युक्त आक्षेप का निराकरण कर देते हैं।

5. चित्र (चित्रयुक्)–वर्णों की रचनाविशेष (अर्थात् विशिष्ट प्रकार के लेखन) से (जहाँ पद्यों की) तलवार आदि की तरह स्थिति (आकार-शक्ल) हो जाती है (वहाँ) वह चित्रकाव्य होता है और अक्सर रस से रहित होता है।। 189।।

तलवार की आकृति को दिखाने वाले वर्णों के विन्यास (स्थिति) वाला होना (खड्गबन्ध नामक चित्रकाव्य का) लक्षण है। यहाँ आदि पद से छत्रबन्ध आदि चित्रकाव्यों का ग्रहण है।

खड्गबन्ध (का उदाहरण) जैसे–

---

1. ज अ; तल्लक्षणादित्थं त में नहीं।

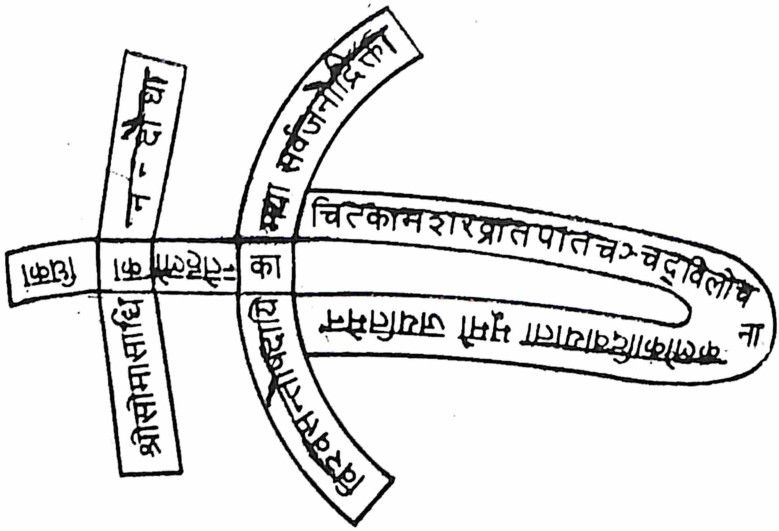
काचित् कामशरव्रातपातचञ्चद्विलोचना।
नाकलोकादिवायाता भूमौ जयति मेनका।। 277।।
काम्या सर्वजनोद्रिक्ता विश्वसन्तोषदायिका।
कान्तेह लोकानन्दौघा श्रीसीमा साधिकाधिका।। 278।।

कामदेव के बाणसमूहपतनसदृश (कटाक्षों को फेंकने वाले) चञ्चल नेत्रों वाली, स्वर्गलोक से पृथिवी पर आई हुई मेनका सी, (सबके लिए) अभिलषणीय, सबकी अपेक्षा (रूपादि गुणों में) अधिक बढ़ी चढ़ी (अलोकसामान्य), सबको सन्तोष देने वाली, लोगों के आनन्द का पुञ्ज बनी हुई, अधिक से अधिक शोभा की सीमा अर्थात् सौन्दर्य की चरमसीमा वह (अर्थात् लोकप्रसिद्ध एवं अनिर्वचनीय) कोई सौन्दर्योपेत रमणी इस (भूमिलोक) में विजय को प्राप्त कर रही है।। 277-278।।

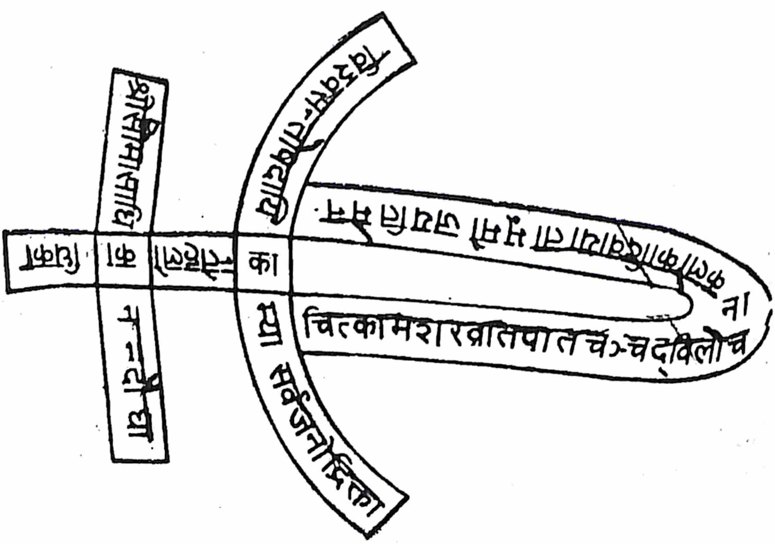
टि०–यहाँ खड्गबन्ध के दो चित्र दिखाये जा रहे हैं– (देखें अग्रिम पृष्ठ)

इस खड्गबन्धचित्र की निर्माणविधि इस प्रकार है–पहले मूठ के ऊपर और नीचे दो शाखा वाले उपरिलिखित प्रकार के खड्ग का चित्र बनाना चाहिए। खड्ग की मूठ के निचले हिस्से के बीच में श्लोक का प्रथम अक्षर 'का' लिख देना चाहिए। तलवार की सबसे निचली नोंक के बीच में प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का अन्तिम अक्षर 'ना' लिख देना चाहिए। अब प्रथम श्लोक के शेष अक्षरों को 'का' के बाद से आरम्भ करके खड्ग की एक ओर की धार के साथ साथ लिखना चाहिए। इस प्रकार से लिखने पर तलवार की निचली नोक पर पूर्वार्ध 'ना' अक्षर पर समाप्त हो जायेगा। वहाँ से आगे उत्तरार्ध को तलवार की दूसरी धार के साथ साथ दूसरे भाग पर लिखना प्रारम्भ करना चाहिए। इस रीति से लिखने से मूठ के निचले भाग के बीच में पूर्वलिखित 'का' अक्षर पर आकर उत्तरार्ध के वर्ण समाप्त हो जायेंगे। इस 'का' को केन्द्र मानकर मूठ के निचले दोनों फलकों में दूसरे श्लोक का प्रथम चरण एक ओर तथा दूसरा चरण दूसरी ओर आ जायेगा। इसी प्रकार द्वितीय श्लोक के तृतीय तथा

खड्गबन्ध



(पहला चित्र)



(दूसरा चित्र)

एवमन्येऽपि बोध्याः। एते शक्तिमात्रप्रकाशकाः। काव्यस्वरूपतां न दधतीति काव्यप्रकाशकाराः। एवमेकाक्षरादिविचित्राणि बोध्यानि।

यथा–

दूनानन्दनिदानोऽसौ नन्दनन्दननन्दनः।
नान्दीनादनिनादेन ददौ दानं दिने दिने।।[1] 279।।

चतुर्थ दोनों चरण मूठ के ऊपर वाले भाग के दोनों ओर लिखे जा सकते हैं। इस रीति से ये दोनों श्लोक खड्ग (तलवार) के आकार को धारण कर लेते हैं।

यदि 'का' अक्षर को सर्वप्रथम मूठ के निचले हिस्से के बीच में लिखकर, प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का अन्तिम अक्षर ना लिख देने के पश्चात् शेष अक्षरों को 'का' के बाद से आरम्भ करके खड्ग की पिछली धार के साथ साथ न लिखा जाये और दूसरी धार की ओर से लिखना प्रारम्भ किया जाय तो भी इसी प्रकार का खड्गबन्ध बन सकता है। केवल उभयपार्श्वों के अक्षरों में उलट फेर हो जायेगा परन्तु आकृति एक ही प्रकार की रहेगी। पहले दिखाया हुआ खड्ग का चित्र ही टीकाकारों में अधिक मान्य होता आया है।

इसी प्रकार दूसरे पद्मबन्ध, मुरजबन्ध, मुसलबन्धादि चित्रालङ्कारों का भी (स्वरूप) समझ लेना चाहिए। ये (सारे चित्रालङ्कार) कवि के (शब्दविन्यास रूप रचना कर देने के) सामर्थ्य भर को बताते हैं (किन्तु उसकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को प्रदर्शित नहीं करते हैं) और (लोकोत्तर चमत्कार के जनक न होने से) काव्यरूपता को नहीं धारण करते हैं अर्थात् काव्य के लक्षण और उदाहरण नहीं बनते है। इस प्रकार काव्यप्रकाश के रचयिता (आचार्य मम्मट) ने (का० 9, 85 वृत्तिभाग) कहा है। इसी भाँति एकाक्षर, द्व्यक्षरादि विचित्र प्रकार के चित्रकाव्यों के भेद समझने चाहिए।

टि०–इस प्रकार चित्रकाव्य सामान्यतः दो भागों में विभक्त हो जाते हैं–1. खड्गबन्धादि तस्वीरों वाले तथा 2. एकाक्षर और द्व्यक्षर आदि विविध प्रकार के वर्णविन्यासों से बनने वाले।

(द्व्यक्षरचित्रकाव्य का उदाहरण) जैसे–

(धर्मानुष्ठान के समय में की गई) देवस्तुतियों के ऊँचे स्वर की ध्वनि के साथ ही दुःखी (एवं दरिद्रों) के आनन्द का मूलकारणभूत और कृष्ण

1. त, ज अ में परित्यक्त।

चित्रान्तरोदाहरणान्यस्मत्कृतचित्रमीमांसायां द्रष्टव्यानि। केचिदनुप्रासादिवदेतेऽपि शब्दमुपकृत्य रसमुपकुर्वन्तीति वदन्ति[1]। न चानयो र्मतयोरन्यतरपरिग्रहः साधीयान्, अनुभवकलहपर्यवसानात्।

भगवान् को (अपनी आराधना से) प्रसन्न करने वाला अर्थात् कृष्ण भगवान् का भक्त वह राजा प्रतिदिन दान किया करता था।। 279।।

टि०–दूनानन्द० इत्यादि उदाहरण केवल तिरुपति की प्रति में ही मिलता है। उपरिलिखित श्लोक परिष्कृत रूप में लिखा गया है। इसको गद्य रूप में वहाँ इस भाँति लिखा गया है–'दूनानन्दनिदानेन नन्दनन्दननादानुदानेन दिने दिने दानं ददे।'

दूसरे (मुरजबन्धादि तथा एकाक्षरादि दोनों प्रकार के) चित्रकाव्यों के उदाहरण हमारे द्वारा बनाई गई 'चित्रमीमांसा' नाम की रचना में देख लेने चाहिएं।

टि०–इस पङ्क्ति से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने 'चित्रमीमांसा' नामक कोई और ग्रन्थ भी बनाया होगा किन्तु अभी तक हमें इस ग्रन्थ की कोई हस्तलिखित या मुद्रित प्रति दिखाई नहीं दी है।

कुछ आचार्य–अनुप्रासादि की तरह ये (चित्रकाव्य) भी शब्द का उपकार करके रस का उपकार करते हैं–ऐसा कहते हैं (जबकि अन्य साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ जैसे रसवादी आचार्य इन्हें रस के पोषक न होने के कारण वास्तविक अलङ्कार नहीं मानते हैं।) किन्तु इन दोनों मतों में से किसी एक मत को ग्रहण करना अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि अनुभव के युद्ध (कसौटी) में इन मतों की परिणति है अर्थात् जिनका जैसा अनुभव है वैसा ही वे मान सकते हैं।

टि०–चित्रालङ्कारों के काव्य बनने या न बनने के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का मत समन्वयात्मक है। वे यहाँ किसी एक पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं दे रहे हैं अपितु दोनों ही मतों को सहानुभूति के साथ देख रहे हैं। उनका कहना है कि जिन प्रौढ़ विद्वानों को चित्रकाव्यों की रचना करने अथवा उनका अनुशीलन करने में आनन्द आता है वे चित्रकाव्यों को यदि काव्य मानते हैं तो यह आपत्तिजनक नहीं है। किन्तु जिन्हें इनमें आनन्द नहीं आता वे इन्हें यदि काव्य न स्वीकार करें तो वे भी आक्षेप के योग्य नहीं हैं। ये दोनों ही मत ठीक हैं क्योंकि दोनों ही प्रकार का अनुभव देखने में आता है।

---

1. त; वदन्ति पद ज अ में नहीं।

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्।। 190।।

विजातीयानुपूर्वीकशब्दगेत्यर्थः[1]। तेनार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यादौ नातिव्याप्तिः। यथा–

चकास[2]त्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः।। 280।।

---

6. पुनरुक्तवदाभास–विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थता सी जो (प्रतीति होती) है यह पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है और यह (केवल) शब्दमात्र में (भी) होता है और शब्द और अर्थ दोनों में (भी) रहता है।। 190।।

यह (एकार्थता) विजातीय अर्थात् भिन्न भिन्न आकार वाले और ठीक उसी अर्थ और क्रम को प्रकट करने वाले शब्दों में रहती है (विभिन्नाकार-शब्दगा पद के रखने का यह अभिप्राय है कि) इस कारण अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य आदि ध्वनियों के भीतर इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती।

टि०–'यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा। का०प्र० 4, 73 जैसे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि के उदाहरणों में मित्राणि और शत्रवः शब्द एक ही आकार वाले तथा एक ही अर्थ वाले हैं, जबकि पुनरुक्तवदाभास में एकार्थता होने पर भी शब्दों के स्वरूप सर्वथा बदले हुए होते हैं अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है। आगे दिए हुए पुनरुक्तवदाभास के उदाहरणों में अङ्गनाः और रामाः पद यद्यपि अर्थ की दृष्टि से एक हैं, किन्तु आकार सर्वथा भिन्न है।

उस राजा के सुन्दरी स्त्रियों के साथ रमण करने वाले (काव्यचर्चा आदि के) चमत्कार के द्वारा आनन्द प्रदान करने वाले, सुन्दर मन वाले सहृदय विद्वान् और पार्श्ववर्ती (सेवक) शोभित होते हैं। कुतूहल और आनन्द की कारणभूत सुन्दर नारियाँ शोभा पा रही हैं [यह अर्थ भी निकल रहा है]।। 280।।

---

1. ज अ;........शब्दग इत्यर्थः त।
2. ज अ; चकाशत्य.......त।

अत्र नवीनाः, वाक्यार्थबोधकाल एव पुनरुक्तवदाभासाभावाद् रसोद्बोधकाले तु सुतरामिति कथं तस्य रसोपकारकत्वमिति श्लेषवद् विचारयन्ति। तत्र प्राचामुत्तरमनुत्तरमेवेत्यलं पल्लवितेन।

टि०–यहाँ अङ्गनाः–रामाः, कौतुक–आनन्द और सुमनसो विबुधाः शब्द आपाततः पुनरुक्त से विदित होते हैं किन्तु अर्थ का विचार करने पर इनकी पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द अभङ्ग हैं। अत एव यह शब्दनिष्ठ अभङ्ग पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण है।

यहाँ (पुनरुक्तवदाभास के विषय में) नवीनों का मत है–वाक्यार्थबोध के समय में ही पुनरुक्तवदाभास का अभाव होने से अर्थात् पुनरुक्ति की प्रतीति न होने से तथा रसोद्बोधकाल में तो अच्छी तरह (पुनरुक्ति का बोध होने से इस पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का रसोपकारकत्व कैसे हो सकेगा? इस दशा में इसकी स्थिति श्लेष जैसी है ऐसा वे समझते हैं। अर्थात् जैसे केवल शब्दों के साम्य वाले किन्तु रसके अनुपकारक श्लेष का अलङ्कारत्व नहीं सिद्ध होता है उसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास का भी अलङ्कारत्व सिद्ध नहीं हो सकता अतः यह पृथक् अलङ्कार नहीं है।

टि०–प्राचीनों का मत है कि पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार में पदों के अन्वयबोध के समय तो पुनरुक्ति का बोध हो जाता है किन्तु उसके बाद वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर रसोद्बोध में किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं प्रतीत होता है। इसके ठीक विपरीत नवीनों का मत है कि वाक्यार्थबोधकाल में ही पुनरुक्ति का जब बोध हो रहा होता है तो इस ज्ञान से रसोद्बोध में विघ्न आता है। अतः पुनरुक्ति के कारण क्योंकि इसके भीतर रसविघातकता आ जाती है इसलिए इसका अलङ्कारत्व समाप्त हो जाता है। इस कारण जैसे शब्दसाम्यसमन्वित श्लेष में रसोपकारत्व नहीं रहता है उसी प्रकार इस अलङ्कार में भी रसोपकारकत्व धर्म नहीं होता है। अतः इसे पृथक् अलङ्कार नहीं मानना चाहिए।

(नवीनों के मत का) प्राचीनों की ओर से जो उत्तर है वह (वास्तव में) अनुत्तर (अर्थात् असमीचीन उत्तर) है। इस विषय को और अधिक न बढ़ाकर यहीं समाप्त करते हैं।

टि०–ग्रन्थकार ने यहाँ साङ्केतिक भाषा में उन प्राचीन आचार्यों के मत से अपनी असहमति प्रकट की है जो पुनरुक्तवदाभास को अलङ्कार मानते हैं और आचार्य मम्मट के जातुचिदलङ्कुर्वन्ति इस सिद्धान्त को लेकर रसोपकारक न होने पर भी अलङ्कारता को मानते हैं। उनका यह उत्तर नवीनों को सन्तुष्ट करने वाला नहीं है ऐसा

इति श्रीविश्वनाथदेवविरचिते[1] श्री[2]साहित्यसुधासिन्धौ शब्दालङ्कारमार्जनं नाम सप्तमस्तरङ्गः।

वे समझते हैं। इत्यलं पल्लवितेन यह कहकर वे दोनों पक्षों के प्रति अपना सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण भी प्रकट करना चाहते हैं। यदि कट्टर रसवादी इस अलङ्कार को रसोपकारक न होने के कारण अलङ्कार न मानें तो भी कोई आपत्ति की बात नहीं है। और यदि नवीन इसे रसोपकारक होने के कारण अलङ्कार मानें तो भी कोई विशेष बात नहीं है। वस्तुतः इसके अलङ्कारत्व की कसौटी सहृदय के अपने हृदय का अनुभव ही है। जिन प्रौढ विद्वानों को इसके बनाने में और ऐसी रचनाओं के पढ़ने में आनन्द आता है वे इसे अलङ्कार मान सकते हैं और जिन्हें इस प्रकार का आनन्द नहीं आता है वे यदि इसे अलङ्कार नहीं मानें तो भी कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार श्रीविश्वनाथदेवविरचित श्रीसाहित्यसुधासिन्धु में शब्दालङ्कारमार्जन नाम की सप्तम तरङ्ग समाप्त हुई।

---

1. त में अतिरिक्त, ज अ में नहीं।
2. अ, श्री पद ज त में नहीं

अष्टमस्तरङ्गः

अवसरसङ्गत्या अर्थालङ्कारविवेचनमाह–

अर्थालङ्कारत्वमर्थमुपकृत्य रसोपकारकत्वम्।।[1]191।।

अथ प्राचामलङ्काराः–

उपमा[1]नन्वयौ[2] स्यातामुपमेयोपमा[3] ततः।
उत्प्रेक्षा[4]ऽथ ससन्देहो[5] रूपका[6]पह्नुती[7] तथा।। 192।।
श्लेष[8]श्चाथ समासोक्तिः[9] प्रोक्ता पश्चान्निदर्शना[10]।
अप्रस्तुतप्रशंसा[11]तिशयोक्ती[12] परिकीर्तिते।। 193।।
प्रतिवस्तूपमा[13] तद्वद् दृष्टान्तो[14] दीपकं[15] तथा।
स्यात्तुल्ययोगिता[16] पश्चाद् व्यतिरेकः[17] प्रकीर्तितः।। 194।।

इसके बाद ग्रन्थकार अवसर के औचित्य से (शब्दालङ्कारों के अनन्तर) अर्थालङ्कारों का विवेचन (आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित 61 अर्थालङ्कारों को लेकर उनकी लक्षणोदाहरणसहित व्याख्या) कर रहे हैं।

अर्थ का उपकार करके रस का उपकारी होना अर्थालङ्कारत्व (अर्थालङ्कार का लक्षण) है।। 193।।

इसके बाद प्राचीन आचार्यों के अलङ्कार (बतलाये जा रहे) हैं–

1. उपमा और 2. अनन्वय यह दो अलङ्कार होते हैं इसके बाद 3. उपमेयोपमा है। इसके अनन्तर 4. उत्प्रेक्षा और 5. ससन्देह एवं 6. रूपक और 7. अपह्नुति हैं। 8. श्लेष और तदनन्तर 9. समासोक्ति और इसके बाद 10. निदर्शना कही गई है। 11. अप्रस्तुतप्रशंसा और 12. अतिशयोक्ति भी अलङ्कार बताई गई हैं। 13. प्रतिवस्तूपमा और उसी तरह 14. दृष्टान्त और 15. दीपक (अलङ्कार) हैं। 16. तुल्ययोगिता (भी अलङ्कार) होती है। इसके बाद 17. व्यतिरेक को कहा गया है।

1. ज अ; रसोपकारित्वम् त।

आक्षेपोऽ[18]थ विशेषोक्तिः[19] प्रोक्ता पश्चाद् विभावना[20]।
पश्चादर्थान्तरन्यासो[21] यथासङ्ख्यं[22] विरोधवत्[23]।। 185।।
स्वभावोक्ति[24]स्तथा प्रोक्ता व्याजस्तुतिः[25] सहोक्तिभिः[26]।
विनोक्तिः[27] परिवृत्तिश्च[28] भाविकं[29] काव्यकारणम्[30]।।196।।
पर्यायो[31]क्तमुदात्तञ्च[32] समुच्चय[33] उदीरितः।
पर्याय[34]श्चानुमानञ्च[35] प्रोक्तः परिकरस्तथा[36]।। 197।।
व्याजोक्ति[37]परिसङ्ख्ये[38] च विज्ञेये हेतुमालया[39]।
अन्योन्य[40] मुत्तरं[41] सूक्ष्मः[42] सार[43] स्तद्वदसङ्गतिः।। 198।।
समाधि[45]श्च समेन[46] स्याद् विषम[47]स्त्वधिकेन[48] च।
प्रत्यनीकं[49] मीलितं[50] च स्यातामेकावली[51] स्मृतिः[52]।। 199।।
भ्रान्तिमांश्च[53] प्रतीपेन[54] सामान्यं[55] च विशेषवत्[56]।
तद्गुणा[57]तद्गुणौ[58] चैव व्याघातः[59] परिकीर्तितः।। 200।।
संसृष्टि[60]सङ्करा[61]सङ्गादर्थालङ्कृतयः क्रमात्।
एकषष्टिः समाख्याताः प्राचामेवाभिसम्मताः।। 201।।

18. आक्षेप और इसके बाद 19. विशेषोक्ति 20. इसके अनन्तर विभावना कही गई है। तत्पश्चात् 21. अर्थान्तरन्यास 22. यथासङ्ख्य 23. विरोधवत् (विरोध) 24. स्वभावोक्ति और 25. व्याजस्तुति को 26. सहोक्ति के साथ कहा है। 27. विनोक्ति 28. परिवृत्ति 29. भाविक 30 काव्यकारण (काव्यलिङ्ग) 31. पर्यायोक्त 32. उदात्त और 33. समुच्चय अलङ्कार (भी) बताया गया है 34. पर्याय 35. अनुमान और 36. परिकर को अलङ्कार बोला गया है। 37. व्यजोक्ति 38. परिसङ्ख्या को 39. हेतुमाला (कारणमाला) के साथ जानना चाहिए। 40. अन्योन्य 41. उत्तर 42. सूक्ष्म 43. सार और उसी तरह 44. असङ्गति अलङ्कार होता है। 45. समाधि 46. सम के साथ और 47. विषम 48. अधिक के साथ होता है। 49. प्रत्यनीक और 50. मीलित होते हैं। 51. एकावली, 52. स्मृति 53. भ्रान्तिमान् 54. प्रतीप अलङ्कार के साथ हैं। 55. सामान्य 56. विशेषवत् (विशेष) 57. तद्गुण 58. अतद्गुण और 59. व्याघात अलङ्कार बताया गया है। 60. संसृष्टि और 61. सङ्कर के मिलन से होने वाले (ऊपर गिनाये गये इसी) क्रम के साथ प्राचीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत इकसठ अर्थालङ्कार ही यहाँ भलीभाँति (लक्षण और उदाहरणों सहित) कहे जा रहे हैं।। 191-201।।

क्रमेण लक्षणोदाहरणानि। तत्र बहुविषयतया प्रधानभूतामुपमां लक्षयति–

तत्रोपमात्वं तावत्तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्।।202।।

अनन्वयव्यवच्छेदाय सत्यन्तम्। एतावदुपमेयोपमायामतिव्याप्तमिति। एकनिरूपिताऽनुयोगितामात्रकत्वे सतीति विशेषणीयम्। उपमेयोपमायामेकनिरूपिताऽनुयोगिता प्रतियोगिता चेति तत्र नातिव्याप्तिः। एकपदस्य प्रधानार्थकतया प्रतीपे नातिव्याप्तिः।

टि०–आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में इन्हीं 61 अर्थालङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

क्रम से लक्षण और उदाहरण (दिये जा रहे) हैं। उन अलङ्कारों में (अन्य अलङ्कारों की अपेक्षा) बहुत अधिक बड़ा क्षेत्र होने के कारण (सारे अलङ्कारों के मध्य) प्रधान बनी हुई उपमा का लक्षण (ग्रन्थकार) करते हैं–

1. उपमा–वहाँ अर्थात् उस अलङ्कारलक्षण प्रसङ्ग में उस (उपमान) से भिन्न होने पर (भी) उपमेय का उपमानगत धर्मों से अत्यधिक मात्रा में युक्त हो जाना (रूप सुन्दर सादृश्य) (ही) तो उपमा होना है।। 202।।

टि०–'मुखं चन्द्र इव शोभते' यह उदाहरण पूर्णोपमा का है। चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगतभूयोधर्मवत्त्वं मुखे वर्तते–यद्यपि मुख चन्द्र से भिन्न है, फिर भी उसमें चन्द्रगत रमणीयत्व आह्लादकत्वादि बहुत से सदृश धर्मों की कल्पना कर ली जाती है। (उपमायां तद्गतभूयो धर्मवत्त्वरूपं यत् सादृश्यं तत् चमत्कारकारि भवति।)

(क) सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः। सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम्। रसगङ्गाधर 2 आनन उपमा

(ख) वाक्यार्थोपस्कारमुपमासादृश्यमतिचमत्कारि। काव्यालोक 7, 120

(उपमा के 'उपमात्वं तावत् तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् इस लक्षण में 'तद्भिन्नत्वे सति यह) सतिपर्यन्त विशेषण अनन्वय अलङ्कार से पार्थक्य प्रकट करने के लिए रखा गया गया है।

टि०–'तद्भिन्नत्वे सति' यह विशेषण उपमालङ्कार के लक्षण में इस बात पर ज़ोर देने के लिए है कि उस अलङ्कार में उपमान और उपमेय की भिन्नता बनी रहती है। इसके विपरीत अनन्वय अलङ्कार में उपमान और उपमेय में भेद नहीं होता। वहाँ जो उपमेय होता है वही उपमान बन जाता है। 'मुखं मुखमिव' जैसे अनन्वय के उदाहरणों में उपमेय और उपमान की एकता बनी रहती है। उपमा में उपमेय और उपमान में परस्पर भिन्नता होते हुए भी एक धर्म दूसरे में रहते हुए दिखाई पड़ते हैं।

इतना लक्षण तो उपमेयोपमा में भी चला जाता है। इस कारण एक–निरूपिताऽनुयोगितामात्रकत्वे सति' यह विशेषण और रखना चाहिए। उपमेयोपमा में एकनिरूपिता अनुयोगिता और प्रतियोगिता दोनों हुआ करते हैं, इस कारण वहाँ इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

तथा हि–

तुमु[1] मुहेण किसी अरि चन्दा उपमज्जइ जणेण।[2] इत्यत्र मुखप्रकर्षस्यैव

टि०–सिद्धान्ती का आशय है कि उपमा का सम्पूर्ण लक्षण 'एकनिरूपितानुयोगितामात्रकत्वे सति तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' यह होना चाहिए। उपमेयोपमा में एकनिरूपिता अनुयोगिता प्रतियोगिता ये दोनों तत्त्व होते हैं। अनुयोगी का अर्थ है विशेष्य। उपमा के 'मुखं चन्द्र इव शोभनम्' इस उदाहरण में मुख अनुयोगी है और चन्द्र प्रतियोगी (विशेषण)। इस प्रकार यहाँ मुख केवल अनुयोगी अर्थात् विशेष्य है। परन्तु 'मुखं चन्द्र इव चन्द्रो मुखमिव' इस उपमेयोपमा के उदाहरण में मुख अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों हो गया है। इस प्रकार उक्त विशेषण के लग जाने पर उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

एक पद अर्थात् उपमेय के अर्थ की प्रधानार्थता वाले प्रतीप में (इस उपमा के लक्षण की) अतिव्याप्ति नहीं होती।

जैसे (इसकी और व्याख्या करते हैं)

तुमु मुहेण...........(तव मुखेन कृशोदरि चन्द्र उपमीयते जनेन) उस प्रतीप के उदाहरण में मुख के प्रकर्ष का ही वर्णन होने से वहाँ मुख ही प्रधान है। वहाँ प्रधाननिरूपित अर्थात् प्रधान रूप से निर्दिष्ट प्रतियोगिता वाले सादृश्य की प्रतीति हो रही है न कि प्रधाननिरूपितानुयोगिता रूप सादृश्य की– ऐसा समझना चाहिए।

टि०–सारांश यह है–यद्यपि उपमा और प्रतीप ये दोनों ही सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं, परन्तु सादृश्य की स्थिति दोनों में भिन्न भिन्न है। पहले अर्थात् उपमालङ्कार में प्रधाननिरूपितानुयोगिताक वाला सादृश्य होता है और दूसरे (प्रतीपालङ्कार) में प्रधाननिरूपितप्रतियोगिताक सादृश्य होता है। क्योंकि उपमा में प्रतियोगिनिरूपित अनुयोगी होता है, इस कारण वहाँ प्रधाननिरूपितप्रतियोगिताक सादृश्य है। सादृश्य की इसी भिन्नरूपता के आधार पर ये दोनों अलङ्कार भिन्न भिन्न हो जाते हैं। वस्तुतः उपमा के भीतर उपमानगत साधर्म्य पूर्वसिद्ध होता है जबकि प्रतीप में उपमेयगत साधर्म्य को पूर्वसिद्ध मानते हैं। 'मुखं चन्द्र इव शोभते' जैसे उपमा के उदाहरणों में चन्द्र उपमान में पूर्वसिद्ध सौन्दर्य का बोध होता है, जबकि चन्द्रो मुखमिव जैसे प्रतीप के उदाहरणों में उपमेय मुख में पूर्वसिद्ध शोभा प्रतीत होती है।

---

1. ज अ; तुह त
2. ज अ; णेत्यत्र त

वर्णनीयत्वान्मुखं तत्र प्रधानम्। प्रधाननिरूपितप्रतियोगिताकं सादृश्यं तत्र भासते न तु प्रधाननिरूपितानुयोगिताकमिति। अभेदात्मके रूपके अतिव्याप्तिशङ्कैव नास्ति।

न च चन्द्रो मुखमित्यत्र बाधज्ञानस्य जागरूकत्वेन सादृश्ये लक्षणा तथा च तत्र सुतरामतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। तत्र विषयमाहात्म्यरूपेण दोषेण नीलं तम इतिवद् विशेषदर्शनाबाध्यतया अभेदस्यैव प्रतीतेः। मालोपमाया अनतिरिक्तत्वेन न तत्रातिव्याप्तिशङ्का लक्ष्यत्वादिति दिक्।

अभेदात्मक अर्थात् उपमान और उपमेय के अभेद स्वरूप वाले रूपक में तो अतिव्याप्ति की शङ्का ही नहीं है।

टि०–तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमुपमात्वम् इस उपमा के लक्षण में स्पष्ट रूप से यह बता दिया गया है कि इसमें उपमान और उपमेय में भेद होता है। इसके विपरीत 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपक के उदाहरणों में उपमान और उपमेय दोनों में अभेद होता है। इस कारण यह उपमालक्षण रूपक में अतिव्याप्त नहीं होता।

(पूर्वपक्षी)–'चन्द्रो मुखम्' इस प्रतीप के उदाहरण में (मुख्यार्थ के बोध में अन्वयानुपपत्ति होने के कारण) बाधज्ञान के जागरूक होने अर्थात् स्फुट प्रतीत होने से सादृश्य में (सारोपा गौणी) लक्षणा है इस कारण इस उदाहरण में (इस उपमा के लक्षण की) अच्छी तरह अतिव्याप्ति होती है।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि 'मुखं चन्द्रः' जैसे रूपक के उदाहरणों में मुख और चन्द्रमा की अभेदात्मिका प्रतीति होती है, इसलिए वह तो उपमा से भिन्न हो जाता है। परन्तु प्रतीप के 'चन्द्रो मुखम्' इत्यादि उदाहरणों में यदि चन्द्र में लक्षणा करके चन्द्रसदृश मुख यह लक्ष्यार्थ बना लेते हैं तो अभेद नहीं रहेगा और उस स्थिति में उपमा के इस लक्षण की प्रतीप में अतिव्याप्ति हो जायेगी।

(सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि वहाँ (प्रतीप के उस उदाहरण में) उपमेय की महिमा दिखाने वाले दोष (विकार) के कारण जैसे 'नीलं तमः' वाक्य में विशेष प्रकार के ज्ञान में किसी भी प्रकार की बाधा न होने से अभेदज्ञान की ही प्रतीति होती है वैसे ही प्रतीप में भी होती है (उपमा की भाँति वहाँ भेदज्ञान नहीं होता)।

टि०–'मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्' इस उपमा के उदाहरण में उपमानापेक्षया उपमेय में कम गुण हैं। 'उत्कृष्टगुणवत्त्वमुपमानत्वम्, अपकृष्टगुणवत्त्वमुपमेयत्वम्' इस प्रचलित लक्षण के अनुसार उपमेय के अन्दर उपमान की अपेक्षा कम गुण होते हैं।

परन्तु प्रतीप में उपमेय को उपमान बना दिया जाता है और उपमान को उपमेय। इस कारण गुणों का भी परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार पूर्वसिद्ध उपमान की अपेक्षा उपमेय में अधिक गुण देखे जाते हैं और वास्तविक उपमेय मुख का माहात्म्य बढ़ जाता है।

	उपमेय (अपकृष्टगुणावच्छिन्न)	उपमान (उत्कृष्टगुणावच्छिन्न)
उपमा	मुख "	चन्द्र "
प्रतीप	चन्द्र "	मुख "

नीलं तमः नीलाभिन्नं तमः इस प्रकार के वाक्यों में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता। तेजोऽभावस्वरूप होने से अन्धकार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और नीलस्तमः जैसे स्थलों पर भ्रम होते हुए भी किसी प्रकार का मुख्यार्थ का बाध नहीं प्रतीत होता। जैसे 'नीलं तमः' में मुख्यार्थ का बाध नहीं है उसी प्रकार 'चन्द्रो मुखम्' में भी मुख्यार्थ का बाध नहीं है। इस कारण यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग नहीं आता इसके अतिरिक्त उपमान और उपमेय में जैसा अभेद रूपक में पाया जाता है वैसा ही प्रतीप में पाया जाता है। इस लिए उपमा के 'तद्भिन्नत्वे सति' इस लक्षण की यहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि उपमा में भेद पाया जाता है जबकि प्रतीप में अभेद पाया जाता है।

मालोपमा के उपमा से अतिरिक्त स्वरूप वाली न होने से वहाँ पर उपमा की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि मालोपमा तो उपमा के लक्षण का लक्ष्य (उदाहरण) ही बन जाती है। इस प्रकार (इतना ही उपमा के लक्षण के सम्बन्ध में) दिशानिर्देश (सङ्केत) है।

टि०–मालोपमा का यह लक्षण है–मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते (साहित्यदर्पण 10, 26)।

जब एक उपमेय के बहुत सारे उपमान देखे जाते हैं तो मालोपमा होती है। वहाँ पर निम्नलिखित उदाहरण दिया हुआ है–

वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा।।

साहित्यदर्पण 10, 26 वृत्ति

मालोपमा का यह उदाहरण उपमा के तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् लक्षण का भी स्फुट उदाहरण है। अन्तर केवल इतना है कि उपमा में एक ही उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य बताया जाता है जबकि मालोपमा में बहुत सारे उपमानों

वाक्योपमात्र षोढा तत्र त्वेका प्रयुज्यते।
यत्रोपमानमिवादीनामेकं सामान्यमुपमेयम्।।203।।

वाक्योपमायाः षट् प्रकाराः।[1] प्रथमा तेषु[2] यथा यत्रोपमानं प्रयुज्यते तथा इवादीनां इववत्सदृशयथानिभतुल्यादीनां[3] साम्यवाचकानां[4] मध्यादेकम्। तथोपमानोपमेययोः साधारणधर्माभिधायकं पदं तथोपमेयमिति चतुष्टयम्। नन्वेकमिवादीनां

के साथ। इसी आधार पर इसका पृथक् नामकरण है। वस्तुतः यह उपमा का ही एक भेद है। इसलिए अप्पयदीक्षित और आचार्य मम्मट ने अपनी रचनाओं में इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया हैं।

यहाँ (उपमा के अनेक भेदों में) वाक्योपमा 6 प्रकार की है। (पहली का लक्षण है। जैसे–) उनमें से एक उस पहली पूर्णोपमा का यहाँ निरूपण किया जाता है–1 पूर्णोपमा –जिसमें उपमान, इवादि वाचक शब्दों में से कोई एक सामान्य धर्म और उपमेय होता है (वह पूर्णोपमा है)।।203।।

वाक्योपमा के 6 प्रकार हैं। उनमें से पहली (पूर्णोपमा) है जहाँ उपमान का प्रयोग होता है और इव आदि अर्थात् इव, वत्, सदृश, यथा, निभ, तुल्य आदि सादृश्यवाचक निपातों के मध्य में से कोई एक होता है तथा उपमान और उपमेय के साधारण धर्म को बताने वाला पद होता है और साथ ही उपमेय भी होता है। इस प्रकार (पूर्णोपमा में) ये चार तत्त्व होते हैं।

टि०–अन्य आचार्यों की भाँति पूर्णोपमा के लिए ग्रन्थकार ने चार तत्त्व बताये हैं। 1. उपमान 2. वाचक शब्द 3. साधारण धर्म और 4. उपमेय। 'मुखं चन्द्र इवाभाति जैसे पूर्णोपमा के उदाहरणों में मुख उपमेय, चन्द्र उपमान, इव वाचक शब्द और आभाति सामान्य धर्म है।

(पूर्वपक्षी–कारिका में) इवादियों में से एक का प्रयोग (एक बार) करना चाहिए, ऐसा कहा है तो 'दिने दिने सा परिवर्धमाना' इत्यादि श्लोकों में अनेक उपमावाचक शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है?

टि०–पूरा श्लोक इस प्रकार है–

1. ज अ; वाक्योपमा षट्प्रकारा त
2. ज अ; तत्र त
3. त;.........तुल्यनिभादीनाम् ज अ
4. ज त; वाचकादीनां अ

प्रयोक्तव्यमित्युक्तं तत्कथं दिने दिने सा परिवर्धमानेत्यादिषु अनेकेषां प्रयोगः? उच्यते, औपम्यानेकत्वाद् यत्र ह्यनेकं कारकमुपमानोपमेयतया निर्दिष्टं तत्रानेकेषामपि प्रयोगः। यथा–

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवौदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव।।

यत्र तु बहूनामप्यौपम्ये एक एव इवादिः प्रयुज्यते तत्र गतार्थत्वादयं प्रयोगोऽबाध्यः।

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि।।

कुमारसम्भव 1, 25

यहाँ पार्वती के सम्बन्ध में बताया जा रहा है कि वह पार्वती उदयप्राप्त चन्द्रलेखा (चन्द्रकला) के समान प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। इस पद्य में उपमावाचक इव पद का द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में दो बार प्रयोग हुआ है। पूर्वपक्ष यह है कि जब कारिका में यह कहा गया है कि इवादियों में से किसी एक का पूर्णोपमा में एक बार प्रयोग करना चाहिए तो इस पद्य में इव का अनेक बार क्यों प्रयोग हुआ है?

(सिद्धान्ती–उपर्युक्त शङ्का के समाधान में) यह कहा जा रहा हैं–

अनेक उपमायें होने के कारण जहाँ अनेक कारकों को उपमान और उपमेय के रूप में निर्दिष्ट (शब्दोपात्त) किया जाता है, वहाँ पर अनेकों (वाचक पदों) का भी प्रयोग होता है। जैसे–

उसके बाद अपनी (बाणों के समान) किरणों से जलों का उद्धरण (आहरण अर्थात् ऊपर की ओर खींचने के कार्य) को करने वाले सूर्य के समान (तेजस्वी) उदीच्य अर्थात् उत्तर दिशा में रहने वाले लोगों का अपने तीरों से उद्धार (संहार) करता हुआ वह राजा रघु कुबेर की (उत्तर) दिशा की ओर चल पड़ा।

टि०–इस श्लोक में इव का अनेक बार प्रयोग हुआ है किन्तु पहले इव का कर्तृकारक में प्रयोग है जबकि दूसरे इव पदों का कर्मकारक में।

जहाँ बहुतों की भी उपमा में एक ही इव आदि (अर्थात् इव आदियों में से कोई) एक ही वाचक पद प्रयुक्त होता है, वहाँ अर्थ के ज्ञान हो जाने के कारण ऐसा प्रयोग अबाध्य (बाधारहित अत एव साधु) होता है।

यथा–

सा भूधराणामधिपेन तस्यां
समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां
नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत्।।

इत्यादौ।

यथा[1]–

कमलमिव चारु वदनं मृणालमिव कोमलं भुजायुगलम्।
अलिमालेव सुनीला तवैव मदिरेक्षणे कबरी।। 281।।

इयमेव पूर्णोपमा।

टि०–सामान्यत: जहाँ पर अनेक कारक होते हैं वहाँ पर अनेक इवादि भी होते हैं। परन्तु जहाँ पर बहुतों की उपमा में एक ही इवादि का प्रयोग होता है वहाँ बहुतों के साथ भी एक इवादि का सम्बन्ध हो जाता है इस कारण वैसे प्रयोग बाधित नहीं होते हैं। अर्थात् उनके अर्थ की प्रतीति में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती है।

(एक इव के अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध का उदाहरण) जैसे–

पर्वतों के राजा हिमालय ने समाधिनिष्ठ अर्थात् ध्यानविशेष वाली तपस्या में प्रवृत्त उस मेनका में उस सुन्दर पार्वती को खूब सोच विचार कर प्रयोग के कारण अक्षत (सफल) नीति में उत्साह गुण के द्वारा (उत्पन्न की गई) सम्पत्ति की तरह पैदा किया।

टि०–इस श्लोक में मेनका और नीति, राजा और पर्वत तथा पार्वती और सम्पत् में उपमानोपमेयभाव है, इव वाचक शब्द तथा उत्पादन सामान्य धर्म है।

इत्यादि उदाहरणों में (अनेकों की उपमा होने पर भी एक ही इव का प्रयोग है)।

1. (पूर्णोपमा का उदाहरण)

हे मदभरी आँखों वाली सुन्दरी! (तुम्हारा) मुँह कमल के समान सुन्दर है, दोनों बाहें कमलनाल के समान मृदुल हैं और तुम्हारी ही वेणी (गुथी हुई चोटी) भ्रमरों के समूह की तरह खूब नीली है।। 281।।

यही पूर्णोपमा है (क्योंकि उपमान, उपमेय, वाचक शब्द और सामान्य धर्म ये चारों तत्त्व इसमें विद्यमान हैं)।

---

1. ज अ; उदाहरणम् त

द्वितीया यथा[1]–

इयमन्या सामान्यं यत्रेवादिप्रयोगसामर्थ्यात्।
गम्येत सुप्रसिद्धे तद्वाचि पदाप्रयोगे वा।। 204।।

सामान्यमित्युपलक्षणम्, इवादि पदमपि बोध्यम्।

---

2. दूसरी (लुप्तोपमा का लक्षण) जैसे–

I धर्मलुप्ता एवं II वाचकलुप्ता

यह दूसरी (लुप्तोपमा) वहाँ होती है जहाँ इवादि (वाचक पदों के) प्रयोग की शक्ति से सामान्य धर्म की व्यञ्जना से प्रतीति होती है अथवा सुप्रसिद्ध सामान्य धर्म के वाचक पद के प्रयोग के न होने पर (भी) यह होती है।। 204।।

टि०–यह धर्मलुप्ता का लक्षण है। यहाँ ग्रन्थकार ने दो बातों की ओर निर्देश किया है–

1. जहाँ इवादि पदों के माध्यम से साधारण धर्म की अभिव्यक्ति हो जाये।

अथवा–2. जहाँ साधारण धर्म के वाचक किसी पद के न होने पर और साथ ही इवादि के न होने पर भी अत्यन्त प्रसिद्धि होने से साधारण धर्म की प्रतीति हो जाये।

इन दोनों ही अवस्थाओं में धर्मलुप्ता उपमा हुआ करती है। इस प्रकार इन्होंने यहाँ लुप्तोपमा के अन्तर्गत धर्मलुप्ता तथा वाचकलुप्ता इन दो लुप्तोपमाओं को माना है।

(उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त) सामान्य पद उपलक्षण है। इससे इवादि पदों का भी ज्ञान होना चाहिए।

टि०–उपलक्षण का अर्थ है– जो अपना अर्थ भी बताये और साथ ही दूसरे के अर्थ को बताये (स्वार्थावबोधकत्वे सति इतरार्थबोधकत्वमुपलक्षणत्वम्)। सामान्य पद जब इवादि का उपलक्षण बन जायेगा तो इसके दो अर्थ हो जायेंगे–1. साधारण–धर्म तथा 2. इवादि वाचक पद। इस प्रकार उपर्युक्त रीति से इस लक्षण के द्वारा धर्मलुप्ता एवं धर्मवाचकलुप्ता इन दोनों लुप्तोपमाओं की ओर सङ्केत है। इवादि से इव, वा और यथा इन तीनों का ग्रहण होता है। इवादियों का प्रयोग होने पर तो व्यञ्जना की सहायता से सामान्यधर्म की प्रतीति आसानी से हो जाती है। जैसे मुखं कमलमिव इस वाक्य से 'सुन्दरम्' इस सामान्य धर्म का ज्ञान व्यञ्जनागम्य है। किन्तु 'राजते

---

1. ज अ; द्वितीया यथा त में नहीं

शशिमण्डलमिव वदनं मृणालमिव भुजलतायुगलमेतत्।
करिकुम्भाविव च कुचौ रम्भागर्भाविवोरू ते।। 282।।

इयमेव लुप्तोपमा। उपमानानुपादानेऽपि लुप्तोपमा।

यथा–

न काव्यसदृशं किञ्चिदन्यदस्तीह तोषकृत्।। 283।।

द्योतकपदलोपे तु समासे क्यचि क्यङि णमुलि च भवत्युपमा। क्रमेणोदाहरणानि–

मृगलोचना' जैसे वाक्यों में इव का प्रयोग न होने पर भी सुप्रसिद्ध सामान्यधर्म का ज्ञान हो जाता है। इस वाक्य का अर्थ–मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्याः सा इस रूप में ज्ञात होता है।

(1. धर्मलुप्ता का उदाहरण)

(तुम्हारा) मुख चन्द्रमण्डल के समान है और ये दोनों भुजायें कमलनाल के सदृश हैं। स्तन हाथी के गण्डस्थल के समान हैं और तुम्हारी जाँघें केले के मध्यभाग के समान हैं।। 282।।

यही लुप्तोपमा है।

टि०–यहाँ मुख और चन्द्र के सुन्दर, भुजलतायुगल और मृणाल के कोमल, कुच और गण्डस्थल के पीन और कठोर तथा ऊरु और रम्भागर्भ के कोमल और चिकने इन सामान्यधर्मों का लोप है।

III उपमानलुप्ता उपमा

उपमान का अग्रहण (शब्दोपात्त न होने के कारण लोप) होने पर भी लुप्तोपमा होती है।

(उपमानलुप्ता का उदाहरण) जैसे–

इस संसार में काव्य के समान और कोई दूसरी वस्तु सन्तोष देने वाली नहीं हैं।। 283।।

टि०–इस प्रकार उपमान का लोप होने से यह उपमानलुप्ता का उदाहरण है। वाचक पद का लोप होने पर तो समास, क्यच्, क्यङ्, और णमुल् में उपमा होती है।

क्रम से उदाहरण दिये जाते हैं–

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः।। 284।।

तथा[1]-

अस्मिंश्चन्द्रमसि प्रसन्नमहसि व्याकोशकुन्दत्विषि
प्राचीनं खमुपेयुषि त्वयि गते दूरं निजप्रेयसि।
श्वासः कैरवकोरकीयति मुखं तस्याः सरोजीयति
क्षीरोदीयति मन्मथो मृगदृशो दृक् चन्द्रकान्तीयति।। 285।।

(समासगा वाचकलुप्ता का उदाहरण)

उस (मालती) का शरीर मसली हुई कमललता के समान मुरझा गया है (मलिन हो रहा है) (स्नान भोजनादि) क्रियाओं में परिवार की सखियों की प्रार्थनाओं से जैसे तैसे लगने की चेष्टा हो पा रही है और (तुरन्त) काटे गये नये हाथी दाँत के टुकड़े के समान (सुन्दर और सफेद हुआ) गाल निष्कलङ्क चन्द्रमा की सी कान्ति को धारण कर रहा है।। 284।।

टि०-मालतीमाधव नाटक के प्रथम अङ्क के इस श्लोक में मालती की विरहदशा का वर्णन है। यहाँ 'परिमृदितमृणालीम्लानम्' इस पद में उपमानानि सामान्यवचनैः (अ० 2, 1, 55) इस सूत्र से इव के अर्थ में समास हुआ है। परिमृदितमृणाली इव म्लानम् इस प्रकार का विग्रह हो जायेगा। 'अभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः' यहाँ पर भी अभिनवकरिदन्तच्छेद इव कान्तः इस विग्रह के साथ इवार्थ में उपमानानि सामान्यवचनैः इस सूत्र से समास हुआ है। यह दोनों समासगा वाचकलुप्ता के उदाहरण हैं।

और (क्यच् में वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण)

स्वच्छ (श्वेत) दीप्ति वाले (अत एव) खिले हुए कुन्द पुष्प के समान कान्ति से युक्त इस चन्द्रमा के पूर्व दिशा के आकाश को प्राप्त कर लेने पर अर्थात् आकाश में उदित होने पर अपने प्रेमी तुम्हारे दूर चले जाने पर उस (सुन्दरी) का श्वास सफेद कमल की कली के समान आचरण कर रहा है, मुख कमल की तरह अपने आपको दिखा रहा है। उस मृगनयनी का कामभाव अपने आपको क्षीरसागर की तरह प्रकट कर रहा है और दृष्टि चन्द्रकान्तमणि के समान आचरण कर रही है।। 285।।

---

1. त; ज अ में नहीं

टि०–इस श्लोक में किसी प्रेमी के सामने अनुरक्ता प्रेयसी की विरह दशा का वर्णन किया गया है। वियोग से उत्पन्न पीड़ा के कारण उस मृगनयनी का साँस कुमुद की कली के समान सङ्कुचित हो गया है। बहुत थोड़ी थोड़ी ठंडी साँस आने लगी है इससे उसकी मरणासन्न अवस्था की अभिव्यक्ति हो रही है। उस सुन्दरी का मुख कमल के समान मुरझा गया है। जैसे चन्द्र के निकलने पर कमल मुरझा जाता है उसी प्रकार की उसके मुख की स्थिति हो गई है और चन्द्रमा के निकलने पर जैसे समुद्र में ज्वार आ जाता है उसी प्रकार उस सुन्दरी की कामवासना भी भड़क उठी है। नेत्रों ने चन्द्रकान्तमणि का गुण अपना लिया है। जैसे चन्द्रमा का स्पर्श पाकर चन्द्रकान्तमणि से जलकण प्रस्त्रवित होते हैं वैसे ही तुम्हारे विरह में चन्द्र का संयोग पाकर उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है।

कैरवकोरकीयति, सरोजीयति और क्षीरोदीयति इन पदों में उपमानादाचारे (अष्टाध्यायी 3, 1, 10) इस सूत्र से आचार अर्थ में कर्म में क्यच् प्रत्यय हो गया है। इन पदों का अर्थ इस प्रकार होगा–

1. कैरवकोरकमिव आत्मानमाचरति–श्वास अपने आपको कैरवकलिका के समान बना रहा है।
2. सरोजमिवात्मानमाचरति–काम कमल के समान अपने को प्रकट करता है।
3. क्षीरोदमिवात्मानमाचरति–दृष्टि अपने को क्षीरसमुद्र की भाँति अभिव्यक्त कर रही है।

तीनों ही प्रतियों में दृक् चन्द्रकान्तीयति पाठ मिलता है। ऊपर लुप्तोपमा के सम्बन्ध में बताया गया है–द्योतकपदलोपे तु समासे क्यचि क्यङि णमुलि च भवत्युपमा। इसके अनुसार समास का उदाहरण–परिमृदित० इत्यादि श्लोक दिया है। क्यच् के उदाहरणों को 'अस्मिन्' इत्यादि श्लोक में बता दिया है मूलपाठ के अनुसार 'चन्द्रकान्तीयति' को भी क्यच् का उदाहरण मान लेने पर ये चारों ही क्यच् के उदाहरण बन जाते हैं। इससे अगले श्लोक 'मृधे०' इत्यादि को णमुल् में लुप्तोपमा का उदाहरण बताया है। इस क्रम में क्यङ् का उदाहरण छूट गया है। इस कारण यदि चन्द्रकान्तीयति के स्थान पर चन्द्रकान्तायते पाठ बना दिया जाये तो इसी श्लोक में क्यङ् का उदाहरण भी सम्मिलित हो जायेगा।

चन्द्रकान्तायते पद चन्द्रकान्त इव आचरति इस विग्रह में उपमानवाचक चन्द्रकान्त पद से कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (अ० 3, 1, 11) इस सूत्र से क्यङ् प्रत्यय किये जाने पर निष्पन्न हो जायेगा।

तथा[1]–

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः।।286।।

एवमुभयलोपे त्रिलोपे वा बोध्या, विस्तरभयान्नेह प्रदर्शितेति[2]।

इस प्रकार यह श्लोक क्यच् और क्यङ् दोनों में वाचकलुप्ता उपमा का उदाहरण माना जा सकता है। ग्रन्थकार ने इसे केवल क्यङ् में लुप्तोपमा का उदाहरण दिखाया है। ऐसी दशा में उन्हें क्यङ् में लुप्तोपमा का उदाहरण दिखाने के लिए कोई और श्लोक रखना चाहिए था। एक ही श्लोक में क्यच् और क्यङ् के उदाहरण काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में भी दिखाये गये हैं।

और (णमुल् में वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण)–

सङ्ग्राम में शत्रु उस (राजा) को ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान (दुःसह प्रताप वाला) देखते हैं और वह राजा (युद्धभूमि में) अर्जुन के समान (निर्भय होकर) विचरण करता है।।286।।

टि०–यह उदाहरण काव्यप्रकाश (10, 405) में भी मिलता है। यहाँ 'निदाघघर्मांशुदर्शमिव पश्यन्ति' इस विग्रह में 'उपमाने कर्मणि च' (अष्टा० 3, 4, 45) इस सूत्र से निदाघघर्मांशु (यथा) इस कर्म के उपपद रहते दृश् धातु से णमुल् प्रत्यय होकर निदाघघर्मांशुदर्शम् यह मान्त अव्यय पद बनता है इसके साथ कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः (3, 4, 46) इस सूत्र से जिस दृश् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, उसी का अनुप्रयोग होकर निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति यह प्रयोग उपपन्न होता है। पार्थ इव सञ्चरणम् यस्य इस विग्रह में पार्थ रूप कर्ता के उपपद रहते चर् धातु से णमुल् प्रत्यय होकर पार्थसञ्चारम् रूप हो जाने पर सञ्चरति का अनुप्रयोग होता है।

IV द्विलुप्ता एवं V त्रिलुप्ता उपमा–

इस प्रकार यह उपमा दो का लोप होने अथवा तीन का लोप होने पर समझनी चाहिए। अधिक विस्तार हो जाने के डर से यहाँ लुप्तोपमा (सारे भेदों सहित) नहीं दिखाई गई है।

टि०–ग्रन्थकार ने धर्मलुप्ता और वाचकलुप्ता उपमाओं को उदाहरण सहित बता दिया है। धर्मोपमानलुप्ता जैसी द्विलुप्ता उपमा (तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्ते

---

1. त; ज अ में नहीं
2. त; प्रदर्श्यते ज अ

तृतीया यथा–

वस्त्वन्तरमस्त्यनयो र्न सममिति परस्परं यत्र भवेत्।
यत्रोभयोरुपमानत्वं समानमुभयोपमा[1] सान्या।। 205।।

यथा–

शशिमण्डलमिव विमलं वदनं ते मुखमिवेन्दुबिम्बमपि।
कुमुदमिव स्मितमेतत् स्मितमिव कुमुदं च धवलमिदम्।। 287।।

न चात्रान्योपमानव्यवच्छेदश्चमत्कारप्रयोजकः, उपमायां तु सादृश्यमित्युपमातो भेद इति वाच्यम्। अत्र एकस्यैवोपमानत्वे उपमेयत्वे तथा प्रतीतावपि अनयोरुपमानत्वान-

---

सा०द० 10, 21) तथा धर्मवाचकोपमानलुप्ता जैसी त्रिलुप्ता के उदाहरण (राजते मृगलोचना) साहित्यदर्पण (10, 22) में देखे जा सकते हैं।

3. तीसरी (उभयोपमा का लक्षण) जैसे–

जहाँ पर इन दोनों के समान दूसरी और कोई वस्तु नहीं है इस कारण जहाँ दोनों के भीतर एक दूसरे की एक दूसरे के साथ एक समान उपमानता हो वह उभयोपमा नाम की (अलग ही) दूसरी उपमा है।। 205।।

टि०–इसी उभयोपमा के अन्य आचार्यों ने उपमेयोपमा और उपमानोपमा ये दो नाम दिये हैं।

(उभयोपमा का उदाहरण) जैसे–

तुम्हारा मुख चन्द्रबिम्ब की तरह निर्मल है और चन्द्रमण्डल भी तुम्हारे मुख के समान है। (तुम्हारा) यह मुस्कुराना कुमुद पुष्प के समान है और यह कुमुद इस मुस्कुराने के समान सफेद है।। 287।।

यहाँ (उभयोपमा) में अन्योपमानव्यवच्छेद अर्थात् किसी दूसरी वस्तु का का उपमान न बन पाना चमत्कार का हेतु है और उपमा में सादृश्य (ही चमत्कार का कारण) है इसलिए इसका उपमा से भेद है (पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए (सिद्धान्ती का कहना है) क्योंकि उभयोपमा में एक ही पदार्थ की उपमानता और उपमेयता की प्रतीति होने पर भी इन दोनों (उपमेय और उपमान) के बीच उपमानत्व के विषय में किसी अनिष्ट (बाधा) की आपत्ति (प्राप्ति) नहीं है। सारांश यह है कि उभयोपमा

---

1. ज अ; उपमानोपमा त

पायात्। न चैकनिरूपितानुयोगितामात्रकत्वे सतीति विशेषणप्रक्षेपादेतद्व्यवच्छेद इति वाच्यम्, एतादृशभेदकल्पनाप्रयासस्यानुचितत्वात्, अन्यथाऽलङ्काराणामानन्त्यं[1] स्यात्।

चतुर्थीमाह–

सा स्यादनन्वयाख्या यत्रैकं वस्त्वनन्यसदृशमिति।
स्वस्य स्वयमेव भवेदुपमानञ्चोपमेयञ्च।। 206।।

यथा–

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयो र्युद्धं रामरावणयोरिव।। 288।।

में उपमानान्तरव्यवच्छेद के साथ सादृश्य भी रहता है। और यही चमत्कार-प्रयोजक सादृश्य उपमा में रहता है। इस कारण उपर्युक्त युक्ति इन दोनों अलङ्कारों की भेदक हेतु नहीं है।

उपमा एकनिरूपितानुयोगितामात्रकत्व की सत्ता से युक्त होती है अर्थात् इसमें केवल एक ही उपमेय (विशेष्य) बनता है (और उभयोपमा में दोनों ही उपमेय बनते हैं पृ० 608) इस विशेषण के रखने से यह पार्थक्य हो जाता है। ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के भेद की कल्पना का प्रयास अनुचित है, नहीं तो अलङ्कारों (के भेदक हेतुओं की) अनन्तता (असङ्ख्यता) का दोष आता है।

4. चौथी (अनन्वय नामक) उपमा को कहते हैं–

जहाँ पर कोई एक अनन्यसदृश (अपने समान किसी दूसरे उपमान को न रखने वाली अर्थात् अप्रतिम) वस्तु अपने आप ही अपना उपमेय और उपमान बने वह अनन्वय नामक उपमा होती है।। 206।।

जैसे–

आकाश आकाश के समान (विशाल) आकृति वाला है। और समुद्र समुद्र के सदृश (गहरा) है। राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध के समान (भयङ्कर) है।। 288।।

टि०–यहाँ विशालता, गम्भीरता और भयङ्करता इन गुणों में अनुपम आकाश, समुद्र और रामरावणयुद्ध–इनको ही इनका उपमान बनाया गया है।

---

1. त; अलङ्कारानन्त्यं ज अ

न च तद्भिन्नत्वे सतीति विशेषणादुपमातोऽयं भिन्न इति वाच्यम्, कल्पिताकल्पितसाधारणस्यैव भेदस्य विवक्षितत्वात्। कथमन्यथा उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे इति सङ्गतं स्यात्?

पञ्चमीमाह–

और ('तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' इस उपमा के लक्षण में विद्यमान) तद्भिन्नत्वे सति इस विशेषण के कारण यह अलङ्कार उपमा से भिन्न है, ऐसा (पूर्वपक्षी को) नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कल्पित और अकल्पित साधारण धर्म की ही (अनन्वय और उपमा में) विवक्षा होती है।

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है कि 'तद्भिन्नत्वे सति' इस विशेषण को उपमा के लक्षण में रखने से उपमा और अनन्वय में भेद हो जाता है क्योंकि उपमा में उपमान और उपमेय भिन्न होते हैं और अनन्वय में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय होती है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अनन्वय में भी उपमान और उपमेय दोनों भिन्न होते हैं, किन्तु वहाँ कल्पना से एक को दो बना दिया जाता है–जैसे 'गगनं गगनाकारम्' यहाँ एक ही वस्तु को दो बना दिया गया है। वस्तुतः इन दोनों में भेद की कसौटी कल्पित और अकल्पित को बनाना चाहिए। अनन्वय में साधारण धर्म कवि के द्वारा कल्पित होता है इसके विपरीत उपमा में यह अकल्पित अर्थात् स्वाभाविक होता है, अनन्वय में इस कल्पित साधारण धर्म के आश्रय से ही उपमानता और उपमेयता की सिद्धि हो जाती है।

यदि यह बात नहीं मानें (और 'तद्भिन्नत्वे सति' इसी विशेषण को ही उपमा और अनन्वय में भेदक मानोगे) तो फिर–'उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे। अनन्वयः, (काव्यप्रकाश 10, 91) अर्थात् एक वाक्य में एक के ही उपमान और उपमेय दोनों होने पर अनन्वय अलङ्कार होता है इस लक्षण की कैसे सङ्गति होगी?

टि०–अनन्वय के लक्षण में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपमान और उपमेय दोनों को भिन्न बताया है। उपमान और उपमेय का भेद उपमा और अनन्वय दोनों में पाया जाता है। इस कारण 'तद्भिन्नत्वे सति' इस उपमालक्षण के विशेषण को इन दोनों अलङ्कारों में भेद की कसौटी न मान कर कल्पित और अकल्पित साधारणधर्म को भेदक मानना चाहिए।

5. पाँचवीं (कल्पितोपमा) को बतलाते हैं–

सा कल्पितोपमाख्या यैरुपमेयं विशेषणैर्युक्तम्।
तावद्भिस्तादृग्भिः स्यादुपमानं तथा यत्र।। 207।।

यथा–

मुखमापूर्णकपोलं मृगमदलिखितार्द्धपत्रलेखं ते।
भाति लसत्सकलकलं स्फुटलाञ्छनमिन्दुबिम्बमिव।। 289।।

षष्ठीमाह–

अनुपममेतद् वस्त्वित्युपमानं तद्विशेषणं चासत्।
सम्भाव्य यदिवार्थे र्या क्रियते साप्युपमा।। 208।।

जहाँ जितने और जैसे विशेषणों से युक्त उपमेय हो उतने और वैसे (ही) विशेषणों से युक्त यदि उपमान हो तो वह कल्पितोपमा नामक उपमा है।। 207।।

टि०–इस कल्पितोपमा में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है। वस्तुतो भिन्नयोरपि उपमानोपमेयधर्मयोः सादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः। अथवा द्वयो र्द्विरभिधानम् बिम्बप्रतिबिम्बभावः–दोनों के सामान्य धर्म का अलग अलग कहना और उन धर्मों में सादृश्य का पाया जाना बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

जैसे–

भरे हुए कपोलों वाला, कस्तूरी के चूर्ण से बनाई हुई आधी आधी फूल पत्तियों वाला तुम्हारा मुख चमकती हुई सम्पूर्ण कलाओं वाले और स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाले कलङ्क (कालिमा) युक्त चन्द्रमण्डल के समान शोभित हो रहा है।। 289।।

टि०–यहाँ मुख के आपूर्णकपोल धर्म का चन्द्रमा के लसत्सकलकल धर्म के साथ तथा मुख के मृगमदलिखितार्द्धपत्रलेख धर्म का चन्द्रमा के स्फुटलाच्छन धर्म के साथ कल्पित प्रणिधानगम्य सादृश्य है।

6. छठी (असदुपमा नाम की उपमा) को कहते हैं–

यह वस्तु अद्वितीय है, यह बताने के लिए यदि उपमान और उसका विशेषण असत् होता है और यदि, वा (और चेत्) के अर्थों से जिसकी सम्भावना (कल्पना) करके प्रयोग होता है, वह भी एक (असत्) उपमा है।। 208।।

यथा–

उभौ यदि व्योम्नि पयःप्रवाहा-
वाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनील-
मामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः।। 290।।

यथा वा–

सुवृत्तमुक्ताफलजालचित्रितं
भवेदखण्डं यदि चन्द्रमण्डलम्।
श्रमाम्बुबिन्दूत्कर राजितं च ते
मुखं रतावित्युपमीयते प्रिये।। 291।।

प्राचामियमेकातिशयोक्तिः। कल्पिता लोकप्रसिद्धा चेति द्विधा सा।

जैसे–

यदि (नीले) आकाश पर आकाशगङ्गा के पानी की दो (सफेद) जलधारायें गिरने लग जायें तो उस (जल प्रवाहयुक्त) आकाश के साथ तमाल वृक्ष के समान नीले और लटकते मोतियों की (श्वेत) माला से संवलित (इन भगवान् कृष्ण) के वक्षःस्थल की उपमा दी जा सकती है।। 290।।

टि०–शिशुपालवध (3, 8) में भगवान् कृष्ण के वक्षःस्थल का वर्णन करते हुए कवि ने कल्पित आकाशगङ्गापयः प्रवाह संवलित आकाश उपमान के माध्यम से उसकी शोभा बतलाई है।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

हे प्यारी। यदि पूर्ण चन्द्रबिम्ब सुन्दर गोल मोतियों के समूह से जड़ा हुआ (सजा हुआ) हो जाय तब उसके साथ सुरत के समय में (रति के) परिश्रम के कारण उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं के समूह से शोभित तुम्हारे मुख की उपमा की जायेगी।। 291।।

टि०–यहाँ पूर्ण चन्द्र के साथ गोल गोल मोतियों का मेल हो जाने की कल्पना की है। इस प्रकार का अपने विशेषणसहित यह उपमान असत् है। ऐसा प्रयोग कवि ने मुख के अनुपम सौन्दर्य को बताने के लिए किया है।

प्राचीन आचार्यों के मत में यह (असदुपमा) एक अतिशयोक्ति (का भेद) है।

कविभिः कल्पितत्वात्कल्पिता। यथा–

उद्गर्भहूणरमणीरमणोपमर्द–
भुग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरै
र्विष्णोः पदं प्रथममग्रकरै र्व्यनक्ति।। 292।।

यथा वा–

अभिनवकुशसूचिस्पर्द्धि कर्णे शिरीषमिति।। 293।।

यथा वा–

इदानीं प्लक्षानां जरठदलविश्लेषचतुरः
शिखानामाबन्धः स्फुरति शुकचञ्चुपुटनिभः।

टि०–काव्यप्रकाश (10, 100) में आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति के भेद दिखाते हुए 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्–यदि शब्द और इसके समानार्थक चेत् शब्द को लगाकर जो कल्पना की जाती है, वह भी एक अतिशयोक्ति है ऐसा प्रतिपादन किया है। कल्पितोपमा के लक्षण से भिन्नता के कारण यह उपमा उससे पृथक् है।

वह असदुपमा कल्पित और लोकप्रसिद्ध इन दो प्रकारों की होती है। कवियों के द्वारा कल्पित होने से कल्पित (कहलाती) है।

(1. कल्पित असदुपमा का उदाहरण) जैसे–

आविर्भूत गर्भ वाली हूण वनिता के पति के द्वारा मर्दन करने से टेढ़े और ऊँचे स्तन विस्तार के सदृश चन्द्रमा का बिम्ब कठोर (पके हुए) कमलदण्ड के समान अपनी लाल पीली और सफेद (पहली पहली) किरणों के अग्रभाग से आकाशमण्डल को प्रकट कर रहा है।। 292।।

टि०–यहाँ चन्द्रमा की हूण रमणी के टेढ़े और ऊँचे सुडौल स्तन के साथ उपमा दी गई है और उसके गर्भ के कारण फैले हुए उदर की आकाश के साथ समानता व्यञ्जना से बताई है।

अथवा जैसे–

(इस सुन्दरी के) कान में नई कुशा की सूई (अग्रभाग) से होड़ करने वाला शिरीषकुसुम है।। 293।।

टि०–यहाँ कर्णपीड़ाप्रद शिरीषपुष्पाग्र की तुलना कुशा (घास) के अग्रभाग से की गई है।

अथवा जैसे–

ततः स्त्रीणां हन्त क्षणमधुरकान्तिं तुलयितुं
समन्तादुद्भाति स्फुटसुभगरागं किसलयम्[1] ।। 294 ।।

लोकप्रसिद्धा यथा–

इन्दीवरश्यामतनु नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु।। 295 ।।

पूर्णेव इवादि प्रयोगे श्रौती। तुल्यार्थे विहितस्य वतेः कल्पबादिप्रयोगे चार्थी।

आद्या यथा–

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा।। 296 ।।

इस समय पुराने पत्तों को अलग करने में निपुण और तोतों की (लाल) चोंचों के पुटों के समान पलाश के वृक्षों के शिखरों पर स्थित (रक्तपुष्पों की) रचना चमक (कर सुशोभित हो) रही है। प्रसन्नता की बात है कि उसके बाद क्षण भर के लिए स्त्रियों (के निचले ओठ) की कान्ति की बराबरी करने के लिए स्पष्ट रूप से सुन्दर रंग वाला यह नया पत्ता चारों ओर शोभित हो रहा है।। 294 ।।

टि०–यहाँ पर पलाश पुष्पों की उपमा तोतों की चोंचों के साथ और किसलय की उपमा रमणी के अधर के साथ दी गई है। ये सारे उदाहरण कल्पितोपमा के हैं।

लोकप्रसिद्धा (का उदाहरण) जैसे–

वह राजा नीलकमल के सदृश कृष्ण शरीर वाला है और तुम गोरोचन (गोपित्त) के सदृश गोरे रंग के सुन्दर शरीर वाली हो। तुम दोनों का मिलन बिजली और बादल के मिलन की तरह एक दूसरे की शोभा की वृद्धि के लिए हो।। 295 ।।

पूर्णा उपमा ही इवादि (इव, वा और यथा) के प्रयोग के होने पर श्रौती तथा तुल्यार्थ में किये गए वति के और कल्पप् आदि के प्रयोग से आर्थी है।

पहली (श्रौती का उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्! स्वयं) पति के अधिकार में रहने वाली और पति को (भी) अपने अधिकार में रखने वाली पतिव्रता नारी जैसे प्रगाढ़ अनुराग के जनक (अपने) सुन्दर पति को सपने में भी नहीं छोड़ती है (ठीक वैसे ही) विजयरूपी लक्ष्मी पराक्रम के उत्पत्ति स्थान अर्थात् परमवीर एवं लोकप्रिय तुमको सङ्ग्रामों में अपने से अलग नहीं करती है।।296 ।।

---

1. त; किशलयम् अ त

अत्र विजयश्रीरुपमेयं स्वाधीनपतिका उपमानम्, अपरित्यागः साधारणो धर्मः। यथाशब्दप्रयोगश्च।

आर्थी यथा–

चकितहरिणीलोललोचनायाः
क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः
सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते।। 297।।

अत्रापि पूर्ववद् बोध्यम्।[1]

यहाँ पर विजयश्री उपमेय है, स्वाधीनपतिका उपमान, अपरित्याग (न छोड़ना) सामान्य धर्म और (उपमावाचक) यथा शब्द का प्रयोग है (यथा पद के कारण यहाँ वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा है। (प्रभाव पद अनुराग और विक्रम अर्थों को भी बताता है।)

आर्थी (पूर्णोपमा का उदाहरण) जैसे–

(भय के कारण) चौंकी हुई हरिणी के समान चञ्चल नेत्रों वाली उस (नायिका) का क्रोध में जवान (देदीप्यमान) सूर्य के समान अत्यन्त सुन्दर कान्ति वाला यह लाल मुख कमल के समान है। इसलिए (क्रोध से लाल नायिका का मुख नायक के) मन में आनन्द उत्पन्न करता है।। 397।।

टि०–यहाँ किसी नायिका के सौभाग्य को उसकी सहेली दूसरी किसी सहेली के सामने प्रकट कर रही है। नायिका के क्रुद्ध हो जाने पर भी नायक के मन में अपनी नायिका के प्रति और अधिक प्यार उमड़ने लगता है। इस श्लोक में सरसिज उपमान, आनन उपमेय, अरुण के समान कान्तिमत्त्व साधारण धर्म और सम यह उपमावाचक शब्द होने से पूर्णोपमा है। वाक्य में तुल्यार्थक सम का प्रयोग होने से यह वाक्यगा आर्थी है। काव्यप्रकाश (10, 394) में भी यह उदाहरण है।

यहाँ पर यह भी पहले की तरह समझ लेना चाहिए।

टि०–पहले बताये हुए स्वप्नेऽपि० इत्यादि श्लोक में जैसे उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक ये चारों तत्त्व हैं, वैसे ही यहाँ भी हैं। इस कारण यह भी पूर्णोपमा है। अन्तर इतना है कि पहली में यथा का प्रयोग है और इसमें तुल्यार्थक सम का प्रयोग है। इस कारण पहली श्रौती है और यह आर्थी पूर्णोपमा है। काव्यप्रकाश (10, 394) में भी यह श्लोक है।

1. ज अ; बोध्यम् त में नहीं

समासे श्रौती यथा–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।298।।

आर्थी यथा–

आद्यन्तमध्यरहितं दशाहीनं पुरातनम्।
अद्वितीयमहं वन्दे मद्वस्त्रसदृशं हरिम्।।299।।

एवं तद्धितेऽपि बोध्या।

एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा।।209।।

समासगा (श्रौती का उदाहरण) जैसे–

वाणी और अर्थ के ज्ञान के लिए शब्द और (उसके) अर्थ की तरह परस्पर मिले हुए संसार के माता पिता पार्वती और शिव को मैं नमस्कार करता हूँ।।298।।

टि॰–'वागर्थाविव' इस वाक्यांश में 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' इस नियम से समास हो गया है। वाचक शब्द इव होने के कारण यह समासगा श्रौती का उदाहरण है। रघुवंश (1, 1) का यह श्लोक है।

आर्थी (समासगा का उदाहरण) जैसे–

(फटकर चिथड़े चिथड़े हो जाने के कारण) आदि, अन्त और मध्य भाग से रहित, (कपड़े की) किनारी (तक) से वञ्चित, पुराने तथा और (किसी के अपने समान जर्जर न होने से) अनुपम (अपने) कपड़े के सदृश भूत, वर्तमान और भविष्य अथवा प्रारम्भ, स्थिति और समाप्ति (इन सब अवस्थाओं) से रहित बाल्य, कौमार यौवन और वार्धक्य इन चार दशाओं से हीन, (सबसे) प्राचीन एवं अप्रतिम ईश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।।299।।

टि॰–इस दरिद्रोक्ति में 'मद्वस्त्रसदृशम्' यहाँ पर समास तथा तुल्यार्थक सदृश शब्द का प्रयोग है।

इसी प्रकार तद्धित में भी (श्रौती और आर्थी के भेद वाली) समझनी चाहिए।

7. मालोपमा–एक (उपमेय) के लिए ही बहुत सारे उपमानों का प्रयोग करने पर मालोपमा होती है।।209।।

यथा–

गायन्ति किन्नरगणाः सह किन्नरीभि–
रुत्तुङ्गशैलशिखरेषु हिमाचलस्य।
क्षीरेन्दुकुन्दशङ्खमृणालनाल–
नीहारहारहरहासनिभं[1] यशस्ते।। 300।।

यथा वा–

श्यामलतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे।
हंसीव कलालापा चैतन्यं हरति निद्रेव।। 301।।

भेदान्तरमाह–

अर्थानामौपम्ये यत्र बहूनां भवेद् यथापूर्वम्।
उपमानमुत्तरेषां सेयं रसनोपमेत्यन्या।। 210।।

जैसे–

हिमालय पर्वत के ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर किन्नरगण किन्नरियों के साथ दूध, चन्द्रमा, कुन्द, शङ्ख, कमलदण्ड, ओस, मुक्ताहार और महादेव के हास के समान (श्वेत) तुम्हारे यश का गान करते हैं।। 300।।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

प्रियङ्गुलता (हरी दूब या नील के पौधे) के समान कृशाङ्गी (पतली), चन्द्रकला के समान बहुत अधिक स्वच्छ, हंसिनी के समान मधुरभाषिणी यह (सुन्दरी) निद्रा के समान मेरी चेतना का अपहरण कर रही है।। 301।।

टि०–यहाँ एक नायिका के श्यामलता, चन्द्रकला और हंसी ये बहुत से उपमान होने से मालोपमा है।

8. रसनोपमा–(उपमा के) और दूसरे भेद को बतलाते हैं–

जहाँ बहुत सारे अर्थों के उपमेय होने पर पूर्व पूर्व के प्रति उत्तर उत्तर की उपमानता होती जाय तो यह दूसरी उपमा रसनोपमा होती है।। 210।।

टि०–इस उपमा में पहले वाक्य का उपमेय उत्तर वाक्य में उपमान बन जाता है और यह क्रम आगे चलता चला जाता है।

---

1. त; सितं ज अ

यथा–

नभ इव विमलं सलिलं सलिलमिवानन्दकारि शशिबिम्बम्।
शशिबिम्बमिव लसद्द्युति तरुणीवदनं शरत् कुरुते।। 302।।

यथा वा–

चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः।। 303।।

भेदान्तरमाह–

उपमानोपमेयोरवयवी अवयवाश्च यत्रोपमीयन्ते सा समस्तविषया इत्येकः प्रकारः।। 211।।

या तु केवलमवयवानामेव क्रियते स द्वितीयः।। 212।।

जैसे–

यह शरद् ऋतु आकाश के समान जल को स्वच्छ बना रही है। जल के समान चन्द्रमण्डल को आनन्ददायक बना रही है और चन्द्रमण्डल की भाँति नवयुवती के मुख को चमकीली कान्ति से युक्त कर रही है।। 302।।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

श्वेत कान्ति के कारण भी हंस चन्द्रमा जैसा आचरण करता है, सुन्दर गमन (चाल) से रमणी हंस जैसी प्रतीत होती है, स्पर्श में सुखकारी होने से जल सुन्दरी के समान लगता है और स्वच्छता के कारण आकाश जल के सदृश दीखता है।। 303।।

टि०–यहाँ चन्द्रायते आदि पदों में आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय (कर्तुः कर्म सलोपश्च (अ० 3, 1, 11) है। चन्द्र इव आचरति अर्थ है।

9. समस्तविषया उपमा के दूसरे भेदों को (ग्रन्थकार) कहते हैं–

जहाँ उपमान और उपमेय के अवयवी और अवयव उपमा के विषय बनते हैं, वह समस्तवस्तुविषया उपमा कहलाती है। यह एक भेद है।। 211।।

और जहाँ केवल अवयवों की ही उपमा की गई होती है वह दूसरा भेद है।।212।।

टि०–अन्य आचार्यों ने जैसे समस्तवस्तुविषयक रूपक और एकदेशविवर्ति रूपक माना है वैसे ही ग्रन्थकार ने भी समस्तवस्तुविषया और एकदेशविवर्तिनी दो प्रकार की उपमा मानी है। जहाँ अवयवों सहित उपमेयभूत अवयवी की अवयवों सहित उपमानभूत अवयवी के साथ तुलना की जाय वहाँ समस्तवस्तुविषया (साङ्ग) उपमा होती है और जहाँ उपमेय के किसी अङ्ग का साम्य उपमान के किसी अङ्ग के

उदाहरणम्–

मृणालिकाकोमलबाहुयुग्मा सरोजपत्रारुणपाणिपादा।
सरोजिनीचारुतनुर्विभाति प्रियालनीलोज्ज्वलकुन्तलासौ[1]।। 304।।

तथा–

पद्मचारुमुखी भाति पद्मपत्रायतेक्षणा।
दशनैः केशराकारैरलिनीलशिरोरुहा।। 305।।

साथ वाच्य हो और किसी अङ्ग का साम्य व्यङ्ग्य हो (उसके लिए किसी शब्द का प्रयोग न हो) तो वहाँ एकदेशविवर्तिनी उपमा होती है।

समस्तवस्तुविषया उपमा का उदाहरण–

कमललता के समान कोमल दो भुजाओं वाली, रक्तकमल की पँखुड़ियों के सदृश लाल हाथ और पैरों से युक्त, कमलिनी के समान सुन्दर शरीर से संवलित और पियाल के फल जैसे नीले और चमकीले बालों वाली वह सुन्दरी शोभित हो रही है।। 304।।

टि०–यहाँ असौ पद से प्रतीत होने वाली सुन्दरी उपमेयभूत अवयवी है और सरोजिनी उपमानभूत अवयवी है। उसके बाहु, हाथ, पैर और केश इन अङ्गों के क्रमशः मृणालिका, सरोजपत्र, और प्रियाल उपमान रखे हैं। इस प्रकार यहाँ अवयवों सहित अवयवी उपमेय की अवयवों सहित अवयवी उपमान के साथ तुलना होने से समस्तवस्तुविषया उपमा है। इसको साङ्गोपमा भी कहा जाता है।

और (एकदेशविवर्तिनी निरङ्गोपमा का) उदाहरण)

कमल के समान मुख वाली, कमलपुष्प की पँखुड़ी के समान विशाल नेत्रों वाली, केसर पुष्पकलिकाओं के आकार वाले दाँतों से युक्त और भौंरों के समान नीले बालों वाली यह सुन्दरी शोभित हो रही है।। 305।।

टि०–यहाँ सुन्दरी के केवल अवयवों के ही उपमान दिए हुए हैं। उसका अपना कोई उपमान नहीं है। अतः यह एकदेशविवर्तिनी या निरङ्ग उपमा है। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में उपमालङ्कार सर्वाधिक महत्त्व रखता है।

ग्रन्थकार ने उपमा के निम्नलिखित मुख्य 10 भेद बताये है। वाक्योपमा नामक उपमा के 6 भेद हैं। इनमें मालोपमा, रशनोपमा, समस्तवस्तुविषया और एकदेशविवर्तिनी के 4 भेद मिलकर 10 भेद बन जाते हैं।

I उपमा के मुख्य भेद

1. पूर्णोपमा–इसी का दूसरा नाम वाक्योपमा है।

---

1. ज अ; प्रियापि नीलोत्पलकुन्तलासौ त

2. लुप्तोपमा
3. उभयोपमा–इसे उपमेयोपमा और उपमानोपमा भी कहा जाता है।
4. अनन्वयोपमा
5. कल्पितोपमा
6. असदुपमा–प्राचीन आचार्यों के अनुसार इसी को अतिशयोक्ति नाम दिया जाता है।
7. मालोपमा
8. रशनोपमा
9. समस्तवस्तुविषया उपमा
10. एकदेशविवर्तिनी उपमा

दो भेदों वाली असदुपमा के लक्षण और उदाहरण बतलाने के बाद पूर्णोपमा के 6 प्रकार बताये गये हैं। इनमें वाक्यगा और समासगा भेदों को सोदाहरण दिखाया है किन्तु तद्धितगा के इन्हीं दोनों भेदों का सङ्केत भर कर दिया है। साहित्यदर्पणकार की भाँति इन्होंने भी पूर्णोपमा को 6 प्रकार की माना है।

II उपमा के भेदोपभेद

1. पूर्णोपमा (6 उपभेद)

1. श्रौती
   1. वाक्यगा 2. समासगा 3. तद्धितगा
2. आर्थी
   4. वाक्यगा 5. समासगा 6. तद्धितगा

2. लुप्तोपमा (5 उपभेद)

1. धर्मलुप्ता 2. उपमानलुप्ता 3. वाचकलुप्ता 4. द्विलुप्ता 5. त्रिलुप्ता

3. उभयोपमा–(1)
4. अनन्वयोपमा (1)
5. कल्पितोपमा (1)
6. असदुपमा (1)
7. मालोपमा (1)
8. रशनोपमा (1)

अथोत्प्रेक्षा–

उपमेय उपमानत्व[1]सम्भावनमुत्प्रेक्षा।।213।।

सम्भावनमुत्कटकोटिकः सन्देहः।[2] न च संशयालङ्कारेण गतार्थता अतुल्यकोटिकत्वादिति।

---

9. समस्तवस्तुविषया (1)

10. एकदेशविवर्तिनी (1)

6+5+1+1+1+2+1+1+1+1=20 भेद

इस भाँति उपमा के मुख्य भेद 10 हैं और भेदोपभेदों सहित यह 20 प्रकार की है। यहाँ ग्रन्थकार ने उपमा के अन्तर्गत उपमेयोपमा और अनन्वय का निरूपण कर दिया है। 1. उपमा 2. अनन्वय 3. उपमेयोपमा इन तीनों के बाद चौथे स्थान पर उत्प्रेक्षा का लक्षण दिया है। उन्होंने इन अर्थालङ्कारों की गणना इस प्रकार की है–उपमानन्वयौ स्यातामुपमेयोपमा ततः। (सा० सु० सि० 8, 192)

इसके बाद 4. उत्प्रेक्षा (का लक्षण) है–

उपमेय के भीतर उपमानत्व का सम्भावन उत्प्रेक्षा है।। 213।।

(उपमेय की कोटि में उपमान की) कोटि का प्रबल हो जाने वाला सन्देह सम्भावन कहलाता है (इसी सम्भावन अर्थात् प्रकृत उपमेय में अप्रकृत उपमान के प्रबल सन्देह को उत्प्रेक्षा कहते हैं)।

टि०–सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् (काव्यप्रकाश 10, 92) उत्प्रेक्षा में उपमेय की कोटि के दबने पर उपमान की कोटि (संशय की प्रधानता होने से) प्रबल हो जाती है।

(पूर्वपक्षी) संशयालङ्कार से इसकी गतार्थता हो जायेगी (अतः उस अलङ्कार के लक्षण में इस अलङ्कार के लक्षण का अन्तर्भाव हो सकता है)। (सिद्धान्ती–पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस (उत्प्रेक्षालङ्कार) में अतुल्यकोटि (असमान कक्षा अर्थात् उपमेय की अपेक्षा उपमान की कक्षा अधिक प्रबल) होती है (जबकि समानोभयकोटिकः संशयः सन्देहः–इस लक्षण के अनुसार सन्देहालङ्कार में उपमानकोटि और उपमेयकोटि दोनों ही बराबर होती हैं इस कारण यह उत्प्रेक्षा पृथक् अलङ्कार है)।

---

1. ज अ; उपमेयोपमानत्व.......त
2. ज अ; संशयः त

यथा–

घनसमयसलिलधौते नभसि शरच्चन्द्रिका विसर्पन्ती।
अतिसान्द्रतयेह नृणामङ्गान्यनुलिम्पतीवेयम्।। 306।।

अत्र चन्द्रिकाया अनुलेपनमसम्भाव्यमेव सम्भावितम्।

अत्रेदमवधेयम्– इह व्यङ्ग्योपमैव काव्यसर्वस्वभूतत्वादलङ्कार इति वस्तुस्थितिः, उत्प्रेक्षा तु तदुपस्थापिकेत्यलङ्कारतया व्यवह्रियते। एवं सन्देहरूपकादिष्वपि बोध्यम्।

जैसे–

वर्षाकाल के जल से धोये हुए आकाश में व्याप्त होती हुई (फैलती हुई) शरद् ऋतु की यह चाँदनी बहुत अधिक घनी होने के कारण इस लोक में लोगों के अङ्गों को मानों लीप सी रही है।। 306।।

यहाँ चाँदनी के भीतर (इसके जड़ होने के कारण) अनुलेपन असम्भव ही है (फिर भी) इसकी सम्भावना की गई है।

टि०–यहाँ कवि ने चन्द्रिका के आकाश में व्याप्त होने का वर्णन किया है। इस प्रकार चन्द्रिका की व्यापन क्रिया के ऊपर लोगों के अङ्गों पर अनुलेपन करने का आरोप है। अचेतन चन्द्रिका चेतन कर्ताओं के चन्दनादि अनुलेपन के कार्य को नहीं कर सकती और चाँदनी स्वयं ठोस द्रव्य भी नहीं है। इस प्रकार वस्तुतः चाँदनी के भीतर अनुलेपन असम्भव है फिर भी इस अलङ्कार में अचेतन कर्ता के धर्मों के ऊपर चेतन कर्ता के धर्मों का आरोप कर लिया जाता है।

यहाँ इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए यद्यपि यहाँ काव्य का सर्वस्व (सम्पूर्ण सार) व्यङ्ग्योपमा ही है इसलिए उसे ही अलङ्कार मानना चाहिए (यहाँ उस उपमालङ्कार का अवकाश भी है) यह वास्तविक स्थिति है। उत्प्रेक्षा भी तो उस उपमालङ्कार को उपस्थित करने वाली है इस कारण यहाँ (उपमा नाम न रखकर) उत्प्रेक्षा को ही अलङ्कार माना है। इसी प्रकार सन्देह और रूपक आदि अलङ्कारों में भी यही जानना चाहिए।

टि०–वस्तुतः घनसमय० इत्यादि श्लोक में सादृश्य होने से उपमा का भी अंश है। चन्द्रिका का आकाशव्यापन लोगों के अङ्गों पर अनुलेपन के समान है। किन्तु यहाँ इव वाचक पद से सादृश्य की अपेक्षा संशय की अधिक प्रतीति हो रही है। दोनों अलङ्कारों की प्राप्ति होने पर यह देखा जाता है कि चारुत्व किसके द्वारा हो रहा है। किन्तु उपमा में सादृश्य होता है। इस सादृश्य की झलक उत्प्रेक्षा में भी होती है। किन्तु

न च वाच्यामुत्प्रेक्षां विहाय किमिति व्यङ्ग्योपमायास्तावदलङ्कारत्वं स्वीक्रियते इति वाच्यम्, वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यप्रतीतेरधिकचमत्कारहेतुत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्। न

उत्प्रेक्षा में सादृश्यमात्र न होकर सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षण (सम्भावन) व्यापार भी होता है। यही सम्भावनव्यापार उत्प्रेक्षा रूप नये व्यपदेश (सञ्ज्ञा या नाम) का कारण बनता है। सन्देह और रूपक आदि अलङ्कारों में भी वास्तव में उपमा होती है परन्तु वहाँ पर सन्देह और रूपक उपस्थापक होते हैं। सादृश्य के आधार पर सन्देहालङ्कार में सन्देह की प्रक्रिया पाई जाती है तो रूपकालङ्कार में आरोपणप्रक्रिया होती है। इन व्यापारों के कारण उन उन अलङ्कारों का नाम सन्देह और रूपक हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक अलङ्कार की एक विशिष्ट प्रक्रिया होती है। उसी प्रक्रिया के आधार पर अलङ्कारों के स्वरूप निर्धारित किये जाते हैं और उसी के आधार पर व्यपदेश होते हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों के अंशों की जहाँ प्राप्ति होती है वहाँ जिसके कारण अधिक चमत्कार होता है अथवा जहाँ जिसकी प्रधानता होती है वहाँ वही अलङ्कार समझ लिया जाता है। इस सम्बन्ध में आलङ्कारिकों में प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति यह नियम प्रचलित है। जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों उपस्थित हों और उनमें किसकी प्रधानता मानी जाय? जब यह समस्या आ जाती है तो उसका समाधान ध्वन्यालोक (1, 13 वृत्ति) में यह बताया है–चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा– अर्थात् इन दोनों में से जिसमें अधिक चमत्कार हो उसी की प्रधानता मानी जायेगी। वाच्य और व्यङ्ग्य के सन्दर्भ में कही गई यह बात वाच्यालङ्कारों में भी लागू होती है। जब दो वाच्यालङ्कारों के बीच में यह स्थिति आ जाय कि वहाँ किसका व्यपदेश हो? तो वहाँ भी यही नियम काम करेगा। जिसके कारण उस लक्ष्यस्थल पर विशेष चमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है, वहाँ उसी अलङ्कार का नाम दिया जायेगा। उत्प्रेक्षा के उदाहरणों में यद्यपि सादृश्य भी पाया जाता है किन्तु वहाँ सादृश्य की अपेक्षा सम्भावन की प्रधानता होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार को ही माना जाता है। इस विवेचन से अलङ्कारों की चमत्कृतिजनकता सिद्ध होती है। चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम्।

(पूर्वपक्षी) और यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा को छोड़कर व्यङ्ग्योपमा अलङ्कार का यह घनसमयसलिल.......इत्यादि उदाहरण) क्यों स्वीकार किया जा रहा है? (इसमें तो सन्देह की प्रतीति कराने वाला इव शब्द है इस कारण यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा ही माननी चाहिए।)

(सिद्धान्ती–) इस प्रकार (की शङ्का करते हुए) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य की प्रतीति अधिक चमत्कार का कारण

चोपमाया व्यङ्ग्यत्वे नालङ्कारत्वमपित्वलङ् कार्यत्वमेवेति वाच्यम् रसपुष्टिद्वारा तस्या अलङ्कार्यत्वेऽप्यलङ्कारत्वानपायात्।

अथ संशयः (सन्देहः)–

वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति सन्देहः।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशयः स इति।। 214।।

भेदोक्तौ तदनुक्तौ च स द्विधा परिकीर्तितः।[1]

आद्यो यथा–

द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो
विधूमरोचिः किमयं हुताशनः।। 307।।

होती है यह सारे अलङ्कारशास्त्र के विद्वानों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है (अतएव यहाँ उपमा की व्यङ्ग्यता भी मानी जा सकती है)।

और उपमा के व्यङ्ग्य होने से उसकी अलङ्कारता नहीं रहती अपितु वह अलङ्कार्या (प्रधाना) ही हो जाती है यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसके अलङ्कार्या होने पर भी रसपुष्टि का हेतु होने के कारण उसके अलङ्कार होने में कोई अनिष्ट (बाधा) नहीं है।

इसके बाद 5. संशय (सन्देह का लक्षण बताया गया) है–

जहाँ एक वस्तु में अनेकवस्तुविषयक सन्देह होता है और सादृश्य के कारण बोद्धा (के मन के भीतर) का अनिश्चय पाया जाता है, वह संशय (सन्देह) अलङ्कार है।। 214।।

वह संशयालङ्कार भेद के कथन होने पर तथा उस (भेद) के न कहे जाने पर दो प्रकार का बतलाया गया है।

पहला (भेद के कथन करने की स्थिति का उदाहरण) जैसे–

क्या यह दो टुकड़ों में विभक्त सूर्य (का एक भाग) है अथवा क्या यह धूमरहित दीप्ति वाली अग्नि है?।। 307।।

टि०–यहाँ किसी परम तेजस्वी राजा का वर्णन है और राजा और सूर्य में भेद है। राजा सामान्य सूर्य से भिन्न उसका एक टुकड़ा बन कर रह गया है। प्रदीप्त अग्नि से भी राजा का भेद बताया गया है।

---

1. त; स द्विधा भेदोक्तौ तदनुक्तौ च ज अ

यथा वा–

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः
प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः
किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।। 308।।

द्वितीयो यथा–

इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनि।
न निश्चिनोमि सततं किन्तु दोलायते मनः।। 309।।

अयं निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च। यथा–[1]

एतत् किं शशिबिम्बं न तदस्ति कथं कलङ्कमङ्केऽस्य।
किं वा वदनमिदं कथमियती प्रभास्य स्यात्।। 310।।

और (दूसरा उदाहरण) जैसे–

(अरुण सारथिवाले) सूर्य का (आकाश में) गमन तिरछा होता है। अग्नि का ऊपर की ओर जलना प्रसिद्ध है (किन्तु) इस व्यक्ति का तेज चारों ओर फैलता हुआ नीचे की ओर गिर रहा है। इस प्रकार यह क्या हो सकता है? यह सोचते हुए लोगों के द्वारा नारद मुनि बड़ी (उत्सुकता भरी) व्याकुलता के साथ देखे गये।। 308।।

टि०–यहाँ सूर्य और अग्नि के विशेष धर्मों को कहकर उनसे नारद मुनि का भेद बताया है यह दोनों उदाहरण भेदोक्ति के हैं।

दूसरा (भेद की अनुक्ति का उदाहरण) जैसे–

अरी रमणीय सुन्दरी। यह कान का कमल है अथवा यह नेत्र है इस सम्बन्ध में निरन्तर निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ, परन्तु मेरा मन डाँवाँडोल हो रहा है।। 309।।

टि०–यहाँ कर्णोत्पल और चक्षु में भेद न बताकर उन्हें एक ही बताया गया है।

यह संशय 1. निश्चयगर्भ और 2. निश्चयान्त भी होता है।

1. (निश्चयगर्भ का उदाहरण) जैसे–

क्या यह चन्द्रमण्डल है? (यदि चन्द्रमण्डल है) तो इसके मध्य में वह

---

1. ज अ; तद् यथा त

निश्चयान्तो यथा–

किमिन्दुः किं पद्मं किमु मुकुरबिम्बं किमु मुखम्
किमब्जे किं मीनौ किमु मदनबाणौ किमु दृशौ।
खगौ वा गुच्छौ वा कनककलशौ वा किमु कुचौ
तडिद् वा तारा वा कनकलतिका वा किमबला।। 311।।

वस्तुतस्तु तुल्ययुक्तिकतया संशयस्येव निश्चयस्याप्यलङ्कारत्वं युक्तं सम्मतं च

काला कलङ्क (धब्बा) क्यों नहीं है? (अतः यह चन्द्रमा तो हो नहीं सकता) तो क्या यह मुख है? (यह मुख भी नहीं है क्योंकि इस मुख की) इतनी दीप्ति कैसे हो सकती है?।। 310।।

टि०–यहाँ वास्तव में सब कुछ मुख के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। मध्य में तो निश्चय हो गया है किन्तु प्रभा का वर्णन कर देने से फिर यह अनिर्णीत रह गया है।

2. निश्चयान्त (का उदाहरण) जैसे–

क्या यह चन्द्रमा है? क्या यह कमल है? अथवा क्या यह मण्डलाकार दर्पण है अथवा क्या यह मुख है? क्या ये कमल हैं क्या ये मछलियाँ हैं? क्या ये कामदेव के बाण हैं? अथवा क्या ये आँखें हैं? क्या ये पक्षी हैं? अथवा क्या ये फूलों के गुच्छे हैं? अथवा क्या ये सोने के कलश हैं अथवा क्या ये स्तन हैं? क्या यह बिजली है अथवा क्या यह (आसमान में रहने वाला) तारा है? क्या यह सोने की लता है अथवा क्या यह (नाजुक) रमणी है?।। 311।।

टि०–यहाँ पादान्त में विद्यमान मुखम्, दृशौ, कुचौ और अबला ये पद अन्तिम विकल्प के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अन्त में उल्लेख होने के कारण यह सन्देह निश्चयान्त है क्योंकि विकल्पों में अन्तिम विकल्प की प्रधानता होती है।

वास्तव में तो समान युक्तियाँ होने के कारण संशय की तरह निश्चय को (भी) अलग अलङ्कार मानना ठीक है।

टि०–यहाँ निश्चयान्त सन्देह में सन्देहालङ्कार न मानकर निश्चयालङ्कार मानना चाहिए यही सिद्धान्ती का आशय है। क्योंकि यहाँ जैसे संशय में चमत्कार होने के कारण संशय को संशयालङ्कार का हेतु माना गया है वैसे ही निश्चय को चमत्कार हेतु मानकर इसे निश्चयालङ्कार माना जा सकता है। अन्तिम अबला आदि पदों से निश्चय की ओर अधिक झुकाव हो जाता है।

प्राचाम्। अथ यदि सादृश्यदर्शनाद् भवति संशय इति सादृश्यव्यञ्जकतया चमत्कारा-धायकत्वेन भवति संशयस्यालङ्कारत्वं न निश्चयस्येति तदा सादृश्यस्यैवालङ्कारत्वमस्तु संशयस्तु तद्व्यञ्जक इति निष्कर्षः।[1]

अथ रूपकम्–

यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
[अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्][2] ।। 215 ।।

और (निश्चयान्त संशय को निश्चयालङ्कार मानना) यह मत प्राचीन आचार्यों को भी मान्य है। और यदि (पूर्वपक्षी की ओर से) यह कहा जाय क्योंकि यहाँ सादृश्य स्पष्ट दिखाई देता है इसलिए इसको संशय ही कहा जायेगा क्योंकि सादृश्यव्यञ्जकता में ही चमत्काराधायकता होने से संशय की तो अलङ्कारता सिद्ध हो जायेगी परन्तु निश्चय की (अलङ्कारता की सिद्धि) नहीं (क्योंकि नियम यह है कि जहाँ पर जिसमें चमत्काराधायकता होती है, वहाँ पर वही अलङ्कार माना जाता है–इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं) यदि सादृश्य को लेकर ही अलङ्कारत्व बनता है तब तो यहाँ सादृश्य ही अलङ्कार हो जायेगा और संशय उसका व्यञ्जकमात्र हो जायेगा (और इस प्रकार संशयालङ्कार के स्थान पर यहाँ उपमा की सिद्धि हो जायेगी) यह सारांश है।

टि०–सिद्धान्ती का यह अभिप्राय है कि निश्चयान्तसन्देह के '**किमिन्दुः किं** पद्मम् इस उदाहरण को निश्चयालङ्कार मानना चाहिए क्योंकि इसमें निश्चय की प्रबलता है। इन्होंने आचार्य विश्वनाथ (सा० द० 10, 31 वृत्ति) की तरह संशय के एक भेद के रूप में तो निश्चयान्त को दिखा दिया है किन्तु ये इस भेद की वैसे ही उपेक्षा करना चाहते हैं जैसे भट्टोद्भट ने कर दी है(.........किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन काव्यप्रकाश 10, 420 वृत्ति)। अर्थात् निश्चयान्त सन्देह का भेद न होकर निश्चयालङ्कार है।

इसके बाद 6. रूपक (का निरूपण) है–

I. जहाँ गुणों की समानता होने पर उपमान और उपमेय के अभेद की कल्पना पाई जाय और वहाँ सामान्य धर्म अविवक्षित हो (उसका शब्द के द्वारा ग्रहण न हो) वह रूपक का पहला प्रकार है।। 215 ।।

---

1. ज अ; तत्त्वम् त
2. परिवर्धित–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार 8, 38; ज अ त में द्वितीय पङ्क्ति नहीं।

अभिदेति। अत्र केचित्। उपमानवाचकपदेन सादृश्यसम्बन्धा[1]दुपमेयं मुखादि लक्ष्यते। तेन वास्तव एवाभेदः। तेनाभिधेत्यविवक्षितम्।[2] अन्यथा अयोग्यताज्ञाने परिपन्थिनि शब्दादभेदधीरेव नोत्पद्यते इति।

अत एवाहुः-

यहाँ अभिदा इस पद के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है-

उपमानवाचक पद से (लक्षणा के द्वारा) उपमेय मुखादि लक्षित होता है अर्थात् लक्ष्यार्थ के रूप में उपमेय का बोध होता है और सादृश्याख्य सम्बन्ध से यह लक्षणा होती है (अभेद का तात्पर्य यही है)।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार में रूपक का यही लक्षण दिया है। ग्रन्थकार ने द्वितीय पङ्क्ति छोड़ दी है। गौ र्वाहीकः जैसे लक्षणा के उदाहरणों में गौ पद में लक्षणा करके वाहीक को लक्ष्यार्थ माना जाता है और जाड्यमान्द्यादिसादृश्या सम्बन्ध से यह लक्षणा होती है। यही गौणी लक्षणा रूपक में कारण बनती है।

अतएव यहाँ यह अभेद वास्तविक ही होता है। इसीलिए (यहाँ रूपक में) अभिधा विवक्षित नहीं है (केवल अभिधा से ही काम नहीं चलता इसी कारण लक्षणा माननी पड़ती है)।

नहीं तो (अर्थात् यदि यहाँ लक्षणा स्वीकार न करके अभिधा को ही माना जाय तो) योग्यताभाव रूप विरोधी ज्ञान के होने पर (उपमेय और उपमान रूप में प्रयुक्त) शब्द से अभेदबुद्धि ही नहीं उत्पन्न होगी।

टि०–यदि मुखं चन्द्रः जैसे उदाहरणों में अभिधा से ही अभेदप्रतीति मान ली जाय तो यहाँ तुरन्त ही योग्यता की आवश्यकता होगी। पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः योग्यता–इस योग्यता के लक्षण के अनुसार तो यहाँ मुख और चन्द्रमा में सम्बन्ध ही उपपन्न नहीं होता। इस योग्यता के माध्यम से ही अभिधा अभेदज्ञान करा सकती है किन्तु मुख और चन्द्र अभिधा के द्वारा अपने अपने अर्थ को बता देने पर भी पारस्परिक सम्बन्ध को बताने में अयोग्य हैं। इस कारण यहाँ अभेदज्ञान की प्रतीति लक्षणा से ही माननी पड़ती है।

इसीलिए आचार्य कहते हैं–

---

1. ज अ; सम्बन्धेनोपमेयं त
2. त; तेना......वक्षितम् यह अंश ज अ में नहीं

यदोपमानशब्दानां गौणीवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः।। इति।

तथा च मुखं चन्द्र इत्यत्र चन्द्रसजातीयभूयोधर्मवन्मुखमिति प्रतीतिरित्याहुः। तन्न, रूपकोपमयोरभेदप्रसङ्गात् सम्मतं न प्राचाम्।

अथ सादृश्यमुपमा[1]। सादृश्यस्य दलद्वयं तद्भिन्नत्वं तद्गतभूयोधर्मवत्त्वञ्च। भूयो-धर्मवत्त्वमात्रं रूपकमित्यनयो र्भेदो यथाकथञ्चिन्निर्वाहनीय इति चेत् काव्यपितृवैरिन्!

गौणी वृत्ति के अवलम्बन से जब उपमानवाचक पदों का उपमेयवाचक पद में प्रयोग होने लगता है तो विद्वान् उसे रूपक के रूप में जानते हैं। यह उनका वचन है।

टि०–इस उद्धरण से रूपक में गौणी लक्षणा की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है।

और मुखं चन्द्रः–इस (स्थान) में चन्द्र के सजातीय (चन्द्र में रहने वाले धर्मों से मिलते जुलते) बहुत सारे धर्मों वाला यह मुख है, इस प्रकार का शाब्दबोध होता है, ऐसा भी ये विद्वान् कहते हैं।

टि०–अत्र केचित्.........प्रतीतिरित्याहुः तक पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षी का कहना है कि मुखं चन्द्रः–में लक्षणा के माध्यम से चन्द्रसजातीयभूयोधर्मवन्मुखम् यह अन्तिम शाब्दबोध होता है।

(सिद्धान्ती) यह मत ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर रूपक और उपमा दोनों में ही अभेद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। इन दोनों में यह अभेद प्राचीन आचार्यों को स्वीकार्य नहीं है।

टि०–सिद्धान्ती के अनुसार रूपक और उपमा में अभेद प्रसङ्ग इस प्रकार बनता है–रूपक की जो अन्तिम प्रतीति पूर्वपक्षी ने कराई है वह चन्द्रगतभूयोृधर्मवन्मुखम् इस रूप में है और उपमा सादृश्य से बनती है और सादृश्य का लक्षण है–तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् इस प्रकार तद्गतभूयोृधर्मवत्त्व विशेषण को लेकर यह दोनों ही अलङ्कार एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं। यही इन दोनों में अभेदप्रसङ्ग (अर्थात् एक ही लक्षण के दोनों अलङ्कारों में चले जाने) का कारण बन जायेगा। मम्मटादि प्राचीन आचार्य उपमान और उपमेय में अतिशय (अभेद) के कारण रूपक और इन दोनों में साम्य मात्र के कारण उपमा मानते हैं। इस कारण इन दोनों अलङ्कारों के पृथक् पृथक् लक्षण हैं। तद् रूपकमभेदो। काव्यप्रकाश 10, 93 साधर्म्यमुपमाभेदे का० प्र० 10, 87

(इस अभेद पक्ष के विरुद्ध पूर्वपक्षी की ओर से यह कहा जा सकता है)

---

1. त; ज अ में नहीं

चन्द्राभिन्नं मुखं चन्द्रभूयोधर्मवन्मुखमित्यनयो: प्रतीत्यो: का चमत्कारकारिणीति[1] भूयो भूय: क्षालितान्त:करणेन त्वयैव साक्षित्वेनाभिधीयताम्। अथाद्यप्रतीतिश्चमत्कारिणीति न विवाद: किन्तु बाधनिश्चये जागरूके अभेदप्रतीतिरेव दुर्घटा इत्येव ब्रूम इति चेत्,

---

और इसके अतिरिक्त सादृश्य को (ही) उपमा कहा जाता है। इस सादृश्य के लक्षण के (तो) दो दल अर्थात् अंश हैं–1. तद्भिन्नत्व तथा 2. तद्गतभूयोधर्मवत्त्व। और रूपक में केवल भूयोधर्मवत्त्वमात्र है। यही इन दोनों अलङ्कारों में भेद है। (रूपक से भेद रखने के लिये उपमा के लक्षण में ये दोनों विशेषण रखे गये हैं)। इस प्रकार (उपमा में दो दल रख कर और रूपक में केवल एक दल रखकर) इन दोनों में भेद मानकर ज्यों त्यों करके काम चला लेना चाहिए (इस प्रकार इन दोनों का एक ही लक्षण होने का प्रश्न नहीं उठाना चाहिए)।

और यदि (पूर्वपक्षी की ओर से) ऐसा कहा जाय तो (सिद्धान्ती कहते हैं कि) हे काव्य के (सर्वस्वभूत) माता पिता (उपमा और रूपक अलङ्कारों) से द्वेष करने वाले (इनकी जड़ें खोदने वाले) बार बार अपने मन को धोकर शुद्ध करने वाले और साक्षी (स्वयं अनुभवी) बने हुए तुम ही यह बताओ कि मुख चन्द्रमा से अभिन्न है (इस रूपक के लक्षण में) और चन्द्रमा के अधिक धर्मों से युक्त मुख है– इन दो प्रतीतियों में से कौन सी अधिक चमत्कार को करने वाली है।

टि०–उपमा और रूपक से और बहुत से अलङ्कारों की सृष्टि होती है। इस कारण इनको अलङ्कारकाव्यों का माता पिता कहा जाता है। काव्यपितृवैरिन् में पितृ शब्द माता पिता का वाचक है। (इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि)

और पहली प्रतीति अर्थात् चन्द्राभिन्नं मुखम् इस रूपक के ज्ञान को अधिक चमत्कार वाला मानने में तो हमारा विवाद नहीं है।

टि०–उपमा से तो केवल उपमान और उपमेय में सादृश्यज्ञान होता है और मुख और चन्द्रमा में भिन्नता भी दीखती है परन्तु रूपक में सर्वथा अभेद स्थापित होने से अपकृष्ट गुण वाला उपमेय उत्कृष्ट (अधिक) गुण वाला उपमान ही बन जाता है, इसलिए अधिक चमत्कार हो जाता है। उपमेयता––तदेवोपस्कारत्वविशिष्टमलङ्कार:। रसगङ्गाधर द्वितीय रूपकम् (अत्र उपस्कारकत्वमिति पदं चमत्कारप्रकर्षकत्वमित्यर्थे प्रयुक्तम्)

परन्तु मुख्यार्थ के बाध होने के निश्चय के प्रबल हो जाने पर अभेद प्रतीति

---

1. त; चमत्कारिणी ज अ

आयुष्मन्, सौसादृश्य[1] विषयमाहात्म्येन बाधनिश्चयं परिभूयाभेदप्रतीतिरिति गृहाण। सत्यपि बाधनिश्चये नीलं तम इति प्रतीतिवदिति[2] दिक्। निर्गलितार्थस्तु उपमानोपमेययो गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम्।

का होना ही कठिन है। (जो मुख है वह चन्द्रमा नहीं बन सकता क्योंकि जो वस्तु जो नहीं है वह वस्तु वह कैसे बन सकती है?) यही बात हम कहते हैं।

(सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी की ओर से) यदि ऐसा कहा जाय (तो इसका यह उत्तर है) हे दीर्घजीवी विद्वान्। (मुखं चन्द्रः इत्यादि रूपक के प्रयोगों में सुन्दर सादृश्य का विषय बन जाने की महिमा से बाधनिश्चय की अवहेलना करने से अभेद की प्रतीति हो जाती है ऐसा समझो। (ऐसे वाक्यों में) यद्यपि मुख्यार्थबाध का निश्चय हो जाता है (इस कारण अभेद मानने में कठिनाई भी होती है) तथापि जैसे नीलं तमः इस (वाक्य को सुनने) से अभेद की प्रतीति होती है, वैसी ही प्रतीति यहाँ होती है। इतना यहाँ सङ्केत रूप में बता दिया है।

टि०–'नीलं तमः' इस वाक्य में मुख्यार्थ का बाध हो जाता है तेजोऽभाव का नाम तमः–अन्धकार है। अन्धकार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः नीलं पद तमः का विशेषण नहीं हो सकता। जो नील है वह तमः नहीं और जो तमः है वह नील नहीं, फिर भी नीलं तमः (काला या नीला अन्धेरा) जैसे वाक्यों का 'नीलाभिन्नं तमः' इस अर्थ में प्रयोग होता है। दिक् शब्द का अर्थ दिशानिर्देश है। जैसे पूरा मार्ग न बताकर उसकी दिशामात्र बताने से भी व्यक्ति गन्तव्य पर पहुँच जाता है, इसी प्रकार पूरी बात न बताकर यदि उसकी ओर सङ्केत भी कर दिया जाता हैं तो समझदार आदमी थोड़े इशारे से पूरी बात समझ लेता है।

सारभूत अर्थ (सारांश) तो यह है–गुणों की समानता होने से उपमान और उपमेय के भीतर उस उपमेय के ऊपर उस (उपमान) का अभेदारोप रूपक कहलाता है।

टि०–पूर्वपक्षी ने मुखं चन्द्रः–इस रूपक के उदाहरण में चन्द्रसजातीय-भूयोधर्मवन्मुखम् इस प्रकार का शाब्दबोध माना है। इस पर सिद्धान्ती को यह आपत्ति रही है कि ऐसा शाब्दबोध स्वीकार करने पर उपमा और रूपक में अभेद सिद्ध हो

---

1. ज अ; सादृश्यवि......त
2. ज अ; प्रतीतिवदिति त में नहीं

यथा–

द्राघीयःसहचारवासमिलितस्नेहादतीवोत्कटा-
दङ्कन्यस्तकलङ्कपङ्कसहितः कङ्कः शशाङ्कोऽपरः।
ज्योतिर्मण्डलपुण्डरीकमुकुले पद्माकरे पुष्करे
नारीणां ग्रसमान एष वलते मानौघमीनोत्करान्।। 312।।

यथा वा–

कमलाक्षेपिणि सुमुखीमुखचन्द्रे चन्द्रिकालोभात्।
लोचनचकोरयुगलं चकार वासं किं[1] न जानीमः।। 313।।

जायेगा। अर्थात् दोनों का एक ही लक्षण बन जायेगा किन्तु यदि रूपक का-उपमानोपमेययोर्गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम् यह लक्षण माना जाय तो इसका लक्षण उपमा के लक्षण से पृथक् हो जायेगा क्योंकि उपमा में अभेदारोप होता ही नहीं है।

जैसे–

अत्यन्त प्रमाद एवं अधिक लम्बे समय तक साथ साथ रहने से मिले हुए स्नेह के कारण गोद में रखे हुए कलङ्क रूपी कीचड़ से युक्त यह दूसरा चन्द्रमा रूपी बगुला नक्षत्रसमूह रूपी कमलों की कलियों वाले आकाश रूपी सरोवर में नारियों के प्रणयमानों (प्रणयकोपों) रूपी मछलियों के समूहों को खाता हुआ घूम रहा है।। 312।।

टि०–यहाँ कलङ्क में पङ्क, शशाङ्क में कङ्क, ज्योतिर्मण्डल में पुण्डरीकमुकुल, पुष्कर में पद्माकर और मानौघों में मीनोत्करों का अभेद आरोप है इस कारण यहाँ रूपकालङ्कार है।

अथवा जैसे–

कमलों को तिरस्कृत करने वाले सुन्दरी के मुख रूपी चन्द्रमा पर चाँदनी के लोभ से नेत्र रूपी दो चकवे रहने लगे हैं इतनी सी बात को हम (अभी तक) क्यों नहीं जान पाये हैं।। 313।।

टि०–यहाँ मुख में चन्द्रमा और लोचन में चकोर का अभेदारोप है।

---

1. त; किं पद ज अ में परित्यक्त

यथा वा–

श्यामचामरचमत्कृतान्तरं राजतफलकमिन्दुमण्डलम्।
गूढसर्वधनुषो मनोभुवो धीरवीरविजयाय जृम्भते।।[1] 314।।

यथा वा–

हिन्दोलिकेयमिन्दोः कलिकाभङ्गस्य कौसुमी जयति।
यामानीय मनोभूरान्दोलयति प्रवासिचेतांसि।।315।।

यदा एकस्मिन् बहवः आरोपितास्तदा मालारूपकम्।।216।।

यथा–

रूपामृतस्य वापी कापि जयश्रीरनङ्गस्य।
विभ्रमरसैकसम्पज्जयति जनानन्दिनी बाला।।316।।

अथवा जैसे–

(अपने) सबके धनुषों को छिपाने (अर्थात् व्यर्थ करने) वाले कामदेव के काले चामर से चमत्कारपूर्ण (विशेष रूप से शोभित) मध्यभाग वाली चन्द्रमण्डल रूपी यह चाँदी से बनी जो ढाल फैल रही है वह धैर्यशाली और शूरवीर व्यक्तियों को परास्त करने के लिए है।314।।

टि०–यहाँ इन्दुमण्डल पर राजतफलक और चन्द्रकलङ्क पर श्यामचामर का आरोप होने से रूपक है।

अथवा जैसे–

चन्द्रमा की कलाओं रूपी कलियों के टुकड़ों से बनी हुई पुष्पमयी रचना रूपी यह हिंडोली (छोटा झूला) अत्यधिक उत्कर्ष वाली है जिसको लाकर यह कामदेव प्रवासी नायकों के चित्तों को डाँवाँडोल कर देता है।।315।।

टि०–यहाँ इन्दु की कौसुमी रचना के ऊपर हिण्डोलिका का आरोप है।

II. जब एक उपमेय के ऊपर बहुत सारे उपमानों का आरोप होता है तो मालारूपक होता है।।216।।

जैसे–

रूप रूपी अमृत की अनिर्वचनीय बावड़ी, कामदेव की विजयलक्ष्मी, विलासरसों अर्थात् हावभावों से उत्पन्न आनन्दों की एकमात्र सम्पत्ति (बनी हुई) और लोगों को आनन्दित करने वाली यह युवती रमणी विजयशालिनी (सर्वातिशायी प्रभाव वाली) है।।316।।

---

1. ज अ; विजृम्भते

(यो य: पूर्वोऽर्थ: स स उत्तरेषामुपमेयमिति रशनारूपकम्)[1]

रशनारूपकं यथा–

किसलयकरै र्लतानां करकमलै: कामिनां मनो जयति।
नलिनीनां कमलमुखै र्मुखेन्दुभि र्योषितां मदन:।।317।।

अत्र यो य: पूर्वोऽर्थ: किसलयादि: उत्तरोत्तरेषां[2] करादीनामुपमेयमिति।

यत्रारोपान्तरनिर्वाहायारोप: क्रियते तत्परम्परितं रूपकम्।। 217।।

यथा–

स्मरशबरचापयष्टिर्जयति जनानन्दजलधिशशिलेखा।
लावण्यसलिलसिन्धु: सकलकलाकमलसरसीयम्।।318।।

टि०–यहाँ बाला रूपी एक उपमेय के ऊपर रूपामृतवापी, अनङ्गस्य जयश्री और विभ्रमरसैकसम्पत् इन अनेक उपमानों का आरोप है।

III. जो जो पहला उपमान रूप पदार्थ है वह वह जब उत्तरवर्तियों का उपमेय बन जाता है तो वह रशनारूपक होता है।

रशनारूपक (का उदाहरण) जैसे–

लताओं के नवपल्लव रूपी हाथों से, कामियों के हाथ रूपी कमलों से, कमलिनियों के कमल रूपी मुखों से और रमणियों के मुख रूपी चन्द्रों से यह कामदेव (सांसारिक व्यक्तियों के) मनों को जीत रहा है।। 317।।

यहाँ जो जो पहली किसलयादि वस्तु है वह बाद बाद के करादियों की उपमेय है।

टि०–यहाँ पहले जो उपमान रूप में वर्णित हैं वे बाद में उपमेय रूप में रखे गये हैं। इस कारण यहाँ रशनारूपक है। किसलयकर में कर उपमान है तो करकमल में वह उपमेय है। इसी प्रकार कमलमुख में मुख उपमान है तो मुखेन्दु में वह उपमेय है।

IV. परम्परितरूपक–जहाँ दूसरे आरोप के निर्वाह (सिद्धि) के लिए पहला आरोप किया जाता है वह परम्परित रूपक है।। 217।।

टि०–इस रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बनता है।

कामदेव रूपी भील की धनुर्यष्टि रूप यह नायिका लोगों के आनन्द रूपी समुद्र की चन्द्रकला बनी है, सौन्दर्य रूपी जल के लिए समुद्र रूप है और सारी कलाओं रूपी कमलों के लिये महासरोवर रूप है (अतएव यह सुन्दरी) सर्वातिशायिनी एवं प्रभावशालिनी है।। 318।।

---

1. संशोधित पाठ 2. ज अ; उत्तरेषां त

वस्तुतस्त्वत्राप्युपमैवालङ्कार इति व्यवस्थापयिष्यते। न च[1] चन्द्राभिन्नं मुखं चन्द्रवन्मुखमिति प्रतीत्यो र्भेद इति वाच्यम्,[2] व्यङ्ग्यसादृश्यप्रतीतेः सर्वसम्मतत्वात्[3]। अतएवोपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते[4] इत्युक्तं तल्लक्षणमपि!

टि०–यहाँ नायिका में चापयष्टि के आरोप में स्मर के ऊपर शबर का आरोप कारण है। जब तक स्मर के ऊपर शबर का आरोप नहीं किया जायेगा, तब तक नायिका के ऊपर चापयष्टि का आरोप निष्पन्न नहीं होगा। आनन्दजलधि, लावण्य और सकलकला के ऊपर शशिलेखा, सलिलसिन्धु और कमलसरसी के आरोप किये गये हैं।

वास्तव में तो यहाँ भी उपमालङ्कार ही है यह बात आगे स्थापित (निश्चित) की जायेगी।

(शङ्का) और चन्द्र से मुख अभिन्न है और मुख चन्द्रमा के समान है इन दोनों प्रतीतियों में (विलक्षणता होने से) भेद है (अतः पहली प्रतीति में रूपक और दूसरी में उपमा है, पूर्वपक्षी को) यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ व्यञ्जना से सादृश्य की ही प्रतीति होती है। यह मत सारे आचार्यों के द्वारा अनुमोदित है।

टि०–वस्तुतः दोनों अलङ्कारों में प्रतीति तो सादृश्य की ही होती है। रूपक में यह प्रतीति उपमेय और उपमान दोनों में अभेदज्ञानोपरान्त होती है और उपमा में दोनों में भेदज्ञान के रहते हुए होती है।

इसलिए उपमा ही जब (उपमान और उपमेय के) भेद को छिपा लेती है (और इन दोनों की अभेदप्रतीति कराती है) तब वह रूपक मान ली जाती है (दण्डी ने) उपमैव-रुपकमुच्चते (काव्यादर्श 2, 66) यह रूपक का लक्षण भी बताया है।

टि०–आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में बताया है कि यदि अतिशय सादृश्य को बताने के लिए उपमान और उपमेय का भेद छिपाकर दोनों में अभेद सा बता कर कहा जाय तो वही सादृश्य रूपक बन जाता है। उन्होंने अपना यह मत बताया है।

---

1. ज अ; न तु त
2. ज अ; चेत् न त
3. ज अ; प्रतीतेः सम्मतत्वात् त
4. त; रूपकमिति तल्लक्षणमपि ज अ

अथापह्नुतिः–

उपमेयतावच्छेदकनिषेधविषयिका उपमेये उपमानतावच्छेदक-धर्मप्रतीतिः ।।218 ।।

यथा–

कीर्त्तिस्ते नृप योगिनी स्फुटमियं सर्वत्र दिव्यापगा
गङ्गा भोगवती मिषात् त्रिभुवने भूत्वा त्रिधा वर्तते।
किञ्च क्षीरधिचन्द्रकुन्दकुमुदप्रालेयशैलच्छलात्।
कायव्यूहमिवाकरोद् यदिह तन्मुक्तैव जाताद्भुतम्।।319।।

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः।।

काव्यादर्श 2, 66

लता के समान बाहु, कमल के सदृश हाथ और पल्लव की तरह चरण ये सबही बाहु रूपी लता, हस्त रूपी कमल और चरण रूपी पल्लव इन अर्थों को बता देते हैं।

इसके बाद 7. अपह्नुति (का निरूपण) है–

(उपमेय में) उपमेयता के अवच्छेदक के निषेध के विषय वाली तथा उपमेय में उपमानता के अवच्छेदक धर्म की प्रतीति कराने वाली अपह्नुति होती है।। 218 ।।

टि०–'नेदं मुखमपितु चन्द्रः' जैसे अपह्नुति के उदाहरणों में पहले मुख में मुखत्व रूप धर्म (उपमेयतावच्छेदक) का निषेध किया जाता है तदनन्तर उसमें उपमानता के धर्म (चन्द्रत्व) का आरोप किया जाता है। सामान्यतः अपह्नुति का यही स्वरूप है।

जैसे–

हे राजन्! तुम्हारी कीर्ति (ख्याति) स्पष्ट रूप में अर्थात् साक्षात् मूर्तिमती (भस्म युक्त शरीर वाली अतएव श्वेत रंग वाली) योगिनी (जादू जानने वाली अथवा योगाभ्यासिनी स्त्री है) और यह (अब) चारों ओर (बहने वाली) विपुल विस्तारवाली देवनदी गङ्गा बन गई है। तीनों लोकों में (तीन धाराओं में) होकर तीन प्रकार की (त्रिपथगा–आकाशगङ्गा, मर्त्यलोक की गङ्गा और पातालगङ्गा) हो गई है। और इसके अतिरिक्त क्षीरसागर, चन्द्रमा, कुमुदपुष्प, और हिमालय पर्वत के बहाने से मानों अलग अलग शरीरों की रचना कर रही है तथा अपने शरीरों से निकल कर स्वयं मुक्त हो गई है यह सब विचित्र घटना हुई है।। 319 ।।

(यथा वा)

स्फुटनीलोत्पलपटलं सुधामयूखे सुधासरसि।
मन्यामहे नितम्बिनि नैष कलङ्कः परिस्फुरति।।320।।

एवमियं प्रकारान्तरेणाप्यूह्या।

द्योतयित्वा कमप्यर्थं गोपनीयं कथञ्चन।
स्वयमेव समाधत्ते श्लेषादेषाप्यपह्नुतिः।।219।।

स्वयमेवेति विशेषणाद्[1] वक्रोक्तौ न प्रसङ्गः।

टि०–यहाँ कीर्ति उपमेय के ऊपर योगिनी और गङ्गा रूप उपमानों का अपह्नवपूर्वक आरोप है। कीर्ति में उपमेयतावच्छेदक कीर्तित्व का निषेध करके योगिनी के उपमानतावच्छेदक योगिनीत्व की स्थापना की गई है और यही योगिनी गङ्गा के बहाने से तीन रूपों में दिखाई पड़ रही है। इस प्रकार कीर्ति कीर्ति न रह कर योगिनी बन गई है और वह योगिनी भी गङ्गा के रूप में दिखाई दे रही है। इस प्रकार पुनः गङ्गा के गङ्गात्व का निषेध करके उसमें योगिनीत्व की स्थापना की गई है। क्षीरधि और चन्द्रादि वस्तुओं के भी क्षीरधित्व, चन्द्रत्वादि धर्मों का निषेध करके उनमें योगिनी के शरीरावयवों की स्थापना हुई है। इस प्रकार यहाँ तीन अपह्नुतियाँ हैं। जैसे योगिनी अनेक शरीर धारण कर लेती है उसी प्रकार कीर्ति भी क्षीरसागर आदि धवल वस्तुओं के रूप में परिणत हो गई है। जैसे योगिनी अपने शरीरों को छोड़ कर मुक्त हो जाती है उसी प्रकार कीर्ति भी हिमालय आदि वस्तुओं से बाहर निकल कर यत्र तत्र सर्वत्र फैली हुई है।

(और जैसे)

हे सुन्दरि! चन्द्रमा रूपी अमृत भरे तालाब में (पूरे) खिले हुए नीलकमलों का समूह है यह कलङ्क नहीं चमक रहा है ऐसा हम मानते हैं।। 320।।

टि०–यहाँ कलङ्क के ऊपर अपह्नवपूर्वक नीलोत्पलपटल का आरोप है।

इस प्रकार यह अपह्नुति दूसरी और (श्लेषादि) विधियों से भी बन जाती है ऐसा समझना चाहिए।

(दूसरे से) छिपाने योग्य किसी भी अर्थ को बताकर जब वक्ता अपने आप ही श्लेष (श्लिष्टार्थ की सहायता) से उसका समाधान कर देता है तो यह भी श्लेष से (एक श्लेषमूलक) अपह्नुति होती है।।219।।

टि०–इस अपह्नुति के लक्षण की पूर्वार्ध की पङ्क्ति साहित्यदर्पण (10, 38) से ली गई है।

---

1. ज अ; करणाद् त

यथा–

काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठितासि तरले न हि न हि सखि पिच्छिलः पन्थाः।।321।।

(कारिका में कहे गये) स्वयमेव पद को विशेषण बनाने से इस श्लेषमूलक अपह्नुति की वक्रोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

टि०–श्लेषवक्रोक्ति में वक्ता के द्वारा दूसरे के कथन को श्लिष्टार्थ लेकर झुठलाया जाता है किन्तु इस श्लिष्यपह्नुति में अपनी ही उक्ति का अन्यथाकार (परिवर्तन) होता है (वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकार इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः। साहित्यदर्पण 10, 38)।

जैसे–

बादलों के समय अर्थात् वर्षा ऋतु में (किसी भी नारी के द्वारा) बिना पति के नहीं रहा जा सकता (पहली सखी के ऐसा कहने पर उसकी सहेली पूछती है) हे चञ्चल! क्या तुम उत्कण्ठित (पति से मिलने के लिए उत्सुक) हो गई हो? (पहली सखी इस शङ्का का समाधान करती है) हे सखी! ऐसी बात नहीं है परन्तु रास्ता (वर्षा के कारण चिकना होने से) फिसलाने वाला है।।321।।

टि०–इस पद्य में प्रयुक्त अपतितया–यह पद दो प्रकार से बनता है–

1. न पतिर्यस्याः सा अपतिः तस्या भावस्तत्ता अपतिता तया यहाँ इसका अर्थ पतिविरहित नायिका है।
2. न पतिता अपतिता तया। यहाँ अपतिता का अर्थ न गिरी हुई–न फिसली हुई हो जाता है।

बादलों को देखकर किसी विरहिणी नायिका ने अपनी सखी से कहा कि वर्षाकाल में कोई भी नारी अपतिता अर्थात् पति के बिना नहीं रह सकती। सखी उसके मन की पीड़ा को समझ गई और उसने पूछा– तो क्या हे चञ्चले! तुम अपने पति से मिलने के लिए तड़प रही हो? नायिका ने लज्जित होकर श्लेष से अपनी बात बदलते हुए कहा–न हि न हि सखि पिच्छिलः पन्थाः–हे सखी! मेरा यह आशय बिलकुल नहीं है यह सामने का रास्ता ही बड़ी फिसलन वाला है जिस पर चलकर कोई भी स्त्री अपतिता अर्थात् न गिरने वाली होकर नहीं रह सकती वह फिसल ही जायेगी। यहाँ नायिका ने श्लिष्टार्थ को लेकर अपने द्वारा कहे गये पहले वचन को स्वयं झुठलाया है।

अथ श्लेषः–

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः।।220।।

एतदर्थोऽपि-श्लिष्टविशेष्यवाचकपदमहिम्ना यत्र श्लिष्टविशेषणेनैवापरार्थप्रतीतिः स श्लेषः। आद्यविशेषणात् समासोक्तौ न प्रसङ्गः।

यथा–

इसके बाद 8. श्लेषालङ्कार (का प्रतिपादन) है–

जहाँ अनेकार्थक पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों में निश्चय करता है अर्थात् अनेकार्थों का बोधन करता है उसे अर्थश्लेष समझना चाहिए।। 220।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (10, 1) में भी श्लेष का यही लक्षण मिलता है।

इस श्लेष का (परिनिष्ठित) अर्थ भी यही है–श्लेषयुक्त विशेष्यवाचक पद की महिमा से (अर्थात् जहाँ विशेष्य अपने श्लिष्ट अर्थ को बता रहा हो) श्लेषयुक्त विशेषण से ही जहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति हो वह श्लेष है।

टि०–इस पर्यवसित लक्षण के अनुसार श्लेष में एक श्लिष्ट विशेष्य रहता है उसके साथ जिस एक या अनेक विशेषणों को रखा जाता है वे भी श्लिष्ट होते हैं। इस प्रकार यहाँ जब तक विशेष्य की अनेकार्थता नहीं उपपन्न होती तब तक विशेषणों की भी अनेकार्थता नहीं बनेगी।

पहले विशेषण–श्लिष्टविशेष्यवाचकपदमहिम्ना से समासोक्ति अलङ्कार में अतिव्याप्ति नहीं होती।

टि०–परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः (काव्यप्रकाश 10, 97) श्लेषयुक्त भेदकों (विशेषणों) के द्वारा पर अर्थात् अप्रकृत के व्यवहार का कथन समासोक्ति कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं जबकि श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों ही अनेकार्थक होते हैं। समासोक्ति (तथा शब्दशक्तिमूलध्वनि) में एक अर्थ प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत जबकि श्लेष में या तो दोनों ही अर्थ प्रस्तुत होते हैं या दोनों ही अप्रस्तुत हुआ करते हैं।

(श्लेष का उदाहरण) जैसे–

शरदिन्दुसुन्दररुचं सुकुमारां सुरभिपरिमलामनिशम्।
विदधाति नाल्पपुण्यः कण्ठे नवमालिकां कान्ताम्।।322।।

अथ समासोक्तिः–

विशेष्यस्याश्लिष्टत्वे सति श्लिष्टविशेषणादेकाऽप्रस्तुतार्थप्रतीतिः समासोक्तिः।। 221।।

आद्यविशेषणाच्छब्दशक्तिमूलध्वनौ न प्रसङ्गः। केचित्तु श्लेषप्रसङ्गवारणाय

---

1. नई माला के पक्ष में–

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्तिवाली, अत्यन्त कोमल, सुगन्धित परागवाली और मनोहर नई माला को मन्दभाग्य (कम पुण्यों वाला) व्यक्ति गले में दिन रात धारण नहीं कर पाता अर्थात् परम सौभाग्यशाली व्यक्ति ही नवमालिका को पहिनता है।

2. सुन्दर रमणी के पक्ष में–

शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान सुन्दर चमक (लावण्य) वाली, अत्यन्त कोमल (त्वचा वाली) सुगन्धित द्रवों की गन्ध वाली और नई माला को धारण करने वाली सुन्दर रमणी को कम पुण्यशाली व्यक्ति रात दिन अपने कण्ठ में नहीं लगा सकता अर्थात् बड़भागी ही गले लगाता है।। 322।।

टि०–यहाँ नवमालिका और कान्ता विशेष्य हैं और उनके लिए प्रयुक्त विशेषण भी हैं। ये दोनों ही श्लिष्टार्थक (अनेकार्थक) हैं। रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (10, 4) में भी यह उदाहरण है।

इसके बाद 9. समासोक्ति (के लक्षण का निरूपण) है–

विशेष्य के श्लिष्ट न होने पर श्लेषयुक्त विशेषण के कारण (प्रस्तुतार्थ के साथ साथ) एक अप्रस्तुतार्थ की भी प्रतीति समासोक्ति कहलाती है।। 221।।

('विशेष्यस्याश्लिष्टत्वे सति' इस) आदिम विशेषण से शब्दशक्तिमूलध्वनि में अतिव्याप्ति नहीं होगी (क्योंकि इस ध्वनि में विशेष्य श्लेषयुक्त होता है)।

कुछ विद्वान् तो श्लेष में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए उस (विशेष्यस्याश्लिष्टत्वे सति) विशेषण को (समासोक्ति के लक्षण में रखा है यह) मानते हैं। ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि श्लेषप्रकरण का अभाव होने से दोनों ही अर्थों के अप्रस्तुत होने से वहाँ पर अतिव्याप्ति नहीं होगी।

तदिति[1] वदन्ति तन्न, तत्र प्रकरणाभावाद् द्वयोरेवाप्रस्तुतत्वेन तत्राति[2]प्रसङ्गाभावात्।

यथा–

उच्छृङ्खले मुखरकोकिलशङ्खघोषे
द्वित्रालिपालिकलमङ्गलगीतकेन।
पम्पानिलः सुरभिकोरकगर्भिणीनां
सीमन्तमुन्नयति चूतलतावधूनाम्।।323।।

अथ निदर्शना–

टि०–समासोक्ति में एक अर्थ प्रस्तुत और दूसरा अर्थ अप्रस्तुत होता है, जबकि श्लेष में दोनों ही अर्थ प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होते हैं। समासोक्ति–वस्तुनः।। सा०द० 10–56

जैसे–

वाचाल कोयल रूपी शङ्ख की ध्वनि के बहुत अधिक प्रवृद्ध होने पर अर्थात् अत्यन्त ऊँची आवाज़ होने पर दो तीन भौंरियों की पङ्क्ति के मधुर और अव्यक्त मङ्गलगीत के साथ पम्पासरोवर का यह वायु मध्यभाग में सुगन्धित कलिकाओं वाली आम्रलता रूपी गर्भिणी वधूओं की (आम्रमञ्जरीरूप) केशराशि की मांग को ऊपर उठा (उठाकर सीमन्तोन्नयन संस्कार कर) रहा है।। 323।।

टि०–यहाँ प्रस्तुत पम्पानिल और आम्रलताओं के ऊपर अप्रस्तुत नायकनायिकाओं के व्यवहार का समारोप किया गया है। सीमन्तोन्नयन एक वैदिक संस्कार है जो प्रथम गर्भस्थिति के चौथे, छठे या अष्टम मास में किया जाता है। यहाँ विशेष्य श्लिष्ट नहीं है, केवल विशेषणों में ही श्लेष है और ये विशेषण जिस तरह प्रस्तुत वाक्य पम्पानिल और चूतलता में लगते हैं उसी तरह नायक और नायिका रूप अप्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ में भी लग जाते हैं।

इसके बाद 10. निदर्शना (का निरूपण) है–

---

1. त;.........प्रसङ्गवारणायेति ज अ
2. ज अ; तत्र प्रसङ्ग....त;

परस्परमसंसर्गादर्थः सम्बन्धकल्पकः।
निदर्शना भवेदेषा पदवाक्यार्थतो द्विधा।।222।।

क्रमेण यथा–

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षु र्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।।324।।

अत्राल्पविषयमन्मत्या रघूणां वंशवर्णनं न स्यादित्येको वाक्यार्थः। अपरस्तु मोहादुडुपेन सागरतरणेच्छा। न चोपमानोपमेयभावं विना तयोः परस्परसम्बन्धः सम्भवतीति उडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवसानम्।

एक दूसरे के साथ असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना करने वाला अर्थ निदर्शना होता है। यह पदार्थ और वाक्यार्थ में होने के कारण दो प्रकार की हो जाती है।।222।।

टि०–निदर्शना के दो प्रकार होते हैं–1. पदार्थवृत्ति और 2. वाक्यार्थवृत्ति। ये दोनों ही निदर्शनायें कभी साधर्म्य से होती हैं और कभी वैधर्म्य से।

क्रम से जैसे–(वाक्यार्थवृत्ति)

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न (विशाल) वंश और कहाँ मेरी थोड़े से ज्ञान वाली बुद्धि? मैं अज्ञानवश कठिनाई से तैरने योग्य समुद्र को छोटी सी नौका से तैरने (पार करने) की इच्छा वाला बन रहा हूँ।

यहाँ थोड़े विषयों के ज्ञान वाली मेरी बुद्धि से रघुवंशी राजाओं के वंश का वर्णन नहीं हो सकेगा यह एक वाक्यार्थ है और दूसरा वाक्यार्थ तो–अज्ञानवश छोटी डोंगी से सागर पार करने की इच्छा रखना है उसका (इन दोनों असम्बद्ध वाक्यों में सादृश्य से सम्बन्ध हो गया है) और क्योंकि उपमानोपमेयभाव के बिना इन दोनों के मध्य एक दूसरे के साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है इसी कारण उडुप से सागर को तैरने की तरह मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वर्णन हो पाना असम्भव है, इस उपमा में (इन दोनों वाक्यार्थों की) परिणति होती है।

टि०–मेरी अल्पविषया मति से सूर्यवंश का वर्णन करना वैसा ही असम्भव और कठिन है जैसा असम्भव और कठिन छोटी नौका से सागर को पार करना होता है। इस अर्थ को बताने वाले क्व सूर्यप्रभवः–इत्यादि वाक्यार्थ और तितीर्षु........इत्यादि

यथा वा–

श्लाघ्या ध्वस्ताध्वगग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः।
धिङ् मेरौ कल्पवृक्षाणामनुत्पन्नार्थिनां[1] श्रियः।। 325।।

तथा–

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा–
दुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभि र्वियति विवर्तितः समन्ता–
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीः।। 326।।

वाक्यार्थ में साधर्म्य के कारण निदर्शना है। इस प्रकार यह उदाहरण साधर्म्यमूलक वाक्यार्थनिदर्शना का है। आगे दिखाया गया श्लाघ्या........इत्यादि उदाहरण वैधर्म्यमूलकवाक्यार्थनिदर्शना का है।

अथवा और (वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना का उदाहरण) जैसे–

पथिकों की थकावट को दूर करने वाले करीरवृक्ष की रोगिस्तान में अवस्थिति प्रशंसनीय है किन्तु (अपने फलों के लिए) याचकों को न उत्पन्न करने वाले कल्पवृक्षों की सम्पत्तियों को धिक्कार है।। 325।।

टि०–मरुस्थल में करीर की स्थिति और सुमेरु पर कल्पवृक्षों की स्थिति एक दूसरे के विपरीत हैं। करीर की स्थिति प्रशंसनीय है क्योंकि वह रेगिस्तान में श्रमार्त पथिकों के श्रम के अपहरण का कारण बनती है। सुमेरु पर कल्पवृक्षों की स्थिति निन्दनीय है क्योंकि वह अतिथियों की सेवा का कोई अवसर प्रदान नहीं करती। इन दोनों स्थितियों में वैधर्म्य है क्योंकि पहली स्थिति में श्लाघा (प्रशंसा) धर्म है तो दूसरी में धिक्पदद्योत्य निन्दा धर्म है। इस प्रकार यहाँ वैधर्म्य से वाक्यार्थनिदर्शना सम्पन्न हो रही है।

और (पदार्थवृत्तिनिदर्शना का उदाहरण)

कमल से उत्पन्न पराग (पुष्पधूलि) खिली हुई स्थलकमलिनियों के इस वन से तीव्र पवन की आँधियों के द्वारा उड़ाया जाकर आकाश में चारों ओर छाया हुआ है और वह सोने के घर्मछत्र की शोभाओं को धारण कर रहा है।। 326।।

---

1. ज त;.....र्थिनीश्रियः अ

अत्र कथमन्यस्य लक्ष्मीमन्यो वहतीत्युपमायां पर्यवसानम्। एवमियं मालापि बोध्या।

भेदान्तरमाह–

क्रिययैव स्वस्वकारणयोः सम्बन्धो य[1] उपमापरिकल्पकोऽवगम्यते अपरा निदर्शना।। 223।।

टि०–वायु के झौकों से उड़कर पराग आकाश में छा गया है। पराग का रंग पीला होता है और आतपत्र का रंग भी पीला है। पीले पराग ने पीले आतपत्र की शोभा धारण कर ली है, कवि ने ऐसी कल्पना की है।

यहाँ अन्य की लक्ष्मी (शोभा) को अन्य व्यक्ति कैसे धारण कर सकता है यह विप्रतिपत्ति होने पर (जैसी शोभा पीले आतपत्र की होती है, वैसी ही पराग की है, इस स्वरूप वाले अर्थ की) उपमा में परिणति हो जाती है।

टि०–परागः आतपत्रलक्ष्मीः इव लक्ष्मीः आधत्ते इस रूप में यहाँ केवल लक्ष्मी पद में सादृश्य होने से पदार्थवृत्तिनिदर्शना है।

इसी प्रकार यह निदर्शना माला (रूप में) भी समझनी चाहिए।

टि०–मालोपमा और मालारूपक की भाँति जब पहले वाक्यार्थ या पदार्थ के लिए बहुत से वाक्यार्थ और पदार्थ उपमान के रूप में प्रयुक्त किए जायें तो यह माला निदर्शना होती है।

(इस निदर्शना के) दूसरे भेद को (ग्रन्थकार) बताते हैं–

क्रिया के द्वारा ही (कार्य के) अपने स्वरूप तथा अपने कारण के साथ सम्बन्ध की जो प्रतीति पर्यवसान में उपमा बनने के रूप में जानी जाती है वह दूसरी निदर्शना है।। 223।।

टि०–काव्यप्रकाश में इस दूसरी निदर्शना का यह लक्षण दिया है–

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सा परा। काव्यप्रकाश 10, 98

इस लक्षण को ही ग्रन्थकार ने शब्दों को बदलकर यहाँ रख दिया है।

क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम्–यह लक्षण काव्यालङ्कारसूत्र (4, 3, 20) में है।

---

1. ज अ; त में नहीं

यथा–

अत्युच्चपदन्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत्।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः।।327।।

अत्र पततीति क्रियया पतनाय भवतीति क्रियया सह[1] उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य कारणस्य सम्बन्धः स्थाप्यते[2]। स चान्यस्याप्युन्नतपदप्राप्तिस्तद्वत् पतनायेत्युपमायां पर्यवस्यतीति निदर्शना सम्भवद्वस्तु[3]सम्बन्धेति पूर्वतो भेदः।

जैसे–

(बुरे साधनों से उपार्जित सम्पत्ति वाले छोटे हृदय के व्यक्तियों का) जो अत्यधिक ऊँचे पद पर आसीन होना है वह पतन के लिए ही होता है इस प्रकार की बात धनवानों को बताते हुए वृक्ष का यह थोड़ा थोड़ा पीला अर्थात् सूखा हुआ पत्ता अपने डंठल से (वियुक्त होकर नीचे) गिर रहा है।।327।।

यहाँ पतति इस क्रिया का पतनाय भवति–पतन के लिए होता है इस क्रिया के साथ (लघूनामुन्नतपदप्राप्तिः पतनहेतुः इस रूप में) उन्नतपदप्राप्ति रूप कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है। और यह सम्बन्ध भी–अन्य व्यक्ति की भी ऊँचे पद की प्राप्ति उस (सूखे पत्ते) के समान ही पतन के लिए होती है, इस प्रकार की उपमा में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यह (दूसरी) निदर्शना है।

टि०–यहाँ सूखे पत्ते की पतनक्रिया के द्वारा क्षुद्र पुरुष की उच्चपदप्राप्ति और उसके पतन का पारस्परिक सम्बन्ध व्यङ्ग्योपमा के रूप में प्रतीत होता है।

(इस अत्युच्चपदन्यासः–इत्यादि उदाहरण में उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध के सम्पन्न हो जाने से यह) सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना है और इसका पूर्ववर्णित निदर्शना (के उदाहरणों) से भेद है।

टि०–यहाँ उन्नतपद को प्राप्त करने वाले धनवानों की पतनक्रिया और ऊँचे स्थान पर स्थित पेड़ के सूखे पत्ते की पतनक्रिया में आपस में सम्बन्ध बन रहा है। इस कारण यह सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना कहलाती है।

---

1. ज अ; सह पद त में नहीं
2. अ; ख्याप्यते ज त
3. त; सम्भवत्सम्बन्धा ज अ

अथाप्रस्तुतप्रशंसा–

असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः।। 224।।

तदर्थोऽपि–प्रस्तुतार्थप्रतीतिफलिका अप्रस्तुतार्थप्रतीतिरिति लक्षणम्। समासोक्तावतिप्रसङ्गवारणायाद्यं विशेषणम्। सर्वत्र प्रतीतिघटितं[1] लक्षणप्रतीतिविषयपरं बोध्यम्। तेन विषयस्यैवालङ्कारत्वं न ज्ञानस्येति ध्येयम्[2]। एतस्या बहुविधत्वेऽपि[3]

इसके बाद 11. अप्रस्तुतप्रशंसा (का लक्षण बताया जाता) है–

जहाँ (समान विशेषण वाले पदों के द्वारा) कथित उपमान के द्वारा दूसरे समान विशेषण वाले और समान स्वभाव वाले उपमेय का व्यञ्जना से ज्ञान होता है वह अन्योक्ति (अप्रस्तुतप्रशंसा) कहलाती है।। 224।।

टि०–मम्मट और विश्वनाथ ने जिसे अप्रस्तुतप्रशंसा माना है उसे रुद्रट (काव्यालङ्कार 8, 74) और इस ग्रन्थकार ने अन्योक्ति नाम भी दिया है। यह लक्षण इन्होंने रुद्रटकृत काव्यालङ्कार से लिया है। इस अलङ्कार में अप्रस्तुत उपमान से प्रस्तुत उपमेय की प्रतीति होती है। हिन्दी काव्यशास्त्र में इसकी अन्योक्ति संज्ञा प्रचलित है।

इसका परिनिष्ठित अर्थ भी (यहाँ दिखाया जाता) है–

अप्रस्तुतार्थ का ज्ञान प्रस्तुतार्थ को बताने के प्रयोजन वाला होता है (इसमें अप्रस्तुतार्थ से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति होती है) यह इसका लक्षण है। समासोक्ति में अतिव्याप्ति होने से बचाने के लिए (प्रस्तुतार्थप्रतीतिफलिका) यह पहला विशेषण है।

टि०–समासोक्ति में प्रस्तुतार्थ से अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हुआ करती है।

सब जगह ज्ञान का विषय बना हुआ पदार्थ ही लक्षण के ज्ञान का विषय बनता है (लक्षण उसी का किया जाता है जो लोकप्रसिद्ध वस्तु हो) यह जानना चाहिए। इस कारण विषय की ही अलङ्कारता होती है ज्ञान की अलङ्कारता नहीं होती इसका ध्यान रखना चाहिए।

टि०–'मुखं चन्द्रः–जैसे उदाहरणों में ज्ञान की विषयभूत वस्तु ही अलङ्कार बनती है किन्तु ज्ञान अलङ्कार नहीं बनता। काव्यप्रकाश में इसके ये भेद हैं–

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।। काव्यप्रकाश 10, 99

इस (अप्रस्तुतप्रशंसा) के बहुत सारे भेद होने पर भी दूसरे अप्रस्तुत समान उपमान के अभिधा से कह देने पर और प्रस्तुत समान (उपमेय) के

1. ज अ; च्छुरितं त
2. ज अ; मन्तव्यम् त

तुल्ये प्रस्तुते तुल्यान्तरस्याभिधाने[1] अतीव चमत्कार इति तदेवोदाह्रियते।[2]

यथा–

आमूलं कवलीकरोषि नलिनीवृन्दानि हेलालस-
च्छुण्डाताण्डवितैरकाण्डकुपितो मथ्नासि लीलासरः।
नायातः श्रुतिगोचरं[3] किमु ततो लीलादलद्दिग्गजो
दानान्धद्विरदेन्द्रकुम्भकषणक्रीडाकरः केसरी।। 328।।

(व्यञ्जना से) प्रतीत होने पर बहुत अधिक चमत्कार होता है, इसलिए उसी का यह उदाहरण दिया जाता है।

टि०–काव्यप्रकाश (10, 99) और साहित्यदर्पण (10, 58-59) में यह अप्रस्तुतप्रशंसा 5 प्रकार की बताई हुई है। इन दोनों ही ग्रन्थों में पाँचवीं तरह की अप्रस्तुतप्रशंसा सादृश्यमूलक है। काव्यप्रकाश के अनुसार इसमें तुल्य अप्रस्तुत वाच्य के द्वारा तुल्य प्रस्तुत व्यङ्ग्य का बोध होता है और साहित्यदर्पण में भी यह बताया है–अप्रस्तुतात् समात्प्रस्तुतं समं चेद् गम्यते जहाँ अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत किसी समान वस्तु का व्यञ्जन होता हो वहाँ सादृश्यनिमित्ता अप्रस्तुतप्रंशसा होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा के चार प्रसिद्ध भेदों को छोड़कर केवल इसी पाँचवे भेद के ग्रन्थकार ने यहाँ उदाहरण दिये हैं और इसी भेद में सर्वाधिक चमत्कार माना है किन्तु अन्य मम्मटादि आचार्य इन सभी भेदों को समान महत्त्व देते हैं।

जैसे–

(हे हाथी!) तुम कमलिनियों के समूहों को जड़ों के समेत खा रहे हो और अनवसर में ही क्रुद्ध होकर क्रीडा के कारण सुशोभित सूँडों के (हिलाने डुलाने से किये जाने वाले) ताण्डवनृत्यों के द्वारा क्रीडासरोवर का मन्थन कर रहे हो। तो क्या (कभी) अनायास ही दिशाओं के बड़े बड़े हाथियों को मारने वाला और मदजल से अन्धे गजराजों के गण्डस्थलों को खरौंचने की क्रीडा करने वाला सिंह तुम्हारी कर्णेन्द्रियों का विषय नहीं बना है? (अर्थात् क्या सिंह के बारे में तुमने कुछ भी नहीं सुना है?)।। 328।।

---

1. ज अ; तुल्यान्तराभिधाने त
2. ज अ; तदेवोद्भाव्यते त
3. ज अ;.......श्रवणान्तिकं त

यथा वा–

केनासीनः सुखमकरुणेनाकरादुद्धृतस्त्वं
विक्रेतुं वा समभिलषितः केन देशान्तरेऽस्मिन्।
यस्मिन् वित्तव्ययभरसहो ग्राहकस्तावदास्तां
नास्ति भ्रातर्मरकतमणे त्वत्परीक्षाक्षमोऽपि।। 329।।

यथा वा–

अविदग्धवणिग्वीथीधूलिधूसरितो मणिः।
केनापि पुण्यजनुषा विदुषा परिवेष्यते।। 330।।

टि०–यहाँ पर वाच्य अप्रस्तुत गजसिंहवृत्तान्त से किसी मिथ्याभिमानी राजा के मानमर्दन में सक्षम दूसरे राजा का प्रस्तुत वृत्तान्त व्यङ्ग्य है।

अथवा जैसे–

हे भाई मरकतमणि! सुखपूर्वक बैठे हुए तुम्हें किस निष्ठुर व्यक्ति ने समुद्र से बाहर निकाल दिया और किसने तुम्हें इस दूसरे (बुरे) देश में बेचने की अभिलाषा की है? जिस (देश) में (तुम्हारी कीमत के योग्य) धन के खर्च के भार को सहन करने वाला ग्राहक होना तो दूर रहा, किन्तु तुम्हें पहिचानने में समर्थ भी कोई नहीं है।। 329।।

टि०–यहाँ पर भी अप्रस्तुत मणिवृत्तान्त के अभिधान से प्रस्तुत किसी गुणी व्यक्ति का वृत्तान्त व्यञ्जना से प्रतीत हो रहा है।

अथवा जैसे–

मूर्ख बनियों के बाजार में धूल में सनी हुई मणि किसी ही पुण्यजन्म वाले बुद्धिमान् (मणि के पारखी) व्यक्ति के द्वारा चारों ओर से (साफ़ करके) लपेटी जाकर संरक्षित होती है।। 330।।

टि०–यहाँ अप्रस्तुत धूलिधूसरित मणि और उसके वास्तविक पारखी के वृत्तान्त से उचित सम्मान को न प्राप्त हुए प्रस्तुत किसी गुणी और उसकी कद्र करने वाले गुणज्ञ के वृत्तान्त का बोध कराया जा रहा है। समानगुणों के आधार पर दूसरा प्रस्तुत अर्थ यहाँ व्यञ्जना गम्य है।

यथा वा–

अनिशं[1] दहति हुताशः कण्ठे हालाहलज्वालाः।
शिरसि रसायनमेतत्सुरधुनि शम्भोस्तवैवाम्भः।। 331।।

यथा वा–

हंहो हुताशन हरस्य ललाटमूले
कूलेऽपि दिव्यसरितः प्रतिपालितोऽसि।
तस्यैतदेव फलमद्य विदाहि शील-
मध्यापितो यदिह बालकलाधिनाथः।। 332।।

अथवा जैसे–

(तृतीय नेत्र में प्रदीप्त) अग्नि (इन्हें) रात दिन जलाती है और कण्ठ में पड़े हुए हालाहलविष की (गर्मी से उत्पन्न) ज्वालायें (जला रहीं) हैं। हे गङ्गे। सिर पर स्थित यह तुम्हारा जल ही महादेव के लिए (व्याधि को अपहरण करने वाली) रसायन औषधि है।। 331।।

टि०–यहाँ अप्रस्तुत महादेव के वर्णन से किसी ऐसे व्यक्तिविशेष के वृत्तान्त की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है जो आन्तरिक और बाह्य चिन्ताओं से ग्रस्त है और केवल अपनी पत्नी से ही सान्त्वना पा रहा है। यहाँ समान से समान की प्रतीति हो रही है।

अथवा जैसे–

हे (शिव के नेत्र की) अग्नि! शिव के मस्तक के निचले भाग और देवनदी गङ्गा के किनारे पर भी तुम्हारा लालन पालन और रक्षण हुआ है। क्या यह (सब कुछ) इसी का फल है कि आज तुमने यहाँ इस छोटे चन्द्रमा को अपना (दूसरों को) जलाने वाला (बुरा) आचरण सिखा दिया है।। 332।।

टि०–किसी व्यक्ति ने दुष्ट प्रकृति वाले शिक्षक पुरुष को लक्ष्य करके ये वचन कहे हैं। उसे किसी अच्छे स्वभाव वाले और धनी समृद्ध पति पत्नी दोनों ने विश्वास करके अपने घर में उदारतापूर्वक आश्रय दिया है। वे दोनों ही उसका बहुत ध्यान रखते हैं। किन्तु उस व्यक्ति ने उनकी सन्तान को सद्‌गुण न सिखाकर दुर्गुण सिखा दिए हैं। इस प्रकार यहाँ शिव और गङ्गा के सान्निध्य में रहकर भी उनके शिशु चन्द्रमा

---

1. त; सततं ज अ

अथ अतिशयोक्ति:–

उपमेयतावच्छेदकप्रकारकशून्यत्वे सति उपमानतावच्छेदकप्रकारकोपमेयप्रतीति:। इयमेका।। 225।।

रूपकप्रतीतावतिप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम्।

की आदत बिगाड़ने वाले अप्रस्तुत नेत्रानलवृत्तान्त से समानता के आधार पर प्रस्तुत दम्पती की सन्तान को बिगाड़ने वाले अधम पुरुष के वृत्तान्त की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है।

इसके बाद 12. अतिशयोक्ति (का लक्षण) है–

1. अभेदातिशयोक्ति–

उपमेयतावच्छेदकप्रकार से शून्य होने पर उपमानतावच्छेदकप्रकार वाली उपमेय की प्रतीति अतिशयोक्ति कहलाती है। यह पहले प्रकार की एक (अभेदातिशयोक्ति) है।। 225।।

टि०–उपमेयतावच्छेदकप्रकारक का अभिप्राय है–उपमेयता का अन्यूनातिरिक्त-अवच्छेदक धर्म रूप प्रकार (विशेषण) वाला जो उपमेय अर्थात् मुखत्वविशिष्ट मुख है वही मुख जब उपमानतावच्छेदकप्रकार वाला हो जाता है अर्थात् जब वह चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र बन जाता है तो वह उपमेय के अपने धर्म से रहित होने पर उपमानत्व के अवच्छेदक धर्म को धारण कर लेता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति के चन्द्र एव तथा चन्द्रं पश्य जैसे उदाहरणों में मुख के अवच्छेदक धर्म मुखत्व रूप विशेषण की प्रतीति का अभाव हो जाता है और इसके अनन्तर मुख उपमेय में चन्द्र उपमान के चन्द्रत्व धर्म रूप विशेषण की प्रतीति होने लग पड़ती है और मुखत्वविशिष्ट मुख चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र के रूप में परिणत हो जाता है।

रूपक की प्रतीति में अतिव्याप्ति हटाने के लिए सतिपर्यन्त विशेषण है।

टि०–अतिशयोक्ति के इस लक्षण में उपमेयतावच्छेदकप्रकारकशून्यत्वे सति यह विशेषण रखा हुआ है। इसके रखने से अतिशयोक्ति का यह लक्षण रूपक में अतिव्याप्त नहीं होता। रूपक के मुखं चन्द्रः जैसे उदाहरणों में मुख उपमेय के मुखत्व धर्म की भी विशेषण के रूप में प्रतीति होती है और उपमान चन्द्र के चन्द्रत्व रूप धर्म की विशेषण के रूप में प्रतीति भी होती ही है। किन्तु चन्द्र एव जैसे अतिशयोक्ति के उदाहरण में मुख उपमेय के मुखत्व रूप विशेषण की प्रतीति नहीं होती किन्तु केवल चन्द्र के चन्द्रत्व की ही विशेषण रूप में प्रतीति होती है।

प्रकृतस्यैवाप्रकृतत्वेन ज्ञानं द्वितीया।। 226।।

यद्यर्थारोपणेनासम्भावितार्थप्रतीति[1]स्तृतीया।। 227।।

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्यासश्चतुर्थी।। 228।।

सा चोभयथा कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्यासे युगपद्वर्णने वा उभयथा विपर्यासस्य विद्यमानत्वात्। तत्र प्रथमा साध्यवसाना गौणी पर्यवस्यति।

यथा–

लतामूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः
स्रवन्मु[2]क्ताकारा गलति जलधारा कुवलयात्।

2. भेदातिशयोक्ति–प्रकृत (उपमेय) का अप्रकृत (उपमान) के रूप में ज्ञान होना दूसरे प्रकार की भेदातिशयोक्ति है।। 226।।

3. यद्यर्थमूलातिशयोक्ति–यदि (और उसके समानार्थक चेत्) शब्द के प्रयोग के द्वारा असम्भव अर्थ की जो कल्पना है वह तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति है।। 227।।

4. कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यासातिशयोक्ति–जहाँ कार्य और कारण की पूर्वता और अपरता के क्रम में उलट फेर हो जाता है वह चौथे प्रकार की अतिशयोक्ति है।। 228।।

और वह (चौथी प्रकार की) अतिशयोक्ति दो प्रकार की होती है क्योंकि कार्यकारण की पूर्वता और पश्चाद्भाविता के क्रम को उलट देने पर अथवा कार्य और कारण के युगपत् वर्णन करने पर दो प्रकार का विपर्यय (गड़बड़ी–व्युत्क्रम) विद्यमान हुआ करता है। उन (अतिशयोक्ति के भेदों) में से पहली साध्यवसाना गौणी लक्षणा के रूप में परिणत होती है।

टि०–चन्द्रं पश्य जैसे प्रयोगों में मुख उपमेय का निगीरण चन्द्र उपमान के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार का अभेदाध्यवसान होने के कारण इन प्रयोगों में गौणी लक्षणा मानी जाती है। पहले प्रकार की यह अभेदाध्यवसाना अतिशयोक्ति गौणी लक्षणा का ही रूप है।

(1. अभेदातिशयोक्ति का उदाहरण) जैसे–

1. ज अ;.....णेनार्थान्तरप्रतीतिस्तृतीया त
2. ज अ; स्खलन् त

धुनीते बन्धूकं तिलकुसुमजन्मापि पवनो
गृहद्वारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृतिनः।। 333।।

यथा वा–

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना–
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः।
सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतां
किरज्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम्।। 334।।

हरिण से रहित चन्द्रमा लता की जड़ में लीन हो गया है। नीलकमल से टपकते मोतियों के आकार वाली जलधारा बह रही है। तिलपुष्प से उत्पन्न हुआ वायु बन्धूक पुष्प को कँपा रहा है। किसी पुण्यात्मा का पुण्य भी घर के दरवाजे पर (नायिका रूप में) परिणत होकर आया है।। 333।।

टि०–इस श्लोक में क्रमशः कामिनीमुख का हिमकर, नायिका के शरीर का लतामूल, आँख का नीलकमल, आँसू का जलधारा, नासिका का तिलपुष्प, श्वास का पवन और नायिका का पुण्य के रूप में अभेदाध्यवसान हुआ है। इस कारण यहाँ अभेदातिशयोक्ति है। मुख रूपी चन्द्र की अवस्थिति नायिका रूपी लतामूल में बताई हुई है। (वस्तुतः मुख तो नायिका की गर्दन पर टिका है) इस प्रकार यहाँ हिमकर आदि उपमानवाचक शब्दों से मुख आदि उपमेय वाचक शब्दों का ग्रहण और तदनन्तर उपमेयत्व की प्रतीति का अभाव होने पर मुखादि में हिमकरादि के हिमकरत्वादि की प्रतीति होने लग जाती है।

अथवा जैसे–

परकोटे के ऊपर के हिस्से के समीप अपनी नज़रें डालो और थोड़ा विचार करो। अमृत के भोजन का पान करने वाले और उपवन में रहने वाले चकवों से अनुसरण किया जाता हुआ, पके हुए लवलीफल से प्रेम करने वाली (पके लवलीफल के समान श्वेत रंग वाली) स्वच्छ चन्द्रिका को छोड़ता हुआ आकाशरहित इस स्थान (पृथिवी) पर हरिणरहित यह कौन सा चन्द्रमा है?।। 334।।

टि०–यहाँ भी कामिनी मुख का चन्द्र के रूप में अभेदाध्यवसान है।

द्वितीया यथा–

तान्यक्षराणि च तदेव पदाभिधेयं
सैव स्वभावमधुरा च पदानुपूर्वी।
प्रत्यक्षरक्षरदमन्दसुधारसोऽय-
मन्यादृशो मृगदृशो[1] वचसो[2] विलासः।। 335।।

तृतीया यथा–

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्या-
त्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारे परार्धं गणितं यदि स्यात्
गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्[3]।। 336।।

---

2. दूसरी (भेदातिशयोक्ति का उदाहरण) जैसे–

वे ही अक्षर हैं और वही पदों का अर्थ है तथा वही स्वभाव से मधुर पदों का पूर्वापरक्रम है। परन्तु प्रत्येक अक्षर से तीव्रता से बहते हुए अमृत रस वाला मृगलोचना का यह वाणी का (प्रेमपूर्ण) आमोद प्रमोद (अथवा सौन्दर्य) दूसरे प्रकार का है।। 335।।

टि०–यहाँ मृगनयनी के वचनों का अन्य सुन्दरियों के वचनों के साथ अभेद होते हुए भी भेद बताया है।

3. तीसरी (यद्यर्थारोप वाली अतिशयोक्ति) जैसे–

यदि तीनों लोकों का समुदाय अर्थात् तीनों लोकों के सभी प्राणी (राजा नल के गुणों की) गणना में लग जायें और यदि उस (त्रिलोकी) की आयु की समाप्ति न हो तथा यदि गणितशास्त्र की सङ्ख्या परार्ध (अन्तिम) सङ्ख्या से परे हो जाये तभी वह नल गिनने योग्य सम्पूर्ण गुणों वाला भी हो सकेगा अर्थात् उसके समग्र गुण तभी गिने जा सकेगें।। 336।।

टि०–यह श्लोक नैषधीयचरित (3, 40) से लिया गया है। हंस ने इसमें दमयन्ती के आगे नल के गुणों का वर्णन किया है। यहाँ यदि शब्द के प्रयोग से नल के गुणों की गणना होने रूप असम्भावित अर्थ की कल्पना की गई है। उभौ यदि इत्यादि श्लोक के स्थान पर यदि त्रिलोकी० इत्यादि श्लोक केवल तिरुपति की प्रति

---

1. ज अ; मन्यादृशी मृगदृशी त
2. ज अ; च चलो त
3. त; इस श्लोक के स्थान पर उभौ यदि० इत्यादि ज अ

यदि शब्द इत्युपलक्षणं चेच्छब्दस्य।

यथा–

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशो र्भवेद् वपुः।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात्।। 337।।

चतुर्थी यथा–

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः[1] कुसुमचापबाणेन।
चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता।। 338।।

में ही मिलता है। इस श्लोक को ग्रन्थकार ने असदुपमा के प्रसङ्ग में पहले (8, 290) दिखा दिया है और वहाँ प्राचामियमेकातिशयोक्तिः कहकर यह भी बतला दिया है कि प्राचीन आचार्यों के अनुसार असदुपमा अतिशयोक्ति का ही एक भेद है। जम्मू और अलवर की प्रतियों में यह पूरा श्लोक मिलता है–

उभौ यदि व्योम्नि पयःप्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः।।

इसका अर्थ भी वहाँ दिखाया जा चुका है। यहाँ यदि शब्द के प्रयोग के कारण असम्भावित अर्थ की कल्पना किये जाने से यद्यर्थमूलातिशयोक्ति है।

यहाँ पर यदि शब्द चेत् शब्द का उपलक्षण अर्थात् ग्राहक है।

टि०–यहाँ यदि शब्द अपने अर्थ का भी ग्रहण कर रहा है और साथ में चेत् शब्द का भी अध्याहार कर रहा है (स्वार्थावबोधकत्वे सति परार्थावबोधकत्वमुपलक्षणत्वम्) चेत् शब्द के प्रयोग से भी यह अतिशयोक्ति बन जाती है।

जैसे–

पूर्णिमा की रात्रि में यदि चन्द्रमा का शरीर (बिम्ब) कलङ्क रहित हो जाय तब उस (नायिका) का मुख चन्द्रमा से सादृश्य रूप पराभव को प्राप्त कर सकता है।। 337।।

टि०–काव्यप्रकाश (10, 452) में यह श्लोक इसी अतिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है।

4. चौथी (कार्य और कारण के पौर्वापर्यविपर्यास का उदाहरण) जैसे–

हे स्त्रियों के प्रिय नायक! पुष्प रूपी धनुषबाण वाले उस कामदेव ने

---

1. त; मालव्याः ज अ

यथा वा–

पश्चात्पर्यन्तकिरणमुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः[1]।। 339।।

अतएव

कैश्चिदुक्तः पूर्वं नामालङ्कारो नातिरिच्यते।

स यथा–

यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चात्तज्जनकस्य तु भवेत्पूर्वम्।।

मालती (नाम की नायिका) के हृदय पर पहले अधिकार कर लिया और उसकी दृष्टि के विषय बनने वाले तुमने बाद में (उसके हृदय पर अधिकार किया)।। 338।।

टि०–यहाँ वस्तुतः मालती के द्वारा देखे जाने पर राजा ने पहले उसके हृदय में प्रवेश किया है और उसके हृदय पर उसका अधिकार हुआ है। इस देखने रूप कारण से बाद में कामदेव का प्रवेश रूप कार्य निष्पन्न हुआ है। कारण की शीघ्रकारिता को कहने के लिए यहाँ कार्य का कारण से पहले होने का कथन किया गया है। काव्यप्रकाश (10, 453) में इस चौथी अतिशयोक्ति का यही उदाहरण है।

अथवा जैसे–

अपनी किरणों को फैलाने वाले चन्द्रमा का उदय बाद में हुआ परन्तु मृगनयनियों का राग रूपी समुद्र पहले ही उमड़ पड़ा।। 339।।

टि०–वास्तव में पहले चन्द्रमा उदित होता है उसके बाद समुद्र उमड़ता है। किन्तु यहाँ जैसे ही चन्द्रमण्डल उदित हुआ वैसे ही सुन्दरियों के मनों में प्रियों के प्रति उत्पन्न प्रेम रूपी सागर उमड़ पड़ा–इस अर्थ को बताने के लिए कार्य और कारण में पौर्वापर्यविपर्यय दिखलाया है। रागसागर के उमड़ने रूप कार्य को पहले बताया है और चन्द्रोदय रूप कारण को बाद में।

(क्योंकि पूर्वालङ्कार में भी कार्य से पहले कारण का उल्लेख होता है) इसीलिए किन्हीं (रुद्रट आदि) के द्वारा बताया हुआ पूर्व नामक अलङ्कार इस अलङ्कार से पृथक् नहीं है।

---

1. त; यथा वा–पश्चात्--रागसागरः।। यह उदाहरण ज अ में नहीं

यथा वा[1]–

जनमसुलभमभिलषतामादौ दह्यते मनो यूनाम्।
गुरुरतिचारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति।। 340।।

समकालोक्तौ यथा–

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्।। 341।।

उस (पूर्व अलङ्कार) का (लक्षण) जैसे–

जहाँ अत्यन्त प्रबलता होने से कार्य की उत्पत्ति पहले ही बता दी जाती है और उसके बाद कारण की (उत्पत्ति बताई जाती है) वहाँ पूर्व (नामक) अलङ्कार होता है।

टि०–पूर्वालङ्कार का यह लक्षण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (9, 3) में मिलता है।

अथवा (और उदाहरण) जैसे–

दुर्लभ जन (प्रेमिका) को प्राप्त करने की अभिलाषा वाले नवयुवकों का मन पहले जलता है उसके बाद अमर्यादित रूप से फैलने वाली प्रचण्ड कामाग्नि जलती है।। 340।।

टि०–वस्तुतः पहले मन में कामाग्नि प्रदीप्त होती है और उसके बाद प्रेमियों का मन जलता है परन्तु यहाँ उल्टा क्रम दिखाया है। यह उदाहरण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (9, 4) से लिया गया है।

(कारण और कार्य का) समकाल अर्थात् एककालावच्छेद से कथन (होने पर उदाहरण) जैसे–

हाथी के द्वारा (उसपर चढ़कर विजययात्रा के लिए) गमन करने वाले उन (महाराज) रघु ने अपने पिता दिलीप के सिंहासन और सम्पूर्ण शत्रुमण्डल को एक साथ अच्छी तरह आक्रान्त कर लिया (अर्थात् सिंहासन पर बैठते ही कुछ समय बाद शत्रुओं पर अधिकार कर लिया)।। 341।।

टि०–पहले राजा सिंहासन पर बैठता है तदनन्तर उसके शत्रुओं का वशीकरण होता है। सिंहासनारोहण कारण है और उसका कार्य शत्रुवशीकरण है। यहाँ दोनों की

---

1. त; यथा ज अ

अथ प्रतिवस्तूपमा–

साधारणधर्मस्योपमानवाक्ये उपमेयवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतया शब्दभेदेन स्थितिर्यत्र सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात्प्रतिवस्तूपमा।। 229।।

उत्पत्ति एक साथ दिखाई गई है। जैसे ही रघु सिंहासन पर बैठे वैसे ही सारे शत्रुओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली–इस रूप में कार्य की अत्यन्त शीघ्र उत्पत्ति रूप अभिव्यञ्जना इस विपर्यय का प्रयोजन है। साहित्यदर्पण (10, 46 वृत्ति) में अतिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में यह श्लोक मिलता है।

इसके बाद 13. प्रतिवस्तूपमा (के लक्षण का निरूपण) है–

उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य में साधारण धर्म के कथितपद दोष से दूषित होने के कारण (उस दोष से बचाने के लिए) जहाँ (साधारणधर्म की) भिन्न भिन्न शब्दों के रूप में अवस्थिति होती है वहाँ एक वस्तु (उपमेय वाक्यार्थ) के लिए दूसरे वाक्यार्थ के उपमान बन जाने से प्रतिवस्तूपमा होती है।। 229।।

टि०–इस अलङ्कार को प्रतिवस्तूपमा नाम देने के कई कारण हैं–

1. इसमें एकस्य धर्मस्य शब्दद्वयेनाभिधानम् रूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव पाया जाता है। इस कारण प्रतिवस्तूपमा है।
2. वस्तुनि वस्तुनि उपमा इति प्रतिवस्तूपमा–प्रत्येक वाक्यार्थ में जहाँ उपमा (साधारणधर्म) पाया जाय अथवा प्रतिवस्तु– प्रतिवाक्यार्थमुपमा यत्र सा प्रतिवस्तूपमा।
3. वस्तु वस्तु प्रति उपमीयते–इसमें एक वाक्यार्थ की दूसरे वाक्यार्थ के साथ उपमा दी जाती है।

उपमा में एक वाक्यार्थ होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में कई होते हैं। भिन्न भिन्न सादृश्यमूलक अलङ्कारों में भिन्न भिन्न प्रकार का साधारणधर्म होता है। सामान्यतः यह पाँच प्रकार का है–

1. वस्तुप्रतिवस्तुभाव–एक ही धर्म जहाँ दो शब्दों में कहा हुआ हो। यह भाव प्रतिवस्तूपमा में पाया जाता है।
2. बिम्बप्रतिबिम्बभाव–जहाँ दो धर्मों को दो शब्दों से कहा जाय

यथा–

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम्।।342।।

अत्र कथमित्यनेन न खल्वित्यनेनानौचित्यं प्रत्याय्यते। इत्येकस्यैवानुचितत्वरूप-सामान्यस्य शब्दभेदेन द्विरुपादानम्। मालारूपाप्येषा[1] बोध्या।

(द्वयोर्द्विरभिधानम्) और फिर उसमें प्रणिधानगम्य साम्य हो, यह निदर्शना और दृष्टान्त होता है।

3. अनुगामिधर्म–मुखं चन्द्र इव सुन्दरम्–यहाँ पर सुन्दर धर्म अनुगामी अर्थात् मुख और चन्द्रमा दोनों में समान रूप से है।
4. शाब्दसाधारणधर्म–सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव इस श्लेषमूलक उपमा में केवल शब्दसाम्य है। कोलाहल युक्त और सारी कलाओं वाला ये दो अर्थ हैं।
5. औपचारिकसाम्य–मुखचन्द्रः प्रकाशते जैसे उदाहरणों में चन्द्र का प्रकाश धर्म वाच्य है और मुख का प्रकाश धर्म लक्ष्य है।

(प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण) जैसे–

देवीभाव को प्राप्त (पटरानी पद पर अभिषिक्त) यह (महारानी) परिवार (साधारण कुटुम्बिनी स्त्री) के स्थान को कैसे प्राप्त करे? देवता (देवमूर्ति) के लिए अङ्कित (निर्धारित) रत्न (साधारण आभूषण आदि के रूप में) निश्चित रूप से उपभोग के योग्य नहीं हुआ करता है।।342।।

यहाँ पर (पहले वाक्य में स्थित) कथम् इस पद से (और दूसरे वाक्य में प्रयुक्त) न खलु इस पद से (एक ही) अनौचित्य (रूप साधारणधर्म) की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार एक ही अनौचित्य रूप सामान्यधर्म का भिन्न भिन्न शब्दों से दो बार ग्रहण किया गया है।

टि०–इस श्लोक में पूर्वार्ध का वाक्यार्थ उपमेय रूप है और उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ उपमान रूप है। कथं और न खलु इन दोनों पदों से अनौचित्य रूप एक ही धर्म का दो बार अभिधान है। एकस्य धर्मस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः इस नियम के अनुसार यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव होने से प्रतिवस्तूपमा है। यह श्लोक

---

1. ज अ, इयं च मालारूपापि त

यथा–

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं
यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः
प्रकृतिरेव सतामविषादिता।। 343।।

अथ दृष्टान्तः–

अर्थविशेषः पूर्वं यादृग्न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
तादृशमन्यं न्यस्येद् यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः।। 230।।

विवक्षितेतरयोः प्रकृताप्रकृतयोः। यादृग्धर्मयुक्तस्तादृशधर्मयुक्तं च।

काव्यप्रकाश (10, 454) में इसी अलङ्कार के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है। और यह प्रतिवस्तूपमा माला रूप में भी समझनी चाहिए।

जैसे–

यदि अग्नि जलाता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यदि पहाड़ों में भारीपन (गौरव) है तो फिर इससे क्या हुआ? समुद्र का पानी सदा ही खारा होता है और दुःखी न होना सज्जनों का स्वभाव ही है।। 343।।

टि०–यहाँ स्वाभाविक धर्म का दर्शन विस्मयजनक नहीं होता है– यह साधारण धर्म भिन्न भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। जिस प्रकार अग्नि का स्वाभाविक दाहकत्व धर्म अथवा पर्वतों का गौरव अथवा समुद्र जल का क्षारत्व धर्म स्वाभाविक होने के कारण आश्चर्यजनक नहीं होता है इसी प्रकार सज्जनों का 'अविषादिता' धर्म स्वाभाविक धर्म होने से विस्मयोत्पादक नहीं है। क्योंकि इस उदाहरण में प्रकृतिरेव सतामविषादिता इस चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ उपमेय है और शेष तीन चरणों के तीन वाक्यार्थ उपमान रूप हैं इसलिए यह माला रूप प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है।

इसके बाद 14. दृष्टान्त (का लक्षण) है–

(काव्य में) वर्णन करने के लिए अभीप्सित प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों में जैसा विशेष अर्थ पहले रखा हो वैसा ही यदि दूसरा (विशेष अर्थ) जिसमें रखा जाय वह इस (काव्यशास्त्र) में दृष्टान्त (कहलाता) है।। 230।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (8, 94) में भी दृष्टान्त का यही लक्षण मिलता है।

विशेषग्रहणादर्थान्तरन्यासाद् भेदः। तत्र हि सामान्यविशेषयोर्मध्यादेकमुपमानमन्यदुपमेयम्। इह तु द्वयमपि विशेषरूपमिति। केचित्तु-वाक्यभेदे सति उपमानोपमेयसाधारणधर्मयोः सामर्थ्यसमर्थकभावेन तुल्यपदार्थप्रतिपत्तिविषयत्वमिति लक्षणम्। आद्यविशेषणान्नोपमालङ्कारे अतिप्रसङ्गः। एकवाक्यतापन्नपदतः साधर्म्यप्रतीतिविषयत्वाभावान्नोपमासाङ्कर्यमपि।

(कारिका में प्रयुक्त) विवक्षितेतरयोः का अर्थ है- विवक्षित दोनों प्रकृत और अप्रकृत (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) में। (यादृग् का अर्थ है) यादृग्धर्मयुक्तः जैसे धर्म से युक्त (पहला विशेष हो और तादृशम् का अर्थ है) वैसे ही धर्म से युक्त (दूसरे विशेष) को रखे। (यहाँ कारिका में अर्थविशेषः पद प्रयुक्त हुआ है) विशेष पद के ग्रहण करने से अर्थान्तरन्यास से भेद हो जाता है। क्योंकि वहाँ (अर्थान्तरन्यास में) सामान्य और विशेष में एक वाक्य उपमान होता है और दूसरा उपमेय होता है। इस दृष्टान्त में तो दोनों ही वाक्य विशेष के रूप में होते हैं। यह (दोनों में भेद) है।

टि०-दृष्यन्तालङ्कार में उपमानोपमेयभूत दोनों वाक्यों में अलग अलग दो विशेषों का प्रतिपादन होता है जबकि अर्थान्तरन्यास में एक सामान्य और एक विशेष का प्रतिपादन किया जाता है।

कुछ विद्वान् तो दो वाक्यों के भिन्न होने पर उपमान और उपमेय के साधारण धर्मों के मध्य सामर्थ्यसमर्थकभाव से समान प्रतीति का विषय होना ही दृष्टान्तत्व है (दृष्टान्त का) यह लक्षण करते हैं।

टि०-इन आचार्यों के अनुसार दृष्टान्त में दो भिन्न भिन्न वाक्य होते हैं। एक वाक्य उपमेयवाक्य होता है तो दूसरा उपमानवाक्य।. उपमेयवाक्य का उपमान वाक्य समर्थन करता है और पर्यवसान में दोनों वाक्यों में सादृश्य होता है।

(और यहाँ वाक्यभेदे सति इस) पहले विशेषण से (इसका) उपमालङ्कार में अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) नहीं है और न ही इस(अलङ्कार) में एकवाक्य में ही प्रयुक्त पदों के होने से और साधर्म्य की प्रतीति का विषय होने से (उपमा के अन्दर एक वाक्य होता है और उसमें उपमेय और उपमान दोनों का प्रयोग किया जाता है और फिर वे सादृश्य की प्रतीति का विषय बनते हैं। इस प्रकार की प्रतीति का दृष्यान्त में अभाव होने से) इस (लक्षण) का उपमा में साङ्कर्य भी नहीं है।

टि०-केचित्तु कहकर किन्हीं प्राचीन आचार्यों के बताये वाक्यभेदे सति......

सामर्थ्यसमर्थकता तुल्यरूपतया विवक्षिता। सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेणेति। तेन नार्थान्तरन्यासे अतिप्रसङ्गः। अर्थो द्विविधः कल्पितोऽकल्पितश्च।

प्रथमो यथा–

लोकं लोलितकिसलयविषवनवातोऽपि मङ्क्षु मोहयति।
तापयतितरां तस्या हृदयं तद्गमनवार्तापि।। 344।।

विषयत्वमिति लक्षणम् इस दृष्टान्त के लक्षण की ओर इङ्गित किया है। इन प्राचीनों का कहना है कि यदि तुल्यपदार्थप्रतीतिविषयत्वम् इतना मात्र दृष्टान्त का लक्षण माना जाय तो उसकी उपमा में अतिव्याप्ति हो जायेगी। उसका निराकरण करने के लिए वाक्यभेदे सति यह विशेषण जोड़ देना चाहिए। उपमा और दृष्टान्त दोनों ही तुल्यपदार्थप्रतीति के विषय बनते हैं किन्तु उपमा में एक ही वाक्य होता है जबकि दृष्टान्त में वाक्यभेद है। अर्थात् इसमें दो भिन्न भिन्न वाक्य होते हैं।

(और दृष्टान्त में) दोनों वाक्यों में एकरूपता–सादृश्य होने से सामर्थ्यसमर्थकभाव विवक्षित होता है और यह समर्थन सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से होता है। यह (इसकी विशेषता) है।

टि०–दृष्टान्त में या तो दोनों वाक्य सामान्य होते हैं या दोनों ही विशेष। इन दोनों ही प्रकार के वाक्यों में एक का दूसरे से समर्थन होता है।

इसी कारण इसकी अर्थान्तरन्यास में अतिव्याप्ति नहीं होती है। (क्योंकि अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य सामान्य होता है तो दूसरा वाक्य विशेष होता है)।

टि०–ऊपर प्राचीन आचार्यों के मतानुसार बताये हुए वाक्यभेदे........विषयत्वमिति लक्षणम्–इस दृष्टान्त के लक्षण में सामर्थ्यसमर्थकभावेन यह विशेषण दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास में समान रूप से लागू होता है किन्तु दृष्टान्त में जहाँ दोनों विशेष होते हैं वहाँ अर्थान्तरन्यास में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है यह भाव अन्तर्निहित है।

(इस दृष्टान्तालङ्कार में) अर्थ दो प्रकार का होता है–1. कल्पित और 2. अकल्पित।

1. पहले (कल्पित अर्थ वाले दृष्टान्त का उदाहरण) जैसे–

नवीन पत्तों को हिलाने वाली विषैली वन की हवा भी लोगों को अत्यधिक मूर्च्छित कर देती है। उस (नायक) के जाने की केवल बात ही उस (नायिका) के हृदय को बहुत अधिक सन्तप्त कर रही है।। 344।।

द्वितीयो यथा–

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशो र्विकसति कुसुमं कुमुदवत्याः।।345।।

अथ दीपकम्–

यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति च दीपकं द्वेधा।।231।।

अनेकवाक्यार्थान्वितकारकपदत्वं क्रियापदत्वं च लक्षणम्। आदिमध्यान्त-वाक्यवृत्तिभेदाद् द्विविधमपि षोढा।

टि०–यहाँ अलग कहे गये दो वाक्य उपमेय और उपमान वाक्य के रूप में हैं और उनमें सामर्थ्यसमर्थकभाव है तथा विशेष का विशेष से समर्थन है। रुद्रट के काव्यालङ्कार (8, 96) में भी यह श्लोक है।

2. दूसरे (अकल्पित अर्थ वाले दृष्यान्त का उदाहरण) जैसे–

तुम (नायक) को देखते ही (उस नायिका) का काम से सन्तप्त मन सुखी हो जाता है निश्चय ही चन्द्रमा के प्रकाश में कुमुदिनी का फूल खिल उठता है।।345।।

टि०–यहाँ पूर्व उदाहरण की तरह इन दोनों वाक्यों में उपमानोपमेयभाव और सामर्थ्यसमर्थकभाव है तथा दोनों वाक्य विशेष हैं। यह श्लोक काव्यप्रकाश (10, 456) में भी मिलता है। रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (8, 94) में भी यह उपलब्ध होता है।

इसके बाद 15. दीपक (का लक्षण) है–

जहाँ पर (जैसे) अनेक वाक्यार्थों में एक क्रियापद होता है उसी प्रकार अनेक वाक्यार्थों में एक कारकपद भी होता है तो वह यह दीपक होता है और इस प्रकार (इसके क्रियादीपक और कारकदीपक इस रूप में) दो भेद हैं।।231।।

अनेक वाक्यार्थों से युक्त कारक पद वाला होना और अनेक वाक्यार्थों से युक्त क्रियापद वाला होना (इस दीपकालङ्कार का) लक्षण है। दो प्रकार का होता हुआ भी यह वाक्यवात क्रिया और कारक पदों के आदि, मध्य और अन्त में रहने के कारण 6 प्रकार का है।

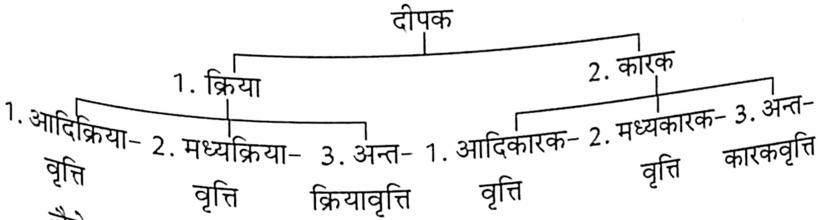
यथा–

भूष्यन्ते प्रमदावनानि बालपुष्पैः
कामिन्यो मधुमदमांसलै विंलासैः।
ब्रह्माणः श्रुतिगदितैः क्रियाकलापै
राजानः प्रशमितवैरिभिः प्रतापैः।। 346।।

तथा–

वाष्पः पथिककान्तानां जलं जलमुचां मुहुः।
विगलत्यधुना दण्डयात्रोद्योगो महीभुजाम्।। 347।।

टि०–दीपक के पहले दो प्रमुख भेद हैं। इसके बाद प्रत्येक (क्रिया और कारक दीपक) के आदिक्रिया वृत्ति दीपक आदि तीन तीन भेद हैं–



जैसे–

नवीन और ताज़े फूलों से (राजमहल की) रानियों के उद्यान, शराब के नशे से बढ़ी हुई हावभाव भरी चेष्टाओं से रमणियाँ, वेदप्रतिपादित कर्मकाण्डों (के निष्पन्न करने) से ब्राह्मण और वैरियों को शान्त करने वाले पराक्रमों से राजा लोग शोभित होते हैं।। 346।।

टि०– यहाँ आदिक्रियावृत्तिदीपकालङ्कार है क्योंकि यहाँ आदि में प्रयुक्त भूष्यन्ते क्रिया का प्रमदावनानि और बालपुष्पैः आदि अनेक कारकपदों के साथ सम्बन्ध है।

और–

इस समय (वर्षाकाल) में प्रोषितभर्तृका नायिकाओं का आँसू और बादलों का पानी तथा राजाओं का (शत्रुओं के) दमन के लिए (किया गया विजय) यात्रा का अभियान बार बार विगलित हो रहा है।। 347।।

तथा–

नवयौवनमङ्गेषु प्रियसङ्गमनोरथो हृदयेषु।
अथ चेष्टासु विकारः प्रभवति रम्यः कुमारीणाम्।। 348।।

तथा–

निद्रापहरति जागरमुपशमयति मदनदहनसन्तापम्।
जनयति कान्तासङ्गसुखं च कोऽन्यस्ततो बन्धुः।।349।।
इदमादिकर्तृदीपकम्। एवं कर्मादिषु द्रष्टव्यानि।

पूर्वपूर्वदीपकसंवलितवाक्यार्थेन दीपकसंवलितोत्तरोत्तरवाक्यार्थो यदि चमत्क्रियते तन्मालादीपकम्।।232।।

टि०– यहाँ विगलति इस क्रिया का मध्य में प्रयोग होने के कारण मध्यक्रियावृत्ति दीपक है। विगलन के क्रमशः बहना, गिरना और समाप्त होना ये तीन अर्थ हैं।

और–

कुमारी नवयुवतियों के अङ्गों में नई जवानी, हृदयों में प्रिय से मिलने की मन की अभिलाषा और कामचेष्टाओं में सुन्दर (वासना की) विकृति उत्पन्न हो रही है।। 348।।।

टि०– यहाँ प्रभवति क्रिया के अन्त में होने से अन्तक्रियावृत्ति दीपक है।

और–

नींद जागरण का हरण करती है, कामाग्नि के सन्ताप को दूर करती है और प्रेमिका के साथ (स्वप्न में) मिलने के सुख का अनुभव कराती है। (अतएव) उस (नींद) से बढ़कर (हितकारी) प्रिय व्यक्ति और कौन दूसरा होगा?।। 349।।

आदिकर्त्तृकारकवृत्ति का यह (उदाहरण) है। इसी प्रकार कर्म आदि में कारकवृत्तिदीपक के उदाहरण देख लेने चाहिए।

टि०– यहाँ 'निद्रा' रूप कर्तृकारक का अपहरति, उपशमयति और जनयति इन अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध है। यह श्लोक रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 69) में दिया हुआ है।

यदि पहले पहले दीपक से युक्त वाक्यार्थ से (दूसरे) दीपक से युक्त उत्तरोत्तर (बाद बाद का) वाक्यार्थ चमत्कारपूर्ण किया जाता है तो मालादीपक होता है।।232।।

यथा–

सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते[1]
देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला[2] कीर्त्या च लोकत्रयम्।।350।।

अथ तुल्ययोगिता–

प्राकरणिकाप्राकरणिकान्यतरसकृद्धर्मप्रतीतिस्तुल्ययोगिता।।233।।

टि०–मालादीपक का यह लक्षण काव्यप्रकाश के मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तर-गुणावहम् (10, 104) इस लक्षण से प्रभावित है। आचार्य मम्मट के अनुसार भी यदि पूर्व पूर्व (की वस्तु) उत्तर उत्तर की उपकारक हो तो मालादीपक अलङ्कार होता है।

जैसे–

हे राजन्! सङ्ग्रामभूमि में आए हुए आपके धनुष (की प्रत्यञ्चा) को चढ़ाने पर जिस जिसने जो जो सहसा प्राप्त किया, सो सो सुनो। (सबसे पहले आपके चढ़े हुए) धनुष ने बाण (प्राप्त किये), बाणों ने शत्रुओं का सिर (पाया– बाणों ने धनुष से छूटकर शत्रुओं के सिरों को काट दिया। इसलिए) उस (शत्रु के सिर) ने भी पृथिवीमण्डल (पाया), उस (भूमण्डल) ने (राजा रूप में) आपको (पाया) और आपने असीमित कीर्ति (पाई) तथा कीर्ति ने तीनों लोक पाये। अर्थात् आपकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त हो गई।।350।।

टि०–यहाँ समासादितम् क्रिया का अनेक कोदण्ड आदि कारकों के साथ सम्बन्ध होने से क्रियादीपक है। पहले पहले दीपक से युक्त वाक्यार्थ के द्वारा उत्तरोत्तर वाक्यार्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है। काव्यप्रकाश (10, 460) में यह मालादीपक के उदाहरण के रूप में मिलता है।

इसके बाद 16. तुल्ययोगिता (का लक्षण) है–

प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों में से एक अर्थात् दोनों प्रस्तुत पदार्थों अथवा दोनों अप्रस्तुत पदार्थों की एक बार (एककालावच्छेद से) एक धर्म की प्रतीति तुल्ययोगिता होती है।।233।।

---

1. ज तः सम्प्राप्ते परिपन्थियोधिनिवहे साम्मुख्यमासादिते अ
2. ज; कीर्तिनिवहः अ त

तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्य सदृशतया अत्र सकृद्धर्मप्रतीति-रितिकरणान्नोपमासाङ्कर्यम्।

यथा–

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री–
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहु र्भुनक्ति।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै–
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे।। 351।।

उस (उपमान) से भिन्न होने पर (उस) उपमानगत अधिक धर्मवाला होना (रूप) सादृश्य (समानता) होने से यहाँ पर 'सकृद्धर्मप्रतीति' इस विशेषण के रख देने से उपमा में इस लक्षण का साङ्कर्य नहीं होता।

टि०–उपमा में एक अर्थ प्राकरणिक और दूसरा अप्राकरणिक होता है और इन दोनों के बीच एक साधारण धर्म रहता है परन्तु तुल्ययोगिता में ऐसी स्थिति नहीं होती। वहाँ पर या तो दोनों अप्रस्तुतों में एक धर्माभिसम्बन्ध होता है या दोनों प्रस्तुतों में यह सम्बन्ध दिखाया जाता है। साहित्यदर्पण में तुल्ययोगिता के लक्षण में यह बात स्पष्ट रूप से बताई गई है–

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।।

साहित्यदर्पण 10, 48

जैसे–

नगर (के मुख्य द्वार) के अर्गलादण्ड के समान लम्बी भुजाओं वाला यह राजा समुद्र रूप काली सीमा वाली सम्पूर्ण पृथिवी का अकेले ही पालन कर रहा है यह जो कार्य है उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि दैत्यों के साथ द्वेष करने वाली युवती देवाङ्गनायें इसके डोरी चढ़े हुए धनुष और इन्द्र के वज्र के सम्बन्ध में विजय की सम्भावना करती हैं अर्थात् उन्हें इस बात की पूरी आशा है कि इन दोनों की विजय होगी।।351।।

टि०–यह श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तलनाटक (2, 15) से लिया हुआ है। यहाँ इन्द्र की सहायता के लिए पहुँचने वाले दुष्यन्त का धनुष और इन्द्र का वज्र दोनों ही अप्रस्तुत हैं। इन दोनों का एक विजयाशंसन रूप क्रिया के साथ सम्बन्ध है।

यथा वा–

जलनिधिवसनामिमां धरित्रीं
वहति भुजुङ्गविभवो भवद्भुजश्च।। 352।।

अथ व्यतिरेक:–

उपमानत उपमेयस्याकाङ्क्षिताधिकधर्मवत्त्वं लक्षणम्।। 234।।

विभजते–

यो गुण उपमेये स्यात्तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुत:।। 235।।

अस्यार्थ:–उपमेये गुण: स्यादुपमाने च तस्य गुणस्य प्रतिपन्थी विरुद्धो यो दोषस्तौ

अथवा जैसे–

(हे राजन्!) समुद्र रूपी वस्त्रों वाली इस पृथिवी को सर्पों का पराक्रम और आपकी भुजा (ये दोनों) धारण करते हैं।। 352।।

टि०– यहाँ भुजङ्गविभव: और भवद्भुज:– इन दोनों प्रस्तुतों का एक 'वहति' इस क्रिया के साथ सम्बन्ध हो रहा है।

इसके बाद 17. व्यतिरेक (का लक्षण) है–

उपमान की अपेक्षा उपमेय के भीतर आकाङ्क्षित अधिक धर्म वाला होना व्यतिरेक का लक्षण है।। 234।।

टि०– व्यतिरेक का अर्थ है विशेषेण अतिरेक: अर्थात् विशेष रूप से अधिक। व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुण में अतिरेक (आधिक्य) पाया जाता है। काव्यप्रकाश (10, 105) में व्यतिरेक का लक्षण इसी तथ्य को स्पष्ट करता है।

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक: स एव स:।

उपमान से अन्य अर्थात् उपमेय का जो आधिक्य का वर्णन है वही व्यतिरेकालङ्कार है।

(इस व्यतिरेक के) भेद बताते हैं–

जो गुण उपमेय में हो यदि उस गुण का विरोधी दोष उपमान में (मिलता) हो तो ये दोनों (गुण और दोष) व्यस्तसमस्तन्यस्त अर्थात् व्यस्तन्यस्त, समस्तन्यस्त और व्यस्तसमस्तन्यस्त होकर उस व्यतिरेक को तीन प्रकार का बना देते हैं।।235।।

इसका यह अर्थ है–उपमेय में (अधिकता का कारणभूत) गुण और उपमान

गुणदोषौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः। कथमित्यत आह–व्यस्तसमस्तन्यस्ताविति। तत्र गुण एवोपमेये न्यस्यते न तूपमाने दोष इत्येकः प्रकारः। तथोपमाने दोष एवेति द्वितीयः। तत्रोभयत्रोभयन्यासश्चेति प्रकारत्रयम्।

(क्रमेण यथा[1]–)

अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः।
न निशाकरवज्जातु कलावैक्लव्यमागतः।।353।।

में (न्यूनता का कारणभूत) उस गुण का विरोधी दोष (जब दोनों व्यतिरेक में होते हैं तो ये) दोनों गुण और दोष (इस व्यतिरेक को) तीन प्रकार का बना देते हैं यह कैसे बना देते हैं? इसीलिए इसी बात को बताने के लिए–'व्यस्तसमस्तन्यस्तौ इति इस विशेषण को कहा है। वहाँ (इन भेदों में) 1. जब गुण ही उपमेय में रखा जाय और उपमान में दोष को न रखा जाय तो यह (व्यतिरेक का) एक (पहला) प्रकार है और 2. यदि उपमान में दोष ही बताया हो (उपमेय का गुण न बताया हो तो) यह दूसरा प्रकार है तथा 3. यदि वहाँ उपमेय और उपमान दोनों में (उत्कर्ष और अपकर्ष के कारणभूत) गुण और दोष दोनों को ही बताया हुआ हो (तो वहाँ तीसरा प्रकार है) इस भाँति व्यतिरेक के तीन प्रकार हैं।

टि०– इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ व्यतिरेक को इन भागों में बाँटा है–

1. जब केवल उपमेय में ही गुण दिखाया हो और उपमान में दोष न बताया हो।
2. उपमानगत दोष तो बताया हो किन्तु उपमेय का गुण न बताया हो।
3. उपमेय में गुण बताया हुआ हो और उपमान में भी दोष बताया हो।

व्यस्तसमस्तन्यस्तौ से अभिप्राय है–जब गुण और दोष या तो अलग अलग रखे जायें या जब दोनों की युगपद् स्थिति हो। पहला और दूसरा भेद व्यस्तन्यस्त का है और तीसरा समस्तन्यस्त का है।

(क्रम से इनके उदाहरण)

जैसे–

देखो, सम्पूर्णमण्डल अर्थात् अखण्ड देशवाला और लक्ष्मी से समृद्ध यह राजा समस्त कलाओं वाले कान्तिमान् चन्द्रमा का रूप होते हुए (भी) चन्द्रमा के समान कभी भी कलाहीनता को नहीं प्राप्त होता।। 353।।

1. संशोधित पाठ; ज अ त में नहीं

द्वितीयो यथा–

सकलङ्केन जडेन च साम्यं दोषाकरेण कीदृक् ते।
अभुजङ्गः समनयनः कथमुपमेयो हरेणासि।। 354।।

यथा वा–

प्रौढिं धत्तां कलासु प्रथयतु कुमुदं सत्पथे सञ्चरेद् वा
नेत्रानन्दं विधत्तामवतु स विबुधानस्तु राजा तथापि।
दोषान्वेषी कलङ्की सहजजडतनुः सक्षयः पक्षपाती
नक्षत्रेशः कथं वा कलयतु तुलनां रामचन्द्रेण चन्द्रः।। 355।।

टि॰–चन्द्रपक्ष में अखण्डमण्डल का अर्थ है सम्पूर्ण बिम्ब (शरीर) वाला, श्रीमान् का अर्थ कान्तिमान् तथा कलावैक्लव्य का अर्थ है अपनी सम्पूर्ण सोलह कलाओं में कमी का आना। राजा के पक्ष में क्रमशः इनका अर्थ अखण्डित राज्यप्रदेश वाला, सम्पत्ति से समृद्ध और चौंसठ कलाओं में कमी का आना। यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय के अधिक उत्कर्ष के कारणभूत गुण को दिखाया गया है। पृथिवीपतिः निशाकरवत् जातु कलावैक्लव्यं नागतः कहकर उपमेयगत राजा का उत्कर्ष ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है। चन्द्रमा कभी कभी खण्डमण्डल, निःश्रीक और कलाहीन भी होता है। अतः यहाँ तीसरा भेद भी है।

काव्यप्रकाश (10, 468) में इसी अलङ्कार का यह उदाहरण है।

दूसरा जैसे–

कलङ्क से युक्त, चेतनाविहीन, और दोषों के भण्डार चन्द्रमा के साथ तुम्हारा कैसा सादृश्य और साँपों से रहित, समनेत्र अर्थात् दो नेत्रों वाले तुम–सर्पों से वेष्टित, विषम अर्थात् तीन नेत्रों वाले शिव के साथ उपमेय (तुलना के विषय) कैसे बन सकते हो?।। 354।।

टि॰– यहाँ उपमान के अपकर्ष का कारणभूत दोष तो कह दिया गया है, किन्तु उपमेय के उत्कर्ष का कारण गुण शब्दोपात्त नहीं है। दोषाकर का दूसरा अर्थ है रात्रि को बनाने वाला चन्द्रमा।

अथवा और जैसे–

चाहे वह चन्द्रमा कलाओं में कितनी ही वृद्धि को धारण करे, कुमुद को खिलाये अथवा सन्मार्ग (आकाश) में चले, नेत्रों के आनन्द को उत्पन्न करे, देवताओं की रक्षा करे और भले ही चमकने वाला हो, फिर भी रात्रि को ढूँढने वाला, कलङ्कयुक्त, स्वभाव से ही चेतनाहीन (शीतल) शरीर वाला, क्षयग्रस्त और कृष्णपक्ष में क्षीण होने वाला केवल नक्षत्रों का ही स्वामी वह चन्द्रमा रामचन्द्र के साथ कैसे तुलना को धारण कर सकता है?।। 355।।

तृतीयो यथा–

तरलं लोचनयुगलं कुवलयमचलं किमेतयोः साम्यम्।
विमलं मलिनेन मुखं शशिना कथमेतदुपमेयम्।।356।।

अथाक्षेपः–

निषेधप्रतिपादनतात्पर्येण वचनीयानिषेधेन वचननिषेध इत्याक्षेप-लक्षणम्।।236।।

यथा–

नानीता जनकमहीमहेन्द्रपुत्री
नोद्धूतः सपरिकरः स राक्षसेन्द्रः।

टि०– यहाँ उपमान चन्द्रमा के अपकर्ष के कारणभूत दोष तो कह दिए हैं पर रामचन्द्र उपमेय के उत्कर्ष के कारणभूत गुणों को नहीं कहा है।

तीसरा (उदाहरण) जैसे–

इस (सुन्दरी) का नेत्रयुगल चञ्चल है तथा नीलकमल चलने के सामर्थ्य से रहित है। इन दोनों में बराबरी कैसे हो सकती है और निर्मल वह मुख मैले चन्द्रमा का कैसे उपमेय (उपमा का विषय) बन सकता है?।।356।।

टि०– यहाँ उपमेयभूत लोचनयुगल और मुख के उत्कर्षबोधक गुण तथा उपमानभूत कुवलय और शशि के अपकर्षबोधक दोष–इन दोनों को बताया हुआ है।

इसके बाद 18. आक्षेप (का लक्षण) है–

निषेध के प्रतिपादन के अभिप्राय से कथ्य वस्तु की निषेधहीनता के कारण जो वक्ता के द्वारा स्वयं कहे गये वचन का निषेध है वही आक्षेप होता है।।236।।

टि०– आक्षेप में जो निषेध किया जाता है वस्तुतः वह निषेधाभास रूप अनिषेध ही होता है– वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।। साहित्यदर्पण 10, 64-65

जैसे–

(क्या) मेरे द्वारा पृथिवीपति महाराज जनक की पुत्री सीता नहीं लाई गई हैं, सम्पूर्ण परिवारसहित राक्षसराज रावण को नष्ट नहीं किया गया है और

उत्क्षिप्य स्वयमुपढौकिता न लङ्का
वैलक्ष्यात्कुशलकथा कथं ब्रवीमि?।। 357।।

अत्र कथमित्यनेन प्राप्तो निषेधः कुशलकथनस्याशक्यत्वं व्यनक्ति।

अयं च वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा।

तत्र उक्तविषयो यथा–

सन्तुष्टे तिसृणां पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली-
क्रीडाकृत्तपुनः प्ररूढशिरसो वीरस्य लिप्सो र्वरम्।
याच्आदैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
त्वं वृण्वित्यभितो मुखानि स दशग्रीवः कथं कथ्यताम्?।। 358।।

अत्र कथमिति निषेधो रावणस्य तत्तद्गुणानाञ्चातिप्रसिद्धत्वं व्यनक्ति।

(क्या) स्वयं जीतकर लङ्का आपको भेंट में नहीं दी गई है? ऐसी स्थिति में लज्जा के कारण कुशल की वार्ता (समाचार) कैसे कहूँ?।। 357।।

और यहाँ कथम् इस पद से प्राप्त निषेध कुशलता के कहने की अशक्यता को प्रकट करता है।

टि०– इस 'नानीता' इत्यादि श्लोक में कथं पद से यही अर्थ प्रकट होता है कि मुझे अपनी कुशलकथा नहीं कहनी चाहिए क्योंकि इससे आत्मश्लाघा प्रकट होगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि हनुमान् कुशलकथा (कल्याणकथा) कहकर अपि कुशली इस प्रश्न के उत्तर में श्री राम को अपनी उपलब्धियों को सुना रहे हैं।

और यह 1. वक्ष्यमाणविषयक (आगे कहे जाने वाली बात को कहे बिना पहले ही निषेध करने से युक्त) और 2. उक्तविषयक (बात को कह कर फिर उसके निषेध से युक्त) यह दो प्रकार का (आक्षेप होता) है। उसमें से वक्ष्यमाणविषय का उदाहरण तो 'नानीता' इत्यादि श्लोक है। उक्तविषयक का उदाहरण (दिखाया जाता है) जैसे–

तीन नगरों के शत्रु शिव के सन्तुष्ट हो जाने पर भी (युद्ध की) खुजलाहट से युक्त इन (अपनी) भुजाओं के समूह से अनायास काटे हुए और फिर से उत्पन्न सिर वाले और वर (माँगने) की अभिलाषा वाले जिस वीर (रावण) के याचना की दीनता से विमुख रहने वाले सारे मुख–तुम (पहले) माँगो और तुम (ही पहले) माँगो, इस रूप में आपस में झगड़ा करते हैं, उस दस ग्रीवाओं वाले रावण के बारे में (इससे अधिक) कैसे (और क्या) कहा जाय?।। 358।।

केचित्तु–

वस्तु प्रसिद्धमिति वा विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्धये यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः।।

इत्याक्षेपलक्षणमाहुस्तत्रेदं प्रसिद्धोदाहरणम्–

जनयति सन्तापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः।।

टि०– रावण का प्रत्येक मुख स्वाभिमानी है और उसको वर माँगने में लज्जा आ रही है। अतः माँगने का काम दूसरे दूसरे पर डाला जा रहा है।

यहाँ कथम् (इस पद) से किया गया निषेध रावण के उन उन गुणों की अत्यधिक प्रसिद्धि को अभिव्यक्त कर रहा है। अर्थात् इसने ऐसे अद्भुत काम किये हैं जिनको सब जानते हैं इसलिए उन्हें बताने की आवश्यकता नहीं है।

कुछ आचार्य तो–

(आनन्दप्रदत्वादि धर्म में) प्रसिद्ध वस्तु (चन्द्रकलादि होती) है–इस कथन पर (सन्तापजनकत्वादि धर्मों के द्वारा) आक्षेप करके उस (चन्द्रकलादिक के सन्तापजनकत्वादि धर्म) को वैसा ही अर्थात् सही सिद्ध करने के लिए जहाँ कोई दूसरी बात युक्ति रूप में कही जाय अथवा इसी रीति से किसी विरुद्ध धर्मवाली वस्तु के उस विरुद्ध धर्म पर आक्षेप करके पुनः किसी दूसरी युक्ति के द्वारा उपपन्नता स्थापित की जाय वह आक्षेप होता है।

इस रूप में आक्षेप के लक्षण को (रुद्रट अपने काव्यालङ्कार 8, 89 में) कहते हैं। वहाँ पर प्रसिद्ध वस्तु का उदाहरण यह दिया है–

मुझे आश्चर्य है कि चन्द्रकला के सदृश कोमल होते हुए भी वह (सुन्दरी) मेरी जलन (कामव्यथा) को उत्पन्न कर रही है अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि हिमराशि भी तो वृक्षों को जला देती है।

टि०– यहाँ पहले उपमेय नायिका के प्रसिद्ध धर्म को बताकर उसका आक्षेप (निषेध) किया है। इसके बाद अथवा किमत्र चित्रम् इस वचन से उसका समर्थन किया गया है।

विरुद्धोदाहरणम्–

तव गणयामि गुणानलमथवाऽसत्प्रलापिनीं धिङ् माम्।
कः खलु कुम्भैरम्भो मातुमलं जलनिधेरखिलम्।।

परे तु–उपमानाक्षेपमाक्षेपमाहुः।

यथा–

तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ च यदि चेत् किन्नाम नीलोत्पलैः?
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेऽथ पूर्वाग्रहः।।

विरुद्ध का उदाहरण–

मैं तुम्हारे गुणों की गिनती करती हूँ अथवा मुझे (यह कार्य) बन्द करना चाहिए। झूठ बोलने वाली मुझे धिक्कार है। भला कौन घड़ों से समुद्र के सारे जल को मापने का सामर्थ्य रखता है।

टि०–गुणों की गणना कर सकना विरुद्ध कथन है क्योंकि गुणों की अनन्तता होने से गणना नहीं की जा सकती। असत्प्रलापिनीं धिङ् माम् इस वचन से आक्षेप करके उत्तरार्ध वाक्य से विरुद्ध कार्य अर्थात् गुणों की गणना न होने की उपपन्नता सिद्ध की जा रही है।

काव्यालङ्कार (8, 91) में यह उदाहरण है।

और दूसरे विद्वान् तो उपमान के निषेध (तिरस्कार) को आक्षेप कहते हैं।

टि०– वामन (काव्यालङ्कारसूत्र 4, 3, 27) ने उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः यह लक्षण बताया है।

जैसे–

यदि उसका शोभन और सुन्दर मुख (हमें देखने को मिलता है) तो पूर्णिमा के चाँद से क्या लाभ? अगर सौन्दर्य के निवास स्थान (उसके) नेत्र हैं तो नीलकमलों से क्या लाभ? और (उसके) उस निचले ओठ के रहने पर कोमल दीप्ति वाले नये पत्तों से क्या लाभ? बड़े शोक की बात है कि दुबारा दुबारा चीज़ों को बनाने के कार्य में ब्रह्मा को अभी भी पहले से ही हठ (पक्षपात पूर्ण विचार) है।

टि०–जब नायिका के मुख, नेत्र और ओठ की विधाता ने रचना कर दी तो पूर्णिमा के चाँद, नीलकमल और किसलय-इन उसी प्रकार की वस्तुओं को बनाने

उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यप्यन्ये।

यथा–

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधराणां शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसाधयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरप्यधिकं ततान।।

अत्र शरद्वेश्येव इन्दुं नायकमिव रवेः प्रतिनायकस्येवेत्युपमानानि गम्यन्ते।

अथ विशेषोक्तिः–

कारणसद्भावप्रदर्शनेऽपि कार्यानभिधानं विशेषोक्तिः।।237।।

की आवश्यकता नहीं रह गई थी। फिर भी विधाता ने इन्हें बनाकर व्यर्थ ही पुनरावृत्ति की। इस प्रकार कहने से यहाँ नायिका के मुखादि उपमेयों के द्वारा पूर्णमासी के चन्द्रादि उपमानों का तिरस्कार हो रहा है। काव्यालङ्कारसूत्र (4, 3, 27) में यह श्लोक आक्षेप के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है।

निषेध के द्वारा उपमान की व्यञ्जना से होने वाली प्रतीति आक्षेप कहलाती है इस प्रकार से भी दूसरे विद्वान् मानते हैं।

टि०–वामन के काव्यालङ्कारसूत्र में उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः (4, 3, 27) यह पङ्क्ति दी है।

जैसे–

श्वेतस्तन के समान श्वेतवर्ण वाले बादलों के भीतर ताज़े नखक्षत (नाखूनों के द्वारा बनाये गए घाव) के सदृश इन्द्रधनुष को धारण करने वाली शरद् ऋतु कलङ्कयुक्त चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई सूर्य के ताप को और भी अधिक बढ़ाने लगी।

यहाँ शरद् ऋतु एक वेश्या के समान (अनुरागवती) है। वह नायक के समान चन्द्रमा को (प्रसन्न कर रही है)। प्रतिनायक के समान सूर्य के सन्ताप को बढ़ा रही है। इस रूप में यहाँ (वेश्या, नायक और प्रतिनायक इन तीन) उपमानों का बोध व्यञ्जना से हो रहा है।

टि०–यह उदाहरण आक्षेप के उदाहरण के रूप में काव्यालङ्कारसूत्र 4, 3, 27 में दिया है)।

इसके बाद 19 विशेषोक्ति (का लक्षण) है–

कारण की सत्ता के दिखलाने पर भी कार्य का न कहना विशेषोक्ति कहलाता है।। 237।।

अत्राप्रसिद्धं कारणं सिध्यतीति न विरोधः। यथा–

निशात्यये व्यञ्जितपङ्कजाना–
मामोदमेदस्विनि गन्धवाहे।
न मुञ्चतः कैतवबद्धनिद्रा–
वन्योऽन्यकण्ठग्रहणं युवानौ।। 359।।

अत्र प्रकृतोचितं कारणमनुरागादिकमेकं व्यङ्ग्यम्। परे तु एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिमाहुः।

(क्योंकि) यहाँ अप्रसिद्ध कारण की सिद्धि अर्थात् प्रतीति हो जाती है इस कारण विरोध का अतिप्रसङ्ग नहीं है।

टि०–यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि विशेषोक्ति का ऊपर दिया हुआ लक्षण विरोधालङ्कार में भी अतिव्याप्त हो सकता है क्योंकि वहाँ भी कारण के रहते हुए कार्य नहीं होता। इससे भेद बताने के लिए सिद्धान्ती का कहना है कि विरोध में कारण प्रसिद्ध होता है जबकि विशेषोक्ति में अप्रसिद्ध।

जैसे–

रात के बीतने पर अर्थात् प्रात:काल की वेला में खिले हुए कमलों की गन्ध से समृद्ध हुई हवा के चलने पर बहाने से निद्रा को करने वाले (वस्तुतः जागे हुए) युवती और युवक एक दूसरे के द्वारा की गई कण्ठों की पकड़ को नहीं छोड़ रहे हैं।। 359।।

टि०–रात समाप्त हो जाने पर और प्रात:कालीन पवन चलने पर प्रेमियों का निद्राभङ्ग होना चाहिए। परन्तु यहाँ वह नहीं हो रहा है। यद्यपि यहाँ निद्राभङ्ग की कारणभूत हवा तो है तथापि निद्राभङ्ग रूप कार्य नहीं हो रहा है।

यहाँ पर प्रकरणानुकूल अनुरागादि रूप एक कारण व्यञ्जना से प्रतीत हो रहा है।

टि०– विशेषोक्ति और विभावना इन दोनों अलङ्कारों में एक कारण प्रसिद्ध होता है और दूसरा अप्रसिद्ध। प्रसिद्ध कारण के अभाव में ही यह दोनों अलङ्कार सिद्ध होते हैं और कार्य की पूर्ति अप्रसिद्ध कारण के द्वारा हो जाती है। अप्रसिद्ध कारण को ही अलौकिक (काल्पनिक) कारण का नाम दिया जाता है। यहाँ दिए गए इस उदाहरण में निद्राभङ्ग न होने का वास्तविक कारण अनुरागातिशय है। रात्रि की

यथा–

निहतातुलतिमिरभरः स्फारस्फुरदुरुतरप्रभाप्रसरः।
शं वो दिनकृद् दिश्यादतैलपूरो जगद्दीपः।।

यथा वा–

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः।।

समाप्ति और प्रातःकाल की पवन का चलना निद्राभङ्ग के ये प्रसिद्ध कारण हैं। इन दोनों के होते हुए भी कार्य के न होने से यहाँ विशेषोक्ति बन गई है। परन्तु यहाँ वस्तुतः अप्रसिद्ध (काल्पनिक) कारण अनुरागातिशय कार्य की सिद्धि कर रहा है। इसलिए यहाँ प्रसिद्ध कारण वाले विरोध के लिए अवकाश नहीं है।

दूसरे (वामन आदि) विद्वान् (काव्यालङ्कारसूत्र 4, 3, 23) तो एक गुण की हानि की कल्पना से दूसरे समान गुण की दृढ़ प्रतीति जहाँ होती है उसे विशेषोक्ति कहते हैं।

जैसे–

अपरिमित अन्धकार समूह को नष्ट करने वाले तथा फैली हुई और चमकीली बहुत बड़ी दीप्ति का प्रसार करने वाले और तैलराशि के बिना (जलते) रहने वाले सारे संसार के दीपक सूर्य भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।

टि०– यहाँ सूर्य में तैलराशि का अभाव होने की कल्पना करके दीपक के समान उसमें प्रकाशप्रदान रूप प्रबल समान गुण बताया है।

अथवा जैसे–

जिस (हिमालय) में गुफाओं के (बने हुए) घरों के भीतर अपनी किरणों का सम्पर्क करने वाली (अर्थात् प्रकाशपूर्ण बनाने वाली) औषधियाँ (जड़ी बूटियाँ) अपनी पत्नियों के साथ रहने वाले वनवासियों के लिए बिना भरे हुए तेल वाले रतिकाल में (काम आने वाले) दीपक बन जाते हैं।

टि०–यहाँ औषधियों में तेल न होने रूप एक गुण की हानि की कल्पना की गई है फिर दीपक के समान प्रकाश प्रदान करने रूप प्रबल समान गुण की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर शेष गुणों में जो साम्य होता है, उसका दृढ़ होना ही विशेषोक्ति अलङ्कार का लक्षण बताया गया है। कुमारसम्भव (1, 10) में यह श्लोक दिया हुआ है।

अथ विभावना–

कारणप्रतिषेधेन कार्योत्पत्तिरिति विभावनालक्षणम्।। 238।।

अत्राप्यलौकिकं कारणमादाय नानुपपत्तिरिति ध्येयम्।

यथा–

अस्पृशन्नपि निकृन्तति मूलं
नोद्यतोऽपि निपतत्यनुचैलम्।
केन हन्त कवितातरुहत्यै
निर्मितोऽयमविनीतकुठारः?।। 360।।

अत्र कारणं खलस्वभावादिकं व्यङ्ग्यम्।

इसके बाद 20. विभावना (का लक्षण) है–

कारण के निषेध से कार्य की उत्पत्ति होना विभावना का लक्षण है।। 238।।

यहाँ भी अलौकिक (काल्पनिक) कारण को लेकर (कार्य की उत्पत्ति होती है।) इस रूप में मानने से (विभावना होने में) किसी प्रकार की असङ्गति नहीं है यह समझ लेना चाहिए।

टि०– विशेषोक्ति की भाँति विभावना में प्रसिद्ध कारण का अभाव होने पर कार्योत्पत्ति असम्भव प्रतीत होती है परन्तु अप्रसिद्ध कारण की कल्पना से यह सिद्ध हो जाती है।

जैसे–

स्पर्श न करता हुआ भी जड़ को काटता है और ऊपर की ओर न उठाया हुआ भी लकड़ी के छोटे टुकड़ों पर गिरता है। खेद है कि कविता रूपी वृक्ष का नाश करने के लिए किसने यह उद्दण्ड कुल्हाड़ा बनाया है?।।360।।

यहाँ पर (परदोषदर्शनदक्षता रूप) दुष्टस्वभाव तथा परनिन्दादि (रूप अलौकिक) कारण व्यञ्जना से प्रतीत हो रहा है।

टि०– वृक्षों के समूलोच्छेदन के कार्य में कुठार का स्पर्श और इसका उठाया जाना कारण बनता है। किन्तु यहाँ इस कारण के बिना ही काव्यतरु की हत्या रूप कार्य हो रहा है। इस कार्य की सङ्गति व्यङ्ग्य खलस्वभावादि अलौकिक कारण से की जा रही है। मत्सरग्रस्त आलोचक अकारण अर्थात् किसी ठोस कारण के बिना भी अच्छी कविता को बेकार बता देते हैं।

अथार्थान्तरन्यास:–

सामान्यविशेषयोः सामथ्र्यसमर्थकभावो यत्र सो[1]ऽर्थान्तरन्यास इति लक्षणम्।। 239।।

स चोभयथा सम्पद्यते, सामान्यं विशेषेण समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन समर्थ्यते।[2] दृष्टान्ते च सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समथ्र्यत इति नातिव्याप्तिशङ्कापि[3]।

तत्र साधर्म्येण यथा–

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि।। 361।।

इसके बाद 21. अर्थान्तरन्यास (का लक्षण) है–

जिसमें सामान्य और विशेष के भीतर समर्थनीय और समर्थक का भाव (सम्बन्ध) पाया जाय वह अर्थान्तरन्यास होता है– वह इसका लक्षण है।। 239।।

वह (अर्थान्तरन्यास) दो प्रकार से निष्पन्न होता है–1. सामान्य का विशेष से समर्थन किया जाय अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन हो। दृष्यान्त में सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से समर्थन किया जाता है। इस कारण वहाँ इस लक्षण की अतिव्याप्ति की शङ्का भी नहीं है।

टि०–पहले दिखाये गये दृष्यान्त के 'त्वयि दृष्ट एव निर्वाति' इत्यादि (8. 345) उदाहरण में दो विशेष वाक्यार्थ हैं। उसी प्रकरण में यह बताया गया है कि दृष्यान्त में विशेषों के होने से इसकी अर्थान्तरन्यास में अतिव्याप्ति नहीं हुआ करती। आगे अर्थान्तरन्यास के चार प्रकार बताये गये हैं। उनमें सामान्य का विशेष और विशेष का सामान्य से वह समर्थन साधर्म्य और वैधर्म्य के कारण किया जाता है।

उनमें साधर्म्य के कारण (सामान्य का विशेष से समर्थन का उदाहरण)–जैसे विधाता के प्रतिकूल होने पर बहुत सारे साधनों से सम्पन्न हो जाना निष्फलता को प्राप्त होता है। चन्द्रमा के प्रतिकूल होने पर गिरते हुए (अस्ताचल को जाने वाले) सूर्य की हज़ारों रश्मियाँ रूपी हाथ भी उसका सहारा न बन सके।। 361।।

टि०– यहाँ पूर्वार्ध में कही गई सामान्य उक्ति का उत्तरार्द्ध में रखी गई विशेष उक्ति के द्वारा समर्थन किया गया है। साहित्यदर्पण में इस श्लोक को वर्णश्लेष (सा०

---

1. अ त; सो ज में नहीं 2. ज अ; समर्थ्यते त में नहीं
3. ज अ; दृष्टान्ते तु विशेषस्तुल्यरूपतयेति नातिव्याप्तिशङ्कापि त

द्वितीयो यथा–

प्रियेण सङ्ग्रथ्य विपक्षसन्निधा–
वुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद् विजहौ जलाविलां
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।। 362।।

यथा वा–

चन्दनतरु भुजङ्गैः सिंहीतनयेन न पीड्यते चेन्दुः।
तदलं वृथा विषादैः प्रायो मलिनैः कदर्थ्यते सुजनः।। 363।।

10, 12) के उदाहरण में दिया गया है क्योंकि यहाँ विधि और कर शब्द में शब्दश्लेष है। विधि का अर्थ भाग्य तथा विधु का अर्थ चन्द्रमा है। विधौ में सप्तमी विभक्ति (एकवचन) है। कर का अर्थ किरणें तथा हाथ है।

दूसरा (साधर्म्य के कारण विशेष का सामान्य से समर्थन का उदाहरण) जैसे–

विपक्ष अर्थात् सौतिन की उपस्थिति में भी प्रिय के द्वारा गूँथकर पीनस्तनों वाले वक्षः स्थल पर पहिनाई हुई जल से गीली पुष्पमाला का किसी (रमणी) ने परित्याग नहीं किया क्योंकि प्रेम में गुण रहते हैं वस्तु में नहीं।। 362।।

टि०–यहाँ प्रथम तीन पङ्क्तियों में कहे गये विशेष वाक्यार्थों का चतुर्थ पङ्क्ति में कहे गये सामान्य वाक्य के द्वारा समर्थन किया गया है काव्यालङ्कारसूत्र (4, 321) में भी यह श्लोक अर्थान्तरन्यास के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है। जलाविला होने के कारण माला वास्तव में छोड़ने के योग्य है। परन्तु क्योंकि यह माला प्रियतम के प्रेम की प्रतीक है इसलिए नायिका उसे नहीं छोड़ रही है। यह सार्वभौमिक सिद्धान्त है कि कोई वस्तु अपने वस्तु रूप में महत्त्व नहीं रखती है, महत्त्व केवल उसके साथ जुड़ी हुई भावना का होता है।

यह उदाहरण काव्यालङ्कारसूत्र (4, 3, 21) में भी दिया हुआ है।

अथवा (इसी का और उदाहरण) जैसे–

क्या साँपों के द्वारा चन्दन के पेड़ और राहु के द्वारा चन्द्रमा को दुःख नहीं दिया जाता। तो व्यर्थ शोकों को करने की आवश्यकता नहीं है। प्रायः मलिन (हृदयों वाले) व्यक्तियों से सज्जन व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाई ही जाती है।। 363।।

अथ वैधर्म्येण यथा–

अभिसारिकाभिरभिहतनिविडतमा निन्द्यते सितांशुरपि।
अनुकूलतया हि नृणां सकलं स्फुटमभिमती भवति।। 364।।

यथा च–

हृदयेन निर्वृतानां भवति नृणां सकलमेव निर्वृतये।
इन्दुरपि तथा हि मनः खेदयतितरां प्रियाविरहे।। 365।।

टि०– यहाँ पर भी साधर्म्य के कारण सर्प और राहु दो विशेषों का सामान्य के द्वारा समर्थन किया गया है।

इसके बाद वैधर्म्य के कारण (विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन का उदाहरण) जैसे–

गहन अन्धकार का नाश करने वाला चन्द्रमा भी अभिसारिकाओं (सङ्केत स्थान पर प्रिय से मिलने के लिए उत्कण्ठित नायिकाओं) के द्वारा निन्दित किया जाता है। क्योंकि अनुकूल रूप से प्रकट हुई (प्रेमी के अविरुद्ध होकर आई हुई) ही सब वस्तुयें मनुष्यों के लिए अनुकूल (प्रिय) हुआ करती हैं।। 364।।

टि०–पूर्वार्ध वाक्य में प्रेममार्ग में बाधक होने के कारण चन्द्रमा की निन्दा होती है– यह बात कही है और उत्तरार्ध में जो इस मार्ग में साधक होता है उसे प्रिय बताया है। इस कारण दोनों वाक्यों में वैधर्म्य है। पहले विशेष वाक्यार्थ का सामान्य उत्तर वाक्यार्थ के द्वारा समर्थन है।

और वैधर्म्य के कारण (सामान्य का विशेष के द्वारा समर्थन का उदाहरण) जैसे–

और हृदय से प्रसन्न रहने वाले व्यक्तियों के लिए सभी वस्तुयें आनन्द के लिए होती हैं जैसे कि अपनी प्रेमिका के वियोग में चन्द्रमा भी मन को बहुत अधिक बेचैन बना देता है।। 365।।

टि०– यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध के वाक्य में प्रसन्न हृदय वाले को सुखी बताया है और उत्तरार्ध के वाक्य में प्रियाविरह में सुखदायी चन्द्रमा भी दुःख देता है यह बात बताई है। इन दोनों वाक्यों में विपरीत धर्म हैं। यहाँ पूर्वार्ध के सामान्य वाक्यार्थ का उत्तरार्ध के विशेष वाक्यार्थ से समर्थन किया गया है।

अथ यथासङ्ख्यम्–

निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा ययैव परिपाट्या।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तयैव तत् स्याद् यथासङ्ख्यम्।। 240।।

परिपाटी कवेः क्रमविवक्षा।

यद्यपि–

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभि निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना–
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।।

इसके बाद 22. यथासङ्ख्य (का लक्षण है)–

(कवि के द्वारा विवक्षित) जिस अलङ्कार में अनेक पदार्थ जिस क्रम से निर्दिष्ट किए गए हों, उसी क्रम से उन उन पदार्थों से बँधे हुए पदार्थ दोबारा भी प्रयुक्त हों तो यथासङ्ख्य अलङ्कार होता है।। 240।।

परिपाटी (शब्द का अर्थ है)कवि की क्रम को कहने की इच्छा।

टि०–काव्यप्रकाश (10, 108) में यथासङ्ख्य को इस प्रकार बताया है–

यथासङ्ख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः–क्रम से कहे गये पदार्थों का उसी क्रम से (दूसरे पदार्थों के साथ) सम्बन्ध करने पर यथासङ्ख्य होता है। ग्रन्थकार के बताये हुए इस लक्षण में भी इस बात पर बल है कि जिस क्रम से पहले जिन जिन पदार्थों का उल्लेख किया हो उसी क्रम से उन उन दूसरे सम्बद्ध पदार्थों की इसमें स्थिति होती है। यद्यपि–

हाथ में शस्त्र लिये हुए (निःशस्त्र पर हथियार नहीं उठाना चाहिए इस युद्धनियम का पालन न करने के कारण) मर्यादाहीन मनुष्य के रूप में पशुभूत जिन आप लोगों ने (आचार्य द्रोण का शिरश्छेदन रूप) यह महान् पाप किया है अथवा (जिन कृष्ण आदि ने इसका) अनुमोदन किया है, अथवा (भीम, अर्जुन आदि जिन्होंने रोकने का यत्न न करके खड़े खड़े प्रसन्नतापूर्वक इस पाप को) देखा है, नरकासुर के शत्रु कृष्ण भीम तथा अर्जुन सहित उन (धृष्टद्युम्न आदि) के रक्त, चर्बी और मांस से यह मैं दिशाओं को बलि चढ़ाता हूँ।

इत्यादौ भग्नप्रक्रमदोषत्वाभिधानात्तदभावरूपस्यास्य नालङ्कारत्वमर्हति तथाप्येकत्र तथाविधनानाक्रमाभिधाने किमपि वैचित्र्यमित्यलङ्कारत्वेनोक्तमिति ध्येयम्। यथा-

किं छत्रं किन्नु रत्नं तिलकमुत तथा कुण्डलं कौस्तुभो वा
चक्रं वा वारिजं चेत्यमरयुवतिभि र्यद् बलिद्वेषि देहे।

टि०–वेणीसंहार के तृतीय अङ्क के इस श्लोक में अपने पिता द्रोणाचार्य के अनुचित रूप से मारे जाने के समाचार को सुनकर उनका पुत्र अश्वत्थामा क्रुद्ध होकर अपने उद्‌गार प्रकट कर रहा है।

इस 'कृतमनुमतम्' इत्यादि श्लोक में भग्नप्रक्रम दोष के कहने से (यह अलङ्कार भग्नप्रक्रम दोष का अभावरूपात्मक ही होता है इस कारण) तदभावरूप होने के कारण इसे (पृथक्) अलङ्कार नहीं मानना चाहिए फिर भी एक स्थान पर वैसे अनेक क्रमों के (कृतम्, अनुमतं, और दृष्टम् इस रूप में) कहने से कुछ विचित्रता (चमत्कार) आ जाती है। इस कारण ऐसे उदाहरणों को भी (यथासङ्ख्य) अलङ्कार कह दिया जाता है ऐसा समझ लेना चाहिए।

टि०–'कृतमनुमतम्' इत्यादि इस श्लोक में भग्नप्रक्रम दोष है। येन रूपेणोपक्रमस्तेनैवोपसंहारः–जिस ढंग से प्रारम्भ हो उसी ढंग से समाप्ति हो–इस नियम को तोड़कर यदि पहले प्राप्त क्रम को तोड़ दिया जाता है तो भग्नप्रक्रमदोष होता है। यहाँ कृतम्, अनुमतम् और दृष्टम् इन तीनों पदों का प्रयोग कर्मवाच्य में किया गया है, किन्तु अन्त में करोमि का प्रयोग कर्तृवाच्य में किया गया है। इस प्रकार यहाँ कर्मवाच्य के प्रयोग का जो क्रम चला था वह टूट गया है। इस प्रकार के क्रमभङ्ग के अभाव में यह अलङ्कार बनता है। फलतः दोषाभाव रूप होने से इसे अलङ्कार नहीं कहा जा सकता–यह शङ्का यहाँ उठाई गई है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है–यह तो ठीक है कि यथासङ्ख्य में इस प्रकार के क्रम का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए किन्तु कृतम्, अनुमतम्, दृष्टम् के साथ मनुजपशुभिः, निर्मर्यादैः तथा उदायुधैः का जो क्रमिक अन्वय हो रहा है, उससे एक प्रकार का यहाँ वैचित्र्य (चमत्कार) उत्पन्न हो रहा है। अतएव इसे यहाँ यथासङ्ख्य अलङ्कार मान लेना चाहिए। यह अलङ्कारता क्रमों के नानात्व में ही आती है, केवल एक बार के क्रम में नहीं।

(यथासङ्ख्य का उदाहरण) जैसे–

क्या यह छत्र है? अथवा क्या रत्न है? अथवा तिलक है, या कुण्डल है अथवा कौस्तुभमणि है या यह चक्र है अथवा कमल है इस तरह देवाङ्गनाओं

ऊर्ध्वं मौलौ ललाटे श्रवसि हृदि करे नाभिदेशे च दृष्टं
पायात्तद् वोऽर्कबिम्बं स च दनुजरिपु र्वर्द्धमानः क्रमेण।। 366।।

अथ विरोधाभासः–

पार्यन्तिकाविरोधे सति पुरःस्फूर्तिकविरोधप्रतीतिविषयत्वं विरोधाभासत्वम्।। 241।।

यथा–

न पक्षवृत्ति र्न सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिः करवालधूमः।
तथापि ते विक्रमभूमिपाल प्रतापवह्नेः प्रमितिं करोति।। 367।।

के द्वारा भगवान् कृष्ण के शरीर पर क्रमशः (सिर से) ऊपर, सिर पर, ललाट पर, कान पर, हृदय पर, हाथ पर और नाभिदेश में देखा गया सूर्यबिम्ब तुमको रक्षित करे और क्रमशः आगे बढ़ते हुए वे राक्षसों के शत्रु भगवान् कृष्ण (भी) तुम्हारी रक्षा करें।। 366।।

टि०– वामनावतारधारी कृष्ण भगवान् ने जब अपने वामन रूप को बड़ा करना प्रारम्भ किया तो उस समय सूर्य के सामने सबसे पहले आया हुआ सिर प्रकाशित हुआ। उसके बाद क्रमशः नीचे नीचे के अङ्ग प्रकाशित होते चले गये यही प्रसङ्ग पद्य में वर्णित किया गया है। कृष्ण भगवान् के विभिन्न अङ्गों में प्रतिबिम्बित सूर्य अनेक रूपों में दिखाई दे रहा है। यह सूर्य क्रमशः कृष्ण के सिर के ऊपर (के खाली स्थान में) राजछत्र, सिर पर शिरोमणि (मुकुट का रत्न), ललाट पर तिलक, कान में कुण्डल, वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि, हाथ में चक्र और नाभिदेश में कमल प्रतीत हो रहा है।

इसके बाद 23. विरोधाभास (का लक्षण) है–

पर्यवसान (अन्त) में विरोध के न होने पर पहले (आपाततः) स्फुरित होने वाले विरोध की प्रतीति का विषय होना विरोधाभास कहलाता है।। 241।।

टि०–आपाततः विरोध की प्रतीति हो और बाद में उस विरोध का परिहार होने से विरोध की प्रतीति होनी बन्द हो जाती है तो यह विरोधाभास होता है।

जैसे–

हे राजा विक्रम ! (तुम्हारा) खड्ग रूपी धूआँ न पक्ष में रहता है, न सपक्ष में रहता है (किन्तु) विपक्ष में रहता है। फिर भी वह तुम्हारी प्रताप रूपी अग्नि का अनुमान करा देता है।। 367।।

केचित्तु–

यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थानं भवति समकालं स विरोधः।।

ननु विरुद्धयोः कथमेकत्रावस्थानमिति चेदुच्यते कविप्रौढोक्त्यैव तत्सम्भवात्।[1] अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य सन्ति चत्वारो भेदास्तन्नामानः। पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम्।

टि०– न्यायशास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि वह्नि लिङ्गी का अनुमान कराने वाला धूम लिङ्ग पर्वत पक्ष में रहता है, सपक्ष महानस में भी रहता है और विपक्ष सागर आदि में नहीं रहता है। इस प्रकार पक्षसत्त्वादि धर्मों से युक्त धूमज्ञान ही वह्नि का अनुमान कराता है परन्तु यहाँ प्रताप रूपी वह्नि का अनुमान कराने वाला खड्ग रूपी धूँआ उन धर्मों से विहीन बताया है। इस कारण यहाँ आपाततः विरोध प्रतीत होता है परन्तु पर्यवसान में तुम्हारा खड्ग अपने पक्ष के लोगों पर नहीं पड़ता और मित्र राजाओं के ऊपर भी नहीं गिरता और केवल शत्रुओं पर गिरकर ही उनका विनाश करता है। इस प्रकार की प्रतीति हो जाने पर इस विरोध का परिहार हो जाता है।

कुछ (रुद्रट जैसे) आचार्य तो–

जिसमें एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी द्रव्यादि (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति) की एक ही समय (एककालावच्छेद से एक ही जगह) स्थिति बताई जाती है वह विरोध होता है। ऐसा मानते हैं।

टि०– रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (9, 30) में यह लक्षण दिया हुआ है। ग्रन्थकार ने यहाँ उनका मत दिखला भर दिया है, किन्तु इस पर अपना विचार प्रकट नहीं किया है।

(पूर्वपक्षी की ओर से) दो विरोधी पदार्थों की एक ही स्थान पर (एक समय में) कैसे स्थिति हो सकती है? यदि ऐसी शङ्का की जाये तो इसका उत्तर यह है– कविप्रौढोक्ति (कवि की कल्पना भरी उक्ति) से ही यह बात सम्भव है (वस्तुतः लोक में ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कवियों के वचनों में यह सम्भव है)। सजातीयों के भीतर बताये गये इस अलङ्कार के चार भेद (पहले) उन्हीं के नाम पर हो जाते हैं। दूसरे पाँच भेद इन सजातीयों से अतिरिक्त विजातीयों के हो जाते हैं।

---

1. त; ननु.........तत्सम्भवात् ज अ में नहीं।

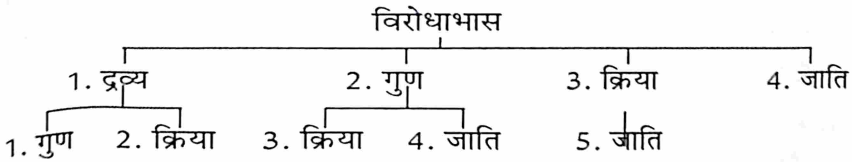
अस्यार्थः– अस्य विरोधस्य सजातीयानां विरोधे सति चत्वारो भेदाः। यथा–द्रव्यविरोधो गुणविरोधः क्रियाविरोधो जातिविरोधः। अतएव तन्नामानः। तथा तेभ्यः सजातीयेभ्योऽन्येषां विजातीयानां पुनर्विधीयमानस्य पञ्च भेदाः। यथा–द्रव्यगुणयो र्द्रव्यक्रिययोस्तथा[1] गुणक्रिययोर्गुणजात्योः क्रियाजात्योश्चेति।

इसका अर्थ यह है– सजातीयों के साथ विरोध होने पर इस विरोधालङ्कार के चार भेद हो जाते हैं। जैसे–द्रव्यविरोध, गुणविरोध, क्रियाविरोध और जातिविरोध। इसीलिए (ये) उन उन (द्रव्यविरोध आदि) नामों वाले हैं।

टि०–द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होने पर एक भेद, गुण का गुण के साथ विरोध होने पर दूसरा भेद, क्रिया का क्रिया के साथ विरोध होने पर तीसरा भेद और जाति का जाति के साथ विरोध होने पर चौथा भेद हो जाता है।

और उन सजातीयों से भिन्न विजातीयों को मिलाकर फिर भेद बनाने से पाँच भेद और बन जाते हैं। जैसे द्रव्य और गुण का, द्रव्य और क्रिया का एवं गुण और क्रिया का, गुण और जाति का तथा क्रिया और जाति का। ये (4+5=9 भेद) हैं।

टि०–विरोधाभास के ये भेद इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं–



1. पहले चार भेद इस प्रकार हैं–

   1. द्रव्य का द्रव्य से विरोध
   2. गुण का गुण से विरोध
   3. क्रिया का क्रिया से विरोध
   4. जाति का जाति से विरोध

2. इन भेदों को मिलाकर इनसे और ये पाँच भेद बनते हैं।

   1. द्रव्य का गुण से विरोध
   2. द्रव्य का क्रिया से विरोध
   3. गुण का क्रिया से विरोध
   4. गुण का जाति से विरोध
   5. क्रिया का जाति से विरोध

1. ज अ, तथा त में नहीं

ननु स्याद् द्रव्यजात्योरपि विरोधेन षष्ठो भेदः। न स्यात्, नित्यमेव द्रव्याश्रितत्वाज्जातेः। वस्तुतस्तु स्यादेव द्रव्यविशेषेण जातिविशेषस्याविरोधः। एवं नव।

यथा–

स्फारेन्द्रनीलनीलेऽस्मिन् विशाले भूपमन्दिरे।
जानीमः सख्यमापन्नस्तेजसा तमसां चयः।। 368।।

अत्र तेजस्तमसो र्विरुद्धद्रव्ययोरेकत्र राजमन्दिरे अवस्थितिरुक्ता। एवमन्यान्यप्युदाहरणानि लक्षणादनुसन्धेयानि।

केचित्तु, विरोधनामानमलङ्कारं विरोधाभासाद् भिन्नमाहुः तन्न तत्रैवान्तर्भावात्।

इस प्रकार ये 4+5=9 भेद हो जाते हैं।

(पूर्वपक्षी की ओर से) शङ्का–द्रव्य और जाति का विरोध होने से छठा भेद (भी) होना चाहिए।

(सिद्धान्ती–यह भेद) नहीं होगा, क्योंकि सदा ही जाति द्रव्य के आश्रित होकर रहती है। इस कारण वास्तव में तो द्रव्यविशेष के साथ जातिविशेष का अविरोध ही होगा (क्योंकि जाति द्रव्य का ही धर्म है। अतएव धर्मीभूत द्रव्य के साथ धर्मभूत जाति का विरोध नहीं होगा)।

इस प्रकार (विरोधाभास के कुल) नौ (भेद) हैं।

जैसे–

चमकीली इन्द्रनील मणियों से नीले बने हुए इस विशाल राजमन्दिर में तेज (प्रकाश) के साथ अन्धकार का समूह मित्रता को प्राप्त हुआ है, ऐसा हम समझते हैं।। 368।।

इस श्लोक में परस्परविरुद्ध प्रकाश और अन्धकार इन दो द्रव्यों की राजभवन के भीतर एक ही स्थान पर स्थिति बताई है। इस प्रकार इस लक्षण से उत्पन्न (विरोधाभास के) गुणविरोधादि दूसरे उदाहरण भी खोज लेने चाहिए।

कुछ विद्वान् तो विरोध नामक अलङ्कार को विरोधाभास से भिन्न कहते हैं। यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि उसका उसी में अन्तर्भाव हो जाता है।

टि०–अलङ्कारसर्वस्व में रुय्यक ने भी विरुद्धाभासत्वं विरोधः कहकर विरोधाभास को ही विरोध का रूप कहा है। ग्रन्थकार का कहना है कि विरोध या विरोधाभास एक

अथ स्वभावोक्तिः—तत्तज्जातिनियतावस्थाननिबन्धनधर्मवर्णनं स्वभावोक्तिः ।। 242 ।।

इयमेव जात्युक्तिरिति केचित्।

सा च क्रियावर्णसंस्थानावस्थाभेदाच्चतुर्धा।

क्रमेण यथा—

कुर्वन्नाभुग्नपृष्ठो मुखनिकटकटिः कन्धरामातिरश्चीं
लोलेनाहन्यमानस्तुहिनकणमुचा चञ्चता केसरेण।
निद्राकण्डूकषायं कषति निविडितश्रोत्रशुक्तिस्तुरङ्ग-
स्त्वङ्गत्पक्ष्माग्रलग्नप्रतनुबुसकणं कोणमक्ष्णः खुरेण।। 369 ।।

इयं क्रियास्वभावोक्तिः।

ही अलङ्कार है क्योंकि इस अलङ्कार में आपाततः विरोध होता है और पर्यवसान में विरोध का परिहार हो जाता है। इस कारण इसे विरोधाभास कहना अधिक सङ्गत है।

इसके बाद 24. स्वभावोक्ति (का लक्षण) है—

उस उस (मनुष्य एवं पशु पक्षियों की) जाति में नियत (भीतर रहने वाली अचल) स्थिति के निबन्धन (सम्बन्ध वाले) धर्म अर्थात् स्थिर विशेष धर्म का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।। 242 ।।

यही जात्युक्ति नामक अलङ्कार है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

और यह स्वभावोक्ति क्रिया, वर्ण, संस्थान (अवयवसंस्थान) और अवस्था के भेद से चार प्रकार की है।

1. क्रम से (क्रियास्वभावोक्ति का उदाहरण) जैसे—

(अपने) मुख को कटि (नितम्ब) स्थल के निकट तक पहुँचाने वाला, अत एव पूर्णतया मुड़ी हुई पीठ वाला और पूरी तरह गर्दन को टेढ़ी करता हुआ, पसीने के (रूप में) कणों को छोड़ने वाले, हिलते हुए जल (अतएव) चञ्चल अपने गर्दन के बालों से (शरीर पर) प्रहार करता हुआ, शुक्ति (सीप) के समान सुन्दर कानों को सिकोड़े हुए यह घोड़ा, निद्रा और खुजली से लाल हुए, चञ्चल पलकों के अग्रभाग में लगे हुए भूसे के छोटे छोटे कणों से युक्त, आँख के कोने के अग्रभाग को अपने सुम (शफ) से रगड़ रहा है।। 369 ।।

(यहाँ घोड़े की विभिन्न क्रियाओं के विशेष धर्मों का वर्णन होने से) यह क्रियास्वभावोक्ति है।

वर्णस्वभावोक्तौ यथा–

ये पूर्वं यवसूचिसूत्रसुहृदो ये केतकाग्रच्छद-
च्छायासाम्यभृतो मृणाललतिकालावण्यभाजोऽत्र ये।
ये धाराम्बुविडम्बिनः क्षणमथो ये तारहारश्रिय-
स्तेऽमी स्फाटिकदण्डडम्बरजितो जाताः सुधांशोः कराः।।370।।

यथा–

पश्योदञ्चदवाञ्चदञ्चितवपुः पश्चार्द्धपूर्वार्द्धभाक्
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग्भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत्।
दंष्ट्राकोटिविसङ्कटास्यकुहरः कुर्वन्सटामुत्कटा-
मुत्कर्णः कुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृतिः केसरी।।371।।

---

2. वर्णस्वभावोक्ति में (उदाहरण) जैसे–

यहाँ जो प्रारम्भ में जौ की पकी हुई लम्बी बालों की नोकों की मित्र और तन्तुओं (उनके समान नुकीली और लम्बी सफेद रंग वाली) हैं जो केतकी के फूल की पँखुड़ी के अगले भाग की सफेद कान्ति की समानता को धारण करने वाली और कमलनाल के सौन्दर्य का सेवन करने वाली (श्वेत वर्णा) हैं, जो क्षण भर में धारा रूप में गिरने वाले जल के समान शोभित होती हैं और जो मुक्तामणि के ऊँची किस्म के सफेद हार की शोभा के समान शोभा वाली हैं वे ये (लोकप्रसिद्ध) चन्द्रकिरणें अब (सफेद होकर) बिल्लौर मणि से निर्मित दण्ड की शोभा को जीतने वाली हो गई हैं।।370।।

टि०–यहाँ चन्द्रकिरणों के शुभ्र वर्ण का स्वाभाविक वर्णन होने से वर्णस्वभावोक्ति है।

(3. संस्थानस्वभावोक्ति का उदाहरण) जैसे–

देखो, झुके हुए अपने शरीर के पिछले आधे (पृष्ठ) भाग को ऊपर की ओर तथा अगले आधे हिस्से (शिरोभाग) को नीचे की ओर ले जाने वाला, निश्चल, ऊपर की ओर उठी हुई तथा पीठ पर टिकी हुई थोड़े से टेढ़े अग्रभाग वाली पूँछ को धारण करने वाला, दाढ़ों के अग्रभागों के कारण गुफा के समान डरावने मुख वाला, जटा (गर्दन के बालों) को खड़ा करके भयानक बनाता हुआ, कानों को खड़ा करने वाला तथा भयङ्कर आकार वाला यह शेर गजराज के ऊपर प्रहार कर रहा है।।371।।

यथा वा–

उत्कर्णोऽयमकाण्डचण्डिमपटुः स्फारस्फुरत्केसरः
क्रूराकारकरालवक्त्रकुहरः स्तब्धोर्ध्वलाङ्गूलभृत्।
चित्रेणापि न शक्यते विलिखितुं सर्वाङ्गसङ्कोचभाक्
चीत्कुर्वद्गिरिकुञ्जकुञ्जरशिरः कुम्भस्थलस्थो हरिः।। 372।।

इयं संस्थानस्वभावोक्तिः।

अथावस्थास्वभावोक्तिर्यथा–

अनाकूतैरेव प्रियसहचरीणां शिशुतया
वचोभिः पाञ्चाली मिथुनमधुना सङ्गमयितुम्।
उपादत्ते नो वा विरमति न वा केवलमियं
कपोलौ कल्याणी पुलकमुकुलैर्दन्तुरयति।। 373।।

अथवा (इसी का दूसरा उदाहरण) जैसे–

कानों को ऊपर उठाने वाला, अकारण उग्रता (क्रोध) करने में चतुर, फैले हुए और चमकीले केसरों (गर्दन के बालों) से संवलित, कठोर आकृति से युक्त एवं गुफा के सदृश (विशाल अतएव) भयङ्कर मुख वाला, अकड़ी हुई एवं ऊपर को उठाई हुई पूँछ को धारण करने वाला, सारे अङ्गों की सिकुड़न से युक्त (गठे हुए शरीर वाला) तथा पहाड़ी कुञ्जों में रहने वाले चिङ्घाड़ते हुए हाथियों के सिर के गण्डस्थलों पर चढ़ा हुआ शेर चित्र के रूप में भी अङ्कित नहीं किया जा सकता है अर्थात् ऐसे शेर का सच्चा चित्र नहीं बनाया जा सकता।। 372।।

(यहाँ सिंह के अवयवसंस्थान का वर्णन होने से) यह संस्थानस्वभावोक्ति है।

4. इसके बाद अवस्थास्वभावोक्ति (का उदाहरण) जैसे–

स्वयं बच्ची (मुग्धा–भोली और अनुभवहीन) होने के कारण प्यारी सहेलियों की अज्ञात अर्थ वाली (गूढाभिप्राय वाली न जानी गई) बातों से ही पास जाने के लिए प्रेरित होकर इस समय यह पञ्चालिन सुन्दरी (अपने पति के साथ) न तो मैथुन (सम्भोग) को ग्रहण करती है और न ही पीछे हटती है किन्तु केवल यह सौभाग्यवती अपने दोनों गालों को रोमाञ्च की कलियों से शोभित बना रही है।। 373।।

टि०–यहाँ पर नायिका की सम्भोगारम्भ अवस्था का वर्णन है। इस कारण यह अवस्थास्वभावोक्ति है।

अथ व्याजस्तुतिः–

निन्दामुखेन स्तुतौ पर्यवसानं स्तुतिमुखेन वा निन्दापर्यवसानं र्व्याजस्तुतिःनिन्देति।। 243।।

क्रमेण यथा–

त्वं तु द्वित्रपदानि गच्छसि महीमुल्लङ्घ्य यान्ति द्विष–
स्त्वं बाणान् दश पञ्च मुञ्चसि परे शस्त्राण्यशेषाण्यपि।
ते देवीपतयस्त्वदस्त्रनिहतास्त्वं मानुषीणां पति–
र्निन्दा तेषु कथं स्तुतिस्त्वयि कथं तत् सुज्ञ निर्णीयताम्।। 374।।

यथा वा–

इसके बाद 25. व्याजस्तुति (का लक्षण) है–

निन्दामुख (आरम्भ में निन्दा) से जहाँ स्तुति में समाप्ति हो वहाँ व्याजस्तुति है अथवा स्तुतिमुख (आरम्भ में स्तुति) से जहाँ निन्दा की परिणति हो वहाँ व्याजनिन्दा होती है–ऐसा मानते हैं।। 243।।

क्रम से (व्याजस्तुति का उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्!) तुम तो दो या तीन कदम चलते हो परन्तु (तुम्हारे) शत्रु (सारी) पृथिवी को लाँघकर (बहुत दूर तक) चले जाते हैं। तुम दस पाँच बाणों को छोड़ते हो परन्तु तुम्हारे शत्रु सारे शस्त्रों को छोड़ देते हैं। तुम्हारे अस्त्रों (और शस्त्रों) से मारे हुए शत्रु देवाङ्गनाओं के पति हो जाते हैं और तुम केवल मानवी स्त्रियों के पति रहते हो। हे चतुर राजन्? उन तुम्हारे शत्रुओं की निन्दा कैसे हो सकती है और तुम्हारी स्तुति कैसे हो सकती है? इसका निर्णय तुम स्वयं ही करो।। 374।।

टि०–यहाँ आपाततः शत्रुओं की प्रशंसा और राजा की निन्दा प्रतीत हो रही है, परन्तु पर्यवसान में राजा की प्रशंसा और शत्रुओं की निन्दा इस रूप में हो रही है– राजा के दो चार कदम रणभूमि में पड़ते ही शत्रु लड़ना छोड़कर युद्धभूमि से भाग कर चले जाते है और उसके दस पाँच बाण छोड़ने पर वे शत्रु सारे शस्त्रों का परित्याग करते हुए डर कर भाग जाते हैं तथा वे मरते ही देवाङ्गनाओं के पति बन पाते हैं।

अथवा और जैसे–

त्वत्तः शूरतरं मन्ये भूपतीन्द्र भवद्रिपुम्।
शस्त्रास्त्रै स्त्वयि सन्नद्धे समाधत्ते तृणेन यः।।375।।

इयमेव शत्रूणां व्याजनिन्दा। केचित्तु विशिष्टकर्माकरणात् स्तुत्यर्थं या निन्दा सा व्याजस्तुतिरिति लक्षयन्ति। तत्रेदमुदाहरणम्–

बबन्ध सिन्धुं गिरिचक्रवालैर्बिभेद सप्तैकशरेण तालान्।
एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तन्न मुधैव गर्वः।।376।।

अथ सहोक्तिः – वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदादभिधानं सहोक्तिः।।244।।

हे राजेन्द्र ! आपके उस शत्रु को मैं आपकी अपेक्षा अधिक बहादुर मानता हूँ, जो शस्त्रास्त्रों से युक्त होकर युद्ध के लिए तुम्हारे तैयार हो जाने पर तिनके से तुम्हारा समाधान (मुकाबला) करता है।।375।।

टि०– यहाँ आपाततः तिनके से मुकाबला करने वाले शत्रु की प्रशंसा प्रतीत हो रही है परन्तु पर्यवसान में तिनके को मुख में रखकर अपने प्राण बचाने के लिए वे तुमसे दीन बनकर याचना करते हैं यही निन्दापरक अर्थ प्रतीत होता है।

यही शत्रुओं की व्याजनिन्दा अर्थात् स्तुति के बहाने से निन्दा है। कुछ विद्वान् तो कोई विशेष (अद्भुत) काम न करने से स्तुति के लिए जो निन्दा है वह व्याजस्तुति कहलाती है इस प्रकार का लक्षण करते हैं। वहाँ (उनके मत में व्याजस्तुति का) यह उदाहरण है–

पहाड़ों के समूहों से (सेतुबन्ध करके) समुद्र को बाँध दिया और एक ही बाण से सात तालवृक्षों को बींध दिया–राम ने (तो) इस प्रकार के (विशेष अद्भुत और शौर्य भरे) काम को किया था किन्तु तुमने वह (विशेष कर्म) नहीं किया (फिर भी तुम्हें) व्यर्थ ही अपने ऊपर गर्व है।।376।।

टि०– यहाँ पर राजा ने तो राम की भाँति समुद्र पर सेतुबन्ध तथा एक बाण से ही सात तालवृक्षों का छेदन जैसा अद्भुत काम नहीं किया है। इससे आपाततः निन्दा वाच्य है किन्तु वह राम की तरह दूसरों की सहायता से कोई कार्य नहीं करता और साथ ही छल से किए गए बालिवध जैसे घृणित कार्य को भी नहीं करता है। इसलिए वह स्तुत्य है यह अर्थ पर्यवसान में प्रतीत हो रहा है।

इसके बाद 26. सहोक्ति (अलङ्कार का लक्षण) है–एक ही समय में होने वाली दो वस्तुओं की क्रिया का एक ही पद से कथन कर देना सहोक्ति है।।244।।

अयं भावः–विशेषणपदानां विशेष्यान्वितस्वार्थबोधकत्वस्यौत्सर्गिकत्वम्। प्रकृते च सहाद्यव्ययपदसमभिव्याहारविशेषसहकारेणापरार्थप्रतियोगिकान्वयप्रतिपादनमिति उभयं प्रतियोगिकस्वार्थान्वयबोधकमिति।

यत्रैकस्य प्राधान्येनापरस्य गुणीभावेनैकधर्मान्वयित्वं तत्रायमलङ्कार इति पर्यवसितोऽर्थः। तेन चैत्रमैत्रौ सह पचत इत्यत्र नातिप्रसङ्गः।

इसका यह अभिप्राय है–विशेषण पदों का विशेष्य से सम्बद्ध जो अपने अर्थ का बोधकत्व अर्थात् ज्ञापकत्व (बतला देना) है वह (अपने साथ प्रयुक्त) विशेष्य के प्रति औत्सर्गिक (समर्पित) रहता है।

टि०–यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि विशेषण और विशेष्य के सहप्रयोग में विशेष्य के साथ प्रयुक्त होने वाली क्रिया का विशेषण के साथ भी सम्बन्ध होता है किन्तु विशेषण उस क्रिया के अर्थ को स्वसम्बद्ध विशेष्य के लिए समर्पित कर देता है। उदाहरणार्थ– 'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ' जैसे वाक्य में 'रामः ययौ' यह अंश विशेष्य है और लक्ष्मणेन समं' यह अंश विशेषण के रूप में है यहाँ विशेषणभूत इन पदों का अर्थ विशेष्य से अन्वित होकर उसी में समर्पित हो जाता है, फिर उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती और इस वाक्य का अर्थ केवल राम का गमन न होकर लक्ष्मणसहित राम का गमन हुआ–इस पर्यवसित अर्थ के रूप में समझा जाता है।

और प्रस्तुत सहोक्ति में (उपर्युक्त यह सिद्धान्त इस रूप में घटित होगा) सह, समम् आदि अव्यय पदों के समभिव्याहार (साथ साथ कथन) की विशेष सहायता से अपरार्थप्रतियोगिक अन्वय का प्रतिपादन किया जाता है अर्थात् प्रतियोगी (लक्ष्मणदि विशेषणके साथ) विशेष्यभूत राम का अन्वय हो जाता है। इसी कारण ये दोनों अर्थात् प्रतियोगिभूत (विशेषणभूत) लक्ष्मण और सम अव्ययपद विशेष्यभूत राम के साथ अन्वय (तात्पर्यवृत्ति से होने वाले सम्बन्ध) के बोधक होते हैं।

टि०–कृष्णोऽश्वो धावति जैसे वाक्य में विशेषण और विशेष्य दोनों का क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है किन्तु सहोक्ति अलङ्कार में विशेषण के साथ प्रयुक्त सह, समम् आदि अव्यय पद भी विशेष्य में उसी रूप में अन्वित होंगे जिस रूप में सामान्य सिद्धान्त में बताया गया है। सारांश यह है कि जिस प्रकार विशेषण का विशेष्य के प्रति समर्पकत्व है उसी प्रकार सह, समम् आदि अव्ययपदों का भी विशेष्य के साथ समर्पकत्व होता है।

समुच्चये द्वयोरेव प्राधान्यान्न तत्र प्रसङ्गः।
यथा–

सह दिअसनिसाहिं दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलएहिं वाप्पधारा गलन्ति।
तुह सुहअ विओए तीअ उव्विग्गिरीए
सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा।। 377।।

जहाँ एक की प्रधानता और दूसरे के गुणीभाव से एक (गुण या क्रिया रूप) धर्म के साथ अन्वय होता है वहाँ पर यह अलङ्कार होता है। इस कारण चैत्र और मैत्र साथ साथ पकाते हैं (इस अर्थ को बताने वाले इस वाक्य में) इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

टि०–क्योंकि इस अलङ्कार में प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों का प्रयोग होता है-एक विशेषण होता है और दूसरा विशेष्य–इस कारण 'चैत्रमैत्रौ सह पचतः जैसे वाक्यों से सहोक्ति की रचना नहीं हो सकती। क्योंकि इनमें विशेष्यविशेषणभाव न होकर चार्थे द्वन्द्वः से पृथक् पृथक् दो व्यक्तियों के अर्थ में समास हुआ है। अतः यहाँ पर सहोक्ति की भाँति विशेषण और विशेष्य में पाया जाने वाला गौणप्रधानभाव भी नहीं है।

और समुच्चय अलङ्कार में इस अलङ्कार की अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि वहाँ दोनों की ही (समान रूप से) प्रधानता होती है
(सहोक्ति का उदाहरण) जैसे–

सह दिवसनिशाभि दीर्घनिःश्वासदण्डाः
सह मणिवलयाद्यै र्वाष्पधारा गलन्ति।
तव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा।।
(इति संस्कृतच्छाया)

हे सौभाग्यशाली नायक ! तुम्हारे वियोग में व्याकुल हुई उस (नायिका) के श्वासदण्ड रात और दिन के साथ साथ बढ़ते जा रहे हैं। मणिवलय आदियों के साथ आँसुओं की धारायें गिरने लगती हैं और उसकी कोमल देहलता के साथ जीवन की आशा क्षीण होती जा रही है।। 377।।

टि०– यहाँ श्वासदण्डाः आदि जो प्रथमान्त पद हैं उनके प्रधान होने के कारण

यथा वा–

अस्तं भास्वान् प्रयात: सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि।। 378।।

अथ विनोक्ति:-

प्रस्तुतस्यान्यसन्निधियुक्तशोभनाशोभनत्वम् ।।245।।

यथा–

शातकुम्भमयकुम्भकेतुना वाहिनीश कविना विना कथम्।
श्रीमुकुन्दनृपतेर्महामते: कीर्तिनर्तनकला विजृम्भताम्।।379।।

उनके साथ दीर्घत्वादि गुणों का सम्बन्ध प्रधान रूप से हो रहा है और सह दिवसनिशाभि: आदि पद गुणीभूत होकर विशेष्य श्वासों के साथ अन्वित होकर दीर्घत्वादि गुणों के साथ अन्वित हो रहे हैं। इसी तरह सह मणिवलयाद्यै: और सह च तनुलतया का वाष्पधारा और जीविताशा के साथ अन्वय होकर इन दोनों का गलन्ति क्रिया और दुर्बला के साथ सम्बन्ध हो जाता है। श्वासों के अतिदीर्घ, प्राणघातक और प्रचुर होने के कारण 'श्वासदण्डा:' पद का प्रयोग किया गया है। वियोग में दुबली हो जाने के कारण हाथ के कड़े नायिका के हाथों से अपने आप निकलकर गिर जाते हैं।

काव्यप्रकाश (10, 496) में भी यह श्लोक है।

अथवा जैसे–

शत्रुओं के साथ यह सूर्य अस्त हो गया है अर्थात् शत्रु भी समाप्त हो गये हैं और सूर्य भी छिप गया है (अब) सेनाओं को इकट्ठा कर लो।। 378।।

टि०–यहाँ पर रिपुभि: सह यह दोनों पद विशेषण हैं और भास्वान् विशेष्य है और या धातु के साथ दोनों का सम्बन्ध है।

इसके बाद 27. विनोक्ति का (लक्षण) है–दूसरे के सम्बन्ध से प्रस्तुत की दूसरे के सामीप्य से जुड़ी हुई शोभा का होना अथवा शोभा का न होना विनोक्ति है।। 245।।

जैसे–

हे सेनापति ! सुवर्ण से बने हुए कलश के चिह्न वाले अर्थात् सोने के कलश को अपने प्रयोग में लाने वाले (अतएव समृद्ध) कवि के बिना परम बुद्धिमान् श्रीमुकुन्द नामक राजा की कीर्ति (रूपी नर्तकी) की नृत्यकला कैसे बढ़े?।। 379।।

इयं च विना शब्दमन्तरेणापि दृश्यते। यथा–

निरर्थकं जन्मगतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलेव दृष्टा प्रहृष्टा नलिनी न येन।। 380।।

अथ परिवृत्तिः–

अर्थविनिमयत्वं लक्षणम्।। 246।।

विनिमयश्चार्थयोर्युगपद् दानमादानं च। स चतुर्धा–उत्तमेनोत्तमस्य, न्यूनेन न्यूनस्य, उत्तमेन न्यूनस्य न्यूनेनोत्तमस्येति। यथाक्रममुदाहरणानि। यथा–

टि०– यहाँ समृद्ध कवियों से राजा की शोभा होती है यह अर्थ बताया गया है। राजा को यदि अपना यश फैलाना हो तो उसे अपने आश्रित कवियों को मुक्तहस्त होकर दान देना चाहिए।

और यह विनोक्ति अलङ्कार विना इस शब्द के प्रयोग के अभाव में भी दिखाई पड़ता है। जैसे–

(उस) कुमुदिनी का जन्म व्यर्थ ही गया–जिसने शीतल किरणों वाले चन्द्रबिम्ब को नहीं देखा और उस चन्द्रमा की उत्पत्ति भी निष्फल ही हुई जिसने प्रफुल्लित कुमुदिनी के दर्शन नहीं किये।। 380।।

टि०–यद्यपि यहाँ विना शब्द नहीं है तथापि इसमें विना का अर्थ निरर्थकता बतलाने से प्रकट हो रहा है। एक दूसरे के बिना दोनों की व्यर्थता के प्रतिपादन से विशेष चमत्कार हुआ है।

इसके बाद 28. परिवृत्ति (अलङ्कार का लक्षण) है–

एक वस्तु से दूसरी वस्तु को बदल लेना परिवृत्ति का लक्षण है।। 246।।

और दो वस्तुओं का यह बदलना इकट्ठे ही एक बार (एक ही समय) में दे देना या ले लेना होता है तथा यह परिवर्तन चार प्रकार का होता है–1. उत्तम से उत्तम को बदलना, 2. घटिया से घटिया वस्तु को बदलना, 3. उत्तम से घटिया को बदलना और 4. घटिया से उत्तम (बढ़िया) वस्तु को बदलना।

क्रमशः इनके उदाहरण दिये जाते हैं।

(1. उत्तम से उत्तम वस्तु के बदलने का उदाहरण) जैसे–

आदाय कर्णकिसलयमियमस्मै चरणमरुणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादन्योऽन्यमवञ्चितं मन्ये।। 381।।

यथा वा–

अनेन सर्वार्थिकृतार्थता कृता हृतार्थिनौ कामगवीसुरद्रुमौ।
मिथः पयः सेचनपल्लवाशने प्रदाय दानव्यसनं समाप्नुतः।। 382।।

यह नायिका कान (को सजाने के लिए नायक द्वारा प्रदत्त) नये कोमल पत्ते को लेकर इस नायक के लिए अपने लाल चरण (के प्रहार) को प्रदान करती है। दोनों ही सदृश (लाल और कोमल गुणोपेत) वस्तुओं को एक दूसरे से बदल लेने से दोनों को ही न ठगा हुआ (अर्थात् लाभान्वित) समझता हूँ।। 381।।

टि०– कोई नायक अपनी प्रेमिका के कान को सजाने के लिये उसके कान पर नये कोमल पत्ते को रख रहा है। इससे प्रसन्न होकर नायिका ने अपना चरण स्पर्शसुख को प्राप्त करने के लिए नायक के किसी अङ्ग से छुआ दिया है अथवा नायिका के न चाहते हुए भी नायक जब उसके कान में जबर्दस्ती नवकिसलय को खोंसता है तो नायिका क्रुद्ध होकर उसके ऊपर चरणप्रहार करती है। यहाँ नायिका को उत्तम कर्णकिसलय की प्राप्ति हुई है। उसके बदले में नायक को उत्तम चरण (चरणप्रहार) की उपलब्धि हुई है।

अथवा और (2. न्यून से न्यून बदलने का उदाहरण) जैसे–

इस राजा ने सारे याचकों के (सारे) मनोरथों को पूरा कर दिया है। कामधेनु और कल्पवृक्ष–दोनों की सारी सम्पत्ति हर ली है। ये दोनों दूध की धारा के (कल्पवृक्ष को) सींचने और (कल्पवृक्ष के पल्लवों अर्थात्) नये पत्तों के भक्षण को एक दूसरे को देकर अपने दान के शौक को प्राप्त करते हैं।। 382।।

टि०–राजा ने कामधेनु और कल्पवृक्ष की सारी सम्पत्ति ले ली है और उसको याचकों में बाँट कर उनकी सारी इच्छायें पूरी कर दी हैं। इस कारण याचकों को देने के लिये तो कामधेनु और कल्पवृक्ष के पास कुछ नहीं बचा, परन्तु वह एक दूसरे को ही अपनी वस्तु प्रदान करते हैं। गाय तो अपने दूध से कल्पवृक्ष को सींच देती है और कल्पवृक्ष उसके बदले में उसे अपने पत्ते चबाने के लिए देता है।

एवमन्यान्यप्युदाहरणान्यनुसर्तव्यानि।

अथ भाविकम्–

अवर्तमानस्याप्यर्थस्य वर्णनावशात्साक्षादिव क्रियमाणत्वं तत्त्वम्।। 247।।

यथा–

अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते मनोज्ञबालव्यजनेन कोऽप्ययम्।।383।।

केचित्तु अतिगूढस्य वस्तुनो भावोक्तिर्भाविकम्।

यथा–

मनोहारिणी वागुरा सकलनेत्रमीनामृतं
प्रयाति पुलिने हरिस्तरणिकन्यकाया इति।

इसी प्रकार दूसरे भी उदाहरणों का अनुसरण (खोज) कर लेना चाहिए।

इसके बाद 29. भाविक (का लक्षण) है–

वर्तमान काल से असम्बद्ध (भूत और भविष्यत्काल की) भी घटना को वर्णनाधीन होकर साक्षात् (वर्तमान काल की घटना जैसा प्रत्यक्ष) बना देना भाविक (अलङ्कार का लक्षण) है।। 247।।

जैसे–

(आसन्नभविष्य में राजा बनने वाला) यह राजकुमार राजछत्र से विहीन होता हुआ भी श्वेत छत्रों से चारों ओर से घिरा सा दिखाई पड़ता है और चामररहित होता हुआ भी यह अद्भुत कुमार सुन्दर छोटे पंखे की हवा से सदा ही सेवित हो रहा है।। 383।।

कुछ आचार्य तो अत्यन्त गुप्त वस्तु के भाव के कथन को भाविक कहते हैं।

जैसे–

मन को आकर्षित करने वाला (दूसरों को फँसाने वाला) सुन्दर जाल बना हुआ और सारी नेत्र रूपी मछलियों के लिए अमृत (जल) रूप कृष्ण सूर्यपुत्री यमुना नदी के रेतीले तट पर जा रहा है–इस रूप में किसी गोपी

कयापि गदिते सति व्रजपथान्तरालेऽभव-
न्मुहुः सखि सखि प्रिय चल चलेति कोलाहलः[1] ।। 384 ।।

अथ काव्यलिङ्गम्-

हेत्वभिधानं काव्यलिङ्गमिति।।248।।

अयमर्थः-अभिधानं व्यञ्जनम्, अतएव पञ्चम्या हेतुत्वप्रतिपादने नायमलङ्कारः। उपात्तस्येव प्रकरणादिवशाद्धेतुत्वावगमे एव शोभाविशेषानुभवात्, हेतुत्वं च ताटस्थ्येन क्रियानुकूलत्वात्। तच्च पदार्थस्य वाक्यार्थस्य वा। पदार्थस्याप्येकस्यानेकस्य वा।

के कहने पर व्रजभूमि के रास्ते में बीच में हे सखी! हे सखी! हे प्यारे! चलो चलो-इस प्रकार के वचनों का शोर होने लगा।। 384 ।।

टि०-यहाँ 'वागुरा' शब्द से कृष्ण जिसको एक बार अपने प्रेम में फँसा लेते हैं वह फिर उनके प्रेमजाल से निकल नहीं सकता-इस गूढार्थ की प्रतीति हो रही है।

इसके बाद 30. काव्यलिङ्ग (का लक्षण) है-

हेतु का कहना काव्यलिङ्ग होता है।। 248 ।।

(इसका) अर्थ यह है-अभिधान का अभिप्राय व्यञ्जन (अर्थात् किसी हेतुविशेष का) व्यञ्जना से सूचन होता है। इसीलिए पञ्चमी विभक्ति के द्वारा निष्पन्न हेतु (कारण) के प्रतिपादन करने पर यह अलङ्कार नहीं होता है।

टि०-पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग (अस्मात् आदि पदों) से जिस हेतुता (कारणता) का बोध होता है, वही कारणता यदि व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत कराई जाय तो यह अलङ्कार होता है। यदि हेतुता वाच्य रूप में होगी तब यह अलङ्कार नहीं होगा। पञ्चमी यहाँ तृतीया आदि विभक्तियों की उपलक्षण है।

क्योंकि शब्दप्रतिपाद्य हेतु (कारण) की भाँति प्रकरणादि के कारण (व्यञ्जना से) हेतु के रूप में जब प्रतीति होती है तो (उस दशाविशेष में) ही विशेष प्रकार की शोभा का अनुभव होता है। और तटस्थ रूप से क्रिया के अनुकूल होने का नाम हेतु है।

टि०-काव्यलिङ्ग में पञ्चमी आदि किसी विभक्तिविशेष से प्रतिपाद्य (हेतु के) वाच्य अर्थ की तरह व्यङ्ग्यार्थ होता है किन्तु वह वाच्य नहीं होता अपितु एकदम

---

1. ज अ केचित्तु........कोलाहलः यह अंश त में नहीं

क्रमेण यथा–

देशे देशे नगरे नगरे चत्वरे पानगोष्ठ्याम्।
उन्मत्तेव भ्रमति भवतो[1] वल्लभा देव कीर्तिः।। 385।।

(यथा वा)[2]

तटस्थ रूप में शब्दों के द्वारा क्रिया के अनुकूल होकर ही वहाँ व्यञ्जना से हेतु का प्रतिपादन होता है। जितोऽसि मन्दकन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः–काव्यलिङ्ग के इस उदाहरण में (यतः) मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः– यह हेतु है। यह प्रयोग पञ्चमी से न होकर स्वतन्त्र रूप से व्यञ्जनागम्य होकर हेतु बन रहा है।

और यह हेतुत्व या तो पदार्थ का होता है अथवा वाक्यार्थ का (होता) है। यह पदार्थ की हेतुता कभी एक की होती है अर्थात् कभी एक पदार्थ एक का हेतु होता है और कभी अनेक पदार्थों की (हेतुता) होती है।

टि०–इस प्रकार पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग के दो प्रकार हैं–1. एक पदार्थहेतुक और 2. अनेकपदार्थहेतुक। वाक्यार्थहेतुक एक ही प्रकार का है।

काव्यलिङ्ग
- 1. पदार्थहेतुक
  - 1. एकपदार्थहेतुक
  - 2. अनेकपदार्थहेतुक
- 2. वाक्यार्थहेतुक

इस प्रकार काव्यलिङ्ग के 1. एकपदार्थहेतुक, 2. अनेक पदार्थ हेतुक तथा 3. वाक्यार्थहेतुक ये तीन भेद हैं।

क्रम से (दिये उदाहरणों में से पहले पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का उदाहरण) जैसे–

हे राजन् ! प्रत्येक देश और प्रत्येक नगर में तथा चौराहे और मधुशाला में आपकी प्यारी कीर्ति (रूपी नायिका) पगली की तरह घूम रही है।। 385।।

टि०–यहाँ एकपदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है क्योंकि यहाँ कीर्त्ति रूपी नायिका के घूमने में उन्मत्तत्व हेतु है।

(अथवा जैसे)–

---

1. ज अ; भुवने त
2. संशोधित; ज अ त में नहीं

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।। 386।।

अत्र तूष्णींस्थित्यसामर्थ्ये प्रकृतिमुखरत्वं पदार्थो हेतुः।

पातकप्रचयवन्मम भूयः पुण्यपुञ्जमपि नाथ लुनीहि।
काञ्चनी भवतु लौहमयी वा शृङ्खला यदि पदे न विशेषः।। 387।।

अत्रोत्तरार्धवाक्यार्थः पुण्यपुञ्जमपीत्यादौ हेतुः।

रोषात्कुञ्चितपाणिपल्लवतया सेवाञ्जलि र्नो कृत-
स्तद्वैकाङ्गतया च नो नति र्विस्तारिता शम्भुना।

दूसरों के घरों से सम्बद्ध बातों (को कहने) से क्या लाभ? परन्तु मैं चुप बैठने में समर्थ नहीं हूँ क्योंकि दक्षिण देशवासियों का स्वभाव (सहज रूप) से ही वाचाल होता है।। 386।।

यहाँ चुप होकर बैठने के असामर्थ्य में प्रकृतिमुखरत्व (इस) पद का अर्थ कारण है।

(वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का उदाहरण)-

हे स्वामी ! पापों के समूह के विनाश की तरह मेरे पुण्यों के समूह का भी समूलोच्छेद कीजिए। यदि पैर में सोने की बेड़ी पड़ी हो अथवा लोहे की बेड़ी पड़ी हो तो (इसमें) अन्तर नहीं होता (क्योंकि बाँधने का काम तो ये दोनों ही करती हैं)।। 387।।

टि०-यहाँ किसी भक्त की ओर से भगवान् के लिए इस रूप में प्रार्थना की जा रही है कि मुझे शाश्वत मुक्ति तो तभी मिल सकती है जब मेरे सभी तरह के कर्मबन्धन टूट जायें।

यहाँ पर काञ्चनी इत्यादि श्लोक के उत्तर भाग का वाक्यार्थ 'पुण्यपुञ्जमपि' इत्यादि वाक्यार्थ में हेतु है।

क्रोध से (पार्वती के द्वारा अपने) सुन्दर हाथों को समेट लिये जाने के कारण शङ्कर (अनुनय के लिए) परिचर्या (माफी मांगने) की अञ्जलि नहीं कर सके। और दूसरे उपाय (क्योंकि मनाने के उपायों में से यह एक ही उपाय है इस रूप में) की एकाङ्गता होने से शङ्कर ने (पैरों के ऊपर झुककर) प्रणाम का विस्तार अर्थात् प्रणाम की क्रिया भी नहीं की। मुख

नो किञ्चिद् गदितं च मूकपदवीं वक्त्रैकदेशे गते
पार्वत्याः सफलैव मानपदवी पायात् त्रिलोकीतलम्।। 388।।

अत्र पार्वतीमानसाफल्ये सेवाञ्जल्याद्यकरणरूपाः पदार्था हेतवः।

अथ पर्यायोक्तम्–

के एकदेश अर्थात् बोलने वाले दशन, ओष्ठ और जिह्वा वाले मुख भाग के गूँगे की दशा को प्राप्त होने (अतएव बोलने में असमर्थ हो जाने) के कारण कुछ कहा भी नहीं। (इस प्रकार शङ्कर के मानापनोदन के समस्त उपायों के विफल हो जाने के कारण) सफलता को ही प्राप्त होने वाली पार्वती की रूठने की प्रक्रिया (मानव्यापार) तीनों लोकों की रक्षा करे।। 388।।

टि०–यहाँ मानिनी पार्वती को मनाने के अवसर पर किंकर्त्तव्यविमूढता और विवशता की स्थिति में फँसे हुए भगवान् शङ्कर की स्थिति का वर्णन है। मानवती नायिका को मनाने के कई साधन हैं पर एक भी उनके काम नहीं आ रहा है। रूठी हुई पार्वती को मनाने के लिए पहले वह उनके दोनों हाथों को अपने दोनों हाथों में लेकर उनसे माफी माँगते हुए उन्हें आश्वस्त करना चाहते हैं किन्तु पार्वती क्रोध में भरकर अपने दोनों हाथों को सिकोड़ लेती हैं और शङ्कर के हाथों को झटककर फेंक देती हैं। इसके बाद उनका हौसला कम हो जाता है और वे पार्वती के चरणों में तो गिरना चाहते हैं किन्तु उन्हें इस उपाय की सफलता में सन्देह हो जाता है क्योंकि यदि सिर को पैरों में रखने का प्रयास किया जायेगा तो पैर हटा लिये जायेंगे और उनका यह प्रयास भी असफल रहेगा। क्योंकि यह प्रणाम करना मनाने का एक सीमित प्रकार है जरूरी नहीं कि इससे क्रोध शान्त ही हो जाय। क्रोधोपशम के लिए तो बहुत से दूसरे दूसरे प्रकारों की भी आवश्यकता होती है। इसके बाद मुँह से कुछ कहकर क्षमा माँगने की इच्छा होती है किन्तु उनके मुँह से डर के मारे आवाज़ ही नहीं निकल पाती फलतः वह मौन धारण ही किये रहे और पार्वती का मान ज्यों का त्यों बना रहा।

यहाँ पर सेवाञ्जलि का न करना, प्रणाम का न हो पाना और मुख से कुछ न कहना इत्यादि निष्क्रिय रूपवाले ये इतने अनेक पदार्थ पार्वती के मानसाफल्य के हेतु हैं (और इनकी प्रतीति व्यञ्जनागम्य है)।

इसके बाद 31. पर्यायोक्त (का लक्षण) है–

वाच्यतावच्छेदकं विना वाच्यार्थस्य व्यञ्जनया। यत्प्रतिपादनतात्पर्येण प्रकारान्तरेण कथनं तत् पर्यायोक्तम्।। 249।।

यथा–

राजन् जहासि निद्रां रिपुवन्दिनिविडनिगडशब्देन।
तेनैव यदन्तरित: स कलकलो वन्दिवृन्दस्य।। 389।।

अत्र रिपुस्त्रियो वन्दीकृता इति पर्यायोक्तम्।

अथोदात्तम्–

उत्कर्षयोगित्वं लक्षणम्।। 250।।

स चोत्कर्ष: निमित्ताधीन:, निमित्तं च सम्पत्तिर्वीर्यं वा।

(वाच्य के) वाच्यत्व रूप अवच्छेदक धर्म के बिना वाच्यार्थ का व्यञ्जना के द्वारा (वाच्यार्थ के) प्रतिपादन रूप तात्पर्य वाले दूसरे प्रकार से जो कथन होता है वह पर्यायोक्त है।।249।।

टि०–जहाँ वाच्यार्थ का प्रतिपादन अभिधा से न करके व्यञ्जना से किया जाय वहाँ पर्यायोक्त होता है। इसमें व्यङ्ग्यार्थ को ही प्रकारान्तर से वाच्य कर दिया जाता है। इसमें जो कुछ कहा जाता है वह होता तो व्यङ्ग्य ही है परन्तु फिर भी उसे वाच्य के रूप में कहा जाता है।

जैसे–

हे राजन्! कैदी बनाई हुई शत्रुनारियों की (हाथों और पैरों में पड़ी मजबूत (अतएव अभेद्य) बेड़ियों के शब्द से (ही) आप अपनी नींद का परित्याग करते हैं। क्योंकि स्तुति करने वाले वाले चारणजनों के द्वारा किया गया वह कोलाहल तो उसी (बेड़ियों के) शब्द के द्वारा अन्तर्भूत कर दिया गया है अर्थात् उसे दबा दिया गया है।। 389।।

यहाँ पर (शत्रुओं को जीतकर) शत्रुनारियाँ बन्दिनी बनाकर कैद में डाली हुई हैं (इसलिए तुम सर्वशत्रुजित् हो इस अभिधीयमान व्यङ्ग्यार्थ के होने) से पर्यायोक्तालङ्कार है।

इसके बाद 32. उदात्त (का लक्षण) है–

उन्नति से युक्त होना (उदात्त का) लक्षण है।। 250।।

क्रमेण यथा–

टङ्कच्छेदपरम्पराविदलिते यत्काञ्चनीयाचले
चिन्ता चञ्चलभावमञ्चति परं स्वर्लोकलोकोऽधुना।
इत्थं प्रौढदयावताद्य भवता चित्ते विचिन्त्य द्विज-
द्वारि द्वारि गृहे गृहे प्रकटिता नैके सुवर्णाचलाः।।390।।

तथा–

अङ्गः प्रोन्मूलिताङ्गः कलयति सहसा सङ्गमं सानुबन्धं
तैलङ्गो रङ्गभूमौ सुरपतितरुणीसङ्गमङ्गीचकार।

और वह उन्नति किसी कारण पर आश्रित होकर रहती है और यह कारण या तो धन समृद्धि रूप होता है या पराक्रम रूप होता है। क्रम से (इनके उदाहरण हैं)।

(सम्पत्तिनिमित्तक उदात्त का उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्) क्योंकि सुमेरु पर्वत (स्वर्ण गिरि) के छेनी (पत्थर को काटने वाले औजार) के द्वारा बार बार (प्रहार करके) काटे जाने से टूट जाने पर इस समय लोग स्वर्गलोक के लोग देवता और देवाङ्गनायें बहुत अधिक चिन्ता से अस्थिर स्थिति को प्राप्त कर रही हैं अर्थात् अत्यन्त चिन्तित हो गई हैं। इस प्रकार आज बहुत अधिक दयालु आपने अपने चित्त में सोचकर ब्राह्मणों के दरवाज़े दरवाज़े और घर घर में अनेक सोने के पर्वत प्रकट कर दिये हैं।।390।।

टि०–श्लोक का अभिप्राय यह है कि देवी और देवताओं को सुमेरु पर्वत के नाश की सम्भावना से चिन्तित जान कर राजा ने ब्राह्मणों के दरवाज़ों और घरों में असङ्ख्य सोने के पर्वत खड़े कर दिये हैं। इन सोने के पर्वतों से राजा के ऐश्वर्यातिशय एवं दानशीलता की प्रतीति हो रही है।

और (दूसरा पराक्रमनिमित्तक उदाहरण)

हे राजन्! (युद्ध में) आपके पराक्रम के कारण प्रहारों से क्षतविक्षत अङ्गों वाला अङ्गदेश का राजा एकदम बड़े आग्रह से सन्धि (मेल मिलाप) करता है, युद्धभूमि में तैलङ्ग राजा (मरकर स्वर्गलोक में चले जाने से) इन्द्र की युवती अप्सराओं के सम्पर्क को स्वीकार कर चुका है, सप्ताङ्गसेनायुक्त यह बंगाल का राजा बैठा है। अपनी पत्नी के हाथों के

बङ्गः साङ्गोऽयमास्ते कलितनिजवधूकङ्कणः कुण्डिनेशो
वैदर्भो दर्भचूडाकथितनिजबलो भाति युष्मत्प्रतापात्।। 391।।

अथ समुच्चयः-

इतरानपेक्षसाधकतापर्याप्ते तत्फलजनकतया तत्परिस्पर्धिभावेनोपात्तत्वं तत्त्वम्।। 251।।

न च समाधिसाङ्कर्याशङ्का। अत्र एकैकस्यापरनिरपेक्षकार्यकारित्वं समाधौ तु परस्परसापेक्षत्वमिति भेदात्। अयञ्च सद्योगे असद्योगे सदसद्योगे च।

कंगनों को धारण करने वाला कुण्डिनपुर राजधानी का स्वामी भी यहाँ है एवं विदर्भराज कुशानिर्मित शिखा से अपनी शक्ति को बतलाते हुए शोभित हो रहा है।। 391।।

टि०–यहाँ पर शत्रुओं को पराजित करने वाले राजा के पराक्रमातिशय का सूचन हो रहा है। दर्भ से बंधी चोटी का धारण पराजय सूचक है।

इसके बाद 33. समुच्चय (का लक्षण) है-

दूसरे कारणों की अपेक्षा न करके कारणता की पर्याप्ति (परिपूर्णता) होने पर उस फल का उत्पादक होने के कारण (फिर भी) उसके साथ स्पर्धा के रूप में दूसरे कारणों का उपादान करना समुच्चय का लक्षण है।। 251।।

टि०–जहाँ एक ही कारण कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता रखता हो और उसे कार्यसिद्धि के लिए दूसरे कारणों की आवश्यकता न भी हो फिर भी वे अनेक कारण उस कारण के साथ खलेकपोतन्याय से कार्यसम्पादन के लिए युगपद् आयें वहाँ यह अलङ्कार होता है। खलेकपोतन्याय का अभिप्राय यह है जैसे खलिहान में अनाज के दानों को चुगने के लिए आकाश से एक कबूतर नीचे उतर आता है तो दूसरे सारे कबूतर भी एक साथ नीचे उतर पड़ते हैं उसी प्रकार समुच्चयालङ्कार में एक ही कारण के कार्यसाधक होने पर उसके साथ साथ अन्य कारण भी एककालावच्छेद से इकट्ठे हो जाते हैं।

और समाधि के साथ इस अलङ्कार का सङ्कर होने की शङ्का नहीं करनी चाहिए। यहाँ प्रत्येक कारण इतर कारण से निरपेक्ष होकर कार्यसिद्धि में समर्थ होता है जबकि समाधि में एक कारण को दूसरे कारण की अपेक्षा

यथा–

दुर्गं त्रिकूटं परिखा पयोधिः
प्रभु र्दशास्यः सुभटाश्च राक्षसाः।
नरोऽभियोक्ता सचिवैः प्लवङ्गमैः
किमत्र वो हास्यपदे महद् भयम्।। 392।।

यथा वा–

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि व वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।

रहती है अर्थात् समुच्चय में सारे कारण परस्परनिरपेक्ष होते हैं जबकि समाधि में सारे परस्पर सापेक्ष होते हैं। यही इनमें भेद है।

टि०–समाधि में काकतालीयन्याय से अनेक कारणों को परस्पर अपेक्षा होती होती है। कौए का आगमन और तालफलपतन यह दोनों सापेक्ष हैं। इन दोनों से ही कौए की मृत्यु रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। इन दोनों अलङ्कारों में अनेक कारणों से कार्य होता है।

और यह कारणों का मेल सद्वस्तुओं (सुन्दर वस्तुओं), असद् वस्तुओं और सदसद् वस्तुओं के योग होने पर होता है।

1. (क) (सद्वस्तुओं के योग का उदाहरण) जैसे–

त्रिकूट पर्वत तुम्हारा किला है, समुद्र खाई है, (महापराक्रमी) रावण स्वामी है और राक्षस वीर योद्धा हैं। (अपने) सहायक मन्त्री बन्दरों से युक्त मनुष्य (राम) तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी (आक्रान्ता) है। इस हँसी की बात के होने पर (अर्थात् इतने तुच्छ से व्यक्ति के साथ मुकाबले की बात सोच कर तो हँसी आती है इसलिए) तुम्हें डर क्यों लग रहा है?।। 392।।

टि०–यहाँ तुच्छ वानरों की सहायताप्राप्ति से साधारण मनुष्य की हैसियत वाले राम को हराने के लिए एक इतरनिरपेक्ष कारण दुर्गीभूत त्रिकूट पर्वत ही पर्याप्त है। पयोधि और राक्षस ये कारण भी राम की पराजय रूप कार्यसिद्धि के लिए उपस्थित हो गये है। त्रिकूट, पयोधि, और राक्षस इन शक्तिशाली सद्वस्तुओं का यहाँ योग है।

(ख) अथवा (सद्वस्तुयोग का और उदाहरण) जैसे–

श्रीहर्ष (रत्नावली के रचयिता हर्षवर्धन) चतुर कवि हैं, यह सभा भी गुणों को ग्रहण करने वाली अर्थात् पारखी एवं सहृदया है और वत्सराज उदयन

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
मर्द्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।। 393।।

असद्योगे यथा–

क्लीबो विरूपो मूर्खश्च मर्महा मत्सरान्वितः।
निर्धनोऽपि करोत्येष मनुष्याहङ्कृतिं जनः।। 394।।

सदसद्योगे यथा–

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।

की जीवनकथा संसार में मन को आकर्षित करने वाली है इसके अतिरिक्त हम (नट लोग) भी अभिनयकला में कुशल हैं। इस प्रकार यहाँ एक एक वस्तु (नाटक की सफलता रूप) अभिलषित फल की प्राप्ति का स्थान (अर्थात् पर्याप्त कारण) है (परन्तु अब तो कहना ही क्या?) मेरे भाग्य की उन्नति के कारण यहाँ सारे का सारा गुणों का समुदाय उदित हो गया है।। 393।।

टि०–यहाँ नाटक की निर्विघ्न समाप्ति रूप कार्य की सिद्धि के लिए अनेक उत्तम वस्तुयें कारण के रूप में इकट्ठी हो गई हैं। यह श्लोक हर्षवर्धनरचित रत्नावली नाटिका की प्रस्तावना से लिया गया है

2. असद्वस्तुओं का योग होने पर (उदाहरण) जैसे–

नपुंसक, कुरूप, मूर्ख, मर्मस्थल को चोट पहुँचाने वाला, ईर्ष्यालु एवं निर्धन (होता हुआ) भी यह पुरुष (अच्छे) मनुष्य के (अनुरूप) अभिमान को करता है।। 394।।

टि०–यहाँ अभिमान न करने की कारणभूत बहुत सारी अशोभन वस्तुयें इकट्ठी हो गई हैं। यह श्लोक रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 20 वृत्ति) में मिलता है।

3. सद्वस्तु और असद्वस्तु के योग होने पर (उदाहरण) जैसे–

1. दिन के (प्रकाश के) कारण धुँधला चाँद 2. ढली जवानी वाली सुन्दरी 3. समाप्त कमलों वाला तालाब 4. सुन्दर आकार वाले व्यक्ति का अक्षरों से रहित (विद्याविहीन अतएव गूँगा) मुँह, 5. धन का लोभी स्वामी, 6. लगातार कष्ट भोगने वाला सज्जन, और 7. राजा के (दरबार या महल

प्रभु र्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे।। 395।।

एष च द्रव्यगुणक्रियासमुच्चयभेदात् त्रिधा।

यथा–

सुखमिदमेतावदिह स्फारस्फुरदिन्दुमण्डला रजनी।
सौधतलं काव्यकथाः सुहृदः स्निग्धा विदग्धाश्च।। 396।।

एष द्रव्यसमुच्चयः। एवं गुणक्रियासमुच्चययोरुदाहरणं बोद्धव्यम्। जातिसमुच्चयस्तु न विद्यते। न ह्येकत्रानेका जातिः सम्भवति।

के) आँगन में गया हुआ दुष्ट (चुगलखोर व्यक्ति) ये सात (व्यक्ति और वस्तुयें) मेरे मन में काँटे (की तरह चुभती) हैं।। 395।।

टि०–यहाँ चन्द्रमा का कान्तिहीन हो जाना ही एक कष्टदायक शल्य है। इसके साथ गलितयौवना कामिनी आदि अन्य शल्य (कष्टदायक कारण) भी इकट्ठे हो गये हैं। चन्द्र, कामिनी आदि शोभनों का अशोभन खल के साथ योग होने से यह सदसद्वस्तुयोग है।

और यह अलङ्कार 1. द्रव्यसमुच्चय, 2. गुणसमुच्चय और 3. क्रियासमुच्चय (इन तीन) भेदों वाला होने से तीन प्रकार का है।

(1. द्रव्यसमुच्चय का उदाहरण) जैसे–

विस्तीर्ण (पूर्ण) तथा चमकते हुए चन्द्रमण्डल से युक्त रात्रि, राजप्रासाद, काव्यों की (सरस) कथायें और स्नेही एवं रसिक विद्वान् मित्र-इस संसार में सुख (तो) इतना ही है।। 396।।

टि०–यहाँ चाँदनी रात ही सुख का पर्याप्त कारण है किन्तु सौधतल, काव्यकथायें तथा मित्र इन कारणों का समुदाय भी सुखोत्पादन के हेतु रूप में वर्णित है।

यह द्रव्यसमुच्चय (का उदाहरण) है। इसी प्रकार गुणसमुच्चय और क्रिया-समुच्चय का उदाहरण समझ लेना चाहिए। जातिवाचक पदार्थों का समुच्चय तो होता ही नहीं है क्योंकि एक स्थान पर कोई अनेक रूपों वाली जाति नहीं हो सकती।

टि०–समुच्चय के भेद करते हुए द्रव्य, गुण और क्रिया–इन तीन को ही लेकर भिन्नता बतलाई गई है और जाति को छोड़ दिया गया है। इसका कारण यह है कि

अथ पर्यायः–एकस्य नानाधिकरणोत्पत्तिकत्वं नानाधिकरणस्थितिकत्वं वा लक्षणम्।। 252।।

तच्च स्वतः सम्भवित्वेन कविप्रौढोक्त्या वेत्यन्यदेतत्।

यथा–

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट!
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्।। 397।।

तथा–

एक ही जगह द्रव्य (व्यक्ति) के अनेक रूप हो सकते हैं। गुणों और क्रियाओं की भी यही स्थिति है। किसी एक स्थल पर अनेक गुण और अनेक क्रियायें इकट्ठी रह सकती हैं परन्तु जाति की स्थिति इनसे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि किसी एक जाति में अनेक जातियाँ नही रह सकतीं। उदाहरणार्थ जैसे मनुष्य में मनुष्यत्व के अतिरिक्त गोत्वादि अनेक जातियों का रहना असम्भव है।

इसके बाद 34. पर्याय (का लक्षण) है–

एक का अनेक आश्रयों (आधारों) में उत्पन्न होना अथवा एक का अनेक (वस्तुओं के) अधिकरणों के रूप में स्थित होना पर्याय का लक्षण है।। 252।।

और वह स्वतः सम्भवी अथवा कविप्रौढोक्ति के कारण दूसरे रूप में हो जाता है।

जैसे–

हे कालकूट (विष) ! तुमको उत्तरोत्तर विशिष्टपद वाले आश्रय में रहने की स्थिति किसने बतलाई है? पहिले (तुम) समुद्र के हृदय में (भीतर रहते थे) उसके बाद शिव के कण्ठ में और फिर अब दुष्टों की वाणी में रहते हो।। 397।।

टि०–यहाँ एक कालकूट की अनेक स्थानों पर स्थिति बतलाई है। यह स्वतः सम्भवी अनेकाश्रयस्थिति का उदाहरण है।

और (दूसरा उदाहरण)–

अङ्कमङ्ग परिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना मञ्जुवागपि च वामलोचना।। 398।।

अथानुमानम्–

वस्तु परोक्षं यस्मिन् साध्यमुपन्यस्य पुनः[1] साधकं तस्य।
पुनरन्यदुपन्यसेद् विपरीतं चैतदनुमानम्।। 253।।

एतदर्थोऽपि–साध्यसाधननिर्देशत्वं[2] तत्त्वम्। तच्च त्रिविधम्–अन्वयव्याप्तिकत्वं व्यतिरेकव्याप्तिकत्वमन्वयव्यतिरेकव्याप्तिकत्वं चेति।

हे मित्र! हृदयावर्जक शब्द वाली वीणा और सुन्दर वाणी वाली सुनयना सुन्दरी भी परिवर्तन के लायक (अर्थात् जिनके जीवन में परिवर्तन आना ही चाहिए ऐसी) इन दोनों ने ही उस (युवक) की गोद को पूर्ण बनाया है (अर्थात् उसे भर दिया है)।। 398।।

टि०–यहाँ एक अङ्क रूप वस्तु वल्लकी और वामलोचना इन अनेक वस्तुओं का आधार बन गई है।

इसके बाद 35. अनुमान (का लक्षण) है–

जहाँ कवि पहले परोक्ष साध्य वस्तु (कार्य) को रखकर (बताकर) फिर उसका साधक (कारण) रखे (बतलाये) अथवा इसके विपरीत करे (अर्थात् पहले कारण का प्रतिपादन करके फिर परोक्ष साध्य वस्तु का निर्देश करे) वहाँ अनुमान अलङ्कार होता है।। 253।।

टि०–अनुमान का यह लक्षण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 56) में भी दिया हुआ है। पर्वतादि में कहीं धूम को उठता हुआ देखकर देखने वाला धूमदर्शन से वह्नि का अनुमान करता है। धूम और वह्नि को अनेक बार साथ साथ देखने (इन दोनों के भूयःसहचारदर्शन से) उनके स्वाभाविक सम्बन्ध (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः इस रूप में) व्याप्तिसम्बन्ध का ज्ञान होता है। इसलिए जब किसी जगह केवल धूम को देखा जाता है तो वहाँ न दिखलाई देने वाली परोक्ष वह्नि का भी अनुमान कर दिया जाता है। व्याप्तिसम्बन्ध के बल से जो वह्नि का ग्रहण कराता है वह धूमादि साधक (साधन) या लिङ्ग कहा जाता है और वह्नि साध्य कहलाती है।

इसका भी यह अभिप्राय है–साध्य और साधन का निर्देश ही अनुमान का वह पर्यवसित लक्षण है। और यह अनुमान तीन प्रकार का है–

1. ज अ: पुन: त में नहीं
2. ज अ, निर्देशनं त

यथा–

सानुज्ञमागमिष्यन्नूनं पतितोऽसि पादयोस्तस्याः।
कथमन्यथा ललाटे यावकरसतिलकपङ्क्तिरियम्।।399।।

---

1. अन्वय व्याप्ति वाला, 2. व्यतिरेक व्याप्ति वाला, और 3. अन्वयव्यतिरेक (उन दोनों प्रकार की) व्याप्तियों वाला।

टि०–लिङ्ग (साधन) से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान अनुमान कहलाता है। साधन (लिङ्ग) की साध्य (लिङ्गी) के साथ जो व्याप्ति है वह दो प्रकार की होती है-1. अन्वयव्याप्ति और 2. व्यतिरेकव्याप्ति। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है यह अन्वयव्याप्ति हुई क्योंकि अन्वय का लक्षण है-तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः अर्थात् हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वम् अन्वयः। इसके विपरीत जहाँ जहाँ वह्नि का अभाव होता है वहाँ वहाँ धूम का भी अभाव होता है। यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः यह व्यतिरेकव्याप्ति कहलाती है क्योंकि व्यतिरेक का लक्षण है–तदभावे तदभावो व्यतिरेकः अर्थात् साध्याभावे हेत्वभावो व्यतिरेकः। धूम और वह्नि में ये दोनों प्रकार की व्याप्तियाँ पाई जाती हैं और इन दोनों प्रकार की व्याप्तियों में उदाहरण मिल जाते हैं। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है इस अन्वयव्याप्ति में महानस (पाकशाला रसोई घर) उदाहरण है। क्योंकि महानस में धूम तथा वह्नि को साथ साथ देखा जा सकता है। इसलिए अन्वयव्याप्ति में महानस उदाहरण होता है। इसके विपरीत जहाँ जहाँ वह्नि का अभाव होता है वहाँ वहाँ धूम का भी अभाव होता है। यह व्यतिरेकव्याप्ति कहलाती है। इस व्यतिरेकव्याप्ति में महाह्रद बड़ा तालाब उदाहरण है। बड़े तालाब में यदि वह्नि का अभाव है तो वहाँ धूम का भी अभाव है। इस प्रकार धूम हेतु के अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों में उदाहरण मिल जाते हैं। इसलिए यह अन्वयव्यतिरेकी कहलाता है।

(अन्वयव्याप्तिक अनुमान का उदाहरण) जैसे–

आने की अभिलाषा वाले तुम अनुज्ञापूर्वक (स्वीकृति के साथ) निश्चित रूप से उसके पैरों में पड़ गये हो अन्यथा तुम्हारे ललाट पर महावर के द्रव से बनी हुई यह तिलक की पङ्क्ति कैसे लगती?।। 399।।

यथा वा–

वचनमुपचारगर्भं दूरादुद्गमनमासनं सकलम्।
इदमद्य मयि तथा ते यथासि नूनं प्रिये कुपिता।। 400।।

अत्र वस्तुगत्या व्याप्त्यसत्त्वेऽपि कविप्रौढोक्त्यैव तथाभिधानमित्यलङ्कारत्वम्; अन्यथा वह्निमान् धूमादित्यत्राप्यलङ्कारतापत्तेः।

टि०–यत्र यत्र पादपतनं तत्र तत्र यावकरसतिलकपङ्कम् इस रूप में अन्वयव्याप्ति से नायिका को नायक के द्वारा किये गये प्रच्छन्न (परोक्ष) सम्भोग का अनुमान हो रहा है।

अथवा जैसे–

हे प्यारी ! शिष्टाचारयुक्त वचन कहना, दूर से ही स्वागत के लिए खड़े हो जाना और आसन देना–यह सबके सब आज मेरे लिए तुम उस प्रकार से कर रही हो जिससे (ज्ञात होता है कि) मुझसे निश्चितरूप से नाराज़ हो।। 400।।

टि०–यहाँ नायक को अनुमान प्रमाण से नायिका के कोप की अनुमिति हो रही है। कारण बताने के अनन्तर कोप रूप कार्य की प्रतीति हो रही है। 'इयं नायिका मां प्रति प्रकुपिता उपचारवचनात्, उद्गमनात्, आसनदानादिसकलकोपहेतुमत्त्वाच्च यत्र यत्र उपचारवचनादिप्रयोगः तत्र तत्र कोपभावः यथा काचिदपरा नायिका तथा चेयमत एवेयं मां प्रति प्रकुपिता।' इस रीति से यहाँ अनुमानवाक्य का प्रयोग किया जा सकता है। यह स्वाभाविक प्रवृति है कि जब किसी प्रेमी या प्रेमिका को दूसरे से नाराज़गी होती है तो वह आपसी व्यवहार में अधिक शिष्टाचार बरतने लगते हैं। रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 58) में यह श्लोक मिलता है।

यहाँ वास्तविक रूप से व्याप्ति की असत्ता होने पर भी कविप्रौढोक्ति से ही व्याप्ति के रूप में ऐसा कथन किया गया है इसी कारण अलङ्कारत्व है। यदि ऐसा न मानें तो (पर्वतः) वह्निमान् धूमात् इस स्थल पर भी अलङ्कारता की प्राप्ति होगी (यहाँ चमत्कार न होने के कारण अनुमानालङ्कार होने का प्रश्न ही नहीं उठता)।

टि०–यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से शङ्का की जा सकती है कि वचनमुपचारगर्भम् जैसे उदाहरणों में यत्र यत्र उपचारगर्भं वचनं तत्र तत्र क्रोधः इस रूप में व्याप्ति नहीं बन सकती और अनुमान बिना व्याप्तिसम्बन्ध के होता ही नहीं है। अतः बिना व्याप्ति सम्बन्ध के यहाँ अनुमानालङ्कार कैसे हो सकता है? इस पर सिद्धान्तपक्ष की ओर से

साभिप्रायैः सम्यग् विशेषणै र्वस्तु यद् विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्नश्चतुर्विधः परिकरः स इति।।254।।

साभिप्रायैरित्यनेन वस्तुस्वरूपप्रतिपादकानां भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणा इत्यादीनां विशेषणानां व्यावृत्तिः।

कहा जा सकता है कि ऐसी शङ्का करना उचित है। वास्तव में यहाँ व्याप्ति नहीं है परन्तु कविप्रौढोक्ति से उस अवास्तविक व्याप्ति को काल्पनिक व्याप्ति मान लिया गया है और इसी आधार पर यहाँ अनुमानालङ्कार बना है। अन्यथा वास्तविक व्याप्ति को लेकर बनने वाले 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' जैसे उदाहरणों में भी अनुमानालङ्कार सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि इस अनुमानवाक्य में किसी प्रकार की कविप्रौढोक्ति नहीं है इसलिए कोई चमत्कार न होने के कारण इसे अलङ्कार नहीं कहा जायेगा।

इसके बाद 36. परिकर (का लक्षण) है–

जब अभिप्राय भरे विशेषणों से किसी विशेष वस्तु की विशेषता बताई जाय (तो परिकर होता है)। द्रव्यादि (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति) भेदों के कारण अलग अलग प्रकार का वह परिकर चार प्रकार का माना जाता है।।254।।

टि०–काव्यालङ्कार (7, 72) में परिकर का यही लक्षण है।

'साभिप्रायैः' इस विशेषण के कथन से भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः जैसे स्थलों पर वस्तु के स्वरूपमात्र को ही बताने वाले भोजपत्र के वल्कलों का विशेषण बनने वाले कुञ्जरबिन्दुशोणाः आदि पदों की व्यावृत्ति हो जाती है (क्योंकि ऐसे विशेषणों के रखने से परिकरालङ्कार नहीं बना करता।)

टि०–इस अलङ्कार में किसी वस्तु के स्वरूपमात्र की विशेषता बताने वाले विशेषण नहीं रखे जाते अपितु जिन विशेषणों से किसी विशेष प्रकार के अभिप्राय की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही विशेषण इसमें रखे जाते हैं। 'न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः' इस वाक्य में हिमालय पर्वत का वर्णन है। जिस हिमालय पर्वत में लाल गेरू के रस से घुणाक्षरन्याय से स्वतः बने हुए अक्षरों से युक्त भोजपत्र की छालें हाथी के शरीर पर (वयोवृद्धि के कारण स्वतः अङ्कित पद्मक नामक) बिन्दुओं (धब्बों) के समान लाल हैं। यहाँ भूर्जत्वचः के धातुरसेन न्यस्ताक्षराः तथा कुञ्जरबिन्दुशोणाः–इन दोनों विशेषणों से स्वरूप की विशेषतामात्र ही बताई गई

एतदर्थोऽपि विशेष्योत्कर्षव्यञ्जकनानाविशेषणोपादानत्वं लक्षणम्।

यथा–

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुगृहमथनोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशो[1]त्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादे गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत परुषं द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।। 401 ।।

एष द्रव्यपरिकरः।

तथा[2]–

है किसी विशेष अर्थ की अभिव्यञ्जना इनसे नहीं होती। अतः यहाँ परिकरालङ्कार नहीं हो सकता।

इसका सारभूत अर्थ (पर्यवसित लक्षण) भी है–विशेष्य के उत्कर्ष के व्यञ्जक अनेक विशेषणों का ग्रहण करना ही परिकर का लक्षण है।

(1. द्रव्यपरिकर का उदाहरण) जैसे–

अक्षक्रीडा (जुए) के छलों को करने वाला, लाख से बने घर को ध्वस्त करके जलाने वाला वह (लोकप्रसिद्ध) अहङ्कारी, द्रौपदी के केश और ऊपर धारण किये वस्त्र को हटाने में चतुर, पाण्डव जिसके सेवक हैं, राजा (अपनी हकूमत चलाने वाला), दुःशासन आदि सौ छोटे भाइयों का ज्येष्ठ भ्राता और अङ्ग देश के राजा कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ ठहरा है? उस कठोर को बतला दो कि हम दोनों (भीम और अर्जुन) उसे देखने आये हैं।। 401 ।।

यह द्रव्यपरिकर (का उदाहरण) है।

टि०–वेणीसंहार के इस श्लोक में कर्ता द्यूतच्छलानाम् आदि सारे विशेषण द्रव्य (व्यक्ति) दुर्योधन के लिए प्रयुक्त किये गये हैं और ये साभिप्राय होने से अपने अपने विशिष्ट अर्थ के द्योतक हैं।

और (2. गुणपरिकर का उदाहरण) जैसे–

---

1. संशोधित; कृष्णाक्रोधोत्तरीय.......ज अ त
2. ज अ; यथा त

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु।।402।।

अत्र नृपस्य अनेनेतिपदप्रतिपादितस्य यूना पार्थिवेनेतिविशेषणाभ्यां परिकर: कृत:। एष गुणपरिकर:।

तथा[1]–

योऽसौ क्रीडति दुर्दिनं सुदिनमन्धस्तमश्चन्द्रयन्
प्राकारान् प्रथयन् वनं भवनयन् क्षेत्राणि पर्यङ्कयन्।
बाह्योपाधिपराङ्मुखाय मनसी नि:सीम संसीव्यते[2]
यूनो: साहसकौशलैकगुरवे भावाय तस्मै नम:।। 403।।

हे केले के समान सुन्दर जाँघों वाली सुन्दरी! शिप्रा नदी की तरङ्गों की वायु से हिलाई हुई बहुत सारे उद्यानों की पङ्क्तियों में इस नवयुवक राजा के साथ घूमने के लिए क्या तुम्हारे मन के भीतर अभिलाषा है?।। 402।।

यहाँ अनेन इस पद से प्रतिपादित (विशेष्यभूत लोकप्रसिद्ध) राजा के लिए यूना पार्थिवेन (नवयुवक राजा के साथ) इन विशेषणों के द्वारा परिकरालङ्कार (का निर्माण) किया गया है। यह गुणपरिकर का उदाहरण है।

टि०–यहाँ 'यूना पार्थिवेन' इन दो पदों से अभिव्यज्यमान नवयौवन का गुण और पृथिवीपतित्व यह दोनों अर्थ साभिप्राय हैं। उत्तम वर के लिए नवयुवक तथा प्रभुतासम्पन्न और समृद्धिशाली होना आवश्यक है।

और (3. क्रियापरिकर का उदाहरण जैसे–)

जो वह (भाव तरह तरह के) खेलों को खेलता है– दुर्दिन (मेघाच्छन्नं दुर्दिनम्) बुरे दिन को उत्तम दिन बनाता है, घोर अन्धकार को चन्द्रमा की तरह (उजला) कर देता है, (सुरक्षा के लिए) परकोटों (दीवारों) की रचना करता है, जंगलों को महल बना देता है, खेतों को जो पंलग बनाता है और जिसके द्वारा दो मनों को असीमित रूप से जोड़ा जाता है; (कृत्रिम) बाहरी दिखावों से विमुख, और साहस एवं चतुराई को सिखाने वाले एकमात्र शिक्षक उस (अद्‌भुत एवं लोकप्रसिद्ध) नवयुवक और नवयुवतियों के (हृदयस्थ प्रेम) भाव (प्रेममयी चित्तवृत्ति) को नमस्कार है।। 403।।

---

1. ज अ; यथा त
2. ज अ; सम्मील्यते त

एष क्रियापरिकरः।

तथा–

लोकस्रजि द्यौ र्दिवि चादितेया
अथादितेयेषु महान् महेन्द्रः।
किं कर्त्तुमर्थी यदि सोऽपि रागा-
ज्जागर्ति कक्षा किमतः परापि।। 404।।

एष जातिपरिकरः।

अथ व्याजोक्तिः–तत्त्वं च उद्भिन्नार्थनिगूहनत्वम्।। 255।।

यह क्रियापरिकर (का उदाहरण) है।

टि०–यहाँ भाव रूप कर्ता की अनेक क्रियायें हैं और ये सभी अपना विशिष्ट अर्थद्योतन करने के कारण साभिप्राय हैं। नवयुवक और नवयुवतियों की प्रेमभावना अत्यन्त प्रबल होती है। जब वह अनुरक्त होकर आपस में मिलते हैं तो उन्हें दुर्दिन सुदिन के रूप में दीखता है और अन्धकार चाँदनी के प्रकाश जैसा दिखाई पड़ता है और इसी प्रकार की अन्य होनी अनहोनी घटनाओं का भी यह भाव कारण बना करता है।

और (4. जातिपरिकर का उदाहरण) जैसे–

(विभिन्न) लोकों की माला (पङ्क्ति) में द्युलोक (उत्तम लोक) है और द्युलोक में देवता (श्रेष्ठ) हैं तथा उन देवताओं में इन्द्र (सबसे) बड़ा है। यदि वह भी आसक्ति के कारण और अधिक जागरूक रहता है (प्रयत्नशील होता है) तो वह और (क्या प्राप्त) करना चाहता है? इस (इन्द्रपद) से भी परे और कौन सी श्रेणी है?।। 404।।

यह जातिपरिकर (का उदाहरण) है।

टि०–यहाँ द्यौः और आदितेय शब्द जातिवाचक हैं और उनके लिए किं कर्तुमर्थी और कक्षा अतः परापि इन साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है।

इसके बाद 37. व्याजोक्ति (का लक्षण) है–

व्याजोक्ति का सारभूत लक्षण प्रकटित हुए अर्थ को छिपाना है।।255।।

'निगूहनत्व' (छिपाना) इतना यह धर्म तो अपह्नुति में अतिव्याप्त हो जायेगा यदि यह कहा जाय तो (इसके समाधान के लिए यह) कहा जा सकता है–उपमान के प्रकरण में पाठ होने से अर्थात् अपह्नुति की

निगूहनत्वमात्रमपह्नुतौ प्रसक्तमिति चेदुच्यते, उपमानप्रकरणे पाठात् उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया व्यवस्थाप्यते तत्रापह्नुतिः। न च प्रकृते तथेति तात्पर्यम्। किञ्चापह्नुते र्निषेधगर्भत्वादस्यास्त्वतथाभावात्। न हि दास्यमानोदाहरणे रोमाञ्चादिकं निषिध्यान्यत् किञ्चिद् विधीयते किन्तु तस्यान्यहेतुकत्वं विधीयते पार्वतीस्पर्शजन्यकम्पनिह्नवायेति भेदः।

यथा–

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्
रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।

सादृश्यमूलक अलङ्कारों में गणना होने के कारण जहाँ उपमेय को असत्य करके उपमान की सत्यता स्थापित की जाती है वहाँ अपह्नुति होती है। अर्थात् अपह्नुति में उपमानोपमेयभाव पाया जाता है परन्तु प्रकृत अर्थ (व्याजोक्ति अलङ्कार) में उपमानोपमेयभाव नहीं पाया जाता है यह अभिप्राय है।

टि०–अपह्नुति में प्रकृत और अप्रकृत अर्थात् उपमेय और उपमान का साम्य विवक्षित होता है और उस साम्य के रहते हुए उपमेय का अपह्नव किया जाता है। परन्तु यहाँ व्याजोक्ति में प्रकृत तथा अप्रकृत का साम्य नहीं होता है इन दोनों में एक दूसरे से भेद होने का यह एक कारण है।

इसके अतिरिक्त (क्योंकि) अपह्नुति निषेधगर्भा होती है और व्याजोक्ति तो वैसी अर्थात् निषेधगर्भा नहीं होती। (इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं है) आगे दिये जाने वाले उदाहरण में रोमाञ्चादि का निषेध करके और किसी दूसरी वस्तु की स्थापना नहीं की जा रही है परन्तु पार्वती के स्पर्श से उत्पन्न कम्पन (रोमाञ्च) को छिपाने के लिए यहाँ पर उसका दूसरा कोई कारण नहीं बतलाया जा रहा है यह (भी अपह्नुति से) भेद (का कारण) है।

टि०–रोमाञ्च के प्रकट होने का कारण पार्वती का करस्पर्श और चीज़ है और उसे छिपाने का कारण हिमालय की शीतलता और चीज़ है यह बात व्याजोक्ति की साधिका है। इसके विपरीत अपह्नुति में एक की असत्यता बतलाई जाती है और दूसरे की सत्यता की स्थापना की जाती है।

(व्याजोक्ति का उदाहरण) जैसे–

(शिवपार्वती के विवाह में कन्यादान के अवसर पर) हिमालय के द्वारा समर्पित किये जाते हुए पार्वती के हाथ के पकड़ने से प्रकट हुए रोमाञ्चादि (आदि शब्द से कम्परूप सात्त्विक भाव का भी ग्रहण है) के कारण

हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणै दृष्टोऽवताद् वः शिव;।। 405।।

अथ परिसङ्ख्या–

अन्यव्यपोहाय कीर्तनं लक्षणम्।। 256।।

परिवर्जनाय सङ्ख्या कथनं परिसङ्ख्येति समाख्याबलादपि लक्षणलाभः। तत्कथनं प्रश्नपूर्वकं प्रश्नापूर्वकम्। यथा[1]–

(वैवाहिक विधि के) सारे क्रियाकलाप के गड़बड़ा जाने से (मेरी आसक्ति प्रकट हो गई है इस शङ्का से) घबड़ाये हुए और (उसके छिपाने के लिए) हाय! हिमालय के हाथों के भीतर बड़ी शीतलता है यह कहने वाले तथा (उनके इस बहाने को समझ लेने वाली) हिमालय के अन्तःपुर की स्त्रियों और (ब्राह्मी आदि) मातृमण्डल एवं (नन्दी आदि) गणों के द्वारा मुसकुराहट के साथ देखे गये शिव आप सब लोगों की रक्षा करें।। 405।।

टि०–यहाँ वस्तुतः पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न सात्त्विकभाव रूप रोमाञ्च तथा कम्प प्रकट हो गये हैं। परन्तु ये हिमालय के शीतल हाथ के छूने से शैत्य के कारण ही हुए हैं इस बात को प्रकाशित करते हुए शिव के द्वारा उनके वास्तविक कारण पार्वती के करस्पर्श को छिपाया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रकाशित अर्थ का निगूहन किया गया है।

इसके बाद 38. परिसङ्ख्या (का लक्षण) है–

दूसरे के अस्वीकार (परित्याग) के लिए (एक के लिए कुछ) कहना (परिसङ्ख्या का) लक्षण है।। 256।।

'परिवर्जनाय' (निषेध) के लिए सङ्ख्या कथन परिसङ्ख्या कही जाती है इस प्रकार व्युत्पत्ति की शक्ति से भी (इस परिसङ्ख्या नाम से) इसके लक्षण की प्राप्ति होती है।

टि०–किसी एक का निराकरण कर किसी दूसरे का सङ्ख्यान–वर्णनीय रूप में उल्लेख करना–परिसङ्ख्या कहलाती है।

यह (व्यपोह वाला) कथन कहीं प्रश्नपूर्वक होता है, तो कहीं बिना प्रश्न के होता है।

---

1. अ त; ज में नहीं

किं सुखमपारतन्त्र्यं किं धनमविनाशि निर्मला विद्या।
किं कार्यं सन्तोषो विप्रस्य महेच्छता राज्ञः।। 406।।

प्रश्नापूर्वकं यथा–

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयो र्वसति।। 407।।

अथ कारणमाला–

उत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वहेतुत्वाभिधायकनिर्देशो लक्षणम्।। 257।।

यथा–

---

1. (प्रश्नपूर्वक का उदाहरण) जैसे–

सुख क्या है? स्वच्छन्दता (स्वाधीनता), अनश्वर धन क्या है? विमल विद्या और क्या कर्म करना चाहिए? ब्राह्मण को सन्तोष और राजा को (यश, राज्य और धन सम्बन्धी) महत्त्वाकाङ्क्षा।। 406।।

2. बिना प्रश्न की (परिसङ्ख्या का उदाहरण) जैसे–

(हे प्रिये) तुम्हारे केशपाश में वक्रता (घुंघरालापन), तुम्हारे हाथ, पैर और ओष्ठभागों में राग (लालिमा), दोनों स्तनों में कठोरता और आँखों में चञ्चलता निवास करती है।। 407।।

टि०–यहाँ केशपाश में कुटिलता है हृदय में कुटिलता नहीं। हाथ, पैर और अधर ओष्ठ में राग है अन्य पुरुष में राग नहीं है। कुचयुग्म में कठोरता है हृदय में कठोरता नहीं है और आँखों में चञ्चलता है मन में चञ्चलता नहीं है–इस रूप से जिनमें गुणनिषेध किया जा रहा है उनका शब्दतः ग्रहण नहीं किया गया है और न प्रश्नोत्तर के रूप में बात कही गई है। काव्यप्रकाश (10,524) में यह उदाहरण मिलता है।

इसके बाद 39. कारणमाला (का लक्षण) है–

अगले अगले अर्थ (कार्य) के प्रति पहिले पहिले का हेतु के रूप में निरूपण करना (कारणमाला का) लक्षण है।। 257।।

(इसका उदाहरण) जैसे–

विनयेन भवति गुणवान् गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः।
अभिगम्यतेऽनुरक्तः ससहायोऽनुयुज्यते लक्ष्म्या।।408।।

अत्रैव प्राचां हेतु र्नामालङ्कारोऽन्तर्भूत इति प्राहुस्तन्न साधीयो लक्षणवैलक्षण्याद्।[1] यथा–

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्योऽसौ पृथग्भूतः।।[2]

यथा–

(मनुष्य) नम्रता से गुणवान् होता है, और गुणवान् पुरुष में सारे लोग अनुरक्त हो जाते हैं। (सबके) प्रेमपात्र (बने हुए व्यक्ति) के पास (सभी) लोग जाते हैं और सहायकों वाला मनुष्य लक्ष्मीयुक्त हो जाता है।।408।।

टि०–यहाँ पूर्व पूर्व विनय आदि गुण उत्तरोत्तर गुणवत्ता आदि गुणों के कारण हैं। यह उदाहरण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 85) में मिलता है।

इस (कारणमाला) में ही प्राचीन (रुद्रटादि) आचार्यों के हेतु नामक अलङ्कार का अन्तर्भाव हो जाता है–जो लोग यह कहते हैं उनका वह मत ज़्यादा ठीक नहीं है। क्योंकि इस लक्षण में (हेतु के लक्षण से) विलक्षणता (भिन्नता) है।

(रुद्रटकृत हेतु का लक्षण) जैसे–

जहाँ कार्य के साथ कारण का अभेदसूचक कथन होता है वहाँ अन्य अलङ्कारों से पृथक् रहने वाला वह हेतु नामक अलङ्कार होता है।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने कारणमाला और हेतु के लक्षणों में भेद बताने के लिए रुद्रटकृत काव्यालङ्कार से हेतु का यह लक्षण लिया है और वहाँ बताये गये उन दोनों उदाहरणों को भी यहाँ प्रस्तुत किया है। हेतु के लक्षण और उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कारणमाला में अगली वस्तु की पूर्व वस्तु हेतु बनती है जबकि हेतु में कार्य के साथ कारण का अभेद दिखाया जाता है। यह अभेद कार्यकारण-भावसम्बन्ध पर आश्रित शुद्धा सारोपा लक्षणा पर टिका हुआ है।

जैसे–

---

1. ज अ; अत्रैव.....वैलक्षण्यात् के स्थान पर इतः प्राचां हेतु र्नामालङ्कारः पृथग्भूतः त
2. ज अ; यथा.....पृथग्भूतः यह अंश त में नहीं

अविरलकमलविकास: सकलालिमदश्च कोकिलानन्द:।
रम्योऽयमेति सुन्दरि लोकोत्कण्ठाकर: काल:।।

यथा वा–

आयु र्घृतं नदी पुण्यं भयं चौर: सुखं प्रिया।
वैरं द्यूतं गुरु र्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्।।[1]

अथान्योऽन्यम्–

यत्र परस्परमेक: कारकभावोऽभिधेययो: क्रियया।
सञ्जायते स्फारितत्वविशेषस्तदन्योन्यम्।। 258।।

वस्तुतस्तु एकसजातीयक्रियामुखेन द्वयो: परस्परोपकारत्वलक्षणम्।

हे रूपसी! घने कमलों के लिए विकास रूप, सारे भौंरों के लिए मद रूप, कोयलों के लिए सुख रूप तथा लोगों की उत्कण्ठा को उत्पन्न करने वाला यह सुन्दर (वसन्त का) समय आ रहा है।

टि०– यहाँ वसन्त (कारण) का उसके विकास आदि कार्यों के साथ अभेद दिखाने से यह हेतु अलङ्कार का उदाहरण है कारणमाला का नहीं है। रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 83) में हेतु अलङ्कार के उदाहरण के रूप में यह श्लोक मिलता है।

और जैसे–

घी आयु है, नदी पुण्य है, चोर डर है, प्रेयसी सुख है, जुआ वैर है, गुरु ज्ञान है और ब्राह्मणों की पूजा (करना) मङ्गल है।

टि०–यहाँ आयु और घी में कार्यकारणभावसम्बन्ध है और अभेद है। यही शुद्धा सारोपा लक्षणा है। रुद्रटकृतकाव्यालङ्कार (7, 83) की वृत्ति में यह श्लोक मिलता है।

इसके बाद 40. अन्योन्य (का लक्षण) है–

जहाँ शब्दप्रतिपाद्य दो पदार्थों में क्रिया के साथ एक (ही कर्त्ता आदि) कारक होने से एक दूसरे में विशेष स्फुरण (रूप चमत्कार) होता है वहाँ अन्योऽन्य अलङ्कार होता है।। 258।।

वास्तव में तो एक (ही) समान क्रिया के द्वारा दोनों वस्तुओं का एक दूसरे के प्रति उपकारक बनना अन्योन्य का लक्षण है।

---

1. ज त; यथा वा......ब्राह्मणपूजनम् यह अंश अ में नहीं

यथा–

कण्ठस्य तस्या: स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभाव:।।409।।

यथा वा–

रूपं यौवनलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसम्पदस्तस्या:।
अन्योन्यमलङ्करणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्या:।।410।।

अथोत्तरम्–

उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युन्नयनं यत्र।।259।।

जैसे–

उस (पार्वती) के कण्ठ के द्वारा तथा स्तनों के मध्य में लहराने वाले (सुन्दर) और तलविहीन (गोलाकार) मोतियों के हार के द्वारा एक दूसरे की शोभा पैदा करने के कारण (उनमें) अलङ्कार और अलङ्कार्य का सम्बन्ध समान रूप से था।।409।।

टि०– यहाँ मुक्ताकलाप के द्वारा कण्ठ और कण्ठ के द्वारा मुक्ताकलाप की शोभा उत्पन्न किये जाने का वर्णन है। शोभा का साधन अलङ्कार तथा शोभा का विषय अलङ्कार्य कहा जाता है। यह श्लोक कुमारसम्भव (2, 42) से लिया गया है। रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व (180 श्लोक) में अन्योन्य के उदाहरण के रूप में इसे रखा है।

अथवा और जैसे–

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दरी उस नायिका का रूप जवानी की शोभा का और (उसकी) जवानी रूपसम्पत्ति का–पारस्परिक अलङ्कार बनकर शोभित हो रहे हैं।।410।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 92) में यह श्लोक अन्योन्य के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है।

इसके बाद 42. उत्तर (का लक्षण) है–

उत्तर के वचन को सुनने से जहाँ पूर्वप्रश्नों के वचनों की उद्भावना (कल्पना) की जाती है वह उत्तर होता है और जहाँ प्रश्न से भी उत्तर को सोच लिया जाय (वहाँ भी) उत्तरालङ्कार होता है।।259।।

प्रश्नोन्नायकोत्तरत्वमेकं लक्षणम्। प्रश्नपूर्वकलोकातिक्रान्तासकृदुत्तरत्वं द्वितीयं लक्षणम्। क्रमेण यथा–

गम्यतामन्यतः पान्थ तवेह वसतिः कुतः।
दोषाय स्यादलं येन वसतिः प्रोषितालये।।411।।

भो गृहिणि वासं देहीति यावत् पान्थस्य कस्यचिद् वचनमुत्तरवाक्येनोन्नीयते[1]।

तथा–

किं स्वर्गादधिकसुखं बन्धुसुहृत्पण्डितैः समं लक्ष्मीः।
सौराज्यमदुर्भिक्षं सत्काव्यरसामृतस्वादः।।412।।

अथास्य प्रश्नपरिसङ्ख्यायाश्च को विशेषः? तत्र नियमप्रतीतिरत्र तु प्रश्नोत्तरमात्रं न तु नियमधीः।

---

1. प्रश्न का उद्भावन करने वाले (बिना प्रश्न के) उत्तर का होना एक लक्षण है।
2. प्रश्नपूर्वक कथित लोकोत्तर बात का अनेक बार उत्तर देना दूसरा लक्षण है।

क्रम से (बिना प्रश्नवाला उदाहरण) जैसे–

हे पथिक ! तुम और जगह जाओ, यहाँ तुम्हारा निवास कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रोषितभर्तृका (परदेस में गये हुए पति वाली) स्त्री के घर में (तुम्हारा) रहना बहुत अधिक दोष के लिए होगा।। 411।।

हे गृहस्वामिनी ! हमें (यहाँ) रहने की जगह दो किसी पथिक की इतनी उक्ति उत्तर बने हुए वाक्य से अनुमान के द्वारा प्रतीत हो रही है।

और (प्रश्नपूर्वक का उदाहरण)

स्वर्ग से भी अधिक सुखकारी क्या है? सम्बन्धियों, मित्रों और विद्वानों के साथ धनसमृद्धि (का भोग), अच्छा राज्य, अकाल का अभाव तथा उत्तम काव्यरस रूपी अमृत का आस्वादन (सुखदायक वस्तुएँ हैं)।। 412।।

टि०–यह प्रश्न से अनेक उत्तरों के निश्चय किये जाने का उदाहरण है रुद्रट्कृत काव्यालङ्कार (7, 95) में यह श्लोक दिया हुआ है।

और इसका प्रश्न (पूर्विका) परिसङ्ख्या से क्या भेद है? उस परिसङ्ख्या में तो नियमप्रतीति होती है और यहाँ (इस उत्तरालङ्कार में) केवल प्रश्न

---

1. त, यावत्कस्यचिद वचनमनुमानवाक्येनो.......ज अ

अथ सूक्ष्मम्–

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते।। 260।।

कुतोऽप्याकारादिङ्गिताद् वा।

अत एव–

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात्सूक्ष्मतरः स्मृतः। इति[1]

यथा–

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धै
दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।

और उसके उत्तर भर का ही ज्ञान होता है किसी प्रकार की नियमबुद्धि (बंधे हुए अनेकों के क्रम की प्रतीति) ज्ञात नहीं हुआ करती है।

इसके बाद 42. सूक्ष्म (का लक्षण) है–

दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म) भी अर्थ किसी भी प्रकार से जान लिया गया है यह बात (जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी) जहाँ किसी (स्मारक) धर्म से दूसरे को बतलाई जाती है उसे सूक्ष्म अलङ्कार कहते हैं।। 260।।

यहाँ कुतोऽपि का अर्थ है– किसी तरह से भी अर्थात् आकार या चेष्टा आदि से।

टि०–काव्यप्रकाश (10, 122-123) में यही सूक्ष्म का लक्षण है।

इसीलिए–

चेष्टा और आकार से जो अर्थ परिलक्षित होता है वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है। अर्थात् वाणी से प्रकट होने वाले सूक्ष्म अर्थ की अपेक्षा आकार और इङ्गित से प्रकट किया अर्थ अधिक सूक्ष्म (अतएव अधिक सुन्दर) कहा गया है।

1. (आकार से अभिव्यक्ति का उदाहरण) जैसे–

(सम्भोग के बाद सखी के) मुख पर से (नीचे गले की ओर) बहने वाले

1. त; इङ्गिता....इति ज अ में नहीं

पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या[1]
स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख।।413।।

तथा–

कान्ते कनकजम्बीरं करे किमपि कुर्वति।
आगारलिखिते भानौ बिन्दुमिन्दुमुखी ददौ।।414।।

पसीने की बूदों की धारा से (नायिका के) कण्ठ में लगे हुए केसर (लेप) को टूटा और बिगड़ा हुआ देखकर किसी (सूक्ष्म दृष्टि वाली) सखी ने मुसकुराते हुए (उस) सुन्दरी के (सुरतकालीन) पुरुषायित को सूचित करते हुए (पुरुषत्वसूचक) तलवार की तस्वीर (उसके) हाथ पर बना दी।।413।।

टि०–यहाँ स्वेदबिन्दु के कारण बिगड़े हुए केसर के आकार से जानी गई पुरुषायित रति (पुरुषोचित विपरीत रति–उल्टा आसन अपनाकर स्त्री के द्वारा की गई मैथुनाक्रिया) पुरुषानुरूप तलवार की आकृति (चित्र बनाने) से प्रकट की गई है। सामान्य सम्भोगावस्था में मुँह पर आये हुए पसीने की धारा को नायिका के कण्ठ की ओर न बहकर सिर के पीछे पीठ की ओर ही बहना चाहिए था। किन्तु उसका कण्ठप्रदेश की ओर आना विपरीत रति से ही सम्भव है इस कारण तुमने आदमी जैसा कार्य किया है इसलिए तुम्हारा हाथ खड्ग धारण करने योग्य है। यह सूक्ष्म भाव सहेली ने तलवार के चिह्न को नवयुवती नायिका के हाथ पर बनाकर प्रकट कर दिया है। काव्यप्रकाश (10, 531) में यह श्लोक दिया हुआ है।

2. और (इङ्गित का उदाहरण) जैसे–

सुनहरे जम्बीर (गलगल या माल्टे के) फल को प्रेमी के द्वारा हाथ में पकड़ मर्दनादि कुछ चेष्टायें कर लेने पर उस चन्द्रवदना ने घर में (भीत के ऊपर) बनाये हुए सूर्य के (चित्र के ऊपर) बिन्दु को प्रदान किया (अर्थात् सूर्य के ऊपर चिह्न बना दिया।।414।।

टि०– यहाँ प्रेमी ने जम्बीरफल को हाथ में लेकर उसे दबाने पर मेरा तुम्हारे स्तनों के स्पर्श करने का कौन सा काल है? इस सूक्ष्म अभिप्राय को प्रकट किया है। इसको समझ कर नायिका ने सूर्य के चित्र पर बिन्दुचिह्न लगाकर यह सूचित किया

---

1. ज अ; व्यञ्जयन्तीव तस्याः त

अथ सारम्–

यत्र यथासमुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्।। 261।।

तत्त्वं च पूर्वपूर्वापेक्षोत्तरोत्तरोत्कर्षविश्रान्त्यधिकरणम्।

यथा–

भोजनभूषणमबलाकरकमलावर्तितं दुग्धम्।
कदलं तदलङ्कारस्तदलङ्कारश्च शर्करासारः।। 415।।

अथासङ्गतिः–

है कि जब सूर्य अन्धकाराच्छन्न हो जायेगा तब रजनीकाल हमारे रमण का समय होगा। इसमें नायक और नायिका के सूक्ष्म सङ्केतों की ओर निर्देश किया गया है। सङ्केतकालमनसम् इत्यादि (साहित्यदर्पण 10, 91 वृत्ति) में यही सङ्केत है।

इसके बाद 43. सार का (लक्षण) है–

जहाँ समुदाय के अनुसार और किसी देश विशेष के अनुरूप एकत्र पदार्थों में से एक एक पदार्थ को लेकर क्रमशः चरमसीमा तक पहुँचाकर अत्यन्त गुणवान् (पदार्थ) निश्चित किया जाता है वहाँ सार होता है।। 261।।

टि०–रुद्रट्कृत काव्यालङ्कार (7, 96) में सार का यही लक्षण है।

और इसका पर्यवसित लक्षण है–पूर्व पूर्व पदार्थ की अपेक्षा अगले अगले पदार्थ के (अधिक) उत्कर्ष की विश्रान्ति का आश्रय बन जाना।

जैसे–

रमणी के कमल के सदृश कोमल हाथों से घुमाया गया (हिला हिला कर गर्म से ठंडा किया हुआ और एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डालकर) दिया गया दूध भोजन का अलङ्कार अर्थात् सुन्दर भोजन है। (दूध में डाला हुआ) केला उस (दूध) का अलङ्कार है और चीनी और खाँड उस (केले) का सारतत्त्व है।। 415।।

इसके बाद 44. असङ्गति (का लक्षण) है–

विस्पष्टं समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
भवति सहृदयानुगुणं विज्ञेयाऽसङ्गतिः सेयम्।।262।।

कार्यकारणयो र्भिन्नदेशत्वं लक्षणम्। तेन कालविपर्ययात्मिकाऽतिशयोक्तितो भेदः। यथा–

नवयौवनेन सुतनोरिन्दुकलाकोमलानि पूर्यन्ते।
अङ्गान्यसङ्गतानां यूनां हृदि वर्धते कामः।।416।।

जहाँ एक ही काल में कारण दूसरी जगह और (उसका) कार्य दूसरी जगह स्पष्ट रूप से सहृदयों की रुचि के अनुकूल होकर (अलग अलग) दृष्टिगोचर होता है (वहाँ) वह यह (अत्यन्त चमत्कार को उत्पन्न करने वाली) असङ्गति जाननी चाहिए।। 262।।

टि०–यही लक्षण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (9, 48) में थोड़े बदले रूप में में दिया हुआ है।

कार्य और कारण का अलग अलग स्थानों पर होना यह इस (असङ्गति) का लक्षण है अर्थात् कारण कहीं और स्थित हो और उसका कार्य और कहीं पाया जाय तब असङ्गति होती है।

टि०–सामान्य नियम यह है कि 'यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यम् न हि महानसस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयितुं प्रभवति।' परन्तु असङ्गति में कविप्रौढोक्ति से इस नियम का उल्लङ्घन किया जाता है।

इस (पर्यवसित लक्षण में) प्रयुक्त कार्यकारणयो 'र्भिन्नदेशत्वम्' इस विशेषण से (कार्यकारण के पौर्वापर्य रूप) कालविपर्यय के स्वरूप वाली अतिशयोक्ति से भेद होता है।

टि०–पौर्वापर्यविपर्ययात्मिका अतिशयोक्ति में कार्य और कारण एक ही स्थान पर होते हैं जबकि असङ्गति में अलग अलग स्थानों में इनकी स्थिति होती है।

(असङ्गति का उदाहरण) जैसे–

इस शोभन शरीर वाली सुन्दरी के चन्द्रकला के समान नरम अङ्गों को नवयौवन ने भर दिया है (किन्तु) बिछड़े हुए विरही नवयुवकों के हृदय में कामदेव बढ़ रहा है।। 416।।

टि०–यहाँ सुन्दरी के नवयौवन से पुष्ट कोमल अङ्गों में ही कामविकार उत्पन्न

अथ समाधिः–

कारणान्तरयोगतः कार्यस्य सुकरत्वं लक्षणम्।।263।।

न च समुच्चये अतिव्याप्तिः। तत्रैकस्यापरनैरपेक्ष्येण कार्यपर्याप्तत्वादिह तु परस्परापेक्षितकार्यकारित्वमिति भेदात्।

यथा–

होना चाहिए था। किन्तु वहाँ कामवृद्धि न होकर नवयुवकों के हृदय रूपी भिन्न देश में हो रही है।

इसके बाद 45. समाधि (का लक्षण) है–

दूसरे कारणों की सहायता से किसी कार्य का आसानी से पूरा हो जाना (समाधि) का लक्षण है।।263।।

टि०–जब किसी एक कारण से कोई कार्य अपने आप होने वाला हो उसी समय और किसी कारण के आने से उस कार्य के सुकर हो जाने पर यह अलङ्कार होता है।

और इस अलङ्कार की समुच्चय में अतिव्याप्ति हो जाती है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वहाँ एक कारण (अपने कार्य को पूरा करने के लिये) दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रखता है (वह कार्यनिष्पत्ति के लिए (स्वयं अकेला ही) समर्थ होता है) किन्तु यहाँ (समाधि में) तो एक दूसरे की अपेक्षा रखकर ही कारण की कार्यनिष्पादकता होती है यही इन दोनों में भेद है (इसलिए ये दोनों पृथक् पृथक् हैं)।

टि०–समुच्चय में एक कारण के कार्य को निष्पन्न करने के लिए पर्याप्त होने पर भी दूसरे कारण खलेकपोतन्याय से युगपद् आ जाते हैं। जैसे खलिहान में एक स्थान पर बिखरे दानों को देखकर कबूतर इकट्ठे होकर टूट पड़ते हैं वैसे ही समुच्चय में बहुत सारे कारण अहमहमिकया कार्यनिष्पत्त्यर्थ इकट्ठे हो जाते हैं। इसके विपरीत समाधि में किसी एक कारण से काम जैसे तैसे जब सम्पन्न होने को होता है उस समय काकतालीयन्याय से अचानक दूसरे कारण के आ जाने से यह कार्य उस नये कारण की सहायता से सुकर हो जाता है। समुच्चय में पहला कारण कार्यसिद्धि के लिए पर्याप्त होता है जबकि समाधि में पहला कारण अपर्याप्त सा होता है।

(समाधि का उदाहरण) जैसे–

मानमस्या निराकर्तुं पादयो में पतिष्यत:।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्।। 417।।

अथ समम्–

द्वयो र्योग्यतया सम्बन्धसम्भावनं लक्षणम्।। 264।।

तच्चोभयथा–उत्कृष्टयोरपकृष्टयोर्वा। यथा–

निशां शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयत: प्रतीत:।
विधेरपि स्वारसिक: प्रयास: परस्परं योग्यसमागमाय।। 418।।

यथा–

सुमहद् विचित्रमेतत् समुचितरचने विधिश्चतुर:।
आस्वाद्यं निम्बफलं तस्य यदास्वादक: काक:।। 419।।

इस (नायिका) के मान को दूर करने के निमित्त इसके पैरों पर गिरने के लिए उद्यत हुए मेरे लिए (मेरी) भलाई (सहायता) के लिए भाग्य से मेघ का गर्जन उत्पन्न होने लगा (जिससे इसका मान तत्काल ही दूर हो गया)।। 417।।

टि०–यहाँ पर पादपतन कारण मानापनोदन के लिए स्वयं अपर्याप्त सा है किन्तु घनगर्जित की सहायता से उसके द्वारा कार्य होना सुगम हो गया है।

इसके बाद 46. सम (का लक्षण) है–

दो (विशेष) वस्तुओं के भीतर योग्यता होने से (श्लाघ्य एवं अनुरूप) सम्बन्ध की कल्पना करना (सम का) लक्षण है।। 264।।

वह सम्बन्ध दो प्रकार का है–

1. दो उत्कृष्ट वस्तुओं का अथवा 2. दो निकृष्ट वस्तुओं का (पारस्परिक अनुरूप) सम्बन्ध।

(1. उत्कृष्ट वस्तुओं के अनुरूप सम्बन्ध का उदाहरण) जैसे–

रात्रि को तथा चन्द्रमा को पार्वती के साथ शिव को और लक्ष्मी के साथ विष्णु को जोड़ने वाले विधाता का भी यह एक दूसरे के अनुरूप वस्तु को जोड़ने के लिए स्वाभाविक स्वाद वाला (मीठा) प्रयास प्रतीत हो रहा है।।418।।

(और 2. निकृष्ट वस्तुओं के अनुरूप सम्बन्ध का उदाहरण) जैसे–

यह बात बहुत अधिक अद्भुत है कि विधाता अनुरूप सृष्टि करने में निपुण

अथ विषमम्–

विरुद्धधर्माध्यासाद् द्वयोः सम्बन्धायोग्यत्वनिर्देश इत्येकम्।।265।।

अभीष्टफलालाभेऽनिष्टफललाभ इति द्वितीयम्।।266।।

कार्यकारणगुणयो र्विरोध इति तृतीयम्।।267।।

कार्यकारणक्रिययो र्विरोध इति चतुर्थम्।।268।।

क्रमेण यथा–

शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनज्वरः।।420।।

है। क्योंकि (उसने) नीम के फल (निबौली) को (आनन्दपूर्वक) खाने योग्य बनाया है और उसको स्वाद के साथ खाने वाला कौआ बनाया है।।419।।

टि०–यहाँ काक और निम्बफल इन दो निकृष्टों (हीन श्रेणी वाली वस्तुओं) में सम्बन्ध बताया गया है।

इसके बाद 47. विषम (का लक्षण) है–

1. दो (पदार्थों) में विरोधी धर्मों के निश्चय से दोनों में सम्बन्ध होने की अयोग्यता का कथन किया जाना यह पहले प्रकार का विषम है। 2. मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति न होने पर अनभिलषित एवं अप्रिय फल की प्राप्ति होना दूसरे प्रकार का विषम है। 3. कार्य और कारण के गुणों में विरोध होना यह तीसरे प्रकार का विषम है और 4. कार्य और कारण की क्रियाओं में विरोध होना यह चौथे प्रकार का विषम है।।265-268।।

क्रम से (उदाहरण दिये जा रहे हैं। विरोधी धर्म के अध्यास से सम्बन्ध की अयोग्यता का उदाहरण) जैसे–

सिरस (के फूल) से भी अधिक कोमल अङ्गों से युक्त कहाँ यह दीर्घ नेत्रों वाली (सुन्दरी नायिका) और कहाँ (भूसे) की अग्नि के समान कठोर (असह्य) यह कामज्वर है।।420।।

टि०–यहाँ कर्कश मदनज्वर और कोमलाङ्गी नायिका दोनों के भीतर अत्यन्त विरोधी कर्म होने से इनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत हो रहा है। श्लोक में दो बार

तथा–

सिंहिकासुतवित्रस्तः शशश्चन्द्रं समाश्रितः।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः।।421।।

तथा–

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुकान्तं यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते।।422।।

तथा–

क्व शब्द के प्रयोग से नायिका तथा मदनज्वर के सम्बन्ध की अनुपपद्यमानता व्यङ्ग्य है। विषम के ये सारे चारों उदाहरण काव्यप्रकाश (10, 538-541) में दिये हुए हैं।

और (2. अनिष्ट फल की प्राप्ति का उदाहरण)

शेरनी के बच्चे से भयभीत होकर हरिण (अपनी रक्षा के लिए) चन्द्रमा की शरण में गया किन्तु (वहाँ भी उसकी रक्षा न हो सकी बल्कि) वहाँ उसको दूसरे सिंहिकापुत्र (राहु) ने आश्रय (चन्द्रमा) के सहित ग्रस लिया।।421।।

टि०–यहाँ शेर से बचने के लिए मृग ने चन्द्रमा की शरण ली थी परन्तु उसको इष्टफल की प्राप्ति नहीं हो सकी। इसके विपरीत राहु के द्वारा आश्रयसहित ग्रस लिये जाने से उसे अनर्थ की प्राप्ति हो गई है।

और (3. कार्य और कारण के गुणों में विरोध का उदाहरण)

प्रत्येक युद्ध में जिसके हाथ का स्पर्श प्राप्त करके तमाल के समान नील वर्ण की तलवार तुरन्त ही तीनों लोकों के अलङ्कार रूप शरत्कालीन चन्द्रमा के समान शुभ्रवर्ण के यश को उत्पन्न करती है।। 422।।

टि०–यहाँ कार्यभूत यश और कारणभूत कृपाण दोनों के गुण एक दूसरे से विपरीत हैं। कृपाण तमाल के समान नीलवर्ण है परन्तु उससे शरत्कालीन चन्द्र के समान शुभ्रवर्ण वाले यश की उत्पत्ति वर्णित है।

और (4. कार्य और कारण की क्रियाओं में विरोध का उदाहरण)

हे नीलकमल की पंखुडी के समान नेत्रों वाली (प्रिये!) तुम तो इस अमित

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम्।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे।।423।।

न चात्र विरोधो ऽसङ्गतिर्वा स्यादिति वाच्यम् विरोधस्याविवक्षितत्वात्। कार्यकारणरूपा न तु कारणस्येति ध्येयम्।

अथाधिकम्–

आश्रितमहत्त्वादाश्रयमहत्त्वम्, आश्रयमहत्त्वादाश्रितमहत्त्वं वोभयथाप्यधिकत्वमक्षतम्।।269।।

आनन्द को प्रदान करती हो परन्तु तुमसे ही उत्पन्न हुआ विरह मेरे शरीर को अत्यन्त सन्तप्त करता है।।423।।

टि०–यहाँ कारणभूत नायिका की आनन्दप्रदानक्रिया कार्यभूत विरह की शरीरसन्तापनक्रिया की विरोधी है इसलिए कारण तथा कार्य की क्रियाओं के विपरीत होने के कारण यह चौथे प्रकार का विषम है।

और यहाँ (इस विषमालङ्कार में) विरोध या असङ्गति अलङ्कार (की अतिव्याप्ति होने का दोष) आयेगा यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ विरोध (कवि को) विवक्षित नहीं है।

टि०–विरोध वहाँ होता है जहाँ विरोध का आभास ज्ञात हो। किन्तु यहाँ विरोध है ही नहीं क्योंकि यहाँ ठीक बात ही कही जा रही है।

असङ्गति कार्यकारणरूपा होती है न कि (विषम की तरह) केवल कारण के भीतर (होती है) यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

टि०–विषमालङ्कार में असङ्गति की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि असङ्गति कार्य कारण दोनों में होती है जबकि विषम में केवल कारण की असङ्गति होती है अर्थात् इसमें विरुद्ध कारण से विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त असङ्गति में कार्यकारण की भिन्नदेशता आवश्यक होती है जबकि विषमालङ्कार में कार्यकारण एक ही देश में रहते हैं।

इसके बाद 48. अधिक (का लक्षण) है–

आश्रित (आधेय) की अधिकता की अपेक्षा आश्रय (आधार की ज़्यादा बढ़ी हुई) अधिकता (महत्ता) का होना अथवा आश्रय की अधिकता की अपेक्षा आश्रित की (ज्यादा बढ़ी) अधिकता का होना (अधिक अलङ्कार का लक्षण है)। इन दोनों ही रूपों में अधिकालङ्कारलक्षण की हानि नहीं है।।269।।

यथा–

अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्तोऽपि यशोराशि र्यदत्र ते।।424।।

द्वितीयं यथा–

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकास[1]मासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः।।425।।

प्रथमोदाहरणे अहो विशालमित्यादौ मानाशक्ययशोराशेरधिकतया आधारस्य महत्वं प्रतीयते पर्यन्ते च यशोराशेर्विशालतापरत्वमित्येकमधिकम्। द्वितीये तथाविधे वपुषि मानाभावान्मुदां महत्त्वम्। उभयत्रैव वस्तुप्रकर्षतात्पर्यमिति ध्येयम्।

(पहला आश्रित की अधिकता का उदाहरण) जैसे–

हे राजन् ! इन तीनों लोकों का यह पेट बड़ा विशाल है क्योंकि इसमें तुम्हारा (अपरिमेय) यशः पुञ्ज समा जाने में असमर्थ होता हुआ भी समा गया है यह बड़े आश्चर्य की बात है।। 424।।

दूसरा (आश्रय की अधिकता का उदाहरण) जैसे–

प्रलयकाल में (सभी) जीवात्माओं को अपने भीतर समेटने वाले भगवान् विष्णु के जिस शरीर में सारे लोक विस्तारसहित समाकर रहते हैं उस शरीर में तप रूपी सम्पत्ति वाले (बड़े तपस्वी) नारद मुनि के आने से उत्पन्न प्रसन्नतायें नहीं समा सकीं।। 425।।

टि०–अधिकालङ्कार के ये दोनों उदाहरण काव्यप्रकाश (10, 543–544) में मिलते हैं।

अहो विशालम्० इत्यादि प्रथम उदाहरण में न समा सकने वाली यशोराशि (रूप आधेय) की अपेक्षा (भुवनत्रितय रूप आधार के बड़े होने के कारण) आधार की महत्ता प्रतीत हो रही है और अन्त में यशःसमूह की विशालताविषयक प्रतीति होती है अर्थात् तीनों बड़े बड़े लोकों में जो यश समा रहा है वह भी उतना ही बड़ा है। इस प्रकार यह आश्रय (आधार) की महत्ता बताने वाले पहले अधिक के एक (भेद का उदाहरण) है। दूसरे (उदाहरण) में उस प्रकार के शरीर में समा न सकने के कारण आश्रित

1. त; सविलासभासत ज अ

अथ प्रत्यनीकम्–

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्।। 270।।

तदर्थोऽपि–प्रतिपक्षं तिरस्कर्त्तुमसमर्थेन तदीयस्तुत्यै या तदीयतिरस्कृतिस्तत् प्रत्यनीकम्। यथा–

यस्य किञ्चिदपकर्त्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः।
कान्तवक्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते।। 426।।

(आधेय) की प्रसन्नताओं का बड़ा होना (सूचित होता) है। दोनों ही स्थलों में वस्तुओं के महत्त्व में तात्पर्य है ऐसा समझना चाहिए।

टि०–पहले श्लोक में यशोराशि आधेय है। उसकी अपेक्षा उसका आधार भुवनत्रितयोदर यद्यपि छोटा है तथापि उस यशोराशि के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए उस लघुतर आधार की विशालता का वर्णन 'अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम्' कहकर किया है। यह आधार का महत्त्व पर्यवसान में आधेय के महत्त्व को ही बढ़ाता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में भी आधारभूत कृष्णदेह की अपेक्षा आधेय प्रसन्नता के अल्प होने पर भी उसके उत्कर्षप्रदर्शन के लिए आधेय के आधिक्य का वर्णन किया गया है। वस्तुतः आधार एवं आधेय इन दोनों को ही बड़ा बताया गया है। एक की गरिमा से दूसरे की गरिमा स्वतः बढ़ जाती है।

इसके बाद 49. प्रत्यनीक (का लक्षण) है–

(उपमान की अपेक्षा) उपमेय को उत्तम बताने के लिए उस (उपमेय) को जीतने की इच्छा (रखने) के कारण जहाँ यह उपमेय का विरोधी है इस रूप में कहने से उपमान की कल्पना की जाय वहाँ वह प्रत्यनीक (अलङ्कार) होता है।। 270।।

टि०–यह लक्षण काव्यालङ्कार (8, 92) में भी मिलता है।

उसका सारभूत यह अर्थ भी है–अपने प्रतिपक्षी (शत्रु) के तिरस्कार को करने में असमर्थ (व्यक्ति) के द्वारा उसी प्रतिपक्षी की स्तुति में (पर्यवसित हो जाने वाला) जो तिरस्कार है वह प्रत्यनीक है।

जैसे–

(विष्णु के द्वारा राहु के) कायनिग्रह होने से अर्थात् सिर काट दिये जाने के कारण उनसे वैर मानने वाला राहु जिन (विष्णु) का कुछ भी बिगाड़ सकने

नन्विन्दोस्तदीयत्वाभावात्कथं प्रत्यनीकमिति चेत्, उच्यते साक्षात् परम्परया वा तदीयत्वस्य विवक्षितत्वात्।

अथ मीलितम्–

एकेनापरस्याभिभव इति लक्षणम्।।271।।

अभिभवश्च बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणम्। तच्च द्विधा–सहजधर्मेणागन्तुकेन वा।

में समर्थ नहीं हुआ वह उन (विष्णु) के सुन्दर मुख के समान आकृति वाले चन्द्रमा को (आज तक) अभी भी पीड़ित कर रहा है।। 426।।

टि०–यहाँ विष्णु के साक्षात् सम्बन्धी मुख के साथ सम्बन्ध होने से चन्द्रमा विष्णु का परम्परा से सम्बन्धी है। भगवान् विष्णु के मुख को चन्द्रमा से अधिक उत्कृष्ट बताने के लिए उस चन्द्रमा के विरोधी के रूप में राहु की कल्पना की गई है।

चन्द्रमा का विष्णु के मुख से कोई सम्बन्ध न होने से यहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार कैसे हो जायेगा? (पूर्वपक्षी की ओर से) यदि ऐसा कहा जाय तो (इसके उत्तर में) कहते हैं– (विष्णु का मुख के साथ) साक्षात् सम्बन्ध होने से (और चन्द्रमा के साथ) परम्परासम्बन्ध होने से (विष्णु की चन्द्रमा के साथ होने वाली) तदीयता (साक्षात् और परम्परासम्बन्ध) विवक्षित है। अर्थात् यह सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

टि०–विष्णु का अपने मुख के साथ अवयवावयविभाव रूप से साक्षात् सम्बन्ध है, मुख अवयव है और विष्णु अवयवी। विष्णुमुख का चन्द्रमा के साथ उपमानोपमेयभाव रूप साक्षात् सम्बन्ध है, मुख उपमेय है और चन्द्रमा उपमान है। इस प्रकार विष्णु का अपने मुख के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और मुख का चन्द्रमा के साथ। इस कारण विष्णु का मुख और मुख का चन्द्रमा के साथ असाक्षात् अर्थात् परम्परा सम्बन्ध बन जाता है। विष्णु का सम्बन्ध मुख से और मुख का सम्बन्ध चन्द्रमा से हो जाने के कारण प्रत्यनीक अलङ्कार बनने में कोई बाधा नहीं आती।

इसके बाद 50. मीलित (का लक्षण) है–

एक के द्वारा किसी दूसरे का अभिभव अर्थात् तिरोधान किया जाना यही मीलित का लक्षण है।। 271।।

और वह तिरोधान बलवान् सजातीय पदार्थ के ग्रहण से किया गया अग्रहण (अर्थात् न दबना) होता है। और वह अभिभव दो प्रकार का होता है–1.

यथाक्रममुदाहरणम्–

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते।। 427।।

तथा–

मल्लिकामालभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः।। 428।।

स्वाभाविक धर्म से होने वाला अथवा 2. (कविकल्पना से) आये हुए धर्म के कारण होने वाला।

क्रमानुसार उदाहरण दिये जाते हैं।

(सहजधर्म के कारण मीलित का उदाहरण)

चञ्चल प्रान्तों (पलकों) वाले नेत्र हैं, वाणियाँ मधुर और वक्रोक्तिपूर्ण वर्णों (वाक्यों) वाली है (हावभाव भरी) बहुत सी क्रीड़ाओं के कारण धीमी चाल है और मुख अत्यन्त सुन्दर हो रहा है। इस प्रकार मृगनयनी के सुन्दर शरीर (के अङ्ग अङ्ग) में अदा के कारण इन सबके विलास का स्वयं ही उदय हो रहा है। इसलिए इसमें स्थान पाया हुआ भी मद का उदय (शराब के नशे की उत्पत्ति) दिखाई नहीं दे रहा है।। 427।।

टि०–यहाँ नायिका के शरीर में दृक्तरलत्वादि स्वाभाविक चिह्न हैं और ये चिह्न मदिरादिजन्य नशे से भी होते हैं। किन्तु यहाँ लीला पद के कथन से मदोदय रूप वस्तु का तिरोधान कर दिया गया है। सुन्दरियों ने यद्यपि शराब पी हुई है परन्तु उनकी स्वाभाविक चेष्टाओं ने मदिरामद को दबाकर उन्हें ऐसा दिखला दिया है कि उन्होंने मदिरापान नहीं किया है।

(आगन्तुक धर्म के कारण मीलित का उदाहरण)

मोतिया (चमेली) की मालाओं के भारवाली, सारे अङ्गों में गीले चन्दन के लेप वाली और रेशमी वस्त्र पहने हुए शुक्लाभिसारिकायें चाँदनी में नहीं दिखाई पड़तीं हैं।। 428।।

टि०–यहाँ माला और चन्दन से आये हुए श्वेतधर्म से युक्त शुक्लाभिसारिकाओं की शुक्लता ज्योत्स्ना से दब गई है।

अथैकावली–

एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्।। 272।।

स्थितिर्विधानम्। अपोहो निषेधः। पूर्वं पूर्वं विशेष्यमनूद्य विशेषणं विधीयते उत्तरोत्तरविशेषणेन पूर्वपूर्वविशेषणं निषिध्यते वा सैकावली। क्रमेण यथा–

वने वने यत्र वसन्तवल्ली वसन्तवल्लीषु मधुव्रताल्यः।
मधुव्रतालीषु मनोज्ञनादा मनोज्ञनादेषु मनांसि यूनाम्।। 429।।

यथा वा–

सलिलं विकासि[1] कमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि।
मधु लीनालिकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह।। 430।।

इसके बाद 51. एकावली (का लक्षण) है–

जहाँ पर अर्थ की शृङ्खला (परम्परा) लाभानुसार अर्थात् अवसरानुकूल एवं उचित अगले अगले विशेषणों के साथ विधि और निषेध के द्वारा स्थापित की जाती है वहाँ वह एकावली (अलङ्कार) है।। 272।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 109) में भी यह लक्षण है।

स्थिति का अर्थ है विधि और अपोह का अर्थ है निषेध। पहले पहले विशेष्य का पुनः कथन करके जहाँ उसे उत्तरोत्तर का विशेषण बना दिया जाय अथवा जहाँ उत्तरोत्तर विशेषण के द्वारा पूर्व पूर्व विशेषण का निषेध किया जाय, वह एकावली है।

क्रम से जैसे (विधि का उदाहरण)

जहाँ प्रत्येक जंगल में वसन्त (में उगने वाली) लतायें है और वसन्त की लताओं में भौंरों की पङ्क्तियाँ हैं और भौंरों की पङ्क्तियों में सुन्दर गुञ्जनध्वनियाँ हैं और सुन्दर गुञ्जनध्वनियों में नवयुवकों के मन हैं।। 429।।

टि०–यहाँ पहले पहले विशेष्य का पुनः कथन करके उसे विशेषण बना दिया गया है और विधि निर्दिष्ट की गई है।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

यहाँ पानी विकसित कमलों वाला है और कमल सुगन्धित मधु से समृद्ध हैं, मधु छिपे हुए भौंरों के समूह से व्याप्त है तथा भ्रमरसमूह भी मधुर गुञ्जन से युक्त है।। 430।।

1. ज अ; विलासि त

तथा[1]–

न तद् वनं यत्र न माधवी लता
न सा लता यत्र न मञ्जुमञ्जरी।
न मञ्जरी सा न च यत्र सौरभं
न सौरभं तच्च न यत्र षट्पदाः।। 431।।

न चात्र कारणमालाशङ्का कार्यकारणभावे तात्पर्यविरहात् किन्तु विशेषणविधौ। केचित्तु कारणमालायां पूर्वस्योत्तरं प्रति हेतुताग्रहे उत्तरस्य पूर्वं प्रति विशेषणतायाः स्थापनमिति भेदमाहुः।

टि०–यहाँ भी पूर्व पूर्व विशेष्य पुनः कथित होकर विशेषण बनता गया है और विधि का निर्देश है। यह उदाहरण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (7, 110) में भी दिया हुआ है।

और (निषेध का उदाहरण)

वह वन नहीं है जहाँ माधवी लता न हो और वह माधवी लता नहीं है जिसमें सुन्दर मञ्जरी (बौर) न हो। वह मञ्जरी नहीं है जहाँ सुगन्ध न हो तथा वह सुगन्ध नहीं है जहाँ पर भौंरें न हों।। 431।।

टि०–यहाँ पर पूर्व पूर्व विशेषण का उत्तरोत्तर विशेषण से निषेध है।

और यहाँ कारणमाला की शङ्का नहीं होती है (क्योंकि कारणमाला में) कार्यकारणभाव होता है और यहाँ) कार्यकारणभाव में वक्ता के तात्पर्य का अभाव है अर्थात् इन उदाहरणों में कार्यकारणभाव नहीं दीखता किन्तु यहाँ (विशेष्यविशेषणभाव रूप) विशेषणविधि में तात्पर्य होता है। कुछ (रुय्यक जैसे) विद्वान् तो कारणमाला में पूर्व पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर पदार्थ के प्रति कारण होता है और एकावली में उत्तरोत्तर पदार्थ पूर्व पूर्व के प्रति विशेषण रूप से (विधि या निषेध के द्वारा) स्थापित किया जाता है–यह इन दोनों का आपसी भेद है ऐसा कहते हैं।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार का सङ्केत उन आचार्य रुय्यक की ओर है जिन्होंने अलङ्कारसर्वस्व में कारणमाला और एकावली के लक्षण इस रूप में दिये हैं–

पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला।। 53।।

---

1. ज अ; यथा त

अथ स्मृतिः-

वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतवस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम्।।273।।

तत्सदृशमिति विशेषणात् दोषवशादन्यथा स्मरणे नातिव्याप्तिः। स्मरतीत्यनेनानुभवे नातिव्याप्तिः। न च व्यावर्तितद्वये वैचित्र्यं वर्तते चेल्लक्ष्यत्वेनेष्टापत्तिः। अथ नास्ति चेद् वैचित्र्याभावादेव नालङ्कारतेति वाच्यं लक्ष्यानुरोधेन लक्षणव्यवस्थापनात्।

यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली।।54।।
रुय्यककृत अलङ्कारसर्वस्व

इसके बाद 52. स्मृति (स्मरण का लक्षण) है–

जहाँ पर कोई ज्ञाता किसी खास चीज़ को देखकर (बाद में) दूसरे समय (अतीत) में अनुभव की गई उस जैसी दूसरी वस्तु का स्मरण करता है वहाँ वह स्मरणालङ्कार होता है।।273।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (8, 109) में यह लक्षण इसी रूप में दिया हुआ है।

तत्सदृश इस विशेषण से (सादृश्य के अतिरिक्त) और किसी प्रकार की भूल (त्रुटि) के कारण अर्थात् सादृश्य को छोड़कर दूसरी किसी वस्तु (यथा हस्ती से हस्तिपक के अनुमान) के स्मरण करने पर इस अलङ्कार की वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी अर्थात् यह स्मरणालङ्कार वहीं माना जायेगा जहाँ सादृश्य के कारण ही स्मृति पाई जाय। स्मरति इस पद के कारण साक्षात् अनुभव में इस अलङ्कार की अतिव्याप्ति नहीं होती अर्थात् प्रतिपत्ता के साक्षात् अनुभव करने पर यह अलङ्कार नहीं होगा किन्तु तभी होगा जब स्मृति दिखाई जाय।

और (ऊपर बताई) दोनों ही निषिद्ध स्थितियों में अर्थात् सादृश्यातिरिक्त सम्बन्ध होने तथा प्रत्यक्षानुभव होने पर स्मरणालङ्कार की सत्ता अस्वीकार करने पर यदि विचित्रता है तो ऐसे स्थल भी स्मरणालङ्कार के उदाहरण के रूप में मानने रूप हमारे अभिलषित अर्थ की स्वीकृति हो जानी चाहिए। अर्थात् ऐसे स्थलों को भी इस अलङ्कार का लक्ष्य मान लेना चाहिए। और यदि इन दोनों स्थितियों में विचित्रता का अभाव है तब तो उनकी अलङ्कारता स्वतः ही नहीं होगी (ऐसा पूर्वपक्षी का मत है)।

न हि लक्षणानुरोधेन लक्ष्यव्यवस्थितिरिति अतिव्याप्त्यादीनामुच्छेदापत्तेः।
यथा–

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः
प्लावितं मृगदृशां लहरीभिः।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय यह है कि क्योंकि सादृश्यातिरिक्त सम्बन्ध और प्रत्यक्ष अनुभव को लेकर होने वाले इन दोनों स्मरणों में सामान्यतया कोई चमत्कार नहीं रहेगा इसलिए उपर्युक्त इस स्थिति में स्मरणालङ्कार नहीं माना जाता। किन्तु यदि विशेष स्थिति में उक्त दोनों स्थलों पर विचित्रता दीखे तो उन्हें स्मरणालङ्कार का उदाहरण मानने में हिचक नहीं होनी चाहिए और यदि वस्तुतः किसी प्रकार का कोई वैचित्र्य वहाँ न दीखे तो वे अलङ्कार बनेंगे ही नहीं। क्योंकि चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम्–इस सिद्धान्त के अनुसार चमत्कार (वैचित्र्य) के जनक होने का नाम ही अलङ्कार है।

(सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि लक्ष्यानुसार ही लक्षण की व्यवस्था की जाती है किन्तु लक्षण के अनुसार लक्ष्य नहीं बनाये जाते। यदि ऐसा किया जाय अर्थात् लक्षण के अनुसार लक्ष्य बनाया जाए तो अतिव्याप्ति आदि (अव्याप्ति और असम्भव जैसे) दोषों की समाप्ति हो जायेगी।

टि०–यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि उदाहरणों को देखकर ही लक्षणों की रचना होती है न कि पहले लक्षण बनाकर उसके बाद उनके उदाहरण दिये जाते हैं। यदि पहले लक्षण बनता है और बाद में लक्ष्य की रचना होती है। इस नये सिद्धान्त को स्वीकृत किया जाय तो फिर कहीं भी अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव आदि दोष कैसे हो सकते हैं? क्योंकि रचना करने वाला लक्षणों को सामने रखकर ही काव्य की रचना करेगा और दोषों से बचता चला जायेगा। इस सबके कहने का यह सारांश है कि प्राचीन आचार्यों ने स्मरणालङ्कार के जिन उदाहरणों को देखकर सादृश्य के आधार पर स्मरणालङ्कार के जिस लक्षण को बनाया है वही लक्षण ठीक है। अब किसी और अनुभव या सादृश्यातिरिक्त और किसी कारण से होने वाली स्मृति से भी स्मरणालङ्कार बनता है यह मानने की आवश्यकता नहीं है।

(पहला उदाहरण) जैसे–

चञ्चल नेत्रों वाली अप्सराओं की गहरी नाभि के कुहरों में लहरों ने जो पानी

तद्भवैः कुहकुहैः[1] सुरनार्यः
स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ।। 432 ।।

यथा वा–

तव भवने पश्यन्तः स्थूलेन्द्रनीलमणिमालाः।
भूभृन्नाथ मयूराः स्मरन्त्यमी कृष्णसर्पाणाम् ।। 433 ।।

अथ भ्रान्तिमतोऽस्य च को विशेषः। उच्यते, तत्रोपमानावगतिरेव न तूपमेयावगतिः। इह तूपमानस्मरणं न भ्रान्तिरिति।

अथ भ्रान्तिमान्–

फैंका उससे उत्पन्न कुहकुह इस प्रकार की (अनुकरणमूलक) ध्वनियों ने अप्सराओं को अपनी सुरतकालीन कण्ठध्वनियों को याद कराया ।। 432 ।।

टि०–यहाँ देवाङ्गनाओं (स्वर्ग की अप्सराओं) की जलक्रीड़ा का वर्णन है। इसी अलङ्कार का यही उदाहरण काव्यप्रकाश (10, 551) में दिया हुआ है।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

हे महाराजाधिराज! आपके महल में मोटी मोटी इन्द्रनीलमणियों की मालाओं को देखते हुए ये मोर काले साँपों का स्मरण कर रहे हैं ।। 433 ।।

टि०–यहाँ गहरे नीले रंग वाली होने से काली प्रतीत होने वाली इन्द्रनील मणियों से तत्सदृश काले साँपों का स्मरण है। रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (8, 110) में भी यही उदाहरण है।

(पूर्वपक्षी का कथन है) और भ्रान्तिमान् और इस अलङ्कार का (परस्पर) क्या भेद है? (सिद्धान्ती के द्वारा) यह बताया जाता है–उस (भ्रान्तिमान्) में उपमान का ही ज्ञान होता है न कि उपमेय का बोध होता है परन्तु यहाँ (उपमेय को देख कर) उपमान का स्मरण होता है न कि (उपमेय में उपमान का) भ्रम है यही (इन दोनों में भेद) है।

इसके बाद 53. भ्रान्तिमान् (का लक्षण) है–

जब (कोई बोद्धा किसी) विशेष पदार्थ को देखता हुआ (सादृश्य के

---

1. त; कुहरुतैः ज अ

अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदर्थमेव तत्सदृशम्।
निःसन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ति र्भ्रान्तिमान् स इति।। 274।।

प्रकृतस्य सादृश्यात् प्रकृतभावविषयत्वं तत्त्वम्[1]। व्यधिकरणप्रकारकज्ञानत्वमित्यर्थः। तथा चानुभूयमानारोपरूपस्य सामान्यालङ्कारस्याप्यत्रैवान्तर्भाव इत्यपि केचित्। यथा–

कारण) उसके सदृश ही अन्य (उपमानभूत) विशेष पदार्थ को असन्दिग्ध रूप में जानता है जिसमें ऐसी (भ्रमवाली) प्रतीति होती है तब वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है।। 274।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (8, 87) में भी भ्रान्तिमान् का यह लक्षण है।

सादृश्य के कारण प्रकृत (उपमेय) का अप्रकृत (उपमान) की दशा का विषय होना (उपमान की स्थिति को प्राप्त हो जाना भ्रान्तिमान् का) सारभूत लक्षण है। जो उसका अधिकरण (आश्रय) नहीं है उसका उसके अधिकरण के रूप में ज्ञान होना यह अर्थ है।

टि०–सामान्यतया भ्रान्ति का स्वरूप अतस्मिंस्तद्बुद्धिः–जो वस्तु जो नहीं है उसको वह समझ लेना होता है इसी बात को यहाँ व्यधिकरणप्रकारकज्ञानत्व शब्द से बताया है। शुक्तिका में रजत की प्रतीति भ्रान्ति है।

और अनुभव किये जाते हुए आरोप के स्वरूप वाले सामान्य अलङ्कार का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है यह भी कुछ आचार्य मानते हैं।

टि०–अलङ्कारसर्वस्व में रुय्यक ने सामान्य का यह लक्षण किया है–

प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्।। अल० स० 72

इसका अर्थ यह है–जहाँ प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के साथ सामान्य गुणों के योग के कारण एकात्मता (भेद न रहने से एकरूपता) का वर्णन होता है वह समान गुणों के योग के कारण सामान्य कहलाता है।

जैसे–

मूर्ख ग्वाले (चाँदनी को) दूध समझ लेने से गौओं के नीचे घड़ों को रख रहे हैं और सुन्दरियाँ भी नीलकमल को सफेद कमल की (भ्रान्त) बुद्धि से कान में रख रही हैं। मोतियों की आकाङ्क्षा से भीलनी लाल बेर को चुन रही

---

1. ज अ; तत्त्वम् त में नहीं

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका।। 434।।

अथ प्रतीपम्–

उपमानतिरस्कारः प्रतीपम्।। 275।।

तिरस्कारश्चानर्थक्येनोपमानस्योपमेयत्वकल्पनया वा।

यथाक्रममुदाहरणानि–

किं चन्द्रस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्?
वक्त्रेन्द्रौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यते
दर्पः स्यादमृतेन चेत्तदपि ते नन्वस्ति बिम्बाधरे।। 435।।

है। चन्द्रमा की घनी चाँदनी किसके चित्त के भ्रम को उत्पन्न नहीं कर रही है अर्थात् वह सभी के चित्त के भीतर भ्रान्ति पैदा कर रही है।। 434।।

टि०–यहाँ बोद्धाओं को चाँदनी के कारण अनेक पदार्थों में भ्रान्ति हो रही है।

इसके बाद 54. प्रतीप (का लक्षण) है–

(उपमेय के द्वारा) उपमान का तिरस्कार प्रतीप कहलाता है।। 275।।

और यह तिरस्कार (दो प्रकार से होता है एक तो) उपमान की व्यर्थता (सिद्ध करने) से अथवा (दूसरा उपमान को) उपमेय बनाने की कल्पना से।

क्रमानुसार उदाहरण दिये जा रहे हैं। (उपमान की अनर्थकता का उदाहरण जैसे)

क्या (तुम्हारा मुख) चन्द्र की कान्ति का हनन (तिरस्कार) नहीं कर रहा है? और क्या नेत्रों के आनन्द को नहीं उत्पन्न कर रहा है? क्या देखने भर से कामदेव की वृद्धि (समुद्र पक्ष में ज्वार) को नहीं कर रहा है? तुम्हारे मुखचन्द्र के रहते हुए यह जो दूसरा चन्द्रमा उदित हो रहा है यदि उसे (अपने) अमृत के कारण अभिमान है तो वह अमृत भी निश्चित रूप से तुम्हारे बिम्बतुल्य अधरोष्ठ में है।। 435।।

तथा–

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु व अणिज्जम्।
तुमु मुहेण किसोअरि चन्दो उअमिज्जइ जणेण।। 436।।

अथ सामान्यम्–

प्रस्तुताप्रस्तुतयो र्गुणसाम्येन भेदाग्रहो लक्षणम्।। 276।।

यथा–

भवद्यशोमण्डलकान्तिलिप्ते जगत्यनालक्ष्यविशेषहेतौ।
मल्लीयमेषा नवमालिकेति विविच्य विज्ञातुमलं न कोऽपि।। 437।।

टि०–यहाँ 'तव मुखे सति किमिन्दुना' इस रूप में उपमान की व्यर्थता सिद्ध की हुई है। अलङ्कारसर्वस्व (श्लोक 26) में रूपक के उदाहरण के रूप में यह श्लोक दिया हुआ है।

(और उदाहरण)

अयि एहि तावत्सुन्दरि कर्णं दत्वा शृणुष्व वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि चन्द्र उपमीयते जनेन।।
(इति संस्कृतच्छाया)

हे सुन्दरि ! तनिक इधर आओ और कान लगाकर (अपनी) इस निन्दा को सुनो। हे पतले (सुन्दर) मध्य भाग वाली ! देखो लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देते हैं।। 436।।

टि०–यहाँ चन्द्रमा को उपमेय बना दिया है और मुख को उपमान बनाया है। चन्द्रमा उपमान होने से उत्कृष्ट गुण वाला होता है जबकि मुख उपमेय होने से निकृष्ट गुण वाला होता है किन्तु यहाँ उपमेय मुख को उपमान तथा उपमान चन्द्रमा को उपमेय बना देने से उपमान का तिरस्कार किया गया है। काव्यप्रकाश (10, 555) में यही श्लोक प्रतीप के ही उदाहरण के रूप में दिया गया हैं।

इसके बाद 55. सामान्य (का लक्षण) है–

प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) में गुणों की समानता होने से भेद का ग्रहण न किया जाना इसका लक्षण है।। 276।।

जैसे–

न च निमीलितेन सह साङ्कर्यशङ्का। तत्र समानधर्मेणान्यदीयेन प्रकृतधर्मनिगूहनं प्रकृते चान्यदीयेन प्रकृतान्ययो र्भेदाग्रह इति विशेषात्। न च भ्रान्तिमता साङ्कर्यं तत्र वस्तुतो भ्रान्तिरत्र तु भेदाग्रह इति विशेषात्।[1] तत्र स्मर्यमाणारोप इह तु गृह्यमाणारोप इति भेद इति कश्चित्।

अथ विशेषः-

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा।।277।।

न दिखाई देने वाले भेदक कारणों से युक्त आपके यशोमण्डल की कान्ति से लिप्त संसार में यह मोतिया (चमेली) है या यह नवमालिका (बेला) है इस प्रकार का विवेचन करके (यथार्थ तथ्य को) जानने में कोई भी समर्थ नहीं है।।437।।

टि०–यहाँ प्रस्तुत यश और अप्रस्तुत मल्ली आदि के बीच श्वेत गुण का साम्य होने से इनमें किसी भेद की प्रतीति नहीं हो रही है।

और इस अलङ्कार का निमीलित के साथ साङ्कर्य होने की शङ्का नहीं है। वहाँ दूसरे (अप्रकृत उपमान) के समान धर्म से प्रकृत (उपमेय) के धर्म का आच्छादन हो जाता है और प्रकृत (उपमेय) में दूसरे (अप्रकृत उपमान का गुण आ जाने) से प्रकृत और दूसरे (अप्रकृत) में भेद नहीं रहता यही इसकी विशेषता है।

टि०–सामान्य में एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अन्तर्भाव हो जाता है किन्तु निमीलित में पदार्थ के एक धर्म का साम्य होने से दूसरे पदार्थ का धर्ममात्र अन्तर्भूत होता है।

और इसका भ्रान्तिमान् अलङ्कार के साथ भी साङ्कर्य नहीं है वहाँ पर वास्तव में भ्रान्ति होती है और इस (सामान्य) में तो भेद का अभाव होता है यह फर्क है। उस (भ्रान्तिमान्) में स्मर्यमाण आरोप का स्मरण होता है और यहाँ आरोप गृह्यमाण होता है (अर्थात् वास्तव में आरोप किया जाता है) इस रूप में (इन दोनों में) भेद है यह किसी अन्य आचार्य का मत है।

---

1. ज अ; न च भ्रान्तिमता...........विशेषात् त में नहीं

अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः।। 278।।

एकात्मा एकस्वभावः। तथा च एकमेव वस्तु एकेन स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तत इत्यर्थः।

तथैवेति तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः। क्रमेण यथा–

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः।। 438।।

अत्र वाचामाकाशाश्रयत्वेऽपि कर्तृनिष्ठतया कविप्रसिद्धिः।

इसके बाद 56. विशेष (का लक्षण) है–

1. प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति (का वर्णन होने पर एक प्रकार का विशेषालङ्कार होता) है, 2. एक पदार्थ की एक ही रूप से अनेक जगह दिखाई देने वाली एक साथ उपस्थिति (का वर्णन होने पर दूसरे प्रकार का विशेष अलङ्कार होता) है, 3. अन्य कार्य को करते हुए किसी (सोत्साह) व्यक्ति के द्वारा उसी प्रकार से (अनायास) किसी अशक्य कार्य का किया जाना (तीसरे प्रकार का विशेष होता है) इस प्रकार तीन तरह का विशेष (अलङ्कार) माना गया है।। 277-278।।

टि०–ग्रन्थकार ने विशेष का यह लक्षण और इसके तीनों भेद ज्यों के त्यों काव्यप्रकाश (10, 135-136) से ले लिये हैं।

(कारिका में आये हुए) एकात्मा (शब्द का अर्थ है) एक स्वभाव (एक ही रूप में रहना) और एक ही वस्तु एक ही स्वभाव से एक कालावच्छेद से एक साथ अनेक स्थानों पर रहती है यह अर्थ है।

टि०–आगे ग्रन्थकार ने विशेष के जो चार उदाहरण रखे हैं वे सभी काव्यप्रकाश (10, 560-563) से लिये हैं।

(कारिका में आये हुए) तथैवेति पद का यह अर्थ है–उसी प्रकार से। क्रम से (यहाँ उदाहरण दिये जा रहे हैं) (1. प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का उदाहरण) जैसे–

स्वर्गलोक को गये हुए भी प्रचुर गुणों से युक्त जिनकी (काव्य रूप) वाणी संसार के लोगों को प्रलयपर्यन्त आनन्दित करती है यहाँ वे कवि क्यों कर वन्दनीय नहीं हो?।। 438।।

तथा–

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चि अ अच्छीसु सा अ व अणेसु।
अह् मारिसाण सुन्दर ओ आसो कत्थ पावाणम्।। 439।।

तथा-

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च।। 440।।

यहाँ वाणियों के आकाश के आश्रित होने पर भी (उनकी अपने) रचयिता कवि में रहने की यह बात कविप्रसिद्धि (कविसमय) है।

टि०–यहाँ कवि रूप आधार के बिना वाणी रूप आधेय की स्थिति बतलाई है। कवियों के देहावसान के अनन्तर भी उनकी वाणियाँ जीवित रहती हैं इस बात का प्रतिपादन किया है

2. और (एक वस्तु के अनेकत्र रहने का उदाहरण)

सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाशः कुतः पापानाम्।।

(इति संस्कृतच्छाया)

वह (नायिका) तुम्हारे हृदय में रहती है, वही (तुम्हारी) आँखों में (बसी है) और वही (तुम्हारे) वचनों में रहती है तब हे सुन्दर! हमारी जैसी पापिनों (अभागिनियों) के लिए (तुम्हारे पास) स्थान ही किसलिए और कहाँ से हो सकता है।। 439।।

टि०–यहाँ एक नायिका रूप पदार्थ की एक ही स्वरूप से एक साथ अनेक स्थानों में रहने की स्थिति का वर्णन है।

3. और (दूसरे अशक्य कार्य को करने का उदाहरण)

(हे राजन् !) चमकते हुए, विलक्षण रूप वाले, ऊपर की ओर जलने वाली प्रताप रूपी अग्नि वाले और प्रशस्त विद्याओं से समन्वित आपको बनाने वाले ब्रह्मा ने (उसी प्रयत्न से) सचमुच इस पृथिवी पर नवीन कामदेव, सूर्य और बृहस्पति को बनाया है।। 440।।

टि०–यहाँ राजा के निर्माण रूप एक कार्य को करते हुए विधाता ने उसी प्रयत्न से दूसरे कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति के सर्जन रूप अशक्य कार्य को किया है।

एवं हरणेऽपि प्रागुदाहृतं गृहिणी सचिव इत्यादि।। 441।।

अथ तद्गुण:-

असमानगुणं यस्मिन्नतिबहुलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्ते चेत्तद्गुणः स इति।। 279।।

स्वगुणपरित्यागेनापरगुणग्रहणं लक्षणम्। न च मीलिते अतिव्याप्तिः, तत्र स्वीयगुणाग्रहणे तात्पर्यमिह तु परगुणग्रहणमिति तात्पर्यभेदेन भेदात्।[1]

और इसी प्रकार हरण अर्थात् संहार करने (की स्थिति) में भी पहले दिया गया गृहिणी सचिव० इत्यादि उदाहरण (सा०सु०सि० 3, 34) भी (तीसरे प्रकार के विशेष का दूसरा उदाहरण) है।।441।।

टि०-रघुवंश से लिया गया यह पूरा श्लोक इस प्रकार है-

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम्।।

(हे प्रिये इन्दुमति ! तुम मेरी) गृहिणी, मन्त्री, एकान्त की सखी और मनोहर कलाओं सङ्गीतादि के विषय में प्रियशिष्या (सब कुछ ही थीं) निर्दय मृत्यु ने तुमको हरण करके बताओ मेरा क्या हरण नहीं कर लिया (मेरा सर्वस्व ही लूट लिया है)।

यहाँ इन्दुमती के संहार रूप एक कार्य को करते समय (उसी के दूसरे रूप) गृहिणी, सचिव इत्यादि का एक प्रयत्न से युगपद् संहार दिखाया है।

इसके बाद 57. तद्गुण (का लक्षण) है-

जिसमें भिन्न गुण वाली वस्तु बहुत अधिक गुण वाली वस्तु के साथ मिली हुई होकर यदि उस (उत्कृष्ट वस्तु) के गुण को धारण कर लेती है तो वह तद्गुणालङ्कार होता है।। 279।।

टि०-रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (9, 24) में भी यही लक्षण है।

अपने गुण के परित्याग से दूसरे के गुण को ग्रहण करना (इसका) लक्षण है। और इसकी मीलित अलङ्कार के अन्दर अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि वहाँ अपने गुण को ग्रहण न करने में तात्पर्य होता है किन्तु यहाँ तो परगुणग्रहण (में प्रयोजन) होता है इस कारण तात्पर्यभेद से (इन दोनों में) भेद है।

---

1. त; तत्र स्वीयगुणाग्रहणे तात्पर्यभेदेन भेदात् ज अ

यथा–

उत्फुल्लकमलापि कृता कार्तस्वरभास्वरे त्वया कण्ठे।
एतत्प्रभानुलिप्ता चम्पकदामभ्रमं कुरुते।।442।।

अथातद्गुणः-

सम्भवन्त्यामपि योग्यतायां परगुणाग्रहणं लक्षणम्।। 280।।

परगुणाग्रहणमुभयथा–अप्रकृतेन प्रकृतगुणाग्रहणं प्रकृतेन वा अप्रकृतगुणाग्रहणम्। यथा–

धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि।।443।।

(तद्गुण का उदाहरण) जैसे–

सोने के समान चमकीले पीले कण्ठ में तुम्हारे द्वारा पहनी हुई और इस (कण्ठ की पीत) कान्ति से व्याप्त खिले हुए कमलों की (रक्त और श्वेत भी) यह माला चम्पक की माला की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही है।। 442।।

टि०–यहाँ पर लाल और श्वेत कमलमाला ने चम्पकमाला के पीले रंग को ग्रहण कर लिया है। तद्गुण का यह उदाहरण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (9, 25) में थोड़े से परिवर्तन के साथ दिया हुआ है।

इसके बाद 58. अतद्गुण (का लक्षण) है–

योग्यता के होते हुए भी दूसरे के गुणों को ग्रहण न करना (अतद्गुण का) लक्षण है।। 280।।

दूसरे के गुणों को ग्रहण न करना दो प्रकार से होता है–अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के गुण को ग्रहण न करना अथवा प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत के गुण का ग्रहण न करना।

(1. अप्रकृत के द्वारा प्रकृत के गुणों के अग्रहण का उदाहरण) जैसे–

हे सुन्दर प्रियतम! तुम यद्यपि धवल (गौर वर्ण के) हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को (लाल) रंग में रंग दिया (अनुराग युक्त कर दिया) है। और मैंने तुम को राग (लाल, पक्षान्तर में अनुराग) से युक्त हृदय में रखा, फिर भी हे सौम्य! तुम लाल (अनुरक्त) नहीं हुए हो।। 443।।

अत्र प्रकृतस्य रागभृतो हृदयस्याप्रकृतेन नायकेन गुणो न गृहीतः।

प्रकृतेनाप्रकृतगुणाग्रहणं यथा–

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न नवापचीयते।।444।।

अत्राप्रस्तुतस्य गुणो राजहंसेन प्रकृतेन न गृहीतः। राजहंसस्योद्देश्यत्वेन प्रकृतता समर्थनीया।

टि०–यह श्लोक काव्यप्रकाश (10, 565) में इसी अलङ्कार के उदाहरण के रूप में दिया हुआ है। इस श्लोक के स्थान पर तिरुपति की हस्तलिखित प्रति में निम्न श्लोक दिया हुआ है–

चेतो रञ्जितमस्या धवलेन विलासिना त्वया नूनम्।
रागभृतेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्ततामेषि।।

हे सौभाग्यशाली नायक! रसिक मन वाले तथा गौरवर्ण (देहधारी) तुमने निश्चित रूप से इसके चित्त को (लाल रंग से) रंग दिया अर्थात् अनुरागयुक्त कर दिया है किन्तु रागयुक्त (प्रेमयुक्त पक्षान्तर में लाल रंग वाले) हृदय में रखे गये भी तुम रक्तता (अनुराग-पक्षान्तर लालिमा) को प्राप्त नहीं कर रहे हो।

यहाँ पर प्रकृत नायिका के राग (अनुराग और लालिमा) से भरे हुए हृदय का लाल गुण अप्रस्तुत नायक ने ग्रहण नहीं किया है।

2. प्रकृत के द्वारा अप्रकृत के गुण के अग्रहण (करने का उदाहरण) जैसे गङ्गा का जल शुभ्र है और यमुना का जल काजल की तरह काला है। किन्तु हे राजहंस! दोनों जगह स्नान करने (तैरने और डुबकी लगाने) पर भी तुम्हारी वही शुभ्रता रहती है। वह (गङ्गाजल में स्नान करने से) न तो बढ़ती है और न (यमुना के पानी में नहाने से) कम होती है।।444।।

यहाँ अप्रस्तुत (गङ्गा और यमुना के जलों) का (गौर और कृष्ण वर्ण रूप गुण प्रकृत राजहंस ने नहीं ग्रहण किया है। यहाँ राजहंस के उद्देश्य (विशेष्य कही हुई बात के लक्ष्य-विषय) बनने के कारण (उसका) प्रकृत होना समर्थन करने योग्य बात है अर्थात् उसे प्रकृत मान ही लेना चाहिए।

टि०–यह श्लोक अतद्गुण के उदाहरण के रूप में अलङ्कारसर्वस्व (श्लोक 235), काव्यप्रकाश (10, 566) और साहित्यदर्पण 10, 91) में दिया हुआ है।

अथ व्याघात:-

यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव तद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृत:।।281।।

सजातीयकारणेन विजातीयकार्यलक्षणम्।

यथा–

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव या:।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ता: स्तुवे वामलोचना:।।445।।

एवं निरूपितेष्वलङ्कारेषु तेषामन्योन्यसम्बन्धे चारुत्वप्रकर्षदर्शनात्संसृष्टिसङ्करादीनां पृथगलङ्कारत्वम्।

उक्तं च–

इसके बाद 59. व्याघात (का लक्षण) है–

किसी बात को कोई जिस प्रकार से सिद्ध करे (बनाये) उसको उसी प्रकार से यदि कोई दूसरा बदल दे उसको व्याघात इस नाम से कहते हैं।।281।।

टि०–जिस उपाय से एक व्यक्ति किसी कार्य या वस्तु को बनाता हो उसको जीतने की इच्छा से उसी उपाय से दूसरा यदि बदल डाले तो सिद्ध की हुई वस्तु के व्याघात (बिगाड़ देने) का कारण होने से व्याघात कहलाता है। यह लक्षण काव्यप्रकाश 10, 138–139 में मिलता है।

एक जाति के कारण से दूसरी जाति का कार्य हो जाना ही (इस अलङ्कार का) स्वरूप है। (इसका उदाहरण) जैसे–

(शिव के द्वारा अपने तीसरे) नेत्र से भस्म किये हुए कामदेव को जो (अपने) नेत्र (के कटाक्ष) से ही जीवित कर देती हैं (इस प्रकार) शिव को भी जीत लेने वाली उन सुनयना सुन्दरियों की मैं स्तुति करता हूँ।।445।।

टि०–यहाँ दृष्टि रूप उपाय से कामदहन और उसी से कामोद्दीपन कर्म किया गया है।

इस प्रकार यहाँ वर्णित अलङ्कारों में उनके एक दूसरे के साथ सम्बन्ध होने पर चमत्कार (सौन्दर्य) का उत्कर्ष दिखाई देने के कारण संसृष्टि और सङ्करादि अलङ्कारों की पृथक् अलङ्कारता है (अत: इन दोनों और सन्देहसङ्करादि को पृथक् पृथक् स्वतन्त्र अलङ्कार मानना चाहिए) और यह कहा गया है–

प्रौढानन्दाय संसृष्टि र्नानालङ्कारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव पृथगेवावभासते।।

अथ संसृष्टिः-

अलङ्कारस्येतरानपेक्षालङ्कारान्तरयोगित्वं संसृष्टिः।। 282।।

तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टि र्यथा-

द्विरददन्तवलक्षमलक्ष्यत स्फुरित[1]भृङ्गघनच्छविकेतकम्।
घनघनौघविघट्टनया दिवः कृशशिखं शशिखण्डमिव च्युतम्।।446।।

अत्र यमकानुप्रासौ शब्दालङ्कारसंसृष्टिं प्रयोजयतः।

अनेक अलङ्कारों के मेल से बनाई हुई रत्नमाला के समान अनेक शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों के योग (मिलने) से बनी हुई संसृष्टि पृथक् (स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में) ही प्रतीत हुआ करती है और वह परिपक्व बुद्धि वाले सहृदयों के लिए आनन्दजनक होती है।

इसके बाद 60. संसृष्टि (का लक्षण) है-

एक अलङ्कार का दूसरे अलङ्कार की अपेक्षा के बिना ही अर्थात् एक दूसरे के साथ बिना कोई सम्बन्ध रखे हुए स्वतन्त्र रूप से एक स्थान पर मिल जाना संसृष्टि है।। 282।।

इन (संसृष्टि के भेदों) में शब्दालङ्कारों की संसृष्टि (का उदाहरण) जैसे-

हाथी के दाँत के सदृश सफेद और गूँजते हुए भौरों की बहुत अधिक चमकीली शोभा से युक्त केतकी का वृक्ष बहुत घने (अतएव काले) बादलों के समूह के साथ टकराने से अन्तरिक्ष से गिरे हुए पतले अग्र भाग वाले चन्द्रमा के समान दिखाई पड़ता था।। 446।।

यहाँ यमक और अनुप्रास अलङ्कार शब्दालङ्कारों की संसृष्टि को बना रहे हैं।

टि०-यहाँ द्, र्, त और घ वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से अनुप्रास है। और लक्ष, घन, शशि इन वर्णसमूहों की सकृत् आवृत्ति होने से यमकालङ्कार है। इन दोनों का मेल होने से यहाँ दो शब्दालङ्कारों की संसृष्टि है। उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा अलङ्कार होने से यह शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की संसृष्टि का उदाहरण भी माना जा सकता है। यह उदाहरण शिशुपालवध (6, 34) से लिया गया है।

---

1. ज अ; स्फुटित त

अर्थालङ्कारसंसृष्टिर्यथा-

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयो-
रास्ते तौल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः।। 447।।

अत्र केचित्-नास्याः पृथगलङ्कारत्वं कामिनीदेहे मुकुटकुण्डलहार-केयूरकङ्कणनूपुराणां स्वस्वशोभाजनकत्वं न त्वधिकम्। समुदायिभ्यः समुदायो नाधिक

अर्थालङ्कारों की संसृष्टि (का उदाहरण) जैसे-

(हे अशोक!) तुम अपने लाल पल्लवों से रक्त (लाल हो रहे) हो और मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरागयुक्त, लाल) हूँ। तुम्हारे पास (शिलीमुख) भ्रमर आते हैं और हे मित्र! कामदेव के धनुष से छोड़े गये शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर भी आते हैं। कान्ता का चरणप्रहार तुम्हारे लिए जैसे आनन्ददायक है वैसे ही वह (प्रिया का पादप्रहार) मेरे लिए भी (आनन्द के लिए) है। (इस प्रकार) हे अशोक! हमारे और तुम्हारे बीच (सब तरह से) साम्य विद्यमान है। केवल (अन्तर यह है कि) विधाता ने मुझे सशोक (शोकयुक्त) कर दिया है (और तुम अशोक अर्थात् शोकरहित हो)।। 447।।

टि०-यहाँ पहले तीन चरणों में पदश्लेष है और अशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः' इस अंश में सशोकपद में उपमेय न्यूनत्वसूचक व्यतिरेक है। इस कारण यहाँ श्लेष और व्यतिरेक इन दो अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है। रत्नावली नाटिका में अशोक वृक्ष को लक्ष्य करके कही गई यह राजा उदयन की उक्ति है। पादाघातादशोको विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः। यह कविप्रसिद्धि है।

यहाँ पर कुछ विद्वानों का यह कहना है-इस (संसृष्टि अलङ्कार) की पृथक् अलङ्कारता नहीं माननी चाहिए (क्योंकि) स्त्री के शरीर में शिरोमुकुट, कर्णकुण्डल, हार, बाजूबन्द, कंगन तथा घुँघरु (तो केवल) अपनी अपनी शोभा को उत्पन्न करते हैं इससे अधिक तो (वे और कुछ करते ही) नहीं हैं अर्थात् इससे अधिक वे किसी मिली जुली अतिरिक्त अन्य शोभा को नहीं उत्पन्न करते हैं।

इति न्यायात्। अन्यथा लोकेऽपि तथा कल्पनप्रसङ्गात्। तद्दृष्ट्यैव गुणालङ्कारकल्पनादित्याहुः।

तदसत्।

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी।।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है–जैसे स्त्री के देह में मुकुटादि आभूषण केवल अपनी अपनी शोभा को दिखाकर शरीर के तत् तत् अङ्गों की पृथक् पृथक् शोभा को बढ़ाते हैं इसी प्रकार काव्य के किसी एक पद्य में यदि कई अलङ्कार पड़े होते हैं तो ये स्वतन्त्र रूप में अपनी अपनी शोभा को ही उत्पन्न करते हैं। परन्तु मिलकर ये किसी प्रकार की नई अतिरिक्त शोभा को नहीं पैदा करते हैं। अतएव परस्पर मिलने की दशा में कोई चमत्कारविशेष न होने के कारण इनकी संसृष्टि को स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं मानना चाहिए।

क्योंकि समुदायियों (अवयवियों) से समुदाय (घटक अवयवसमूह) अधिक नहीं होता यह नियम है। नहीं तो लोक में भी वैसे प्रकार की कल्पना करने का प्रसङ्ग (अवसर) आयेगा। उसी दृष्टि से भिन्न भिन्न गुणों और भिन्न भिन्न अलङ्कारों की (पृथक् पृथक् रूप में) कल्पना की गई है (ऐसा उनका मत है)।

टि०–पूर्वपक्षी का यह भी कथन है–यदि काव्य में तत्तत् शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों में निष्पन्न होने वाली संसृष्टि को पृथक् अलङ्कार मानेंगे तो लोक में भी नायिका के तत्तत् अवयवों में पहने जाने वाले शिरोभूषण, कर्णभूषणादि अलङ्कारों से मिलकर कोई पृथक् अलङ्कार भी बनना चाहिए और उनका दूसरा नया नाम भी रखा जाना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता है। एक साथ पहने जाने पर भी प्रत्येक अलङ्कार का अलग अलग ही नाम रहता है न कि अलङ्कारसमूह का द्योतक कोई और नया नाम प्रचलित किया जाता है। यही नियम काव्य के अलङ्कारों पर भी लागू होना चाहिए। एक स्थान पर जब कई अलङ्कार साथ साथ प्रयुक्त हों तो वहाँ उनकी संसृष्टि न मानकर तत्तत् अलङ्कारों की पृथक् सत्ता ही स्वीकार करनी चाहिए। उसी बात को दृष्टि (ध्यान) में रखकर प्राचीन आचार्यों ने प्रसादादि गुणों और अनुप्रासादि अलङ्कारों में प्रत्येक को अलग अलग रखा है।

(इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रतिपादित) वह कथन ठीक नहीं है–

अत्रोपमोत्प्रेक्षारूपकैः समासोक्त्या च सह संसृष्टिरतः शोभातिशयस्यानुभविकत्वेन संसृष्टेरलङ्कारान्तरत्वस्य दुर्वारत्वमिति।

यह चन्द्रमा (रूपी नायक) अङ्गुलियों के समान अपनी किरणों से केशपाश रूपी अन्धकार को पकड़कर मुकुलित कमल रूपी बन्द नयनों से युक्त रात्रि (रूपी नायिका) के मुख को मानों चूम सा रहा है।

इस श्लोक में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और समासोक्ति के साथ होने वाली संसृष्टि है। अतएव अत्यधिक शोभा का अनुभव कराने के कारण संसृष्टि के पृथक् अलङ्कार होने की अनिवार्यता (एवं अवश्यस्वीकरणीयता की सिद्धि) होती है। इस प्रकार (का यह उत्तर) है।

टि०–अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयम् इत्यादि इस श्लोक में–अङ्गुलीभिरिव इस स्थान पर उपमा है, चुम्बतीव इन शब्दों में उत्प्रेक्षा है तथा रजनी और शशी में नायिका और नायक की चेष्टाओं का आरोप होने के कारण यहाँ समासोक्ति है। इन सब अलङ्कारों के योग के कारण यहाँ संसृष्टि है। इसलिए ग्रन्थकार इसको एक स्वतन्त्र अलङ्कार मानते हैं।

क्योंकि परस्पर मिले जुले अलङ्कार न तो किसी अतिरिक्त शोभा को बढ़ाते हैं और न ही उन्हें कोई अलग नाम दिया जाता है इस आधार पर पूर्वपक्षी विद्वानों ने संसृष्टि अलङ्कार को स्वीकार करने में आनाकानी की है। उसके उत्तर में सिद्धान्ती की ओर से यह कहा जा सकता है–ब्लाउज़, पेटीकोट, साड़ी आदि नारी के विभिन्न वस्त्रों की भिन्न भिन्न सञ्ज्ञायें होती हैं। इन सभी वस्त्रों से आवृत सुन्दरी की विशेष शोभा भी होती है और उन सभी वस्त्रों के लिए यह जनाने कपड़े हैं इस प्रकार के एक सामान्य नाम का भी व्यवहार होता है। जैसे इन वस्त्रों में पृथक् चमत्कार और नया नाम पाया जाता है वैसे ही अनेक अलङ्कारों के एकत्र होने पर पृथक् चमत्कार है और संसृष्टि नामक उनका नया नाम बोला जा सकता है। लौंग, काली मिर्च, तेजपात और धनिया इन वस्तुओं के मिश्रण से बनने वाली नई वस्तु का न केवल 'गर्ममसाला' यह नया नाम होता है अपितु उसका आस्वाद भी नया और विलक्षण होता है। इसी प्रकार अनेक अलङ्कारों से बनी हुई संसृष्टि एक नई सी चीज़ हो जाती है और उसका आस्वाद भी अलग तरह का होता है। इलायची, काली मिर्च, आम और सितसर्करा के योग से बनने वाले विलक्षण स्वाद वाले पानक (पन्ने के) रस के नये नाम और नये आस्वाद का प्रत्याख्यान कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त क्योंकि जैसे

गर्ममसाला, पानकरस और काव्यरसादिजन्यचमत्कार साक्षात् अनुभव की वस्तुएँ हैं इस कारण इनकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता वैसे ही अलङ्कारसंसृष्टि का भी चमत्कार साक्षात् अनुभव का विषय है। इसलिए संसृष्टि को भी पृथक् अलङ्कार के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

कुवलयानन्द में अप्पयदीक्षित ने संसृष्टि अलङ्कार की चर्चा आरम्भ करने से पहले इसकी पृथक् अवस्थिति और पृथक् चमत्कारिता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है–

> अथैतेषामलङ्काराणां यथासम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकालङ्काराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलङ्कारत्वस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते।
>
> कुवलयानन्द 118 अलङ्कारसंसृष्टि के ऊपर का गद्य भाग

यहाँ अप्पयदीक्षित ने बताया है कि जैसे नृसिंहावतार में नर तथा सिंह की आकृति के मेल से भगवान् विष्णु का रूप नया और विलक्षण होने के कारण विशेष प्रकार के चमत्कार को उत्पन्न करता है इसी प्रकार कई अलङ्कार भी मिलने पर लौकिक अलङ्कारों की तरह विलक्षणता को प्राप्त होकर पृथक् चारुत्व को उत्पन्न करते हैं और कई अलङ्कारों से बने इस नये संसृष्टि अलङ्कार की पृथक् सत्ता भी होती है।

इसी प्रकार रुय्यक ने भी अलङ्कारसर्वस्व में संसृष्टि के पृथक् चारुत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है–

> उक्तालङ्काराणां यथासम्भवं यदि क्वचिद् युगपद् वचनं स्यात् तदा ते किं पृथक्त्व एव पर्यवसिता उत तदलङ्कारान्तरमेव किञ्चिदिति विचार्यते– तत्र यथा बाह्यालङ्काराणां सौवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक्चारुत्वहेतुत्वेऽपि सङ्घटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते तद्वत्प्रकृतालङ्काराणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते।
>
> अलङ्कारसर्वस्व सूत्र 85 वृत्तिभाग।

यदि कहीं उपर्युक्त (पुनरुक्तवदाभासादि) अलङ्कारों का यथासम्भव एक साथ कथन हो तो उन अलङ्कारों को पृथक् ही (समाविष्ट) माना जाय या (उन अलङ्कारों के इस एकत्र सन्निवेश) को कोई दूसरा अलङ्कार ही माना जाय इस सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं– उस (विषय) में (यह कहना है) जिस प्रकार सोने, मणि आदि से निर्मित बाह्य लौकिक आभूषणों में इन वस्तुओं के पृथक् पृथक् रूप में रहकर सौन्दर्य के हेतु रहने पर भी इनकी सङ्घटना के द्वारा नया सौन्दर्य (चमत्कार) पैदा हो जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत काव्यगत अलङ्कारों में भी मिश्रण होने पर दूसरे नये सौन्दर्य का प्रादुर्भाव होता है।

अथ सङ्करः-

चमत्कारेऽन्यसापेक्षाणामलङ्काराणां परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वम्।। 283।।

अयञ्च व्यक्ताव्यक्तरूपत्वाद् द्विधा। तदुक्तम्-

योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तरूपत्वात् सङ्कर उपपद्यते द्विविधः।।

इति। क्रमेण (व्यक्तसङ्करो) यथा-

इसके बाद 61. सङ्कर (का लक्षण) है-

एक दूसरे की आकाङ्क्षा रखने वाले अलङ्कारों के चमत्कार में परस्पर अनुग्राह्यानुग्राहकभाव (उपस्कार्योपस्कारकसम्बन्ध) का होना सङ्करालङ्कार है।। 283।।

और यह व्यक्त (स्फुट) और अव्यक्त (अस्फुट-गूढ़) होने से दो प्रकार का है। वह (तथ्य) कहा (भी) है-

इन अलङ्कारों के तिल और चावल की तरह तथा दूध और जल की तरह (परस्पर) मिल जाने से व्यक्त (स्फुट) और अव्यक्त (अस्फुट) रूप होने से यह सङ्कर दो प्रकार का हो जाता है।

टि०-रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (10, 25) में सङ्कर की यही परिभाषा दी हुई है। तिलतण्डुलन्याय से अलङ्कारों का सम्बन्ध तब होता है जब एक स्थल पर कई अलङ्कार स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप में दिखाई पड़ते हैं। जैसे तिलों और चावलों को एक पात्र में एक दो बार हिलाकर आपस में मिला दिया जाय तो भी वे अलग अलग दिखाई देते हैं। इसी प्रकार कई स्थलों पर कई अलङ्कार एकत्र रहते हुए भी स्वतन्त्र रूप से पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं। उनका यह संयोग तिलतण्डुलवत् है किन्तु जहाँ वे एक दूसरे के साथ मिलकर इतने घनिष्ठ हो जायें कि उनका स्वतन्त्र रूप न दिखाई पड़े तो वहाँ उनका यह संयोग दुग्धजलवत् नीरक्षीरन्याय से माना जाता है।

इस प्रकार (रुद्रट ने दो प्रकार का सङ्कर माना) है। क्रम से (उदाहरण दिये जाते) हैं।

(व्यक्तसङ्कर का उदाहरण) जैसे-

हे राजन् ! क्या आप भी सन्नारीभरण (शिवपक्ष-सतीनारी-पार्वती का

सन्नारीभरणो भवानपि न किं किन्नाधिरूढो वृषं
किं वा नो भवता निकामविषमा दग्धाः पुरो विद्विषाम्।
इत्थं द्वौ परमेश्वराविह शिवस्त्वञ्चैकरूपस्थिती।
तत्किं लोकविभो न जातु कुरुते सङ्गं भुजङ्गैः सह।। 448।।

अत्र श्लेषव्यतिरेकयोः सङ्करो व्यक्तः।

अव्यक्तसङ्करो यथा–

आदौ चुम्बति चन्द्रबिम्बविमलां लोलः कपोलस्थलीं
सम्प्राप्य प्रसरं क्रमेण कुरुते पीनस्तनास्फालनम्।

भरण पोषण करने वाले, राजपक्ष–1. सती साध्वी नारी के पोषक एवं 2. सन्ना:अरीणाभिभा:रणे येन सती रण में शत्रुओं के हाथियों को अपने प्रहार से दु:खी करने वाले) नहीं हैं? क्या आप वृष पर (शिवपक्ष–बैल पर सवार राजपक्ष–धर्ममार्ग में) स्थित नहीं हैं? क्या आपने शत्रुओं के निकामविषम नगर (शिवपक्ष–पूरे तीन भयानक त्रिपुरलोक राजपक्ष–अत्यन्त दुर्गम–अजेय नगर) नहीं जलाये हैं? इस प्रकार इस संसार में एक समान आकृति (स्वभाव) और पद वाले तुम और शिव दोनों ही परमेश्वर (शिवपक्ष–परम स्वामी–सब भूतों के अधिपति, राजपक्ष–परमैश्वर्यशाली) हैं। हे सारे संसार के राजा! तब आप कभी (भी) भुजङ्गों (शिवपक्ष–सर्पों, राजपक्ष–दुराचारी दुष्टों) की सङ्गति क्यों नहीं करते हो?।। 448।।

इस श्लोक में श्लेषालङ्कार तथा व्यतिरेकालङ्कार का सङ्कर व्यक्त है।

टि०–यहाँ जैसे शिव हैं वैसे ही हे राजन् आप भी हैं। किन्तु 'न जातु कुरुते सङ्गं भुजङ्गैः सह' इस विशेषण से शिव ने तो भुजङ्गों का सम्पर्क किया है आपने कभी नहीं किया है–अतः आप शिव की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। इस रूप में व्यतिरेक की प्रतीति होती है। 'सन्नारीभरणः' आदि पदों में श्लेष होने से यहाँ श्लेषव्यतिरेकसङ्कर है। काव्यालङ्कार (10, 27) में यह उदाहरण है।

अव्यक्तसङ्कर का उदाहरण जैसे–

(हे राजन्) तुम्हारे शत्रुओं की नारियों (की आँखों) का ढुलकता हुआ चञ्चल वह आँसू चपल कामुक के समान क्या क्या नहीं करता है? अर्थात् सब कुछ करता है। पहले तो चन्द्रमण्डल के समान निर्मल गालों के (नरम नरम) भाग को चूमता है अर्थात् आँखों से नीचे ढुलककर गालों का स्पर्श

युष्मद्वैरीवधूजनस्य सततं कण्ठे लगत्युल्लसन्[1]
किं वा यन्न[2] करोत्यवारितरसः कामीव वाष्पः पतन्।। 449।।

अत्र कपोलस्थलीमिति रूपकम्। कामीव चन्द्रबिम्बविमलामिति चोपमा। वाष्पकामिनोः साधारणविशेषणयोगात् श्लेषः। त्वया व्यापादिता[3] इति पर्यायोक्तम्[4]। आदिपदात् सन्देहोऽपि।

करता है। कामी भी इसी प्रकार गालों का चुम्बन करता है और फिर वह (आँसू) क्रम से आगे विस्तार को पाकर अर्थात् फैलकर स्थूल (पुष्ट) स्तनों के ऊपर धीरे धीरे चलता है (कामी भी इसी तरह पीवर स्तनों का दबा दबा कर मर्दन करता है) और निरन्तर दीप्तियुक्त होकर कण्ठ में लगता है (कामी भी हर्षित होकर लगातार गले से लिपटा रहता है) एवं यह न रुकने वाले प्रवाह से भरा है (कामी भी दुर्वार–न रोके जा सकने योग्य कामावेश के आनन्द से परिपूर्ण रहता है)।। 449।।

टि०–यहाँ शत्रुनारियों के आँसू और कामी में समानता दिखाकर यह बताया गया है कि जो जो काम वासनायुक्त कामी करता है वही सारे काम शत्रुनारियों के आँसू कर रहे हैं। यह उदाहरण रुद्रटकृत काव्यालङ्कार (10, 29) में दिया हुआ है।

यहाँ कपोलस्थली इस पद में रूपक है (क्योंकि कपोलों के ऊपर स्थली–भूमि का आरोप है), कामीव और चन्द्रबिम्बविमलाम् इन दोनों पदों में उपमा है, (कामी इव वाष्पः इन दोनों में उपमानोपमेयभाव है, चन्द्रबिम्बवत् विमलाम् यह विग्रह होने से लुप्तोपमा है)। वाष्प और कामी इन दोनों के लिए साधारण (उभयपक्षपरक) विशेषणों का प्रयोग होने से श्लेष है (क्योंकि लोलः, उल्लसन्, अवारितरसः, चुम्बति, आस्फालन, लगति इन विशेषणों का उपमेय वाष्प तथा उपमान कामी इन दोनों के साथ सम्बन्ध है) और तुम्हारे द्वारा सारे शत्रु मार दिये गये हैं इस (व्यङ्ग्यार्थ को प्रकारान्तर से बताने) के कारण यहाँ पर्यायोक्त है (यहाँ एक ही वस्तु आँसू क्रम से अनेकों में बताई गई है इस कारण पर्याय भी माना जा सकता है)।

(यहाँ संसृष्टि और सङ्कर के प्रकरण में प्रयुक्त) आदि पद से सन्देहसङ्कर का भी ग्रहण होता है।

---

1. त; गलत्युल्लसन् ज अ
2. ज अ; किं चायं न त
3. ज अ; जिता इति त
4. संशोधित; पर्यायः ज अ त

स यथा–

उभयत्र साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयः सन्देहालङ्कारः।। 284।।

यथा–

नयनानन्ददायीन्दो बिम्बमेतत् प्रसीदति।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदं तमः।। 450।।

अत्र किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तत इति भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम्? उत वदनस्येन्दुबिम्बतया अध्यवसानादतिशयोक्तिः। किं वा एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य

टि०–संसृष्टि और सङ्कर अलङ्कारों के प्रकरण को प्रारम्भ करते समय पहले 'एवं निरूपितेष्वलङ्कारेषु तेषामन्योन्यसम्बन्धे चारुत्वप्रकर्षदर्शनात् संसृष्टिसङ्करादीनां पृथगलङ्कारत्वम्' (पृ० 762) इस वाक्य में आये हुए आदि पद से सन्देहालङ्कार का भी ग्रहण है। इसका दूसरा नाम सन्देहसङ्कर है।

वह सन्देहालङ्कार (इस प्रकार के लक्षण वाला है) जैसे–

दो (अथवा अनेक अलङ्कारों) में साधक और बाधक प्रमाणों के अभाव से युक्त संशय सन्देहालङ्कार होता है।। 284।।

(सन्देहसङ्कर का उदाहरण) जैसे–

नेत्रों के आनन्द को देने वाला यह चन्द्रमण्डल प्रसन्न हो रहा है अर्थात् (स्वच्छ रूप में) प्रकाशित हो रहा है। इस समय भी दिशाओं को अवरुद्ध करने वाला यह अन्धकार समाप्त नहीं हुआ है।। 450।।

यहाँ यह काम को उद्दीपित करने वाला (बढ़ाने वाला) समय है? इस अर्थ को प्रकारान्तर से कहने के कारण क्या पर्यायोक्त (अलङ्कार) है?

टि०–'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते' साहित्यदर्पण (10, 61) के इस लक्षण के अनुसार यहाँ प्रस्तुत चन्द्रोदय वर्णन तथा कुछ कुछ अंधेरे की स्थिति के कहने से यह अभिसरण के लिए उपयुक्ततम समय है इस व्यङ्ग्यार्थ को प्रकारान्तर से अभिधा के द्वारा प्रकट किया गया है।

अथवा मुख के चन्द्रबिम्ब के द्वारा (उसके निगीर्ण होने रूप) अध्यवसान के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है। या फिर 'एतत्' इस पद से मुख का निर्देश करके (उस पर) इन्दुबिम्बके स्वरूप का आरोप करने से रूपकालङ्कार है? अथवा (प्रकृत मुख और अप्रकृत चन्द्रमा) इन दोनों की (प्रसीदति

तद्रूपारोपाद्रूपकम्? अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम्। अथवा तुल्ययोगिता। किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः? आहोस्विन्मुखनैर्मल्य-प्रस्तावनादप्रस्तुतप्रशंसेति बहूनां सन्देहादयमेव सन्देहालङ्कारः।

वस्तुतस्तु, उपमाविशेषा एव सम्भवन्ति केचिदलङ्काराः। तथाहि–अनन्वय उपमेयोपमा चोपमातो नातिरिच्येते। न चानयोरुपमानान्तरसम्बन्धा-

इस एक क्रिया के साथ) समुच्चयविवक्षा अर्थात् बहुत से शब्दों का एक क्रिया में अन्वय बताने की इच्छा होने पर दीपक अलङ्कार है या (चन्द्रमा और अन्धकार इन दो प्रस्तुत पदार्थों में प्रसीदति और अविशीर्णम् पदों से द्योतित फैलने रूप एक धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने से यहाँ) तुल्ययोगिता है। या रजनी के आरम्भ के समय में विशेषण की समानता से मुख के बोध होने पर क्या (यहाँ) समासोक्ति है?

टि०–यहाँ प्रस्तुत इन्दोर्बिम्बम् के नयनानन्ददायि विशेषण से अप्रस्तुत मुख की प्रतीति हो रही है क्योंकि यह विशेषण प्रस्तुत चन्द्र और अप्रस्तुत मुख–दोनों में ही लागू हो रहा है। वस्तुतः यहाँ अप्रस्तुत मुख के व्यवहार के समारोप की प्रतीति अपेक्षित है।

और अथवा मुख की निर्मलता रूप प्रस्तुत के वर्णनार्थ (अप्रस्तुत चन्द्रमा का वर्णन होने से) अप्रस्तुतप्रशंसा है।

टि०–अप्रस्तुतवाच्य चन्द्र के द्वारा प्रस्तुत व्यङ्ग्य मुख की प्रतीति यहाँ हो रही है इसका मूल लक्ष्य मुखनैर्मल्यप्रतिपादन है।

इस प्रकार बहुत सारे अलङ्कारों के सन्देह (होने) से यही इस सन्देहालङ्कार (सन्देहसङ्करालङ्कार) का उदाहरण है।

वास्तव में तो कुछ अलङ्कार उपमा के भेद ही माने जा सकते हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि–अनन्वय और उपमेयोपमा उपमा से अतिरिक्त नहीं हैं। इन दोनों में दूसरे उपमान के साथ सम्बन्ध का न होना चमत्कार का कारण है और उपमा में सादृश्य (साम्य चमत्कार का कारण) है यही इन दोनों के साथ उपमा का भेद है (ऐसा पूर्वपक्षी की ओर से कहा जा सकता है)।

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है कि अनन्वय और उपमेयोपमा ये दो अलङ्कार अलग हैं और उपमा इनसे अलग है। 'मुखं मुखमिव' इस अनन्वयालङ्कार के उदाहरण में मुख का अपने से अतिरिक्त दूसरी उपमानभूत किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध का न

भावश्चमत्कारप्रयोजक उपमायां तु सादृश्यमिति भेद इति वाच्यम् एकस्योपमानत्वे उपमेयत्वे तथा प्रतीतावपि उपमानत्वानपायात्। न च तद्भिन्नत्वे सतीति विशेषणा-

---

बनना ही चमत्कार का कारण है इसी प्रकार उपमेयोपमा के चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः इस उदाहरण में कोई तीसरी सदृश वस्तु उपमान नहीं बन सकती अर्थात् तृतीय सदृशव्यवच्छेद यह धर्म ही इसके चमत्कार का कारण बनता है। इसके विपरीत उपमा में उपमान और उपमेय में सादृश्य पाया जाता है। इसप्रकार अनन्वय में द्वितीयसदृशव्यवच्छेद और उपमेयोपमा में तृतीयसदृशव्यवच्छेद इन दो धर्मों के होने से तथा उपमा में सादृश्य रूप अवच्छेदक धर्म के होने से इन दोनों अलङ्कारों तथा उपमालङ्कार में परस्पर भेद है।

और (सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी को) ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि एक ही वस्तु में उपमानत्व और उपमेयत्व होने पर उपमानान्तराभाव की प्रतीति होने पर भी उपमानत्व हट नहीं जाता है अर्थात् वहाँ उपमानोपमेयभाव की प्रतीति होती ही है। इस कारण इनको उपमा का भेद ही मानना चाहिए।

टि०–सिद्धान्ती का कहना है कि अनन्वय और उपमेयोपमा में भले ही द्वितीयसदृशवस्तुव्यवच्छेद और तृतीयसदृशवस्तुव्यवच्छेद पाया जाय किन्तु अनन्वय में एक ही वस्तु का अपने ही साथ तथा उपमेयोपमा में मुख का चन्द्रमा और चन्द्रमा का मुख के साथ उपमानोपमेयभाव रहता ही है और यही सम्बन्ध उपमा में रहता है। इस कारण इन तीनों ही अलङ्कारों में उपमानोपमेयत्व रूप अवच्छेदक होने से भेद नहीं माना जा सकता।

और (स त्रोपमात्चं तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् इस उपमा के लक्षण में रखे हुए) तद्भिन्नत्वे सति' इस विशेषण के कारण उपमा से इन दोनों का भेद हो जाता है ऐसा मान लेना चाहिए (यह पूर्वपक्ष है)।

टि०–पूर्वपक्षी का कहना है कि 'तद्भिन्नत्वे सति' इस विशेषण को उपमा में रख देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपमालङ्कार में तो उपमान और उपमेय में भेद होता है जबकि इन दोनों में उपमान और उपमेय का अभेद होता है। अनन्वय में तो जो उपमेय होता है वही उपमान हो जाता है और उपमेयोपमा में तृतीयसदृशव्यवच्छेद होने से दो वस्तुओं में अभेद पाया जाता है।

(सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी को) यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि (उपमा में) कल्पित (अवास्तविक और अनन्वय और उपमेयोपमा में)

दुपमातोऽनयोर्भेद इति वाच्यम्, कल्पिताकल्पितसाधारणभेदस्यैव विवक्षितत्वात्। कथमन्यथा उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे इत्यादि सूत्रं सङ्गतं स्यादिति?

उत्प्रेक्षायामपि व्यङ्ग्योपमैव काव्यसर्वस्वादलङ्कार उत्प्रेक्षा तु तदुपस्थापिकेति

अकल्पित (वास्तविक) साधारण धर्म का भेद ही यहाँ विवक्षित है। यदि ऐसा न मानें तो एक वाक्य में एक ही उपमान तथा उपमेय दोनों होने पर अनन्वय होता है इस सूत्र की सङ्गति कैसे होगी?

टि०–उपमा में उपमान और उपमेय का भेद तथा इन दोनों अलङ्कारों में उपमान और उपमेय का अभेद होता है ऐसा पूर्वपक्षी ने ऊपर कहा है। इसके खण्डन में सिद्धान्ती का कहना है कि उपमा, अनन्वय और उपमेयोपमा में पारस्परिक भेद का यह आधार मानना चाहिए कि उपमा में साधारण धर्म कल्पित होता है जबकि अनन्वय और उपमेयोपमा में साधारण धर्म वास्तविक होता है। इसी काल्पनिक और वास्तविक सामान्य धर्म के आधार पर इन तीनों अलङ्कारों में पारस्परिक भेद की स्थापना की जाती है। जहाँ तक उपमानोपमेयत्व का प्रश्न है तो वह तीनों में समान रूप से होता है। उपमा में उपमान और उपमेय में भेद तथा अनन्वय एवं उपमेयोपमा में उपमेय और उपमान का अभेद होता है इस रूप में यदि पूर्वपक्षी की बात मान ली जाती है तो काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट के द्वारा स्वीकृत अनन्वय अलङ्कार के लक्षण की सङ्गति कैसे होगी अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सकेगी। काव्यप्रकाश में अनन्वय का लक्षण इस रूप में दिया हुआ है–

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे। अनन्वयः.......।। काव्यप्रकाश 10, 91

जब एक वाक्य में एक ही के उपमान और उपमेय (दोनों) होते हैं तो अनन्वय अलङ्कार होता है। यहाँ स्पष्ट ही उन्होंने अनन्वय अलङ्कार में उपमान तथा उपमेय दोनों की भेदात्मक स्थिति स्वीकार की है। इससे यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि अभेद के आधार पर इसे उपमा से अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि उपमानोपमेयत्वे का अर्थ ही यह है–उपमानमुपमेयञ्च तयोः समाहारः तस्य भावः तस्मिन्। इस कारण उपमान और उपमेय दो पृथक् पृथक् तत्त्व जैसे अनन्वय में होते हैं वैसे ही उपमेयोपमा और उपमा में भी होते हैं। इस कारण भेद और अभेद के आधार पर इनका विभाजन नहीं किया जा सकता।

उत्प्रेक्षा (के भेद प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा) में (इवादि का अभाव होने पर जो) व्यङ्ग्योपमा ही होती है और वही काव्य का सारभूत तत्त्व होने के कारण

ध्येयम्। एवं सन्देहरूपकादिष्वपि बोध्यम्। एवमपह्नुतौ श्लेषे समासोक्तौ निदर्शनायामप्रस्तुतप्रशंसायाञ्च स्फुटं व्यङ्ग्योपमायाश्चमत्कारित्वम्। एवं प्रथमातिशयोक्तौ व्यङ्ग्योपमैवालङ्कारः। द्वितीयायां व्यतिरेकालङ्कार-दर्शनादुपमैवालङ्कारः। तृतीयायामसम्भावितस्यैवोपमा वर्णनीया, चतुर्थी विरोधेन गतार्था।

अलङ्कार होती है। यह उत्प्रेक्षा तो उस (उपमा) को उपस्थित करने (अथवा निष्पन्न करने) वाली होती है ऐसा मानना चाहिए (इन दोनों में उपस्थाप्यो-पस्थापकभाव अथवा निर्वाह्यनिर्वाहकभाव माना जा सकता है। उपस्थाप्य उपमा प्रधान है तदुपस्थापिका उत्प्रेक्षा गौण है अत: गौणीभूत उत्प्रेक्षा का प्रधानभूत उपमा में आसानी से अन्तर्भाव हो सकता है)।

इसी प्रकार सन्देह और रूपकादि में (उपमा व्यङ्ग्य होने पर प्रधान होती है ऐसा) समझना चाहिए।

टि०– किं तावत्सरसि सरोजमेतदाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्या: जैसे सन्देह और मुखं चन्द्र: जैसे रूपक के उदाहरणों में पार्यन्तिक रूप में व्यञ्जना से उपमा की ही प्रतीति हुआ करती है। उस व्यङ्ग्योपमा में वाच्यभूत इन सन्देह और रूपक अलङ्कारों का अन्तर्भाव हो सकता है।

इसी प्रकार अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना और अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यङ्ग्योपमा की चमत्कारिता स्पष्ट है अर्थात् इन अलङ्कारों में भी व्यङ्ग्यभूत उपमा की प्रधानता है।

इसी प्रकार पहली अर्थात् रूपकातिशयोक्ति (केवल उपमेय के स्वरूप का निगीर्ण करने वाले उपमान से युक्त) में भी व्यङ्ग्योपमा ही अलङ्कार होती है दूसरी (अतिशयोक्ति) में व्यतिरेकालङ्कार दिखाई देने से उपमालङ्कार ही है।

टि०–तान्यक्षराणि च तदेव पदाभिधेयं.........अन्यादृशो मृगदृशो वचसो विलास:।। (सा०सु०सि० 8, 335) इस दूसरे प्रकार की अतिशयोक्ति में यह सुन्दरी औरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट एवं भिन्न है इस रूप में व्यतिरेकोपमा व्यङ्ग्य है।

तीसरी अतिशयोक्ति में जहाँ असम्भव अर्थ की ही उपमा वर्णनीय होती है वहाँ साम्य की प्रतीति व्यङ्ग्य होती है।

टि०–राकायामकलङ्कं चेदमृतांशो र्भवेद् वपु:।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात्।। सा०सु०सि० 8, 337

यहाँ चन्द्र के साथ मुख की प्रतीति व्यङ्ग्य है।

प्रतिवस्तूपमायां स्फुटैवोपमा व्यङ्ग्या एवं दृष्टान्तेऽपि। दीपकेऽप्युपमैव। मालादीपके तूदारता वाचि वैदग्धी अर्थगुणस्तस्यैवोत्कर्षहेतुत्वमिति। एवं तुल्ययोगितायामपि। एवं व्यतिरेकस्योदारतायामुपमायां वा अन्तर्भावः समुचितः। आक्षेपस्याप्येवमेव बोध्यम्।

चौथी (सम्बन्ध न होने पर सम्बन्ध की कल्पना वाली) अतिशयोक्ति विरोधालङ्कार से ज्ञात अर्थ वाली है (विरोध से भी पर्यवसान में उपमा की प्रतीति होने से उसी में इस अतिशयोक्ति का अन्तर्भाव हो जाता है)। (वस्तुनि वस्तुनि उपमास्वरूपिणी) प्रतिवस्तूपमा में स्पष्ट रूप से उपमा की व्यञ्जना से प्रतीति होती है। इसी प्रकार दृष्यन्त में भी (तुल्यपदार्थप्रतिपत्ति वाली उपमा व्यङ्ग्य होती है) तथा दीपकालङ्कार में भी उपमा ही (व्यङ्ग्य हुआ करती) है। मालादीपक में वाणी में चतुरता रूप उदारता अर्थगुण होता है और उसी के उत्कर्ष की हेतुता होती है। (अतः इसका उदारता नामक अर्थगुण में अन्तर्भाव किया जा सकता है)।

टि०–जम्मू, अलवर एवं तिरुपति तीनों ही प्रतियों में वाचि वैदग्धी अर्थगुणः यह पाठ दिया हुआ है। वामन के दिये हुए उदारता नामक अर्थगुण की परिभाषा अग्राम्यत्वमुदारता (काव्यालङ्कार सू० 3, 212) है जिसका अर्थ ग्रामीण लोगों की भाँति पदों का प्रयोग न करना है। इसकी वाचि वैदग्धी विशेषण के साथ सङ्गति हो जाती है। किन्तु यदि यहाँ उदारता को शब्दगुण मानकर वाचि वैदग्धी की सङ्गति शब्दगुण उदारता के विकटत्वमुदारता इस लक्षण के साथ लगाई जाये तो वह भी हो जायेगी। वामन ने काव्यालङ्कारसूत्र (3, 1, 22) में यह बताया है–

विकटत्वमुदारता–बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता। यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् लीलायमानत्वमित्यर्थः। मालादीपकालङ्कार के सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता सा० सु० सि० 8, 350 इस उदाहरण में शब्दों में उदारता नामक शब्दगुण पाया जाता है। इस प्रकार इस अलङ्कार का अन्तर्भाव शब्दार्थगुणरूप उदारता में हो जाता है।

इसी प्रकार तुल्ययोगिता में भी (एकधर्म प्रतीति वाली व्यङ्ग्योपमा ही प्रधान होती) है। इसी तरह व्यतिरेक का भी उदारता में अथवा उपमा में अन्तर्भाव करना ठीक है। आक्षेपालङ्कार के सम्बन्ध में भी (इसका उपमा में अन्तर्भाव होता है) ऐसा ही समझ लेना चाहिए।

एवं विभावनायां विरोधाभासत्वं समुचितम्। एवं विशेषोक्तावपि। ननु विरोधाभासस्य नवविधत्वात् कथमित्थं सम्भवतीति चेत् न, अस्माभिरनङ्गीकारात्।

टि०–आक्षेपालङ्कार की परिभाषा रुद्रटकृत काव्यालङ्कार में इस प्रकार दी गई है-

वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः।।

काव्याल० 8, 89

इसके अनुसार आक्षेप में अपनी कही हुई बात साम्य के आधार पर उपमेय का स्थान से लेती है और जिसकी सिद्धि के लिए उपस्थित किया जाता है वह उपमान के स्थान पर आ जाती है जैसे–

जनयति सन्तापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः।।

सा० सु० सि० 8, 358 वृत्ति

आक्षेप के इस उदाहरण में भी पर्यवसान में (चन्द्रकला और हिमानी के सादृश्य से) प्रधानीभूत उपमा की प्रतीति होती है।

इसी प्रकार विभावना में विरोधाभास होता है–यह मानना ठीक है अर्थात् विभावना में विरोधाभास का अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार विशेषोक्ति के अन्तर्गत भी विरोधाभास को माना जा सकता है।

विरोधाभास के नौ प्रकार होने के कारण यह बात कैसे इस रूप में मानी जा सकती है? अर्थात् इतने बड़े उस अलङ्कार का विभावना और विशेषोक्ति में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? यदि (पूर्वपक्षी की ओर से) ऐसा कहा जाय (तो सिद्धान्ती का कहना है कि यह बात ठीक नहीं है क्योंकि हम (विरोधाभास इन विभावना और विशेषोक्ति से पृथक् है) ऐसा नहीं स्वीकार करते।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने विरोधालङ्कार को विभावना और विशेषोक्ति के अन्तर्गत स्वीकार तो किया है पर अपनी बात की पुष्टि के लिए कोई युक्ति नहीं दी है। सम्भवतः ग्रन्थकार का यही आशय है कि विभावना, विशेषोक्ति और विरोधाभास इन तीनों ही अलङ्कारों में विरोध नामक तत्त्व समान रूप से रहता है। परिणामतः इन अलङ्कारों में विरोधाभास का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

एवं यथासङ्ख्यं समतात्मके अर्थगुणेऽन्तर्भूतम्। एवमसङ्गतेर्विरोधे अन्तर्भावः। एवं समाधिसमुच्चयावभिन्नौ। किं बहुना, सर्वत्रैवं विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्रमाणत्वेनावतिष्ठते। अतएवोक्तम्–

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।

इसी प्रकार यथासङ्ख्य का समता रूप वाले अर्थगुण में अन्तर्भाव हो जाता है।

टि०–वामन ने काव्यालङ्कारसूत्र (3, 1, 11) में समता का लक्षण बताया है–मार्गाभेदः समता। समता का अर्थ बताया है– मार्ग अर्थात् जिस मार्ग से चलना प्रारम्भ कर दिया जाय उसका परित्याग नहीं करना (येन मार्गेणोपक्रमस्तस्यात्यागः इत्यर्थः) यथासङ्ख्य में भी जिस क्रम को किसी कवि ने रखा होता है उसी क्रम अथवा परिपाटी का वहाँ निर्वाह करना होता है। इसी कारण यथासङ्ख्य की पृथक् सत्ता नहीं है और उसे समता नामक अर्थगुण के भीतर माना जा सकता है।

इसी प्रकार असङ्गति अलङ्कार का अन्तर्भाव विरोध में हो सकता है (क्योंकि इन दोनों का स्वरूप मिलता जुलता है)। इसी प्रकार व्याघात अलङ्कार का भी उसी (विरोध) में अन्तर्भाव हो जाता है और इसी तरह समाधि और समुच्चय एक दूसरे से अभिन्न (एक स्वरूप वाले होने के कारण अभेदात्मक) होते हैं।

टि०–समाधि और समुच्चय दोनों में ही कार्यसिद्धि के लिए कारणान्तर की उपस्थिति हो जाती है। यह कारण समाधि में काकतालीयन्याय और समुच्चय में खलेकपोतन्याय से आते हैं।

इस सम्बन्ध में बहुत (विस्तार) से कहने से क्या (लाभ)? सब स्थानों पर अतिशयोक्ति ही प्रमाण रूप में (इनको सिद्ध करने वाली होकर) स्थित होती है। इसलिए कहा है–

वह (काव्यशास्त्र में परमप्रसिद्ध) यह सब जगह वक्रोक्ति (अर्थात् अतिशयोक्ति) ही है। इसके द्वारा (पुराना) पदार्थ (भी विलक्षण रूप में वर्णित किये जाने से चमत्कारपूर्ण होकर) चमक उठता है। (अतः कवि को) इसमें (विशेष) परिश्रम करना चाहिए। इसके बिना कौन सा अलङ्कार (हो सकता) है?

टि०–यह कारिका ध्वन्यालोक (3, 37 वृत्तिभाग) में दी हुई है और भामह के

अथोपमादोषाः-

हीनत्वमधिकत्वं लिङ्गभेदो वचनभेदोऽसादृश्यमसम्भवः।। 285।।

क्रमेण लक्षणोदाहरणानि-

जात्या प्रमाणेन धर्मेण चोपमानस्य या न्यूनता तद्धीनत्वम्।। 286।।

यथा-

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्।। 451।।

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति।। 452।।

काव्यालङ्कार (2, 85) में मूलकारिका के रूप में है। वस्तुतः अतिशयोक्ति जिस जिस अलङ्कार को प्रभावित करती है उसे ही शोभातिशय प्राप्त हो जाता है। इसी से सब अलङ्कारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता होने से अभेदोपचार से वही सर्वालङ्काररूप है।

और इसके बाद अब उपमादोषों को बताते हैं-

ये दोष हैं-1. हीनत्व 2. अधिकत्व 3. लिङ्गभेद 4. वचनभेद 5. असादृश्य और 6. असम्भव।। 285।।

क्रम से (इन उपमादोषों के) लक्षण और उदाहरण (दोनों साथ साथ) हैं-

1. हीनत्व-जाति (मनुष्यत्वादि) परिमाण (लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई) और धर्म के कारण (उपमेय की अपेक्षा) उपमान की जो न्यूनता (थोड़ापन) है वह हीनत्व (नामक उपमादोष) है।। 286।।

टि०-काव्यालङ्कारसूत्र (4, 2, 9) में जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम्। इस रूप में इस का लक्षण है।

(I. जाति का उदाहरण) जैसे-

चण्डालों के समान आप लोगों ने अति साहस (बिना विचारे बहुत बड़ा दुष्कर्म) किया है।। 451।।

टि०-यहाँ उपमान चण्डालजाति की उपमेय ब्राह्मणादि जाति से हीनता होने से हीनोपमा है।

II. प्रमाणन्यूनता का उदाहरण जैसे-

यह सूर्य आग की चिनगारी के समान शोभित हो रहा है।।452।।

धर्मन्यूनत्वं यथा–

स मुनि र्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन्।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान्।।453।।

अत्र मौञ्जीप्रतिवस्तुतडिन्नास्ति।

जातिप्रमाणधर्माधिक्यमधिकत्वम्।।287।।

यथा–

विशन्तु वृष्णय: शीघ्रं रुद्रा इव महौजस:।।454।।

तथा–

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ।
वेणीदण्ड: पुनरयं कालिन्दीजलसन्निभ:।।455।।

टि०–यहाँ उपमेय सूर्य की अपेक्षा उपमान वह्निस्फुलिङ्ग की प्रमाणगत न्यूनता है।

III. धर्मन्यूनता का उदाहरण जैसे–

मूँज की मेखला से सुशोभित और काले मृगचर्म को धारण किये हुए वे नारद मुनि नीलमेघखण्ड से आलिङ्गित सूर्य के समान शोभित हुए।।453।।

इस उदाहरण में मौञ्जी उपमेय की प्रतिवस्तु (उपमान) बिजली (की चर्चा) नहीं है।

2. अधिकत्व–जाति, प्रमाण (परिमाण) और धर्म से (उपमेय की अपेक्षा) उपमान की अधिकता होने पर अधिकत्व नामक (उपमादोष) है।। 287।।

(I. जाति की अधिकता का उदाहरण) जैसे–

रुद्रों के समान परम तेजस्वी वृष्णिवंश के क्षत्रिय शीघ्र प्रवेश करें।। 454।।

टि०–यहाँ उपमेय वृष्णियों की अपेक्षा उपमान रुद्रगणों की (देवता होने के कारण) जातिगत अधिकता है।

और (II. प्रमाण की अधिकता का उदाहरण जैसे)

तुम्हारी नाभि पाताल के समान (गहरी), स्तन पहाड़ों के समान (ऊँचे) और फिर यह वेणीपाश यमुना प्रवाह के सदृश (कृष्णवर्ण) है।। 455।।

तथा–

शिरसि चञ्चलं चक्रं दधद्देवो व्यराजत।
सवाडवाग्निः सावर्तः स्रोतसामिव नायकः।।456।।
सवाडवाग्निरित्यस्योपमेयाभावाद् धर्माधिक्यम्।

उपमानोपमेययो र्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेदः।।288।।

यथा–

सैन्यानि नद्य इव जग्मुरनर्गलानि।।457।।

एतेन वचनभेदोऽपि व्याख्यातः। यथा–

पास्यामि लोचने तस्याः पुष्पं पुष्पलिहो यथा।।458।।

टि०–यहाँ नाभि, स्तन और वेणीदण्ड इन उपमेयों की अपेक्षा पाताल, क्षितिधर और कालिन्दीजल इन उपमानों की प्रमाण (परिमाण) गत अधिकता है।

और (धर्म की अधिकता का उदाहरण जैसे–)

सिर पर चञ्चल चक्र को धारण किये हुए राजा इस प्रकार शोभित हो रहा था जैसे समुद्र की अग्नि से संवलित और भँवरों से युक्त समुद्र सुशोभित होता है।। 456।।

यहाँ (समुद्र के विशेषण) सवाडवाग्नि इस उपमान का कोई उपमेय न होने के कारण धर्माधिक्य है। (सावर्त और समुद्र के उपमेय तो दिये हुए हैं)।

3. लिङ्गभेद–उपमान और उपमेय में लिङ्गविपर्यय (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का उलटफेर या विपरीतता) ही लिङ्गभेद है।। 288।।

जैसे–

अबाधगति वाली सेनायें नदियों की तरह आगे बढ़ रही थीं।। 457।।

टि०–इस उदाहरण के सैन्यानि उपमेय में नपुंसकलिङ्ग और नद्यः उपमान में स्त्रीलिङ्ग है। पृथक् लिङ्ग होने से यह लिङ्गभेद का उदाहरण है।

4. वचनभेद–इसी से वचनभेद की भी व्याख्या हो जाती है (अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान में भिन्न वचन पाये जायें वहाँ वचनभेद होता है)।

जैसे–

मैं उसके नेत्रों (के सौन्दर्य) का वैसे ही पान करूँगा जैसे भौंरे पुष्प (के रस) का पान करते हैं।। 458।।

अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम्।। 289।।

यथा–

ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्।। 459।।

अनुपपन्नत्वमुपमानस्यासम्भवः।।290।।

यथा–

चकास्ति वदने तस्याः स्मितछाया विकासिनी।
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका।। 460।।

टि०–यहाँ पास्यामि क्रिया में अन्तर्भूत अहम् यह कर्त्ता उपमेय है और इसका एकवचन में प्रयोग है जबकि उपमान मधुलिहः में बहुवचन है। उपमेय लोचन में द्विवचन है इसके विपरीत उपमान पुष्प में एकवचन है। यह उदाहरण काव्यालङ्कार सूत्र (4, 2, 15) में भी मिलता है।

5. असादृश्य–अप्रसिद्ध गुणों के कारण निरूपित सादृश्य को असादृश्य दोष कहते हैं।। 289।।

टि०–असादृश्य का अप्रतीत० आदि यह लक्षण का० सू० (4, 2, 16) में है।

जैसे–

फैले हुए अर्थ रूपी किरणों वाले काव्य रूपी चन्द्रमा की मैं रचना करता हूँ।। 459।।

टि०–यहाँ काव्य के साथ चन्द्रमा और अर्थ के साथ रश्मियों का रूपक नितान्त अप्रसिद्ध सादृश्य वाला है। इस प्रकार के सादृश्य का निरूपण काव्यों में नहीं दिखाई पड़ता है। यह उदाहरण काव्यप्रकाश (10, 598) साहित्यदर्पण (7, 16) तथा काव्याल० सू० (4, 2, 16) में मिलता है।

6. असम्भव–उपमान की अनुपपन्नता (असम्भाव्यता) असम्भव दोष है।। 290।।

जैसे–

उस नायिका के मुख में विकासपूर्ण (खिली हुई) मुसकुराहट की शोभा उसी प्रकार चमक रही है जैसे किसी खिले हुए कमल के बीच में सुन्दर चन्द्रिका चमका करती है।। 460।।

एते चानुचितार्थेनैव गतार्थाः। एवमन्येऽप्यलङ्कारदोषाः सुधीभिरौचित्येनावधेयाः। उत्प्रेक्षायां ध्रुवादय एव शब्दाः सम्भावनं वक्तुमर्हन्ति न तु यथा शब्दोऽपि। तत्र उपादानं दोषः। उदाहरणं स्वयमवधेयम्।

समाप्तमिदं काव्यलक्षणमित्यलं पल्लवितेन।[1]

यावत्पाटीरपङ्कद्रवमधुरसुधापूरसेकैस्त्रिलोकी[2]-
मुच्चैः प्रीणाति[3] विप्रप्रणतिनुतपदः पार्वणः शीतभानुः।
वेगादम्भोजजृम्भावितरणरसिका भानवो भान्ति यावद्
भानोस्तावद् विधत्तामयमपि च सुधासिन्धुरानन्दकन्दम्।। 291।।

टि०–चाँदनी के पड़ने पर कमल का खिलना असम्भव है। इस कारण यहाँ चन्द्रिका को स्मितच्छाया का उपमान नहीं माना जा सकता।

ये उपमादोष अनुचितार्थ नामक अर्थदोष के द्वारा ही समझ लिये जाते हैं (अतः इनका उसी में अन्तर्भाव हो जाता है)। इसी प्रकार दूसरे अलङ्कारदोष भी बुद्धिमानों को औचित्य की दृष्टि से समझ लेने चाहिए। उत्प्रेक्षा अलङ्कार में ध्रुवं मन्ये आदि ही शब्द सम्भावन (सम्भावनमुत्कटैककोटिकसंशयः उपमानकोटिगत प्रबल सन्देह उत्प्रेक्षा है) को बताने के लिए उपयुक्त हो सकते हैं न कि यथा शब्द भी (उपयुक्त हो सकता है अतएव यथा का प्रयोग उत्प्रेक्षा में नहीं करना चाहिए। इस यथा का) इसमें ग्रहण दोष होता है इसका उदाहरण स्वयं समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार (अलङ्कार) लक्षण समाप्त हो गया है और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

ब्राह्मणों के नमस्कारों से स्तुति किये गये (किरण रूपी) चरणों वाले पौर्णमासी के चन्द्रदेव जब तक चन्दन के लेपन द्रव के समान मधुर (चन्द्रिकाप्रवाह रूपी) अमृत के सिञ्चनों से तीनों लोकों को बहुत अधिक आनन्दित करते रहेंगे और तेजी के साथ कमलों को विकास प्रदान करने में रुचि रखने वाली सूर्य की किरणें जब तक चमकती रहेंगी तब तक यह साहित्यसुधासिन्धु भी आनन्द की मूल (गूदेदार मीठी जड़ अर्थात् घनीभूत आनन्द) को उत्पन्न करे।। 291।।

1. ज अ; पल्लवितेन रामः त
2. ज अ; सुधापूरकर्पूरगौरः त
3. ज अ; त्रैलोक्ये भाति त

घूर्णल्लोचनमुच्छलद्विहसितं प्रभ्रष्टसीरं लल-[1]
ल्लालाजालमकालरोषमुदयन्निद्राभिरामश्रियम्।
जृम्भारम्भमिलन्मिलिन्दपटलं वामाविचाराकुलं
कालिन्दीजलकेलिलम्पटमहं तालाङ्कमेकं भजे।। 292।।

मौलौ गङ्गाम्बुधारा कुवलयपटलीमण्डिता शूलपाणेः
कौन्दी भृङ्गीकदम्बव्यतिकरमधुरा मालिका कन्धरायाम्।
कर्पूरक्षोदचञ्चन्मृगमदपटलीपङ्कसंकाशमूर्त्ति-
र्वक्षःपीठे पतन्ती क्षितिधरतनयानेत्रशोभाऽवताद् वः।। 293।।

आस्ते धारासुराख्यं नगरमतिलसत्केशवोद्दामधाम-
प्रभ्राजत् कीर्त्तिपूरं विलसति सविधे यस्य गोदावरी सा।

(मदिरापान से उत्पन्न मद के कारण) घूमते हुए नेत्रों वाले, फूटती हुई हँसी वाले (अर्थात् खिलखिला कर हँसने वाले), गिरते हुए हल वाले (मुँह से बाहर निकल कर) बहती हुई लार के समूह से भरे हुए, असमय में ही (उत्पन्न) क्रोध वाले, प्रकट होने वाली नींद से (उत्पन्न हुई) सुन्दर शोभा से समन्वित, जम्हाई के आरम्भ में (अर्थात् जम्हाई आते ही चारों ओर से) इकट्ठे होने वाले (मद्य की सुगन्धि के लोभी) भ्रमरसमूह से घिरे हुए, रमणी (अपनी प्रेयसी रेवती) के ध्यान से व्याकुल, यमुना की जलक्रीड़ा के शौकीन और एकमात्र देव बलराम की उपासना मैं करता हूँ।। 292।।

त्रिशूल को हाथ में धारण करने वाले भगवान् शङ्कर के सिर पर नीलकमलों के समूह से शोभित गङ्गाजल की धारा, (उनकी) ग्रीवा में (पड़ी हुई) भौंरों के समूह के सम्पर्क से सुन्दर कुन्द पुष्प की माला, कपूर के (सफेद) चूर्ण और चमकीली कस्तूरी के गुंदे हुए ढेर के सदृश (श्वेत और काले वर्ण की मिली जुली शोभा से संवलित होने के कारण वैसी सफेद काली शिव की) मूर्ति और (शिव की ओर देखने के समय उनके अथवा अपने) वक्षःस्थल पर गिरने वाली पार्वती के नेत्रों की शोभा आपकी रक्षा करे।। 293।।

---

1. ज अ; लसल् त

तत्रत्योऽनन्तदेवात्मज इह वसति मुक्तिपुर्यां सवर्यां
तस्याङ्गजस्योल्लसति कृतिरियं विश्वनाथाभिधस्य।। 294।।
प्रबलकर्कशतर्कविचारणोल्लसितकाव्यसुलक्षणलक्षिता।
त्रिमलदेवतनूजविनिर्मितिर्मतिमतां वितनोतु मनोमुदम्।। 295।।

इति श्रीत्रिमलदेवतनयविश्वनाथविरचिते साहित्यसुधासिन्धौ अर्थालङ्कारमार्जनं नामाष्टमस्तरङ्गः। समाप्तोऽयं ग्रन्थः।[1]

अत्यन्त शोभायमान और भगवान् कृष्ण के प्रचण्ड तेज से चमकते हुए कीर्तिप्रवाह वाला वह धारासुर नाम का नगर है जिसके समीप ही वह (प्रसिद्ध) गोदावरी नदी है। वहाँ रहने वाले अनन्तदेव के पुत्र (मेरे पिता त्रिमलदेव) इस सवरी (शिव की) मुक्तिनगरी (वाराणसी में) रहते हैं उनके विश्वनाथ नामक पुत्र की यह रचना प्रकाशित हो रही है।। 294।।

शक्तिशाली कठोर तर्कों के विवेचन वाली और आनन्ददायक काव्यों के उत्तम लक्षणों और उदाहरणों से निरूपित अर्थों से युक्त (अर्थात्–उत्तम काव्यों तथा तत्सम्बद्ध अन्य तत्त्वों के लक्षणों और लक्ष्यों से समन्वित) त्रिमलदेव के पुत्र (मुझ विश्वनाथ) की यह रचना बुद्धिमान् (सहृदय) जनों की मन की प्रसन्नता को करे।। 295।।

इस प्रकार श्रीत्रिमलदेव के पुत्र विश्वनाथ के द्वारा रचे गये साहित्यसुधासिन्धु में अर्थालङ्कारमार्जन नामक यह आठवीं तरङ्ग है। यह ग्रन्थ समाप्त हो गया है।

---

1. तीनों प्रतियों में यहाँ ग्रन्थसमाप्ति पर पृथक् पृथक् वाक्य लिखे हुए हैं–
   (क) जम्मू की प्रति में यह वाक्य मिलता है–
   समये पौष शुदि 11 वार बृहस्पति, तद्दिने पुस्तकमिदं लिखितम्। रामो जयति रामः।
   (इस प्रति का मास अ से तथा दिन त से पृथक् है)
   (ख) अलवर की प्रतिलिपि में यह वाक्य लिखा हुआ है–संवत् 1914 तदनुसार, 1857 वैशाख कृष्ण तृतीया तद्दिने पुस्तकं लिखितम् (यह अलवर की प्रतिलिपि का समय है।)
   (ग) तिरुपति की प्रतिलिपि में ये वाक्य लिखे हैं–
   सिधि निधि निधि विधु वर्ष शुभ अस सुरु करूँ विचार।
   श्रीसाहित्यसुधासिन्धु तिथि तृतीया सोमवार।।
   प्रति समान लेखक लिखे यह तब हृदय विचार।
   पण्डितजन नहीं देवेंगे लेखक दोष लगार।।
   (यहाँ यह तिरुपति की प्रतिलिपि का समय संवत् 1998 तदनुसार 1941 दिया है)।

कृतिरियं विश्वनाथस्य। शुभं भवतु।[1]

कीर्त्तिशेषं गते तैस्तैर्गुणैर्विक्रमभूभुजि।
ग्रहाम्भोधिरसेन्दौ (वै तस्मिन्)[2] संवत्सरक्रमे।। 296।।

एकादश्यां गुरौ स्वीयः सुधासिन्धु र्विलेखितः।
पत्तने चन्द्रचूडस्य विश्वनाथेन धीमता[3]।। 297।।

विश्वनाथ की यह रचना है। कल्याण हो।

उन उन अर्थात् पराक्रम, दान दया और दाक्षिण्यादि प्रशस्त गुणों से समन्वित महाराज विक्रम के यशोमात्रशेष रह जाने पर अर्थात् उनके दिवङ्गत होने के उत्तर काल में ग्रह, समुद्र, रस और चन्द्र वाले उस (विक्रम) वर्ष की शृङ्खला (संवत् 1649 तदनुसार सन् 1592) में एकादशी में गुरुवार के दिन अपने इस ग्रन्थ साहित्यसुधासिन्धु को शिव के (काशी–वाराणसी नामक) नगर में विद्वान् विश्वनाथ ने लिखाया है।।। 296–297।।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने अपनी रचना का समय, स्थान और ग्रन्थ का नाम बताते हुए अपना नाम भी लिखा है। ग्रहों की 9, समुद्रों की 4, रसों की 6 और इन्दु की 1 सङ्ख्या हुआ करती है। अङ्कानां वामतो गतिः अर्थात् अङ्कों की गिनती उल्टी ओर से शुरू होती है इस नियम से 9–4–6–1 का क्रम 1649 हो जायेगा और इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना का काल वैक्रम संवत् 1649 तदनुसार सन् 1592 ई० निर्धारित हो जाता है। विलेखितः पद से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की रचना तो स्वयं की है किन्तु उसे बोलकर किसी लिपिकर्ता से लिखवाया है।

—•—

1. ज अ; इति शुभं शिवमस्तु त
2. संशोधित; ज अ त में यह स्थान मिटे हुए अक्षरों वाला है।
3. इस श्लोक के तुरन्त बाद जम्मू की प्रति में यह लिखा हुआ है–
इदं पुस्तकं काशीस्थचिन्तामणिना लक्ष्मणब्रह्मज्ञानिने दत्तम्। श्रीकृष्णार्पणमस्तु। श्रीरामः श्रीरामशरणं मम।

साहित्यसुधासिन्धुस्थसूत्रकारिकानुक्रमणिका

अकाण्डे	5, 130
अखण्डवर्ण	7, 176
अग्राम्य	6, 161
अथै	3, 28
अधिक	5, 107
अधिक्षे	3, 64
अनङ्गस्य	5, 131
अनवी	5, 123
अनिष्या	3, 65
अनुपप	8, 290
अनुपम	8, 208
अनुवादे	5, 126
अन्यत्रकु	8, 278
अन्यव्यपो	8, 256
अन्यसम्ब	5, 117
अन्वय	5, 119
अपदस्थ	5, 101
अपर्याप्त	5, 116
अपारुष्य	6, 159
अप्रतीतगु	8, 289
अप्रतीतमि	5, 93
अप्रसि	5, 88
अभिधा	2, 11
अभीष्टफला	8, 266
अभीष्टार्थ	3, 58
अर्थदृष्टि	6, 164
अर्थविनिमय	8, 246
अर्थविशेषं	8, 274
अर्थविशेष	8, 230
अर्थवैम	6, 156
अर्थव्यक्ति	6, 144
अर्थाना	8, 210
अर्थालङ्कार	8, 191
अर्थो	5, 122
अर्धनि	5, 111
अलङ्कारकृता	1, 7
अलङ्कारस्ये	8, 282
अवर्तमान	8, 247
अवाचक	5, 91
अविमृष्टविधेयांशं प्रा	5, 97
अविमृष्टविधेयांशं वि	5, 84
अवृत्ति	6, 141
अवैषम्यं	6, 157
अश्रु	3, 50
असमानगुणं	8, 279
असमानविशेषणं	8, 224
असुन्दर	4, 78
असूया	3, 62
आकाङ्क्षा	2, 8
आक्षेपोऽथ	8, 195

आत्म	3, 56	उपमेये	8, 213
आदरा	3, 67	उपसर्गं	5, 87
आनन्त्य	2, 12	उपहत	5, 103
आनुपूर्व्या	7, 174	उभयत्र	8, 284
आम्नात	5, 86	एकस्य नाना	8, 252
आरोप्या	2, 17	एकस्यै	8, 209
आरोप्ये	2, 18	एकादश्यां	8, 297
आरोहन्त्य	6, 154	एकावली	8, 272
आलम्बनं	3, 26	एकेना	8, 271
आवृत्ति	7, 169	ओजः	6, 143
आश्रितम	8, 268	करुणे	6, 137
आसत्ति	5, 114	कल्पि	5, 95
आस्ते	8, 294	कष्ट	5, 129
इतरानपेक्ष	8, 251	कान्तिरौ	6, 153
इयमन्या	8, 204	कारणप्र	8, 238
उक्ता	3, 71	कारणान्त	8, 263
उक्तेर्वैचि	6, 158	कार्यकारणाक्रि	8, 268
उत्कण्ठे	3, 55	कार्यकारणगु	8, 267
उत्कर्षयो	8, 250	कार्यकारणयोः	8, 228
उत्तरवचन	8, 259	कीर्तिशे	8, 296
उत्तरोत्तर	8, 257	कुतोऽपि	8, 260
उत्ताल	1, 1	क्रमकौ	6, 155
उत्ताला	1, 2	क्रमः	5, 119
उपमानत उप	8, 234	क्रिययैव	8, 223
उपमानतिर	8, 275	क्रिया	3, 69
उपमानन्वयौ	8, 192	गुण	4, 80
उपमानोपमेययोरव	8, 211	गुणीभूत	4, 79
उपमानोपमेययोर्लिङ्ग	8, 288	गुर्वादि	3, 32
उपमेयतावच्छेदकनि	8, 218	घूर्णल्लो	8, 292
उपमेयतावच्छेदकप्रकार	8, 225	चन्द्र	1, 3

चमत्कारे 8, 283
चित्तस्य 3, 68
छन्दो 5, 90
छेकवृ 7, 170
जनिता 5, 110
जातिप्र 8, 287
जात्या 8, 286
जायते परमा 1, 4
जायते वि 3, 45
जुगुप्सा 3, 43
ज्ञेयौ शृ 5, 121
ट्यदि 6, 142
तत्काव्यं 5, 96
तत्तज्जा 8, 242
तत्र शब्दा 7, 165
तत्रोपमा 8, 202
तत्त्वं च 8, 255
तत्त्वज्ञा 3, 255
दीप्त 6, 163
दृश्यते 3, 59
द्योतयित्वा 8, 219
द्वयोर्यो 8, 264
द्वादश 3, 39
ध्याये 5, 81
न दोषः 5, 125
नायका 5, 134
निद्रादि 3, 70
निन्दादित 3, 57
निन्दा मुखे 8, 243
निन्दित 5, 85
निर्दिश्यन्ते 8, 240
निर्वेदो 3, 53
निर्व्या 3, 36
निषेध 8, 236
निहता 5, 83
न्यूनपदं 5, 106
न्यूनाधिक 5, 100
पतत्प्रक 5, 109
पदन्यास 6, 152
परस्पर 8, 222
परिशिष्य 7, 173
पर्यायो 8, 197
पश्चादिव 6, 150
पाद 7, 175
पार्यन्तिका 8, 241
पुनरुक्त 7, 190
पूर्वपूर्व 8, 232
प्रकृतरस 5, 132
प्रकृतस्यै 8, 226
प्रतिकूल 5, 102
प्रतिपादं 6, 147
प्रतिपाद्य 5, 89
प्रतिवस्तू 8, 194
प्रत्युज्जीव 2, 20
प्रधान 3, 73
प्रबल 8, 295
प्रयोजन 5, 108
प्रसिद्धे 5, 128
प्रस्तुतस्या 8, 245
प्रस्तुताप्र 8, 276

प्रस्यन्दि	3, 37	यत्रैकार्थमनेके	8, 231
प्राकरणिकरस	5, 120	यदन्यसङ्ग	7, 177
प्राकरणिका	8, 233	यदा एकस्मि	8, 216
प्रौढि	6, 162	यद् भवेद	5, 94
प्रौढो	3, 74	यद् यथा सा	8, 281
बन्धस्य	6, 149	यद्यर्था	8, 227
बन्धे	6, 148	यस्मिन् नु	7, 183
बलस्या	3, 66	यस्मिन् वि	7, 181
बहवो	3, 25	या तु केवल	8, 212
भवेद्	3, 31	यावत्पाटी	8, 291
भाषाश्लेष	7, 187	यूनोरे	3, 33
भिन्न	5, 115	येन	5, 118
भ्रान्तिमांश्च	8, 200	यो गुण:	8, 235
मन:	3, 61	रति	3, 38
माधुर्यौज	6, 136	रसत्व	6, 135
मुख्या	2, 13	रसानु	5, 133
मौलौ	8, 293	राग	3, 49
यत्र गुणानां	8, 215	वक्तुं स	7, 178
यत्र परस्पर	8, 258	वक्तुमु	8, 270
यत्र प्रकृति	7, 185	वक्त्रादि	2, 19
यत्र मुख्या	2, 14	वक्त्रा यद	7, 167
यत्र यथा	8, 261	वक्रो	7, 166
यत्र वाच्य	3, 21	वर्णपद	7, 179
यत्र विभक्ति	7, 180	वर्णानां	7, 171
यत्र व्य	1, 5	वर्णा:	6, 140
यत्र स्वार्थ	2, 16	वस्तुद्व	8, 244
यत्र स्वार्था	2, 15	वस्तुनि	8, 214
यत्रारोपा	8, 217	वस्तुपरो	8, 253
यत्रैकपद	6, 145	वस्तुवि	8, 273
यत्रैकमनेकार्थै:	8, 220	वस्तुस्व	6, 160

वस्त्वन्तर	8, 205	व्रीडा	5, 92
वस्त्वलं	3, 75	शब्दा	3, 72
वाक्येऽपि	5, 99	शृङ्गार	3, 29
वाक्योप	8, 203	शोक	3, 41
वाचको	2, 9	श्रुतमात्रे	6, 146
वाच्यताव	8, 249	श्लेषनि	5, 127
वाच्यव्य	3, 23	श्लेषश्चाथ	8, 193
वाच्याधि	1, 6	संसृष्टि	8, 201
वाच्येऽपि	5, 99	सङ्करे	3, 76
विकटत्वञ्च	6, 151	सन्दिग्ध	4, 77
विध्यनु	5, 121	सन्ध्यभाव	5, 104
विना प्रसि	8, 77	सन्निवेश	7, 189
विभावाद्यै	3, 40	समाधिश्च	8, 199
विरुद्ध ध	8, 265	सम्भवन्त्या	8, 280
विरुद्धमति	5, 98	सम्भो	3, 30
विरुद्धार्थ	5, 113	सर्वत्र	3, 27
विवक्षित	5, 112	सा कल्पिता	8, 207
विशेषो	8, 237	साधारण	8, 229
विशेष्य	8, 221	साभिप्रायैः	8, 254
विषाद	3, 63	सामान्यवि	8, 239
विस्पष्टं क्रिय	7, 168	सारूप्यं	7, 186
विस्पष्टं सम	8, 262	सालङ्कार	5, 82
विस्मय	6, 42	सा स्याद्	8, 206
वीरे बीभत्स	6, 138	सिद्ध्यति	7, 184
वीरो	3, 34	सुख	3, 60
व्यङ्ग्यं	3, 22	स्तम्भश्चे	3, 47
व्यज्य	3, 24	स्तम्भः स्वे	3, 46
व्याजो	8, 198	स्त्री पुन्न	7, 182
व्यापार	2, 10	स्नेह	3, 35
व्याप्नो	6, 139	स्फुटमर्था	7, 188

स्मृतिः पूर्वा 3, 54
स्मृतिवि 3, 51
स्वभावोक्ति 8, 196
हतवृत्तत्वं 5, 105
हर्षाद् 3, 48
हर्षामर्षाव 3, 52
हीनत्वमधि 8, 285
हेत्वभिधान 8, 248

सङ्ख्याविरहितकारिकाणमनुक्रमणिका

अत्रालुप्त	5, 103	दृष्ट्वा	314
अदोषं	7	दोषे	152
अदोषौ	9	न यत्र	156
अनुभा	99	नान्ध्री	205
अनौचित्या	364	पदार्थे	406
अविरल	586	पश्यन्ति	107
अहेतु	140	पूर्वार्थ	266
आश्रयैक्ये	327	प्रसिद्धे	360
आयुर्घृतं	586	प्रौढा	617
इदम	235	फलव्या	113
इष्ट	152	भिन्न	214
उत्कर्षो	331	मञ्जी	314
उत्ति	221	यत्राति	521
करुण	384	यदि	381
कर्णा	347	यदोप	495
कान्ते	249	यन्न	407
काव्यं	5	यस्मिन्	550
कीटा	14	युवतेरिव	381
केचिद	413	योगवशा	622
गुणस्फु	411	रसो	106
गुणानां	411	वस्तुप्र	538
चिरं	117	विरुद्धैः	116
जादि	107	विशिष्य	106
तत्सा	269	व्यक्तः	254
तदति	380	व्यभिचा अभिव्यक्तः-व्यक्त	353-354

शृङ्गारी	107	सुप्तिङ्	411
श्लथ	385	सैषा सर्वत्र	633
श्लाघ्य	385	सैषा सर्वत्र	532
संवीतस्य	351	स्वादः	104
सम्य	141	हेतुमता	585

साहित्यसुधासिन्धावुदाहृतश्लोकानुक्रमाणिका

अंशुकानि 3, 38
अकलित 5, 181
अक्लिष्ट 1, 7
अखण्ड 8, 353
अङ्कम 8, 398
अङ्ग 8, 391
अचूचु 5, 127
अच्छिन्न 1, 2
अजनि 1, 8
अत्युच्च 8, 327
अथ नय 6, 239
अथ स 6, 218
अद्यापि ता 5, 128
अद्यापि स्त 5, 175
अद्यापि स्म 5, 185
अधिक 5, 165
अनयो 6, 229
अनाकूतै 8, 373
अनात 8, 383
अनिशं 8, 331
अनेन कस्या 3, 80
अनेन यूना 8, 402
अनेन सर्वा 8, 382
अन्यास्ता 5, 161
अन्योन्या 3, 36
अपकर्ता 3, 59
अपाङ्ग 8, 427
अपि दिव 2, 11
अभिनव 8, 93
अभिसारि 8, 364
अमन्दसु 6, 211
अमन्दसु 7, 250
अमृतम 6, 233
अम्बरम् 5, 176
अयं पद्य 5, 137
अयं स 7, 272
अयमुद 2, 9
अये राम 5, 196
अर्वाग 3, 85
अलमल 3, 101
अवश्य 4, 116
अविदग्ध 8, 330
अविदित 5, 207
असंशयं 3, 78
असकल 6, 216
असज्ज 7, 266
अस्तं 3, 378
अस्पृश 8, 360

अस्मिंश्च	8, 285	उत्कट	7, 254
अस्य ते	6, 241	उत्करणो	8, 372
अहो विशा	8, 424	उत्तरङ्ग	7, 257
आगत्य	4, 120	उत्तिष्ठ	5, 135
आज्ञा	5, 192	उत्पक्ष्म	3, 70
आदाय	8, 381	उत्फुल्लकमला	8, 442
आदौ	8, 449	उत्फुल्ल स्थ	8, 326
आद्यन्त	8, 299	उदेति	6, 232
आधाय	6, 235	उद्गर्भ	8, 292
आनन्द	8, 423	उद्दाम	5, 166
आनीतैव	3, 58	उप प्राका	8, 334
आनीतैव	3, 96	उभौ यदि	8, 290
आन्दोलिका	5, 204	उर्व्यसा	5, 150
आपृच्छस्व	1, 1	एतत्किं	8, 310
आमूल	8, 328	एतस्याश्च	2, 16
आययु	5, 200	एभिः	3, 40
आयाता	3, 24	एवं वादि	3, 83
आयाता	3, 112	एवमन्ये	6, 247
आर्योऽसि	7, 274	एष क्षुभ्ना	5, 178
आश्व	6, 245	एहि	8, 436
आस्तां	3, 76	कण्ठस्य	8, 409
इति विर	3, 109	कदली	3, 17
इति स्ख	3, 67	कथं	3, 91
इदं क	8, 309	कपाल	7, 267
इदम	5, 164	कमलभि	8, 281
इदानीं	8, 294	कमलाक्षे	8, 323
इन्दी	8, 295	कर्त्ता	8, 401
इह हि	7, 271	कलक्व	6, 227
उच्छृङ्ख	8, 323	कल्या	5, 130

कल्लोल	5, 191	कृष्णेनाद्य	3, 51
कविराज	7, 261	केनासीनः	8, 329
कश्चित्	3, 77	कैलासः	3, 113
काचित्	7, 277	कौटिल्यं	8, 407
कान्तार्थि	6, 240	क्लीबो	8, 394
कान्ते कनक	8, 414	क्व सूर्य	8, 324
कान्ते तल्प	3, 84	क्षुद्राः	3, 46
कान्तेन	3, 27	क्षोणी	3, 81
कामं	6, 238	खण	3, 114
काम्या	7, 278	गगनं	8, 288
कार्या	7, 251	गतं तिर	8, 308
काले	8, 321	गम्यताम	8, 411
किं चन्द्रस्य	8, 435	गर्वग्रन्थि	3, 39
किं छत्रं	8, 366	गाङ्ग	8, 444
किं पद्मस्य	2, 13	गायन्ति	8, 300
किं लोभेन	5, 148	गुर्वादि	3, 24
किं वृत्तान्तै	8, 386	गुर्व्यसा	5, 157
किं स्वर्गा	8, 412	गृहिणी	3, 34
किञ्चिद्	3, 100	गृहिणी	8, 441
किमसुख	8, 406	ग्रथ्नामि	8, 459
किमिन्दु	8, 311	घनसम	8, 306
किसलयकरै	8, 317	घूर्णत्पाट	8, 105
किसलयमिव	3, 99	चकास्ति	8, 460
कीर्तिस्ते	8, 319	चकास्त्यङ्ग	7, 280
कुर्वन्ना	8, 369	चकितहरि	8, 297
कृतमनु	5, 162	चञ्चद्भुज	6, 228
कृत्वा	3, 94	चण्डांशु	2, 10
कृष्ण त्वं	3, 43	चण्डालै	8, 451
कृष्णराज	5, 168	चन्दन	8, 363

चन्द्रायते	8, 303	तीव्राभि	3, 71
चरण	6, 223	ते कौपी	7, 268
छाया जा	5, 180	त्यज	5, 202
छाया वि	5, 163	त्वं तु	8, 374
जगति	5, 186	त्वत्तः	8, 375
जननी	7, 275	त्वत्प्रसा	7, 373
जनम	8, 340	त्वमग्रतः	5, 208
जरामर	3, 103	त्वयि दृष्ट	8, 345
जलनि	8, 352	त्वयि निब	5, 172
जाता	2, 14	दर्भाङ्कु	6, 231
जातो	3, 37	दिल्लीशो	3, 82
ज्ञाति	3, 93	दिवम	8, 438
टङ्क	8, 390	दिविषद्	5, 160
तं वीक्ष्य	3, 60	दिशि	6, 217
तथेति	3, 32	दुर्गं	8, 392
तन्नास्ति	7, 265	दुर्वारा	1, 6
तन्नेत्रा	3, 72	दूति	1, 3
तन्मध्यं	3, 53	दूना	7, 279
तन्वी	5, 154	दृशा	8, 445
तमाल	5, 184	देवी	8, 342
तरलं	8, 356	देशे	8, 385
तव कण्ठा	5, 152	दोला	5, 198
तव भवने	8, 433	द्राघी	8, 312
तस्मै	3, 88	द्विधा	8, 307
तस्यां	5, 174	द्विर	8, 446
तादृश	2, 15	धनुर्ज्या	5, 197
तान्यक्ष	8, 335	धन्या केयं	6, 230
तारुण्यो	3, 20	धन्यानां	3, 57
तीर्था	5, 132	धन्यास्ते	3, 18

धवलो	8, 443	निरर्थ	8, 380
धीरो	5, 155	निर्वाण	5, 142
धृतायु	3, 79	निर्वीर्यं	3, 89
धौते	5, 147	निशात्य	8, 359
न काव्य	8, 283	निशा श	8, 418
न तद्	8, 431	निस्त्रिं	3, 33
न नमयि	3, 104	निःश्वासेन	3, 29
ननु	3, 19	निःश्वासेषु	3, 98
नन्वा	8, 397	नीलेन्दी	5, 153
न पक्ष	5, 144	नीलोत्प	7, 270
न पक्ष	8, 367	नैतच्चि	8, 351
नभ	8, 302	न्यक्कारः	1, 5
नमन्नृ	6, 225	न्यञ्चद्	3, 25
नयनानन्द	8, 450	पतिश्व	6, 243
नयनान्य	4, 117	पत्रा	4, 122
नवयौवन	8, 348	पद्म	8, 305
नवयौवने	8, 416	पम्पा	7, 255
न साधनो	5, 140	परिणत	6, 215
न स्यन्द	6, 221	परिमृदि	8, 284
नाथे	5, 179	पश्चात्	8, 339
नानावि	7, 264	पश्या	8, 458
नानीता	8, 357	पश्योद	8, 371
नाशिष्यः	3, 30	पातक	8, 387
नास्मा	3, 54	पाताल	8, 455
निजनय	6, 247	पातुं	3, 56
नितम्ब	7, 259	पायं	3, 41
नित्य	5, 206	पि पि	3, 86
निद्रा	8, 349	पुनरपि	3, 75
निम्न	8, 432	प्रजा	5, 120

प्रतिकू	8, 361	मन्थायस्त	7, 252
प्रहरक	3, 107	मय्येव	3, 50
प्रहरवि	4, 126	मल्लिका	8, 428
प्राक्	6, 212	मसृण	5, 170
प्राणेश्व	5, 221	महीभृत:	5, 190
प्रात:	3, 322	मा गर्व	3, 68
प्रिये	8, 362	मानम्	8, 417
प्रेमप	3, 21	माने	3, 44
प्रेयांसो	6, 244	मा पुन	6, 226
प्रौढि	8, 355	मुक्ता	5, 201
बबन्ध	8, 376	मुखमा	8, 289
ब्रह्माण्ड	5, 167	मुग्धा	8, 434
ब्राह्मण	4, 124	मूर्ध्ना जा	3, 48
भक्ति	7, 270	मूर्ध्नामु	5, 149
भभ	3, 64	मृणालि	8, 304
भवद् यशो	8, 437	मृदु	6, 236
भाति	8, 289	मृधे	8, 286
भास्वद्	2, 12	मृषा	3, 69
भूमि	5, 256	यज्वेव	7, 258
भूष्यन्ते	8, 346	यतिन:	5, 158
भैरव	5, 173	यत्रानु	5, 187
भोजन	8, 412	यत्रैव	3, 108
मञ्जु	5, 141	यथायं	5, 131
मत्तेभ	3, 106	यदि त्रिलो	8, 336
मथ्नामि	4, 125	यदि दह	8, 343
मध्यगत	5, 147	यदेव तनु	6, 242
मनोहारिणी	8, 384	यस्य कि	8, 426
मन्त्रान्	3, 52	यस्य त्व	3, 55
मन्थायस्त	6, 213	यस्या:	3, 493

यान्त्या	6, 237	लोकं	8, 344
युगा	8, 425	लोकसु	8, 404
ये पूर्वं	8, 370	लोचने	7, 269
योग्य:	5, 177	वक्त्रस्य	8, 413
योऽपि	8, 409	वक्त्रा	3, 188
योऽसौ	8, 403	वक्षोज	5, 90
य: श्रीख	6, 218	वक्ष: स्थ	5, 169
रक्तस्त्वं	8, 447	वचन	8, 400
रङ्गे	5, 210	वने	8, 429
रजनि	7, 273	वसु	7, 276
रत	5, 150	वहति	7, 262
रह:	6, 219	वह्नि	5, 136
राकाया	8, 337	वागर्था	8, 298
राजन् जहा	8, 89	वाता	5, 195
राजन् विभा	5, 157	वामां	5, 171
राज्यं नि	3, 86	वाष्प:	8, 347
राज्यं व	3, 31	वास	6, 222
रूपं यौ	8, 410	विघ्न	5, 138
रूपाम्	8, 316	विद्रा	3, 110
रोलम्बो	1, 4	विधाया	3, 74
रोलम्बो	4, 121	विनयै	8, 408
रोषात्	8, 388	विन्य	3, 23
लग्नं रागा	5, 194	विपुलं	2, 15
लङ्का	3, 95	विमुञ्चा	5, 183
लतामूले	8, 333	विशन्तु	8, 454
ललित	6, 214	वृद्धोऽन्ध:	3, 92
ललित	7, 253	वैखानसै:	6, 224
लाक्षा	3, 87	वैवस्वतो	6, 220
लीला	5, 199	शक्ति	5, 182

शनिर	3, 111	सपदि मु	3, 19
शरदि	8, 322	सममेव	8, 341
शल्य	7, 249	स महा	5, 143
शशिमण्डलमिव वद	8, 282	समान	3, 26
शशिमण्डलमिव वि	8, 287	स मुनि	8, 453
शशी	8, 395	सर्वत्र	4, 118
शातकुम्भ	8, 379	सर्वेषां	5, 145
शिरसि	8, 456	सलिलं	8, 430
शिरीषा	8, 420	सह दि	8, 377
शिलसि	5, 205	सह भृत्य	5, 134
शूली	4, 119	सहस्त्रगो	5, 133
शृङ्गारी	5, 209	साधारणो	3, 45
शोकात्	5, 203	सानुज्ञ	8, 399
श्यामचा	8, 314	सान्त्व	2, 28
श्यामलते	8, 301	सा बाढं	3, 63
श्यामां	5, 189	सा रथ्या	3, 73
श्रीरेषा	3, 62	सा रस	6, 234
श्रीहर्षो	8, 393	सा व सइ	8, 439
श्रुतेन	5, 193	सिंहिका	8, 421
श्लाघ्या	8, 325	सि सीधु	3, 65
सकलङ्केन	8, 354	सीमन्ते	5, 139
सखे	7, 248	सुखमि	8, 396
सङ्ग्रामा	8, 350	सुधाकर	5, 151
सद्यो	6, 242	सुमहद्	8, 419
सद्य:	8, 422	सुवृत्त	8, 291
सन्तुष्टे	8, 358	सैन्यानि	8, 457
सन्नारी	8, 448	स्खलयति	3, 102
सपदि कृ	7, 263	स्थाने	3, 42
सपदि प	5, 146	स्थितमु	3, 97

स्निग्धं	3, 115
स्फारे	8, 368
स्फुट	8, 320
स्फुरद	8, 440
स्मरशबर	8, 318
स्मरः खरः	5, 156
स्वप्नेऽपि	8, 296
हंहो	8, 332
हरस्तु	3, 47
हरस्तु	4, 123
हिन्दो	8, 315
हिमव्य	3, 61
हृदय	8, 338
हृदया	3, 35
हृदयेन	8, 365
हृष्यत्	7, 260

सङ्ख्याविरहितश्लोकानुक्रमणिका

अविरल	586
अस्त	392
आयुर्घृतम्	586
उदेति	318
एकान्ते	72
ऐन्द्रं	540
काले	418
कृतम	547
केयमव	401
जनयति	538
ततः प्रतस्थे	467
तव गणया	539
तस्याश्चेन्	539
तुमु	463
निहता	542
प्रेमार्द्रा	279
भम धम्मि	63
मातङ्गा	386
यदि	378
वनभुवि	390
वनेचराणां	542
श्लाघ्यै	391
सा भूधरा	468

आकरग्रन्थानुक्रमणिका

लक्षणग्रन्थाः

काव्यप्रकाशः

काव्यादर्शः

काव्यालङ्कारः(भामहकृतः)

काव्यालङ्कार (रुद्रटकृतः)

काव्यालङ्कारसूत्रम्

दशरूपकम्

ध्वन्यालोकः

नाट्यशास्त्रम्(भरतकृतम्)

सरस्वतीकाण्ठभरणम्

साहित्यदर्पणः

लक्ष्यग्रन्थाः

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

अमरुकशतकम्

उत्तररामचरितम्

कर्पूरमञ्जरी

कुमारसम्भवम्

गाथासप्तशती

नलचम्पूः

नैषधीयचरितम्

मृच्छकटिकम्

रघुवंशः

रत्नावली

वासवदत्ता

कारिका

काव्यं यशसे 1, 2

श्लेषः प्रसादः 1, 41

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः 2, 85

आयुर्घृतम् 7, 73

पश्चादिव 3, 25

तत्त्वज्ञानाप 4, 9

अनौचित्याद् 3, 14

बहवोऽर्थाः 7, 4

अदोषं गुणवत् 1, 2

यूनोरेकतरस्मिन् 3, 109

श्लोकः

अक्लिष्टबाल 6, 20

प्रहरविरतौ 12

किसलयमिव 3, 5

उत्तिविसेसो(प्रस्तावना)

अथ सा पुनरेव 4, 4

भम धम्मिअ 2, 75

एकान्ते सेवते 2, 18

यदि त्रिलोकी 3, 40

शिलशि 8, 12

वागर्थाविव 1, 1

अलमलम 3, 17

सारसवत्ता(मङ्गलाचरणम्)

आकरग्रन्थानुक्रमणिका 805

वेणीसंहारम्	सह भृत्यगणम्	2, 5
शिशुपालवधम्	उभौ यदि	3, 8
हनुमन्नाटकम्	मूर्ध्नामुद्वृत्त(अङ्क 8)	

नामानुक्रमणिका

अज: 155

अनन्तदेव: 638

गुर्जराधीश: 170

कालिन्दी 638

गोदावरी 23, 639

गौडेन्द्र: 170

चण्डीदास: 15

त्रिमलदेव: 639

दिल्लीश: 170

धारासुरम् 638

भरत: (मुनि:) 116

महिमभट्ट: 34

मुक्तिपुरी 639

लङ्का 178

विक्रम: 640

विश्वनाथ: 639

वीरभानु: 178

शकुनाला 149

पात्रपरिचयः

पुरुषाः

1. सूत्रधारः		
2. पारिपार्श्वकः		
3. कर्पूरतिलकः	=	कलिङ्गराजः प्रधाननायकः
4. रत्नचूडः	=	कलिङ्गराजकर्पूरतिलकस्य मुख्यामात्यः
5. शङ्खपालः	=	दानवराजो मृगाङ्कलेखाऽपहर्ता
6. शाखामृगमुखः	=	कर्पूरतिलकस्य वयस्यो विदूषकः
7. कुण्डरुधिरः	=	राक्षसः
8. कलकण्ठः	=	कर्पूरतिलकस्य वयस्यः
9. कामरूपेश्वरः	=	मृगाङ्कलेखायाः पिता
10. नीतिवृद्धः	=	कामरूपेश्वराऽमात्यः
11. चण्डघोषः	=	कामरूपेश्वरतनयः
12. तिग्मप्रतापः	=	कर्पूरतिलकस्य सेनापतिः

वैतालिकोद्यानपालकञ्चुकिप्रतिहारिपिशाचप्रभृतयः

स्त्रियः

1. नटी		
2. मृगाङ्कलेखा	=	कामरूपेश्वरतनया प्रधाननायिका
3. कलहंसिका	=	मृगाङ्कलेखासखी
4. लवङ्गिका	=	मृगाङ्कलेखासखी
5. सिद्धियोगिनी	=	कर्पूरतिलकस्योपकारिका परिव्राजिका
6. विलासवती	=	कर्पूरतिलकस्य प्रधानमहिषी
7. नवमालिका	=	विलासवत्याः सखी
8. लम्बस्तनिका	=	कुण्डरुधिरस्य गृहिणी

मृगाङ्कलेखा नाटिका

प्रथमोऽङ्कः

दूरादङ्घ्रिप्रहारप्रबलभरनतप्रौढदर्वीकरेन्द्र-
श्वासोद्रेकप्रशुष्यज्जलधिजलभरत्रस्तपाठीनकूटम् ।
गङ्गारिङ्गत्तरङ्गावलिवलितजटाक्षालनं शूलप्राणेः
पायादायासखेदाज्जगदिदमखिलं ताण्डवाडम्बरं तत्।। 1।।

अपि च-

वामां वामाङ्गभागे कलयति मदनप्लोषकीर्तिं च धत्ते
सर्वैश्वर्याकुलोऽपि प्रकटयति करे नारमेकं कपालम्।
दाता मुक्तेर्गरीयान्भवति स भुवने यः स्वयं चाविमुक्तः
पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथः।। 2।।

अपि च-

रोषाकुञ्चितपाणिपल्लवतया सेवाञ्जलिर्नो कृतः
स्तब्धैकाङ्गतया च नो नतिततिर्विस्तारिता शम्भुना।
नो किञ्चिद् गदितं च मूकपदवीं वक्त्रैकदेशे गते
पार्वत्याः सफलैव मानपदवी पायात् त्रिलोकीतलम्।। 3।।

नान्द्यन्ते सूत्रधारः-अलमतिविस्तरेण। अद्य किलाचलतनयालोचन-चारुचञ्चरीकचक्रवालचुम्बितवदनसरोजस्य ताण्डवाडम्बरविलुलितगङ्गाजलधारा-धौतनरकपालावलीसञ्जातनवीनचन्द्रशेखरकौतूहलाकुलितसकललोकवन्दितपादारविन्दस्य निटिलानलभस्मीकृतमकरकेतनविरहविधुररतिसन्तोषकस्य वाराणसीपतेर्विश्वेश्वरस्य यात्रायां मिलिता एव पार्षदाः। तथा हि-

एते बङ्गकलिङ्गसिङ्गलवलत्तैलङ्गभूलिङ्गगा-
श्चञ्चद्द्राविडगौडचोलविलसत्काश्मीरसौवीरजाः ।
अन्ये लाटवराटभोटतटगाः कर्णाटचेद्युद्भवाः
केऽप्यन्ये कविवाक्यकौशलकलाविज्ञा महाराष्ट्रजाः।। 4।।

तदत्र गत्वा निजगुणकणिकाकौतूहलप्रदर्शनाय सकलमेव विदग्धजनं प्रार्थयामि। अथवा कृतं प्रार्थनया। यतः–

विकसितसहकारश्रेणिकुञ्जे मिलिन्दाः
सरसनलिनवापीमध्यदेशे मरालाः।
निबिडजलदकाले किं च ते नीलकण्ठाः
कथय किमिह ते ते प्रार्थनामाश्रयन्ते।। 5।।

(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये कथमुदयाचलान्तरित एव भगवानम्भोजिनीवल्लभः परां कोटिमधिरोहति रमणीयतायाः। (अञ्जलिं बद्ध्वा)

अञ्चलान्तरितचोलसुन्दरीकुङ्कुमाक्तकुचमण्डलप्रभम् ।
कोकशोकदहनाम्बुदमेकं पद्मिनीरमणमेष नतोऽस्मि।। 6।।

(इति प्रणम्य) तद्यावद् गृहमेव गत्वा रमणीमाहूय कस्यापि शृङ्गाराद्भुतप्रायस्य प्रबन्धस्याभिनयाय सज्जीकरिष्यामि सकलमेव कुशीलवजनम्। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य इदमस्मदीयं गृहम्। यावत्प्रविशामि। (प्रविश्य सर्वतोऽवलोक्य) सहर्षम् कथमत्र सर्वत एव महोत्सवारम्भः। तथा हि–

एषा कुन्तलमालिका सुकुसुमश्रेणिं विधत्ते जवा-
दन्या चन्दनमङ्गना कुचतटे विस्तारयन्ती स्थिता।
अप्यन्या चरणेऽपि यावकरसं बाला तनोत्यादरा-
दालीलोचनमञ्जनेन तरुणी सेयं करोत्यञ्जितम्।। 7।।

अपि च–

एताः प्रियालतरुसुन्दरमञ्जरीभिः
कणार्वतंससरसीरुहमञ्चयन्ति ।
द्राक्षालतापरिचितोपवनालिमेताः
सारङ्गशावनयनास्त्वरितं प्रयान्ति।। 8।।

तत्र जाने महोत्सवकारणम्। तावत्प्रियां व्याहरामि।

प्रिये! इतस्तावत्।

(प्रविश्य) नटी–[1] अज्ज! घरकम्मवावडा अहं तुए कीस आलविदा?।

सूत्र०–आर्ये, कथय केयं महोत्सवपरम्परापरिणतिरस्मद्गृहे।

1. आर्य! गृहकार्यव्यापृताऽहं त्वया कीदृशमालपिता।

नटी– [1]अज्ज किल भअवदो अणंगसासणस्स दंसणुक्कंठिदसअलणाअरजणस्स अग्गदो कोदूहलं कादुं पज्जुस्सुओ सअलो ज्जेव कुसीलवजणो। सो एस महूसवारंभो। ता कहेहि किं एत्थ अभिणीअ कोदूहलक्कंतमाणसं संपादेम्ह णाअरजणं।

सूत्र०– तदेतादृशि वाराणसीनगरे समीचीनतमप्रबन्धेन मृगाङ्कलेखोदयेन सकलकलाकोविदानाममीषां चित्तचकोरे चमत्कारं कुर्मः। अथवा कृतमस्माकं परिहासैकफलकेन कविगोष्ठीविनोदनकौतूहलेन। यतः,

कुम्भाम्भसा जलनिधेरभिषेकपूजा
काचैर्विदूरधरणीधरसेवनानि।
दीपावलीविरचनं न नु पद्मबन्धोः
स्मेराननं न वितनोति जनं किमेतत्।। 9।।

(आकाशे) किं ब्रवीषि स्वत एव काव्यकलाकलापकुशलाः सामाजिका इति। (विहस्य)

केयं शङ्का बत कविकथालम्पटोऽसौ प्रसिद्धो
विद्वत्सार्थः प्रथितयशसा तर्जितोद्दामचन्द्रः।
शुश्रूषुस्ते किमपि गदितं पूरयैतस्य वाञ्छां
द्वित्रैरिन्दुः स्वकरनिकरैः क्षीरधिं नो धिनोति।। 10।।

(श्रुत्वा सोल्लासम्।) कथं नियोजयन्ति मामार्यमिश्राः पर्षदाराधनाय। तदनतिक्रमणीयं गुरोर्वचनम्। (नटीं प्रति।)

प्रिये! प्रस्तूयतां सङ्गीतकम्।

नटी– [2] ता किं गीदं?

सूत्र०– अथ किम्।

नटी– [3] ता अग्गदो तुह्माणं भोदु।

सूत्र०– (गायति)

---

1. अद्य किल भगवतोऽनङ्गशासनस्य दर्शनोत्कण्ठितसकलनागरजनस्य अग्रतः कौतूहलं कर्तुं पर्युत्सुकः सकल एव कुशीलवजनः। स एष मधूत्सवारम्भः। तत्कथय किमत्राऽभिनीय कौतूहलाक्रान्तमानसं सम्पादयामो नागरजनम्।
2. तत् किं गीतम्।
3. तत् अग्रतो युष्माकं भवतु।

सुरभिसमीरणवेल्लल्लवलीलतिकामनोज्ञनिकुञ्जे ।
रचयति पञ्चमनादं कुण्ठितपान्था हि कलकण्ठी।। 11।।

नटी–(गायति) [1]मअरन्दपाणमहुरं गीदं सुब्बइ मत्तमहुअरीणम्।

एदेहि भमरेहिं फुल्लिदमल्लीलदाकुंजे।। 12।।

सूत्र०–तदिदानीं का खल्वमीषां चेतश्चकोरचमत्काराय मृगाङ्कलेखा भवेत्।

नटी–मिअङ्कलेहाज्जे व[2]।

(नेपथ्ये) भाव! त्वर्यताम् 2।

सूत्र०–(स्मृतिमभिनीय सहर्षं) नन्विमामेव गोदावरीतीरपवित्रधारासुर-नगरनिवासिनः साम्प्रतं विरचितवाराणसीवसतेस्त्रिमल्लदेवतनुजस्य विश्वनाथशर्मणः कृतिं मृगाङ्कलेखाभिधानां नाटिकामभिनेतुमुद्युक्त एवास्मि। (प्रविश्य) पारिपार्श्वकः–भाव! अनतिप्रसिद्धस्य तस्यैव दाक्षिणात्यस्य कवेः कृतौ प्राचीनप्रबन्धानवधूय पर्युत्सुकः सामाजिकजनः।

सूत्र०–मारिष! उचितमेवैतद्विदग्धपुरुषाणाम्। तथा हि–

अतिपरिचयदोषात्प्रौढबालेव वाणी
न रचयति विनोदं प्राक्तनानां कवीनाम्।
अभिनवकविवाचा काऽपि रीतिर्नवीना
युवतिरिव विधत्ते प्रौढमानन्दमन्तः।। 13।।

(नेपथ्ये) साधु भोः कुशीलव! साधु। (अतिपरिचयेत्यादि पठति।)

सूत्र०–(विलोक्य) एष देवस्य कर्पूरतिलकस्य प्रधानसर्वस्वं रत्नचूडशर्मा साधुवादपुरःसरमित एवाभिवर्तते। तदनन्तरकरणीयाय सज्जीभवामः। (इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना।

(ततः प्रविशति रत्नचूडः।)

रत्नचूडः–साधु भोः कुशीलव साधु। (अतिपरिचयेत्यादि पठित्वा)अत एवास्मत्स्वामी कलिङ्गेश्वरः कामरूपेश्वरतनयां मृगाङ्कलेखां मृगयाप्रसङ्गेनावलोक्य न तथा चिरपरिचितां विलासवतीं मन्यते। किं बहुना,

---

1. मकरन्दपानमधुरं गीतं श्रूयते मत्तमधुकरीणाम्।
   एतैर्भ्रमरैः फुल्लितमल्लीलताकुञ्जे।।
2. मृगाङ्कलेखैव।

नाङ्गं भूषणभूषितं रचयति प्रीणाति वीणारवै-
र्नो संसत्सु करोति चिन्तनभरादानन्दबाष्पोद्गमम्।
चित्रे चञ्चललोचनां करतले धर्तुं समुद्योगवा-
नायासं गमितः स्मरेण विशिखैर्धीरस्वभावोऽप्ययम्।। 14।।

अपि च–

वारं वारं हसति किमपि श्वासमञ्चत्युदारं
स्फाराम्भोभिः स्थगयति दृशौ स्रस्तकेशोत्तरीयः।
हारं द्वेष्टि श्रयति विजने पङ्कजश्रेणिशय्यां
पीयूषांशुं सपदि मनुते तिग्मरश्मिप्रतापम्।। 15।।

तदिदानीं तत्सङ्गमोपायमनोरथं फलितमिव पश्यामि। यतस्तद्रूपोन्मादमोहितस्तां तिरस्करिण्या विद्यया यावदपहरति दानवः शङ्खपालो नाम तावद्भगवत्या सिद्धियोगिन्या महाराजैकपक्षपातिन्या समाकृष्टैवान्तःपुरम्। उक्तं च देवीं प्रति स्थापनीया सखीवेयं बाला मृगाङ्कलेखा। निर्मितश्च तयैवाद्य मकरन्दोद्याने वसन्तोत्सवनिर्भर इति। (ऊर्ध्वमवलोक्य) कथमुदयाचलकुरविन्दकन्दलशिलाशोभाकामुकः कामुक इव रागसङ्कुलो रजनीविरामशंसी अर्द्धोदितः पद्मिनीरमणः।

नेपथ्ये वैतालिकयोरेकः–

जय जय महाराजाधिराज! कलिङ्गराज! सुखाय प्रभातवेला तत्रभवतो भूयात्। सम्प्रति हि–

फुल्लाम्भोजपरागमांसलमिलन्मत्तालिमालाकुल -
व्याहारैरियमत्र पङ्कजवनी वाचालभावं गता।
अस्तं याति कलानिधौ कुमुदिनी सङ्कोचदीनानना
जाता सम्प्रति चक्रवाकमिथुनं सन्तोषमालम्बते।। 16।।

तत्रैव द्वितीयः–

जय जय कलिङ्गविलासिनीलोचनानङ्ग! सुखाय प्रभातवेला तत्रभवतो भूयात्।। सम्प्रति हि–

निद्राभङ्गविघूर्णमाननयनं विस्रस्तधम्मिल्लकं
जृम्भारम्भविलासदर्शितलसन्नाभीगभीराशयम्।
किञ्चित्कुञ्चितलोचनाञ्चलतया मन्देक्षणं सुन्दरी
कान्तागारगता प्रयाति भवने सूर्योदयाशङ्किता।। 17।।

अपि च–

क्रीडासद्मनि केलिलम्पटतया सम्भोगखिन्नाङ्गना-
निद्राभञ्जनकोविदो गृहशुकव्याहारदीक्षागुरुः।
जीमूतध्वनिमन्थरो बधिरयन्सर्वं त्रिलोकीतलं
प्रातःकालमृदङ्गमङ्गलरवः शोभां विधत्तेतराम्।। 18।।

रत्न०–(ऊर्ध्वमवलोक्य) कथमयं देवः कर्पूरतिलकः सकलनिशा-जागरक्षामक्षामगात्रः पाण्डुरकपोलमण्डलो द्वारदेशगतेन शाखामृगमुखेन प्रियवयस्येन सङ्गच्छमानो मनसा तत्सम्बन्धिनीं कथां कथयन् शय्यामन्दिरमध्यास्ते। तदहमपि राज्यभारनिर्वाहायाभ्यन्तरमेव प्रविशामि।

इति निष्क्रान्तः। विष्कम्भकः।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकश्च।)

राजा–

केनापि चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण
चन्द्रानना मयि चकार सरोजमालाम्।
हा! हन्त! सा स्मृतिगतापि तनोति दाहं
केयं प्रकाररचना मकरध्वजस्य।। 19।।

अपि च–

सा बन्धूकद्युतिरधरयोर्माधुरी सा ऽक्षराणां
ते कालिन्दीसलिलकुटिलाः कुन्तलप्रान्तभागाः।
स्वर्णाम्भोजद्युतिसहचरी सा कुचाऽऽभोगलक्ष्मी-
स्तन्नस्तन्व्या गमनमलसं मानसं नो जहाति।। 20।।

विदू०–(उपसृत्य)[1] जेदु 2 पिअवअस्सो।

राजा–(अश्रुतिमभिनीय पुनस्तदेव पठति।

विदू०–[2]अच्चरिअं 2 कहं पिअवअस्सो पहादमंतं भणदि। ता अहं पि बह्मणीए कदस्स पच्चग्गमोअअस्स कहालावेहिं विणोदेह्मि अप्पाणअं।

---

1. जयतु 2 प्रियवयस्यः।
2. आश्चर्यमाश्चर्यम्। कथं प्रियवयस्यः प्रभातमन्त्रं भणति। तदहमपि ब्राह्मण्या कृतस्य प्रत्यग्रमोदकस्य कथालापैर्विनोदयाम्यात्मानम्।

राजा–(विलोक्य) कथं प्रियवयस्यः।

विदू०–[1]तुह सोत्थि भोदु। भो वअस्स किं तुमं भिक्खुअबम्हणो विअ पढणेक्करसो कुरकुराअंतो चिट्ठसि.। ता कहेहि कीदिसी सा जाए कुंचिदेहिं लोअणेहिं तुमं पेक्खिदो।

राजा-सखे किं वर्ण्यते सा। यस्याः–

नीलेन्दीवरमेव लोचनयुगं बन्धूकतुल्योऽधरः
कालिन्दीजलचारुकुन्तललता बाहू मृणालोपमौ।
रम्भागर्भसमानमूरुयुगलं किं वा बहु ब्रूमहे
सेयं कापि नवीनमीननयना सर्वोपमानिर्मिता।। 21।।

इदानीं च तस्याः–

इन्दुं निन्दति पार्वणं मुखशशी मीनाङ्गनां लोचने
धम्मिल्लोऽपि कलिन्दशैलतनयां दन्तावली मौक्तिकम्।
किञ्चान्यत्कमनीयकाञ्चनरुचस्तस्याः स वृद्धिं गतो
लावण्याम्बुधिरन्धयत्यनुदिनं यूनां मनःसैकतम्।। 22।।

विदू०–[2] भो वअस्स! कीस णाभिसरसि तं मिअलोअणं।

राजा–वयस्य! सम्यगभिहितम्। तथापि,

दृष्टा मत्तचकोरचारुनयना दैवेन यावन्मया
तावत्पञ्चशरश्चकार हृदयं बाणावलीसङ्कुलम्।
कस्येयं क्व गता क्व वा प्रचलिता किं वा वनश्रीरियं
किं वा कामविलासिनीति न मया ज्ञाता न मुग्धात्मना।। 23।।

तन्न जाने काऽत्र प्रतिपत्तिरिति।

(नेपथ्ये) सुखाय वसन्तावतारो भवतु देवस्य। सम्प्रति हि–

रम्यैः कोकिलकाकलीकलकलैर्वाचालमास्ते वनं
जेतुं त्रीणि जगन्ति किं च मदनः सानन्दमुज्जृम्भते।
माकन्देषु लसन्ति चञ्चलदृशां दोलाविलासाः कलं
गुञ्जन्ति प्रतिपल्लवं मधुकराः किं कामदेवाज्ञया।। 24।।

---

1. ते स्वस्ति भवतु। भो वयस्य किं त्वं भिक्षुकब्राह्मण इव पठनैकरसः कुरकुरायमाणस्तिष्ठसि। तत्कथय कीदृशी सा यया कुञ्चिताभ्यां लोचनाभ्यां त्वं प्रेक्षितः?
2. भो वयस्य! कीदृशं नाऽभिसरसि तां मृगलोचनाम्।

विदू०–[1] भो वअस्स! एदे वंदिविंदारआ रुदुराअं अहिणं दंति ता एहि पमदवणम्मि मअणमहूसवं पेक्खंतो अप्पणंवेणोदेहि।

राजा–वयस्य! सम्यगभिहितम्। एहि तत्रैव गच्छामः।

(इति परिक्रामतः।)

विदू०–[2]एदं कोइलालावेहि संकुलं पमदवणं ता एत्थ पविसदु पिअवअस्सो।

राजा–(प्रविश्य समन्तादवलोक्य) अहो सर्वत एव वसन्तावतारः। तथा हि–

सपदि मुकुलितेयं किंशुकानां वनाली
ललितमधुपमाला विभ्रमं सन्तनोति।
इह घनमकरन्दामोदमाद्यन्मिलिन्दा
विलसति सहकारश्रेणिराकम्पकुञ्जा।। 25।।

अपि च,

इह किसलयलीलालोलशाखो रसालः
कलयति कलगीतं कोकिलालीवितीर्णम्।
ललितनवलवङ्गीसङ्गभङ्गीविलासै-
रभिनवमिह भृङ्गी गीतमङ्गीकरोति।। 26।।

(स्पर्शमभिनीय सरोमाञ्चम्)

कावेरीजलसङ्गशीतलशिलापृष्ठे लुठन्तः क्रमा-
दान्ध्रीपीनपयोधरोच्चशिखरप्राग्भारसञ्चूर्णिताः ।
चोलीलोचनलालिताः कुचतटे लाटीभिरालिङ्गिता
दूता एव मनोभवस्य भुवने चञ्चन्ति चैत्रानिलाः।। 27।।

अपि च।

उन्निद्राम्भोजरेणूत्करदरदलनामोदमाद्यन्मिलिन्दः
स्पन्दन्माकन्दवीथीपथि पथिकदशालम्बनान्मन्दमन्दः।
हिन्दोलाकेलिलीलाऽलसललितदृशां लासयत्कुन्तलाली-
मुल्लासी शीतलाङ्गः किसलयति मनश्चैत्रचारी समीरः।। 28।।

---

1. भो वयस्य। एते वन्दिवृन्दारका ऋतुराजमभिनन्दन्ति। तदेहि प्रमदवने मदनमहोत्सवं प्रेक्षमाण आत्मानं विनोदय।
2. एतत् कोकिलालापैः सङ्कुलं प्रमदवनं तदत्र प्रविशतु प्रियवयस्यः।

विदू०– [1]भो वअस्स एदं मारुदं वण्णिअ पंडिदगब्बं उब्बहसि। ता अहं पि एणं सिंदुवारमंजरीहिं संकलिदं मलअमारुदं वण्णिअ पंडिदो हुविस्सं।

राजा–वयस्य! एवं क्रियताम्।

विदू०–

[2]एसो सिंघलकामिणीघणथणत्थाणंमि कत्थूरिआ-
पङ्कासोसणलंपडो दविडजामाणस्स पाडच्चरो।
तेलंगीवसणस्स णच्चणकरो पंडीण लीलागुरू
मंदं वच्चदि मंजरींहिंकलिदो कामिव्व चेत्ताणिलो।। 29।।

राजा–(समन्तादवलोक्य)। कः कोऽत्र भोः!

(प्रविश्य उद्यानपालः)

उद्यान०–आज्ञापयतु देवः।

राजा–क्वचिद्विनोदस्थानमावेदय।

उद्यान०–अतिमनोहरं माधवीलतामण्डपमवधारयामि देवावासयोग्यम्।

विदू०–[3]ता अग्गदो होहि।

राजा–गच्छाग्रतः।

उद्यान०–इत इतो देवः।

राजा–अहो रमणीयता माधवीमण्डपस्य। तथा हि–

इह शिरीषवने वनितासखः किमपि गुञ्जितमञ्चति षट्पदः।
पुनरितोऽपि सरोजवनानिलस्तरलयत्यबलावसनाञ्चलम्।। 30।।

(पुनरन्यतो ऽवलोक्य)।

मधुचपलमिलिन्दीलोलमिन्दीवराली-
कलितमतुलमेतत् सैन्दुवारं निकुञ्जम्।

---

1. भो वयस्य! एतं मारुतं वर्णयित्वा पण्डितगर्वमुद्वहसि। तदहमपि एनं सिन्दुवारमञ्जरीभिः सङ्कलितं मलयमारुतं वर्णयित्वा पण्डितो भविष्यामि।
2. एष सिंहलकामिनीघनस्तनस्थाने कस्तूरिका-
पङ्काशोषणलम्पटो द्रविडजामानस्य पाटच्चरः।
तैलङ्गीवसनस्य नर्त्तनकरः पाण्ड्यानां लीलागुरु-
र्मन्दं वर्त्तते मञ्जरीभिः कलितः कामीव चैत्रानिलः।।
3. तत् अग्रतो भव।

रसिक इव सलीलं कोकिलागीतलोभा-
दिह चलति वसन्ते मालतीमन्दवातः।। 31।।

उद्यान०–एतदप्यवलोकयतु देवः,

एतां लवङ्गलतिकासुतरङ्गिताङ्गीं
भृङ्गीमनङ्गमधुरध्वनिसाधुरीतिम्।
लीलालसः कमलकाननकेलिलोलः
सानन्दमेष मधुपः स्पृहयाम्बभूव।। 32।।

इतश्च,

सिंहलीघनकुचाचलपाताच्चूर्णितश्चपलरीतिमुदस्य ।
वाति मालववधूसुरतान्तोद्भासिशीकरहरोऽत्र समीरः।। 33।।

अपि च,

एते स्वर्गतरङ्गिणीपरिणमद्राजीवराजीलसद्-
भृङ्गश्रेणिकदम्बचुम्बनभरोदञ्चन्मरन्दोज्ज्वलाः ।
स्वर्नारीकुचकुम्भचन्दनरसोल्लासैर्मनोजन्मनः
साहाय्यं रचयन्ति हन्त परितस्ते ऽमी वसन्तानिलाः।। 34।।

राजा– (मदनाकूतमभिनीय)।

बाणान्संहर पञ्चबाण किमु रे निर्मासि मर्मव्यथां
मा मा कोकिल काकलीकलकलैः कर्णस्य दाहं कुरु।
भो भो मारुत सिन्दुवारकलिकामादाय किं जृम्भसे
सा नो हन्त नवीननीरजमुखी कुत्रापि लभ्या मया।। 35।।

(इति मूर्च्छितः पतति)। (नेपथ्ये कलकलः)

राजा– (सहसोत्थाय विदूषकं प्रति) सखे! कथमत्र कोलाहल इव श्रूयते।

विदू०–[1] ता अपसरम्ह।

राजा–कुतोऽत्र भीतिसम्भावना।

विदू०–[2]जं अकिदसंझोपासणं ईदिसं बम्हणं देक्खिअ भूदसंघाणं कोलाहलो सुणीअदि।

---

1. तत् अपसरावः।
2. यत् अकृतसन्ध्योपासनं ईदृशं ब्राह्मणं दृष्ट्वा भूतसङ्घानां कोलाहलः श्रूयते।

राजा–धिङ् मूर्ख! क्व भूतचर्चा नूपुरशिञ्जिते। जानामि वसन्तोत्सवसम्भार एवायम्।

(ततः प्रविशन्ति मृगाङ्कलेखा कलहंसिका लवङ्गिका परिवारसमूहश्च।)

कल०–एदु2 पिअसही[1]।

राजा–(दूरादवलोक्य सहर्षम्)

मौलौ कलिन्दतनयामयमम्बुजश्रि
नेत्रे मृगाङ्कमदहारि यशःप्रशस्तौ।
स्वर्णाम्बुजाभमुरसि स्मरवापिकाभं
नाभीपथे किमपि यौवनमाविरास्ते।। 36।।

विदू०–(ससम्भ्रमं परित्ताहि[2]।

राजा– केयमलीकशङ्का।

विदू०–अप्पणो कदे ण भणामि[3]।

राजा–तत्कस्य कृते।

विदू०–णं तुज्झ कदे, जे एसा रक्खसी[4] उम्मीलिदलोअणा इदोमुही तुमं जेव णिज्झाअन्ती इदोज्जेव आअच्छदि।

राजा–(विलोक्य सोत्प्रासं) सखे! सैवेयमस्मन्मनश्चकोरोन्मादिनी बाला मृगाङ्कलेखा।

(पुनः सानन्दम्) वयस्य!

स्मेराननोल्लसदशोकदलाधराभा
दूरादियं तरलतारकमम्बुजाक्षी।
लक्षीकरोति हृदयं विषमाशुगस्य
बाणैरिवातिविषमैर्मधुरैः कटाक्षैः।। 37।।

अपि च,

अन्तः स्मितसुधासारोल्लसदाननपङ्कजा।
अपाङ्गैरङ्गना गाङ्गैस्तरङ्गैरिव सिञ्चति।।38।।

1. एतु 2 प्रियसखी।
2. परित्रायस्व 2।
3. आत्मनः कृते न भणामि।
4. ननु तव कृते। यदेषा राक्षसी उन्मीलितलोचना इतोमुखी त्वामेव निर्ध्यायन्ती इत एवागच्छति।

(चिरं निर्वर्ण्य) वयस्य !

पाण्डु क्षामं वदनमधरो धूसरः श्वाससङ्गा-
दङ्गाभोगे भवति मलिना मालतीपुष्पमाला।
लीलामन्दं गमनमधिकं [प्रेक्षते] शून्यशून्यं
मन्ये चिन्तां चपलनयना चेतसा स्वीकरोति।। 39।।

निःश्वासेनाधरदलतलक्लेशमेषा विधत्ते
धत्ते किञ्च स्फटिकशकलोद्भासि पाण्डुं कपोलम्।
तन्वी यस्माद्विलसति तनुस्तेन तन्व्याः प्रतीम-
श्चिन्ताभारश्चिरतरमसौ चित्तमङ्गीकरोति।। 40।।

तदेहि प्राणेश्वरीमभिसरामः। (इत्यभिसरतः)

मृगाङ्क०– (राजानमवलोक्य) हिअअ! सम[1]स्ससिहि 2।

कल०– राजानमवलोक्य सस्मितं) आस[2]णम् 2।

मृगाङ्क०–(स्वीयमासनमर्पयितुमिच्छति।)

राजा–सुन्दरि, अलमलमायासेन।

त्वं सर्वस्वं त्वमसि हृदयं जीवितं त्वं मदीयं
त्वं मे प्राणाः कमलनयने मामकीनं मनस्त्वम्।
त्वं जानीषे यदि सुवदने सोपचारं वचो मे
चेतःसाक्षी भवति भगवानावयोः कामदेवः।। 41।।

(इति पाणौ धर्तुमिच्छति)(नेपथ्ये)

मृगाङ्कलेखे! विरम वसन्तोत्सवात्। भगवती सिद्धियोगिनी द्रष्टुमिच्छति।

राजा– (ससम्भ्रमं मृगाङ्कलेखां विमुच्य)कथं सिद्धियोगिनी।

मृगा०–(राजानमवलोकयन्ती प्रस्थितैव) (नेपथ्ये)

वैतालिकयोरेकः–जय जय निज भुजभराक्रान्तभूवलय! माध्यन्दिनी सन्ध्या तत्रभवतः सुखाय भूयात्। सम्प्रति हि–

दत्वा पाटीरपङ्कं सपदि कुचतटे काऽपि निद्राति बाला
दोलाशय्यासु वेलां गमयितुमधुना हन्त माध्यन्दिनीं ताम्।

---

1. हृदय! समाश्वसिहि 2।
2. आसनम 2।

एते मातङ्गतुङ्गाः करधृतनलिनीतालवृन्ताः सहेलं
मग्नाः कासारनीरे सपदि जलकणानूर्ध्वदेशे क्षिपन्ति।। 42।।

(पुनस्तत्रैव द्वितीयः)

जय जय महाराजाधिराज! कलिङ्गराज! अम्बरमध्यगतो भगवान् भानुमाली सुखाय ते भूयात्। सम्प्रति हि-

भानोरुस्त्रैः समन्तादजनि किल वनी पान्थसङ्घाकुलेयं
छायावृक्षाशयास्ते वनमतिगहनं यान्ति वेगात्कुरङ्गाः।
किञ्च क्रीडाकपोतः पिबति जलकणान्वारियन्त्रप्रयुक्ता-
नङ्के कान्तस्य बाला स्वपिति रतभरप्रौढसञ्जातखेदा।। 43।।

राजा– (ऊर्ध्वमवलोक्य) अये कथं तप्तकार्तस्वरपिण्डसङ्काशमूर्तिरम्बर-मध्यमधिरोहति भगवान् भानुमाली। सम्प्रति हि-

मूले मूले तरूणां पिबति जलमसौ चक्रवाको वराकः
कुञ्जे कुञ्जे मृगीभिः सह हरिणयुवा पान्थगीतं शृणोति।
किंचाऽत्यन्तं गभीरे सरसि निपतितं मत्तमातङ्गयूथं
त्यक्त्वा तापातिरेकात्सरसि विकसितां शल्लकीकाननालिम्।। 44।।

विदू०–[1] भो वअस्स! ता एहि देवीए भवणं गदूअ मज्झण्हविहिं कादुं अब्भन्तरमेव पविसामो।

राजा–वयस्य! सम्यगभिहितम्, एहि तत्रैव गच्छामः।

(निष्क्रान्ताःसर्वे) इति प्रथमोऽङ्कः।। 1।।

---

1. भो वयस्य! तदेहि देव्या भवनं गत्वा मध्याह्नविधिं कर्तुमभ्यन्तरमेव प्रविशावः।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सिद्धियोगिनी)

(परिक्रम्याऽवलोक्य)

कथं विभातप्राया विभावरी। तथा हि–

प्राची नीचीकरोति स्फुरदरुणकरैरन्धकारप्रपञ्चं
किञ्चासौ चन्द्रपादैस्तिमिरकवलिता धूसराऽभूत्प्रतीची।
तारास्फाराभिरामाश्चरमजलनिधेस्तीरमुक्ता इवैता-
श्चञ्चन्ति द्रागसूयां परिहरति विधोश्चक्रवाकाङ्गजोऽपि।। 1।।

अपि च,

एते कर्पूरधूलीधवलतनुरुचश्चन्द्रपादाः प्रकामं
पाश्चात्याम्भोधिनीरं सपदि विदधते धूसरप्रान्तरालम्।
एतेऽपि स्वर्गकन्याकरकमलगलल्लोललाक्षारसाभाः
प्राचीभागं सरागं रचयितुमुदिता भास्करीयाः करौघाः।। 2।।

तदिदानीमाधिखिन्नमानसां वत्सां मृगाङ्कलेखामवलोकयितुं प्रस्थिताऽस्मि। (इति परिक्रामिति।)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

(जरानिःस्सहं परिक्रम्य)

अहो जरा जर्जरीकरोति मे शरीरम्। इयं हि–

निःशङ्कं कम्पमङ्गे रचयति कुरुते मानसे किं च मोहं
प्रत्यङ्गं सङ्गतैव स्फुरति मृदुवलीचारुभावं दधाना।
सार्द्धे मार्गेऽपि यान्ती न च गुरुवचनं कर्णयोः श्रावयन्ती
केयं हा हन्त दैवादजनि मम जरा क्लीबभावे प्रगल्भा।। 3।।

(अग्रतोऽवलोक्य) कथमेषा भगवती सिद्धियोगिनी उत्कण्ठितहृदया इत एवाऽऽयाति। तदहमुपसर्पामि। (उपसृत्य) भगवति! अभिवादये।

सिद्धि०–प्रत्यभिवादये। आर्य! विनीतवेष! मृगाङ्कलेखोदन्तमावेदय।

कञ्चु०–कथमावेदयामि वाचामगोचरोऽङ्गसन्तापो वत्सायाः।

तथा हि–

यावच्चन्दनपङ्कमङ्गनिहितं निर्माति काचित्सखी
तावद्धीरसमीरसङ्गतकणो जातः स पिष्टातकः।
किञ्चान्यत्सरसं शरीरमिलनान्नीलं तदानीमभूत्
तस्या एव मृणालकोमलमिदं शय्याविलासस्थलम्।।4।।

अपि च,

कर्पूरो दहनायते कुमुदिनीनाथोऽपि सूर्यायते
हारोऽस्या भुजगायते मलयजो वातः कृतान्तायते।
गानं कर्णविषायते मृगमदालेपोऽपि भस्मायते
तस्या एव विधूदये प्रतिदिनं दृक् चन्द्रकान्तायते।।5।।

सिद्धि०– तदिदानीं वत्सां कुत्राऽवलोकयामि।

कञ्चु०– अद्य देव्या माधवीमण्डपे कुसुमशरमहोत्सवव्यपदेशेन मनोविनोदनाय प्रातरेवापक्रान्ता।

सिद्धि०–भवतु तत्रैव तां द्रक्ष्यामि। आर्य! त्वं कुत्र प्रस्थितोऽसि?

कञ्चु०–अहमपि एतस्मिन्कुसुमशयने कोमलमृणालीविरचितकुसुमशयन-मधिशयानं प्रियवयस्येन मन्दमन्दमाधूय मानकोमलनलिनीदलतालवृन्तानिलं राजानं कर्पूरतिलकमवलोक्य विज्ञायानन्यशरणां पञ्चशरबाधां चिन्तितवानस्मि।

प्रायो मृगाङ्कलेखैव कुरुते तरलं मनः।
नवोदिता मृगाङ्कस्य लेखेवाऽम्भः पयोनिधेः।।6।।

तदयमपीदानीम्–

किञ्चिद्वक्ति करोति हासमसकृन्निर्याति सन्तिष्ठते
वाष्पं मुञ्चति किञ्च रोषकलितः शोणां विधत्ते दृशम्।
बालेति प्रणमत्यकाण्डकुपितेत्याभाषते निष्ठुरे-
त्यालिङ्गत्यधुना स मन्मथशरैर्नीतः परां दुर्दशाम्।।7।।

इदानीं च,

उत्कण्ठितैव दैवेन साऽपि सारङ्गलोचना।
यदि स्यादनयोः सङ्गः किं न स्यात्कुशलो विधिः।। 8।।

(ऊर्ध्वमवलोक्य) कथमद्यापि प्रभातवेलैव। सम्प्रति हि–

उद्यत्तुषारकणसम्भृतकैरवाली–
कुञ्जेषु मत्तमधुपालिरियं प्रसुप्ता।
वैतालिकैरुषसि सूरकरैः प्रबुद्धा
मन्दं जहाति कमलोदरचारुशय्याम्।। 9।।

अपि च,

सङ्कोचितेषु कमलेषु सुखं प्रसुप्ता
सेयं द्विरेफपटली मधुपानमत्ता।
अस्ताद्रिमौलिमिलितेऽपि निशाधिनाथे
शय्याविलासकुतुकान्न विराममेति।। 10।।

अपि च,

पीयूषपानमदमत्तचकोरकान्त–
नेत्राञ्चलैरतितरामवलोक्यमानः।
हा हन्त कैरववनीवनिताविहारी
जातोऽस्तशेखरमणी रमणीयमूर्तिः।। 11।।

कंचु०–भगवति! तद् गच्छ वत्सामवलोकयितुं माधवीमण्डपम्। अहमपि अत्र स्थितं महाराजं देव्यै निवेदयितुम्।

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकश्च।)

राजा– (स्मृतिमभिनयि)

तन्नेत्रान्ततरङ्गितं मृगदृशस्तत्कर्णकण्डूयनं
सा वक्रोक्तिपरम्परा प्रियसखीहस्तावलम्बोऽपि सः।
यावन्नो हृदयात्प्रयाति सहसा तावद् द्विरेफावली
झङ्कारप्रणवोपदेशरसिको जातो वसन्तोदयः।। 12।।

अपि च,

तारुण्योन्मादलीला नवमिव सदनं वक्रवाचां नवीना
पुष्पेषोर्वैजयन्ती प्रतिदिनमतुला काऽपि लावण्यवापी।
मर्यादा लोकसृष्टेः सकलयुवमनोबन्धनागारमुच्चै-
श्चातुर्यप्रौढसीमा स्फुरति मम पुरो मान्मथी काऽपि माया।। 13।।

विदू०–[1] भो वअस्स अभिणवसलिलं वज्जिअ मिअतिण्हिआए लंपडो मिओ विअ पुणो पुणो विसुमरेसि एणं चित्तगदं ण पेक्खसि (इति चित्रफलकं दर्शयति)

राजा–(विलोक्य सहर्षम्)

नवमृदितमृणालीतल्पभूमौ शयाना
ललितविरहलीलापाण्डुभावं दधाना।
मृगमदघनसारद्रावसंल्लेपिताङ्गी
हरति हृदयमेषा चित्रभूमौ गतापि।। 14।।

हन्त! अपूर्णलिखितमेवैतत्। तथा हि–

नोत्तुङ्गैर्बिसखण्डनैरभिनवं लीलागृहं निर्मितं
कस्तूरीघनसारपत्ररचना नो वक्त्रदेशे कृता।
नो गुञ्जन्मधुपं विकासि नलिनं कर्णावतंसीकृतं
नोत्ताम्यत्कुचमण्डले च नलिनीपत्रातपत्रं धृतम्।। 15।।

अपि च,

मदमुखरचकोरी लेखनीया प्रियायाः
प्रलयदहनतुल्यां चन्द्रभासं पिबन्ती।
विरहजनितखेदप्रौढविज्ञानदक्षा
पुनरिह लिखनीया चक्रवाकी वराकी।। 16।।

विदू०–[2] भो वअस्स एणं तुमं पेक्खिअ पज्झाउलो होसित्ति जाणामि।

राजा–सखे तत्किं ब्रवीमि।

आलोकिता यदारभ्य मया सारङ्गलोचना।
कल्पायितं तदारभ्य यामिनीभिस्तथा दिनैः।। 17।।

---

1. भो वयस्य! अभिनवसलिलं वर्जयित्वा मृगतृष्णया लम्पटो मृग इव पुनः पुनर्विस्मरसि, एनां चित्रगतां न प्रेक्षसे।
2. भो वयस्य एनां त्वं प्रेक्ष्य पर्याकुलो भवसीति जानामि।

(पुनः सप्रत्याशं विदूषकं प्रति) वयस्य!

पुनरपि नयनत्रिभागभङ्गैरभिनवचन्द्रकरैरिवाऽपविद्धः।
स्मितमधुरमुदारमायताक्ष्याः प्रचलदपाङ्गतरङ्गितं लभेय।। 18।।

विदू०–(साटोपं)[1]मारिसो तुह पिअवअस्सो किं णु क्खु एदं दुल्लहं संभावीअदि।

राजा–

पञ्चाशुगशरासारस्तूणीरयति मानसम्।
उन्निद्रशतपत्राक्ष्याः स्फीताधररसादृते।। 19।।

तदेहि माधवीलतामण्डपतले मत्तकाशिनीमन्वेषयामः।

(इति परिक्रामतः)।

(ऊर्ध्वमवलोक्य) हन्त मध्याह्नचण्डदीधितिमण्डली कुण्डलीकरोति सर्वतश्छायावितानम्। सम्प्रति हि–

मम तनुरिव नीरं जीर्णतामेति सद्यो
ज्वलति किरणजालं मन्मनस्तुल्यमेव।
स्मरदहन इवासौ क्रूरतामेति सूर-
स्तपति सपदि पन्थाः प्रान्तरात्मा यथा मे।। 20।।

तदिदानीं माधवीलतामण्डपैकदेशे मिहिकासरोवर एव तरलाक्षीनिवासं तर्कयामि। तद्भवतु तत्रैव गच्छामः।

(अग्रतोऽवलोक्य)

मन्दान्दोलितचारुपल्लवमिदं गुञ्जद्द्विरेफाकुलं
निःस्यन्दन्मकरन्दबिन्दुसरसीसम्भारसम्भावितम्।
एतत्कोकिलकाकलीकलकलैर्वाचालतामागतं
क्रीडाकाननमाविरस्ति मदनोन्माद्यत्कुरङ्गाकुलम्।। 21।।

(पुनः सकौतुकमवलोक्य)

इह नलिनमिलिन्दी कामबन्दीव गुञ्ज-
त्यविरतमिह बन्दीभावमायाति पान्थः।
मलयवनविहारी चन्दनामोदवाही
वितरति हृदि मोहं मान्मथं मारुतोपि।। 22।।

---

1. मादृशस्तव प्रियवयस्यः किं नु खल्वेतद् दुर्लभं सम्भावयति।

तदभ्यन्तरमेव प्रविशामः।

विदू०–ए[1]दु2 पिअवअस्सो।

राजा–(प्रविश्य समन्तादवलोक्य सरोमाञ्चम्)

पान्थाङ्गनाविरचितश्वसनोष्मसङ्गा-
दङ्गारतप्त इव शीतलसन्निवेशम्।
गन्ता विनिद्रसरसीसरसीरुहाणा-
मुद्यत्तरङ्गतरलो मुरलासमीरः।। 23।।

(नेपथ्ये–[2]हला अलं परिदेविदेण)

राजा–(शब्दानुसारेणाऽवलोक्य) अये कथमियं मम मनोरथैकचित्रशाला बाला मृगाङ्कलेखा सह सखीभ्यामन्वास्ते।

विदू०–[3] भो वअस्स किं एसा मिलाणमुणालिआसिढिलेहिं अंगेहि पडिवाचंदकलिअं विडंबेदि।

राजा–सम्यगवधारितम्

विषमशरशरप्रहारशीर्णैरपि मधुरैरियमङ्गनाऽङ्गकैः स्वैः।
विशदयति मनोऽनुरागबन्धं चिरविमुखी सुमुखी सखीजनेषु।। 24।।

तथा हि–

परिक्षामैरङ्गैः प्रतिपदुदितेन्दोरिव कला
विलासप्रागल्भ्यं प्रथयति च निःश्वासमरुतः।
विधत्ते तन्वङ्गी स्मरदहनसन्तापसुभगे
कपोले लावण्यं ललितलवलीपाकमधुरम्।। 25।।

तत्तावदत्रान्तरितावेवाकर्णयावः प्रियाविश्रम्भभाषितानि।

लवं०– पि[4]असहि तदो2।

---

1. एतु2 प्रियवयस्यः।
2. नेपथ्ये हला अलं परिदेवितेन
3. भो वयस्य! किमेषा म्लानमृणालिकाशिथिलैरङ्गैः प्रतिपच्चन्द्रकलिकां विडम्बयति।
4. प्रियसखि! ततस्ततः।

मृगां०–त[1]दो तत्थ पमदरणम्मि मअणमहूसवे कोवि णीलुप्पलसामलंगो अदिगंभीराकिदी मअणो विअ पच्च क्खीकदसरीरो दिट्ठो कुमारो। तं दिअसमारहिअ–

चंदो चंदणमुप्पलाइं णलिणीपत्ताइं मंदाणिलो
कालो कोवि अ चेत्तणच्चिदचलप्पप्फुल्लमल्लीलदो।
लीलामज्जणमुज्जलं च वसणं सज्जा मिअंकोज्जला
जं जं सोक्खकरं जणस्स मह तं चिंताजरोद्दीवणम्।।26।।

राजा–(श्रुत्वा सानन्दम्) वयस्य!

अपकारं मनोजन्मा यैः शरैर्मम निर्ममे।
उपकाराय तैरेव साम्प्रतं प्रतिभासते।।27।।

मृगां०–हला!

अहिलासो महिलाणं दु[2]ल्लहसंगमे दूसहो होई।
जाणादु पिअसही तं मरणं ताणं कुलवहूणम्।।28।।

राजा–वयस्य श्रुतं श्रोतव्यम्।

विदू०–भो वअस्स अण्णदो गमिस्सावो[3]।

राजा–किमिति।

विदू०–को णु क्खु अलीअं कण्णे करेदि[4]।

राजा–किं नामालीकमालपितं कमललोचनया।

विदू०–जं तुमं दुआरट्ठिदं दुल्लहं ति भणादि[5]।

---

1. ततस्तत्र प्रमदवने मदनमहोत्सवे कोऽपि नीलोत्पलश्यामलाङ्गोऽति-
गम्भीराकृतिर्मदन इव प्रत्यक्षीकृतशरीरो दृष्टः कुमारः।
तं दिवसमारभ्य–
चन्द्रश्चन्दनमुत्पलानि नलिनीपत्राणि मन्दानिलः
कालः कोऽपि च चैत्रनर्त्तितचलप्रोत्फुल्लमल्लीलतः।
लीलामज्जनमुज्ज्वलं च वसनं शय्या मृगाङ्कोज्ज्वला
यद्यत्सौख्यकरं जनस्य मम तच्चिन्ताज्वरोद्दीपनम्।।26।।
2. अभिलाषो महिलानां दुर्लभसङ्गमे दुस्सहो भवति।
जानातु प्रियसखी तन्मरणं तासां कुलवधूनाम्।।28।।
3. भो वयस्य! अन्यतो गमिष्याव:।
4. को नु खल्वलीकं कर्णे करोति।
5. यत्त्वां द्वारस्थितं दुर्लभमिति भणति।

राजा–वयस्य!

एकालयेऽपि बहुचाटुकरं निशीथे
जीवाधिनाथमुदयन्मदनाग्नितापम्।
तं दुर्ल्लभं वितनुते तनुते च खेदं
व्रीडैव केवलमियं कुलकामिनीनाम्।। 29।।

कल०–हला अज्ज देवीए पुण्णिमामिअंको अच्चिदव्वोत्ति कहिदं तहिं सो राआ संणिहिदो भवे ता मा उत्तम्म[1]।

विदू०–(परिक्रम्य अवलोक्य)कहं एसो दिसाबहूथणकुंकुमारुणदेहो कंदुओ विअ वारुणीबहूए हत्थे पडिदो भअवं सहस्सकिरणो[2]।

(नेपथ्ये)

वैतालिकयोरेकः–सुखाय सन्ध्याऽवतारो भवतु देवस्य।

सम्प्रति हि–

काश्मीराऽरुणरश्मिरेष भगवानस्ताद्रिमालम्बते
प्राची शङ्करकण्ठभासुरतमःस्तोमैस्तिरोधीयते।
किं चास्मिन्समये मनोरथशतैर्वाराङ्गना केवलं
द्वारोपान्तविलोचना वितनुते शय्याविलासस्थलम्।। 30।।

अपि च,

दूतीवाक्यशतैरनेकशपथैरेता नवोढाङ्गना
नीयन्ते रतिमन्दिरेषु शनकैः सञ्जातलज्जाभराः।
एषा वारविलासिनी वितनुते भूषाविशेषश्रियं
सेयं हन्त कुलाङ्गना विरहिणी वाष्पोदकं मुञ्चति।। 31।।

तत्रैव द्वितीयः –महाराज! सकलजनमनोविनोदहेतुः सन्ध्याऽवतारस्ते सुखाय भूयात्।

सम्प्रति हि,

---

1. सखि! अद्य देव्या पूर्णिमामृगाङ्कोऽर्चयितव्य इति कथितम्। तत्र स राजा सन्निहितो भवेत् तन्मा उत्तामय।
2. कथमेष दिशावधूस्तनकुङ्कमारुणदेहः कन्दुक इव वारुणीवध्वा हस्ते पतितो भगवान् सहस्रकिरणः।

शोकात्कोकयुवा करोति करुणं तारं विरावं परं
जानीते तरुणीं न वा विरहिणीं पार्श्वैकदेशस्थिताम्।
एताभिः प्रतिमन्दिरं मृगमदैरासिच्य देहं निजं
गुञ्जन्मञ्जुलभृङ्गसुन्दररवं मञ्जीरमुत्तार्यते।। 32।।

अपि च,

कुर्वन्नानन्दकन्दं कमपि मृगदृशां वर्द्धयन्कामदेवं
मत्तानां भृङ्गयूनां सपदि विरचयन् पद्मकोशेषु बन्धम्।
खेदोद्रेकं वितन्वन्ननुभवविषयं चक्रवाकाङ्गनानां
सोऽयं तीक्ष्णप्रतापः सपदि विधिवशादस्तशैलं प्रयाति।। 33।।

राजा—(श्रुत्वा ऊर्ध्वमवलोक्य) अये कथं कुरुविन्दकन्दलशिलाताटङ्कमिव पश्चिमाङ्गनायाः शोभते पद्मिनीरमणः।

सम्प्रति हि,

दृष्ट्वा कान्तमनागतं मृगदृशः सङ्केतभङ्गोद्गमाद्
दूतीनां वदनानि लोहितदृशा पश्यन्ति गच्छन्त्विति।
अप्येषा वितनोति मन्मथशरैः सन्तापिता सुन्दरी
नीलाम्भोजमृणालकोमलमिदं शय्याविलासस्थलम्।। 34।।

वयस्य! तदेहि कमललोचनामभिसरामः। (इति परिक्रामतः)

विदू०—(अग्रतोऽवलोक्य) क[1]हं अञ्जणगिरिगंजणचदुरो भवणपारावदकण्ठसामलो अभिसारिआपठमपणअदूदो खवाचरणच्चकरणो सअलदिसाबहूचोरो विअ सव्वदो ज्जेव अन्धआरो दीसदि।

राजा—वयस्य, सम्यगभिहितम्। इदानीं हि—

सूचीभेद्यैः सपदि तिमिरैः पूरिते दिग्विभागे
श्यामे किञ्च स्फुरति समये बान्धवे बन्धकीनाम्।
शून्या दृष्टिः स्खलति विषमे निर्निमेषोऽपि जन्तु-
श्चित्रं नीलीजलचुलुकितं जीवलोकं प्रतीमः।। 35।।

(इति परिक्रामति) **राजा**—(पुरोऽवलोक्य)

---

1. कथमञ्जनगिरिगञ्जनचतुरो भवनपारावतकण्ठश्यामलोऽभिसारिकाप्रथमप्रणयदूतः क्षपाचर-नृत्यकरः सकलदिशावधूचौर इव सर्वत एवाऽन्धकारो दृश्यते।

इयं दैवेन सम्प्राप्ता मया सारङ्गलोचना।
कुमुदोल्लासदक्षोऽयमुदेति च निशाकरः।।36।।

वि[1]दू०– भो वअस्स एण्हिं मणस्सिणीणं माणो कहासेसो हुविस्सदि। भो वअस्स जदो दुद्धमुद्धेहिं करेहिं तिहुअणं धवलेन्तो उदेदि कुमुदिणीणाहो।

राजा–वयस्य! सम्यगभिहितम्। अयं हि–

मानं निर्द्दलयन् जगद्धवलयंश्चेतोभवं वर्द्धयन्
तृष्णां कन्दलयन् चकोरसुहृदां पाथोधिमान्दोलयन्।
चिन्तां पल्लवयन्मनोभवशरैः पान्थाङ्गनानामयं
शीतांशुः समुदेति चारुकिरणैश्चन्द्रोपलान्प्लावयन्।। 37।।

अपि चेदानीम्,

चटुलमिह चरन्तश्चन्द्रमश्चन्द्रिकाम्भः
समदमकरकण्ठक्वाणमुच्चारयन्तः।
भ्रमितरलितपक्षं कुर्वते ऽमी रतेच्छ-
मविरतमिह चञ्चुमञ्चयन्त श्चकोराः।। 38।।

(इत्युपसर्पतः)

लवं०–(राजानमवलोक्य) कहं भट्टा इदोज्जेव [2]आअच्छदि।

मृ०–(राजानमवलोक्य ससम्भ्रममासनादुत्तिष्ठति)

राजा–सुन्दरि! अलमलमलमायासेन।

मृ०–(लज्जावनतमुखी तिष्ठति)

राजा महाभागे! विलोकय।

नमद्ग्रीवं वक्त्रं विधुमुखि! कथं त्वं वितनुषे
तवापाङ्गासङ्गाद्भवतु सुषमा काऽपि नभसः।
पिबन्तु प्रत्यग्रामभिनवसुधापूरमधुरां
स्मितज्योत्स्नामेते पतगयुवतीनामपि चयाः।। 39।।

---

1. भो वयस्य! इदानीं मनस्विनीनां मानः कथाशेषो भविष्यति। भो वयस्य! यतो दुग्धमुग्धैः करै स्त्रिभुवनं धवलयन्नुदेति कुमुदिनीनाथः।
2. कथं भर्ता इत एवागच्छति।

लवं०–[1]भट्टा एसो कुमुदिणीणाहो किरणेहिं मह पिअसहिं अदिसेदं बाधेदि। ता इमाए सह अण्णदो गमिस्सम्।

मृगां०–(धीरमङ्गुल्या तर्जयति।)

राजा–प्रिये!

अमृतकिरणमाली कैरवानन्दकन्दो
हरमुकुटललामं मण्डनं यामिनीनाम्।
भवति तदपि नित्यं दाहकारी जनानां
मलिनहृदयभाजामेष नूनं स्वभावः।। 40।।

मृगां०–(अन्यतो गन्तुमिच्छति।)

राजा–

मृदुलतरमृणालीकोमलौ बाहुपाशौ
रचय सुतनु! कण्ठे कामपाशैर्निबद्धे।
कुपितफणिफणाभः पान्थसीमन्तिनीना-
मयमुदयति यस्मात्कैरवानन्दकन्दः।। 41।।

(इति बलादेनां धर्तुमिच्छति)

लवं०–[2]हला अम्हाणं पञ्जरट्ठिदा चओरी चंदिआसलिलं पादुं मुक्कबंधणा कादव्वा। ता एहि सह गमिस्सामो।

(इति निष्क्रान्ते)

विदू[3]०–अहं पि चेटिअं अणुगमिस्सामि।

(इति सशिखाबन्धं निष्क्रान्तः)

मृगां०–(गन्तुमिच्छति)

राजा–सुन्दरि अलमलमायासेन।

यदि गच्छसि रम्भोरु मामसम्भाव्य भाषितैः।
तदा नेष्यति चेतोभूः स्मरणीयामसौ दशाम्।। 42।।

---

1. भर्तः! एष कुमुदिनीनाथः किरणैर्मम प्रियसखीमतिशयितं बाधते। तदनया सहाऽन्यतो गमिष्यामि।
2. सखि! अस्माकं पञ्जरस्थिता चकोरी चन्द्रिकासलिलं पातुं मुक्तबन्धना कर्त्तव्या। तदेहि सह गमिष्यावः।
3. अहमपि चेटिकामनुगमिष्यामि।

मृगां०—महाभाअ ! गमिस्सं[1] ।

राजा—गमिष्यसि ।

मृगां०—केत्तिएण कालेण[2] ।

राजा—सुन्दरि ! अद्यापि—

नाकारि पीनकुचमण्डलतापहारी
हारोऽपि किञ्च न मया मकरीकपोले ।
सम्भोगखेदभरसुप्तमदालसाया
नित्यं व्यधायि करभोरु न मन्दवातः ।। 43 ।।

(इत्यालिङ्गति)

(नेपथ्ये)

([3]मिअंकलेहे तुवर 2 मिअंकपूअणं कादुं तुवरावेदि देवी ।)

राजा—(ससम्भ्रमम्) सुन्दरि ! गच्छाग्रतः । अहमप्यागत एवाऽनुपदम् ।

मृगां—(सोद्वेगं त्वरितं परिक्रामति)

राजा—(शून्यमवलोक्य लतामण्डपम्)

तस्याः पद्ममयी मृणालरचिता शय्या शिलायामियं
कस्तूरीघनपङ्कसङ्गमलिनं क्रीडारविन्दं परम् ।
हारोऽयं घनसारसङ्गतकणः खेदेन मुक्तस्तया
तस्या एव पदारविन्दगलितो लाक्षारसोऽयं भुवि ।। 44 ।।

अपि च

इदं किसलयच्छेदभूषितं शयनस्थलम् ।
मया विरचितं चेदं नलिनीदलमन्दिरम् ।। 45 ।।

तदिदानीं तत्रैव प्रियासनाथे मकरन्दोद्याने गच्छामः ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।। 2 ।।

—•—

1. महाभाग ! गमिष्यामि ।
2. कियता कालेन ।
3. मृगाङ्कलेखे ! त्वरस्व 2 मृगाङ्कपूजनं कर्तुं त्वरयति देवी ।।

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो रक्षोदम्पती)

[1]एका–अले 2 कुंडलुहिला लक्खशा शिग्घं2।

कुण्डलिका–[2]घलिणिके लंबत्थणिए के एशे तह्माणं बुद्धिविहवे जं खादे वि मंशे पीदे वि लुहिले तुवलावेशि?

लवङ्गिका–[3]एदश्शिं काणणुद्देशे मणुश्शगन्धे विअ आअदे। ता पेक्ख2।

कुंड०–([4]सत्रासं) शणिअं जंपेहि मश्शकचुण्णे हुविश्शदि।

संव०–[5]ता लक्खशा पलित्ताहिपालिताहि (इति सपञ्जररवमालिङ्गति)

कुंड०–[6]घलिणि णत्थि तुए जाणिदे शणिअजंपणकालणे।

लवं०–[7]णैत्थि।

कुंड०–[8]कहिश्शम्। जं अम्हाणं शामी शंखपाले दानवे।

लवं०–[9]किं तदा।

कुंडरु–ते[10]ण कश्शवि मणुश्शपुलिशश्श घलिणी अप्पणो घलिणी कादुं आणीदा। एण्हिं एत्थ मसाणकालिआघरम्मि पुव्वपडिस्सुदं पूअं णिव्वत्तेदि। शे एशे मणुश्शगन्धे।

1. अरे 2 कुण्डरुधिर! राक्षस! शीघ्रम् शीघ्रम्।
2. गृहिणिके! लम्बस्तनिके! क एष युष्माकं बुद्धिविभवः यत् खादितेऽपि मांसे पीतेऽपि रुधिरे त्वरयसि?
3. एतस्मिन् काननोद्देशे मनुष्यगन्ध इवाऽऽगतः, तत्प्रेक्षस्व2।
4. शनैर्जल्प मस्तकचूर्णं भविष्यति।
5. तद्राक्षस! परित्रायस्व2।
6. गृहिणि! नास्ति त्वया ज्ञातं शनैर्जल्पनकारणम्।
7. नास्ति।
8. कथयिष्यामि। यदस्माकं स्वामी शङ्खपालो दानवः।
9. किं ततः।
10. तेन कस्याऽपि मनुष्यपुरुषस्य गृहिणी आत्मनो गृहिणीं कर्तुमानता। इदानीमत्र श्मशानकालिकागृहे पूर्वप्रतिश्रुतां पूजां निर्वर्तयति। स एष मनुष्यगन्धः।

लवं०–[1]जुत्तं एदं। (पुनरन्यतः सगन्धम्।) अच्चरिअं 2 कहं इहावि मणुश्शगंधे। (निपुणं निरूप्य)। अले लक्खशा के एशे चउरगभीर माणुशे विभिआविदलक्खशे पमत्ते विअ णच्चाविदतलवालिए इदोमुहे पत्थिदे।

कुंड०–(सवितर्कम्) जा[2]णे तिए शमाणरूवे तिए विणा किलामंतसरीरे लाअपुलिशे विअ लक्खीअदि। ता एहि तुलिअं इदो अवशलम्ह।

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा। पार्श्वगतो विदूषकः कलकण्ठश्च।)

राजा–

जीमूतश्यामलाङ्गे वियति तरलयत्युन्मदे बर्हभारं
मायूरीकेलिलोले शिखिनि परिलसन्नीपनिर्यन्मरन्दे।
काले विद्युत्कराले चकितमृगवधूसुन्दरापाङ्गरम्ये
रम्भोरु! कासि लीना बत तव महती मानरीतिर्विचित्रा।। 1।।

(इति शून्यं परिक्रामति)

विदू०–[3]कहं एसो उम्मादो महिलालंपडानं। भोदु कज्जंतरिदं करोमि। (राजानं प्रति) भो वअस्स! एदाणं मोराणं पेक्खिअ केलिं अप्पाणं विणोदेहि।

राजा–(विलोक्य)

अयं शिखण्डी विरतो रतान्ते नृत्यन्मयूरीतरलैः कलापैः।
संवीज्यमानः पुनरप्युदारं केलीविलासं कुरुते विलासी।। 2।।

तदेनमनुगच्छामि। (मयूरं प्रति)

त्वं धन्योऽसि शिखण्डिन्! काले जीमूतमालिनि क्वापि।
सानन्दयाऽनया यत्प्रियतमया सेवितोपान्तः।। 3।।

1. युक्तमिदम्। आश्चर्यमाश्चर्यम्। कथमत्राऽपि मनुष्यगन्धः। अरे राक्षस! क एष चतुरगम्भीरो मानुषो विभीषितराक्षसः। प्रमत्त इव नर्त्तिततरवारिक इतोमुखः प्रस्थितः।
2. जाने तया समानरूपस्तया विना क्लाम्यच्छरीरो राजपुरुष इव लक्ष्यते। तदेहि त्वरितमितोऽपसरावः।।
3. कथमेष उन्मादो महिलालम्पटानाम्। भवतु कार्यान्तरितं करोमि। भो वयस्य! एतेषां मयूराणां प्रेक्ष्य केलिमात्मानं विनोदय।

(साश्चर्यम्)

चक्रीकृत्य कलापं वक्रीकृतकण्ठनालमलसाङ्गः।
भ्रमति वयस्य! मयूरः कन्दरमधुरे वनोद्देशे।।4।।

(पुनरवलोक्य)

कथं विलोभयत्ययं जनमनः कलापैः। ननु मूढः खल्वसौ।

मम प्रियायाः सति केशपाशे विशेषविज्ञानविदां मनांसि।
अयं मयूरस्तरलैः कलापैः प्रमोदवश्यानि कथं विदध्यात्।।5।।

(सनिर्वेदम्)

वियोगवह्निर्मथिताऽन्तरात्मा तथाऽविरासीत्सरसीरुहाक्ष्याः
धाराकदम्बैरयमप्युदारः स्फारीभवत्यम्बुदकेलिकालः।।6।।

(इति मूर्च्छति।)

कलकण्ठः-वयस्य! समाश्वसिहि 2।

(राजा तथैव तिष्ठति)

विदू०–[1]हद्धि 2 कहं एण्हिं पणट्ठचेअणो पिअवअस्सो।

कल०–हन्त!

निर्मिता पांसुलीलापि त्वया सह मया सखे।
विधातुः प्रातिकूल्येन मामपि त्यक्तुमिच्छसि।।7।।

(इति मूर्च्छति।)

राजा (चिराल्लब्धसंज्ञः विदूषकं प्रति) वयस्य! कथं कलकण्ठोपि दैवेनापहसितः।

विदू०–जं[2] मए कहिदाए रक्खसीए तीए वंचिदोसि तस्स परिणामो एसो।

कल०–(शनैरुन्मील्य चक्षुषी) सखे! (निर्मितेत्यादि पठति)

राजा–

जीवितोऽस्मि तया तन्व्या गाढमालिङ्गितो यतः।
मूर्च्छापि दूतिकेवासीन्मम तस्याः प्रदर्शिका।।8।।

---

1. हा धिक् 2 इदानीं प्रनष्टचेतनः प्रियवयस्यः।
2. यन्मया कथितया राक्षस्या स्त्रिया वञ्चितोसि। तस्य परिणाम एषः।

तदन्यतो गच्छामि। (इति परिक्रामति) (अग्रतो दृष्ट्वा) कथमयं यूथनाथः।
(सोच्छ्वासम्) वयस्य! अयं हि,

कृत्वा लीलां ललितसलिलैः पुष्करप्रान्तरेण
त्यक्त्वा मानं कमलमुकुलैः केलिलीलां विधाय।
शुण्डादण्डे सरसबिसिनीकाण्डमादाय लोलः
कक्षोत्तंसं सपदि कुरुते यूथनाथः प्रियायाः।। 9।।

तदेतस्मादेव प्रियाप्रवृत्तिमुपलक्षयामि (इति परिक्रम्य) ननु मातङ्गपते!

यस्याः पीनस्तनकलशयोर्मञ्जिमा कुम्भयोस्ते
नूनं यस्या गमनमलसं त्वद्गतेस्तौल्यमेति।
उरूकाण्डं करिवरकरस्पर्द्धि यस्याः कृशाङ्ग्याः
सा चेद् दृष्टा कथय करिणीकेलिलीलां विधाय।। 10।।

हन्त मूर्धानं धुनीते। (सक्रोधम्)

उन्मादमेदुर मतङ्गज मोदमाद्यन्!
मत्तालिकेलिकवलीकृत निर्विवेक।
दृष्टा त्वयैव कमलायतलोचना सा
स्पष्टं गतिस्त्वयि विभाति यतस्तदीया।। 11।।

विदू०– [1]अहो उम्माहिआणं सङ्गेण उम्मत्तो होमि। (राजानं प्रति) भो वअस्स! अअं सुगन्धकाणणो गिरिप्पदेसो। एणं दाव पेक्ख2।

राजा–(निर्वर्ण्य सहर्षम्)

नन्वेतस्यैव कक्षान्तराले तरलाक्षीमन्वेषयामि।
(परिक्रम्यावलोक्य हन्त सम्पूर्णमनोरथोऽस्मि।

गंगातरङ्गधवलः कालिन्दीजलकोमलः।
अपाङ्ग इव तन्वङ्ग्या प्रेक्षितः पुरतो मया।।12।।

भवतु निपुणं निरूपयामि। (विलोक्य सविषादम्)

प्रेरितो लीलयाऽपाङ्गः कुरङ्ग्या हरिणं प्रति।
भ्रमादपाङ्गबुद्धिर्मे तस्या एव मृगीदृशः।।13।।

---

1. अहो उन्मादितानां सङ्गेन उन्मत्तो भवामि। भो वयस्य! अयं सुगन्धकाननो गिरिप्रदेशः। एनं तावत्प्रेक्षस्व 2।

भवतु सारङ्गमेवाभ्यर्थये। (समुपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा) हंहो हरिणपते!

सारङ्गशावनयना नयनान्तपातै–
रालोकिता न भवता विपिने कदाचित्।
या पूर्णचन्द्रवदना कमनीयनेत्रा
पीनस्तनी ललिततुङ्गनितम्बबिम्बा।। 14।।

हन्त मामनादृत्य कुरङ्ग्या सह विहरति। हा सर्वथा वक्रो विधिः।

कल०–(राजानं प्रति) वयस्य!

एतैर्व्याप्ते जलदपटलैरन्तराले समन्ता–
दुत्तालाभिस्तिमिरततिभिर्भाविते काननान्ते।
निःशङ्के च प्रसरति निशाचारिणां कण्ठनाले
क्वापि स्थेयं सपदि भवता यावदुन्मज्जतीन्दुः।। 15।।

विदू०[1]–भो वअस्स अहं तुह वंदणं करोमि। पसीददु पिअवअस्सो कहिं वि चिठ्ठिस्सामो। णिद्दा मं बाधेदि।

राजा–वयस्य! एवमस्तु। विश्रम्यतामस्मिन्कन्दरान्तराले।

विदू[2]**०**–अंधआरेण ण किंपि पेक्खामि।

राजा–विद्युद्दीप एव दर्शयिष्यति।

(इति प्रविश्योपविशन्ति)

राजा–निर्विश्यतामिदानीं निद्रासुखं वयस्येन। (कलकण्ठं प्रति) सखे! त्वमपि शयनीयमङ्गीकुरु। अहं तु,

क्षणं ध्यात्वा कुरङ्गाक्षीबिम्बाधररसामृतम्।
आत्मानं प्रीणयिष्यामि प्राणत्यागपराङ्मुखः।। 16।।

(उभौ तथा कुरुतः)

(नेपथ्ये कलकलः)

राजा–(समन्तादवलोक्य) अहो श्मशानवाटादनतिदवीयानसौ प्रदेशः। तथा हि–

---

1. भो वयस्य! अहं तव वन्दनं करोमि। प्रसीदतु प्रियवयस्यः। क्वचिदपि स्थास्यामः। निद्रा मां बाधते।
2. अन्धकारेण न किमपि प्रेक्षे।

क्रीडत्कौशिककोटिकुट्टनरटद्दात्यूहकोलाहल -
त्रस्तव्यस्तसमस्तफेरुविरुतव्यावल्गदुल्कामुखम् ।
नृत्यत्कौणपकामिनीकुचतटप्राग्भारभूरीभवत् -
प्रेतप्रान्त्रविशालमालमतुलं लीलाश्मशानं पुरः।। 17।।

तत्सुप्तावेतौ परित्यज्य तत्प्राप्तये श्मशानकालिकामेव स्वीयक्षतजेन तोषयामि। (इति सरभसं परिक्रामति) (पुरोऽवलोक्य अहह बीभत्सता पिशाचानाम्। तथा हि–

आकृष्योल्बणदाहजर्जरमपि प्रेताङ्गमुत्कण्ठया
ज्वालाजालकरालिताद् धुतभुजः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः।
सन्धिच्छेदविनिर्यदुष्णविकसदामोदमेदोभर -
स्नेहस्निग्धकपालमाकुलललज्जिह्वा लिहन्ति द्रुतम्।। 18।।

अपि च–

पक्वप्रान्तं नलकमनलात्तूर्णमाकृष्य याव-
न्मज्जापानं कुणपशिशुकः कर्तुमुत्कण्ठितोऽभूत्।
तावल्लोलल्ललितरसनालेलिहानः कपालं
दीर्घग्रीवः सरति तरसोन्मत्तनक्तंचरौघः।। 19।।

(अग्रतोऽवलोक्य) अहो लीलारीतिः कौणपानाम्–

व्यादायोत्तुङ्गदंष्ट्राकुटिलमुखदरीमुल्ललत्ताम्रजिह्वः
प्रेतग्रीवां विदार्य ग्रसति नववसासारमन्तः प्रमोदात्।
प्रीताभिः कामिनीभिः कृतविकटमहाहासकोलाहलाभिः
पीनोदञ्चत्कुचाभिः सह पिबति ललज्जाङ्गलस्नेहसारम्।। 20।।

इतोऽपि कौतुकोत्तरलो लीलारसः –

तालोत्तोलितत्तालिकाकलकलक्लाम्यच्छृगालार्भकः
क्रेङ्कारस्फुटझर्झरध्वनिनटल्लाङ्गूललीलापरः ।
एताभिर्नरनाभिपङ्कजचयप्रारब्धमालाविधिः
प्रक्रीडन्निह सारमेयतरुणस्तूर्णं नरीनृत्यते।। 21।।

(अग्रतोऽवलोक्य) नूनमेतत्कालिकायतनम्। यतः,

नृत्यन्त्येते विकटरदनप्रोतलोलान्त्रमाला-
स्तालं पूर्णं सपदि तनुते तालजङ्घः पुरस्तात्।

मार्दङ्गीयं ध्वनिमविरतं कर्तुमुत्कण्ठितोऽसौ
प्रौढाघातैर्जठरपिठरं पाटयत्यट्टहासः ।। 22 ।।

तदत्र गत्वा समीहितसिद्धिं सम्पादयामि। (इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

किं प्राणेश्वरि! खेदमत्र कुरुषे यत्प्राणनाथे मयि
त्रासं मुञ्च मनस्विनि! त्यज रुषं किं लोचने साश्रुणी।
त्वत्प्राप्त्यै यदवोचिषं पुररिपोः कान्तामिदानीमहं
तत्कृत्वार्चनमिन्दुसुन्दरमुखि! त्वां चुम्बयिष्याम्यहम्।। 23 ।।

राजा–(श्रुत्वा) कस्याऽयं विकटो निनादः। नूनं कस्याप्यम्बुजाक्षीलाभाय प्रतिश्रुताम्बापूजनस्यास्मत्सदृशस्य व्याहारो भवेत्।

(पुनर्नेपथ्ये)

आपूर्यन्तां रुधिरकलशाः पक्वमांसोपदंशाः
संचीयन्तामिह हि मदिरापूरिताः स्वर्णकुम्भाः।
व्यापाद्यन्तां महिषनिचयाश्चारुशृङ्गोत्तमाङ्गा
निर्वास्यन्तां प्रबलबलिभिः किङ्करैर्विघ्नलेशाः।। 24 ।।

राजा–अहो पूजासंविधानचातुरी। तथा हि–

वेतालस्तालिकाभिर्दलयति धरणीपृष्ठमङ्गुष्ठदीर्घः
प्रोड्डीयोड्डीय नृत्यत्यटति बटुरसौ घूर्णयन्नुत्तमाङ्गम्।
घोणामारोप्य भूमौ भ्रमति भववधूसन्निधौ भूतपोतः
कर्णाभ्यां लम्बकर्णोऽप्ययमिह तनुते तालवृन्तानिलौघम्।। 25 ।।

(पुनर्नेपथ्ये)

मन्दारपूजाञ्चितमत्तभृङ्गं वन्दस्व कालीचरणारविन्दम्।
मया सहैवेन्दुसमानवक्त्रे! मृगाङ्कलेखे! प्रविहाय रोषम्।। 26 ।।

राजा–(श्रुत्वा सप्रत्याशम्, परिक्रम्याऽवलोक्य) कथमनेन प्रियापहारकेण पूज्यते देवी। (उच्चैः) तिष्ठ रे पाखण्डाधम! तिष्ठ। अयमहमिदानीम्–

तूर्णाघातविदीर्णवक्त्रविकटक्रोडाऽन्तरालोल्ललत्
कीलालासवपूर्णकर्परचयैरद्यैव कापालिक!।

आधाय त्वदुरःस्थलीयकमलैर्लीलासरोजस्त्रजं
भूतेषूद्धतताण्डवैर्भगवतीं कुर्यामहं सस्मिताम्।। 27।।

(इत्युद्धतं परिक्रम्य) हा प्रिये! कथं निशाचरकरगाऽसि।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा मृगाङ्कलेखा शङ्खपालश्च।)

मृगां०–(राजानमवलोक्य सवाष्पम्) णाह! परि[1]त्ताहि2।

राजा–प्रिये! निःशङ्कमिह स्थीयताम्। (अयमहमिदानीमिति पूर्वोक्तं पठति)।

शंख०–अये कोऽयमस्माकं प्रियासङ्गमे अन्तरायः संवृत्तः। कथमयं दुरात्मा कर्पूरतिलकः। तिष्ठ रे क्षत्रियडिम्भ! तिष्ठ।

त्वत्कण्ठत्रोटनोद्यत्क्षतजनवनदीपूरलीलावगाह-
ग्रस्तान्तस्तापखेदस्तव शवमतुलं स्कन्धसंस्थं विधाय।
उद्यत्तालीकरालैरतुलभुजबलैरुद्धतैः सार्द्धमेतै
र्वेतालैः कालिकाऽग्रे सपदि रचयिता नाटकं शङ्खपालः।। 28।।

राजा–(सस्मितम्)

यद्रामो जनकात्मजाऽपहरणे भीमोऽपि यत्क्रोधनः
पाञ्चालीकचकर्षणे रचितवान् तत्किं न ते विश्रुतम्।
क्रोधोन्माथितकण्ठपीठरुधिरैरभ्यर्च्य शम्भोः प्रियां
तत्तत्कर्म करोमि येन भवतो नामाऽपि न श्रूयते।। 29।।

तदङ्गीकुरु कृपाणम्। नायमशस्त्रे पतति मद्भुजपरिघप्रहारः।

शङ्ख०–

आनीयन्तां कृपाणाः क्रथितरिपुशिरःश्रेणयःश्यामलाङ्गाः
प्रस्तूयन्तां पिशाचैः सह मम सचिवैर्विक्रमास्ते मदीयाः।
उद्गीयन्तां सुरीभिर्धवलितगगनाः कीर्तयः सर्वतो मे
कामः कामं विधत्तां मयि कुसुमशरैर्मर्मनिर्माथनानि।। 30।।

कः कोऽत्र भोः। कथं न कोऽपि। आः कथं क्षुद्रराजन्यपोतपराक्रमत्रस्ताः सर्व एवैते ऽन्तर्हिताः। भवत्वहमेव करवालमादाय एनं व्यापादयामि।

(इति निष्क्रान्तः)

---

1. नाथ! परित्रायस्व2।

राजा–(सानन्दं मृगाङ्कलेखामालिङ्ग्य प्रिये! यावदहमपि त्वामेकान्ते स्थापयामि।

मृगां–[1]जं महाभाअस्स रोअदि।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति तृतीयोऽङ्कः ।। 3 ।।

—•—

1. यन्महाभागाय रोचते।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदू०–(सहर्षं परिक्रम्य)[1] ही ही भोः! णिद्दामंथरलोअणं मं परिच्चइअ महिलालंपडो एसो मह पिअवअस्सो कहिं गदो त्ति जाव किंपि अणुसंधेमि ताव तीए सह आअदो ज्जेव। मह समीवे नं णिक्खिविअ तुरिअं कहिं गदोत्ति ण आणे। (अग्रतोऽवलोक्य) कहं एसो कलकंठो। भोदु एदस्स जेव्व मुहादो जाणिस्सं पिअवअस्सस्सवित्तंतम्। (उच्चैः) अरेरे कलकंठा इदो दाव एहि। कहं ण सुणादि? (अत्युच्चैस्तदेव पठति)

(ततः प्रविशति सोत्कण्ठः कलकण्ठः।)

कलकण्ठः–

क्रोधव्याधूतखड्गक्रथितनवशिरःशोणितैस्तस्य शत्रो-
रापूर्यापूर्य पात्राण्युचितनरशिरःकर्परैर्निर्मितानि।
आराध्य प्रेतभूमौ विरचितवसतिं कालिकां कौशलेन
प्राणप्रेयान् मदीयः प्रियसुहृदसकौ प्रीणयत्यन्तरं नः।। 1।।

तद्भवतु देवीवचनात्सिद्धियोगिनीसन्दिष्टं सम्पादयितुं त्वरितं गच्छामि।(इति परिक्रम्याऽवलोक्य) अये कथमयं शाखामृगमुखः।

विदू०–(तदेव व्याहरति)

कल०–(गत्वा विदूषकं प्रति) वयस्य! दिष्ट्या वर्द्धसे प्रियवयस्यस्य विवाहमहोत्सवेन।

विदू०–कहिं सो पिअवअ[2]स्सो।

---

1. ही ही भोः! निद्रामन्थरलोचनं मां परित्यज्य महिलालम्पट एष मम प्रियवयस्यः कुत्र गत इति यावत् किमपि अनुसन्दधे तावत्तया सह आगत एव। मम समीपे तां निक्षिप्य त्वरितं कुत्र गत इति न जाने। कथमेष कलकण्ठः। भवतु एतस्यैव मुखात् ज्ञास्यामि प्रियवयस्यस्य वृत्तान्तम्। अरे रे कलकण्ठ! इतस्तावदेहि। कथं न शृणोति?
2. कुत्र स प्रियवस्यः।

कल०–मकरन्दोद्याने तिष्ठति।

विदू०–तुमं उण क[1]हिं?

कल०–अहमिदानीं सिद्धियोगिनीवचनात्कृतविवाहनिश्चया देवीति प्रियवयस्यं निवेदयितुम्। भवता कुत्र प्रस्थितम्।

विदू०–जहिं मोअ[2]आणं गंधो आअच्छदि।

कलकं०–पश्चाद्गमिष्यसि। इदानीं तु प्रियवयस्यस्य विवाहमहोत्सवमुपहर। अहं तु मृगाङ्कलेखाजनकमन्दिरे दूतं विसर्जयामि।

(इति निष्क्रान्तौ।)

विष्कम्भकः।

(ततः प्रविशति सोत्कण्ठो राजा पार्श्वस्थितो विदूषकश्च।)

राजा–(सोत्कण्ठं निःश्वस्य)

अम्भोजिनीकुसुमकोमलकान्तिरेषा
जाने यदैव परिरम्भणमाततान।
स्यूतेव मे हृदयपञ्जरमध्यदेशे
बाणैः प्रचण्डचरितेन मनोभवेन।। 2।।

अपि च–

यच्छीतलेन सरसीरुहकोमलेन
पीयूषसारमधुरेण विजृम्भितेन।
लीलालसेन मयि लोचनचालनेन
चित्रं विचित्रनयना रचयाञ्चकार।। 3।।

अपि च–

तस्याः प्रसन्नसरसीरुहलोचनाया
राकासुधाकरसमप्रतिमाननायाः।
निर्माय मर्मणि मनोजशरप्रहारा-
नम्भोजभृङ्गकुटिलो रचितो दृगन्तः।। 4।।

1. त्वं पुनः कुत्र?
2. यत्र मोदकानां गन्ध आगच्छति।

(सचिन्तम्) हन्त वयस्योऽपि न सन्निहितः।

विदू०—एˡ[1]सम्हि।

राजा—वयस्य! इहोपविश्य विचिन्तनीयोऽङ्गनासङ्गमोपाय इति।

विदू०—[2]भो वअस्स चिंतिस्सम्। जइ महाणसाहिवई अहं हुविस्सम्।

राजा—नायं दुर्लभो मनोरथः।

विदू०—[3]सुणाहि। (इति कर्णे एवमेवं कथयति)

(नेपथ्ये)

पाटीराम्भःप्रपञ्चैश्छुरयत धरणिं केतकीपांसुपूरै-
रापूर्यन्तां चतुष्काः कमलनवदलैर्मण्डपा मण्डनीयाः।
मुक्ताहारैर्विचित्रैर्नगरयुवतयः किं च कुर्वन्तु हारान्
लास्यं वाराङ्गनाभिः स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गं विधेयम्।। 5।।

अपि च-

सौधं कर्पूरपूरैः परिचिनुत चिरं चामरैश्चन्द्रशालाः
सम्मार्ज्यन्तां विचित्राः पथि पथि करिणः सन्तु सिन्दूरपूरैः।
आनीयन्तां तुरङ्गाः सरणिषु निरणत्किङ्किणीमञ्जुनादाः
कन्योद्वाहोत्सवाय प्रविशति नगरं कामरूपाधिपोऽसौ।। 6।।

राजा—(विदूषकं प्रति) सा तत्रभवती कामरूपाधिपतनया।

उचितमेवैतत्।

ईदृशी रूपसम्पत्तिरितरस्मात्कथं भवेत्।
नोदेति कैरवानन्ददायिनी चन्द्रिका रवेः।। 7।।

(प्रविश्य प्रतिहारी)

जेदु 2 [4]भट्टा। भट्टा कामरूएसरो णीदिवुड्ढेण अमञ्चेण दारएण चंडघोसेण समं पडिहारभूमीए चिट्ठदि। ता किं पविसीअदु?

---

1. एषोऽस्मि।
2. भो वयस्य! चिन्तयिष्यामि। यदि महानसाधिपतिरहं भविष्यामि।
3. शृणु।
4. जयतु 2 भर्ता। भर्तः! कामरूपेश्वरो नीतिवृद्धेनामात्येन दारकेण चण्डघोषेण समं प्रतिहारभूमौ तिष्ठति। तत्किं प्रवेश्यताम्?

राजा–(विदूषकं प्रति) सखे ! कलकण्ठसहितस्त्वमेव तूर्णमुपचारपूर्वकं प्रवेशय। अहमपि देवीं सम्भाव्य भवदागमनं प्रतिपालयामि। (इतिनिष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः कामरूपेश्वरः कलकण्ठो विदूषकश्च)

कल०–इत इतोऽत्र भवन्तः।

चण्डघोषः–अहो अमरेश्वरादप्यतिशेते कलिङ्गेश्वरस्य राज्यशोभा।

तथा हि–

एकस्तत्र गजाधिपः प्रतिगृहं मत्ता गजेन्द्रावली
तत्रैकस्तुरगोऽत्र वातजवना लक्षाधिकाः सैन्धवाः।
तत्रैको बुधभावमञ्चति बुधाः सर्वेऽपि ते नागरा-
स्तत्रैकाऽस्ति तिलोत्तमा मृगदृशः सन्त्यत्र सर्वोत्तमाः।। 8।।

नीतिवृद्धः–भर्तृदारक ! किमेतदाश्चर्यं भवतः।

यत्कीर्त्या धवलीकृते त्रिभुवने मुग्धा किराताङ्गना
गुञ्जापुञ्जमियं जहाति विलसन्मुक्ताधिया सर्वतः।
जम्बूकादपि भीतिमेति सहसा पारीन्द्रबुद्ध्या करी
स्वां नारीमपि हन्त कोकिलयुवा हंसीधिया मुञ्चति।। 9।।

कामरूपे०–अद्य तनूजालाभमेव दुष्करं मन्यमानेन तद्विवाहमहोत्सवोऽपि प्रेक्षणीयः।

अयं च निरुपमगुणो राजा कर्पूरतिलकः।

विदू०–भो [1]अमच्च एसो जुहवई।

चण्ड०–

एष क्षुभ्नाति वीथीं तिरयति धरणिं सर्वतो दानपूरैः
पारीन्द्राणां क्षिणोति प्रबलतररवैः कन्दरागर्भशय्याम्।
रोषान्मत्तालिमालाकुलविकटकटं किं च धूनोत्यजस्त्रं
विस्त्रंसच्चारुचामीकरनिकरकृतोद्दामदामा गजेन्द्रः।। 10।।

अमात्यः–इतोऽपि–

1. भो अमात्य ! एष यूथपतिः।

चञ्चत्पुच्छः सफेनं कलयति वदनं किञ्चिदाभुग्नकण्ठं
कुण्ठीकुर्वन्निनादं कठिनतररवैः क्रूरकण्ठीरवाणाम्।
सानन्दं किं च चञ्चत्खरखुरनिकरोत्खातधूलीसधूम्रो
यौष्माकीनस्तुरङ्गः कलयति धरणौ ताण्डवाडम्बराणि।। 11।।

क०–भो भोः कामरूपेश्वर! एष प्रियवयस्यः सह देव्या युष्मदागमनं प्रतिपालयन् तिष्ठति। तदुपसर्पन्तु भवन्तः।

काम०–(राजानमवलोक्य)

सौन्दर्येण मनोभवाकृतिरसौ शौर्येण सिंहोपमः
पाण्डित्येन बृहस्पतिप्रतिभटो लक्ष्म्याऽमराधीश्वरः।
भूभारोद्वहने भुजङ्गमपतिश्चाणक्यशास्त्रे गुरुः
सन्तोषं कुरुते मदीयहृदये सोऽयं धराधीश्वरः।। 12।।

अमा०–सोऽयं कलिङ्गेश्वरस्तदयं किं वर्ण्यते।

यद्दोर्दण्डकठोरखण्डितरिपुस्कन्धाटवीप्रोच्छलद्-
रक्तौघैरहितप्रियानयनजैवाष्पैस्तथा कीर्तिभिः।
गङ्गा किं च सरस्वती रविसुता संयोजिता सङ्गरे
मग्नास्तत्र भटा भवन्ति विबुधाः सा तीर्थराजौचिती।। 13।।

(इत्युपसृत्य) विजयतां महाराजः।

राजा०–(सरभसमुत्थाय) आसनम् 2।

विदू०–(आसनमपर्यति) (सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

अमा०–महाराज! एष भर्तृदारकश्चण्डघोषः प्रणमति।

राजा०–(सस्नेहमालिङ्गति)

विदू०–भो अत्तभवं तत्त[1]भोदी मिअङ्कलेहावहिणी देवी विलासवदी पणमदि।

काम०–वत्से! पुत्रवती भूयाः।

विला०–हंजे णोमालिए भिअङ्कलेहं गेण्हि[2]अ एण्हिं वि णाअदा भअवदी सिद्धिजोइणी।

---

1. भोः अत्रभवन्तं तत्रभवती मृगाङ्कलेखाभगिनी देवी विलासवती प्रणमति।
2. हञ्जे! नवमालिके! मृगाङ्कलेखां गृहीत्वा इदानीमपि नागता भगवती सिद्धियोगिनी।

नवमालिका–आअदेत्ति तक्केपि। जदो पद[1]सद्दो विअ सुणीअदि।

(ततः प्रविशति मृगाङ्कलेखानुगम्यमाना सिद्धियोगिनी)

सिद्धि०–वत्से! अद्यैव तव तातसमीपे त्वत्परिणयं विधाय कृतकृत्यामात्मानं सम्भावयामि।

मृगां०–(लज्जयाऽधोमुखी भवति)

सिद्धि०–वत्से! अयं तव तातः सह नाथेनाऽलङ्करोति सिंहासनम्। तत्त्वरितं सम्भावय। (इत्युपसर्पतः) (सर्वे सिद्धियोगिनीमवलोक्य ससम्भ्रममुत्तिष्ठन्तो वन्दनं रचयन्ति)

मृगां०–(तातमभिगम्य) ताद वन्[2]दामि।

काम०–(गाढमालिङ्ग्य शिरस्याघ्राय च) वत्से! सौभाग्यवती भव। अयममात्यः।

मृगां०–कहं एसो अम[3]च्चो णीदिबुड्ढो। अज्ज वंदामि।

अमा०–वत्से! अभिलषितेन युज्यस्व। एष ते भ्राता चण्डघोषः प्रणमति।

(मृगाङ्कलेखामालिङ्ग्य सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

(नेपथ्ये महान् कलकलः सर्वे ससम्भ्रममाकर्णयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

भोःभोः पौरजानपदाः!

भञ्जन्नायसशृङ्खलाविरचितं बन्धं मदोन्मादितः
कोपाटोपभरेण नागरजनं वेगेन निर्दालयन्।
शुण्डाताण्डवडम्बरेण सहसा हत्वा निजाधोरणं
क्रोधाक्रान्तकलेवरः सरभसं निर्याति मत्तद्विपः।। 14।।

अपि च–

गर्जन् संवर्त्तकालक्षुभितघनघटाचण्डगम्भीरधीरं
मार्गे पङ्कं वितन्वन् कटुकटविगलद्दानधारासहस्त्रैः।
उद्यत्प्रौढासिधारास्फुरितनिजकरैः पत्तिभिः प्रेक्ष्यमाणः
प्रभ्रष्टोऽयं करीन्द्रः प्रविशति सहसा राजवीथीं स्वयूथात्।। 15।।

---

1. आगतेति तर्कयामि। यतः पदशब्द इव श्रूयते।
2. तात! वन्दे।
3. कथमेषोऽमात्यो नीतिवृद्धः। आर्य! वन्दे।

(सर्वे ससम्भ्रममाकर्णयन्ति)

राजा–न भेतव्यं न भेतव्यमयमहमागत एव।

(पुनरन्यतो नेपथ्ये)

रे रे मृगाङ्कलेखाकामुक! क्वाऽसि।

किं व्यापाद्य त्वदीयक्षतजनवजलैः सिञ्चयाम्यङ्गमारा-
दुद्भ्राम्य त्वामिदानीं चरमजलनिधौ प्रक्षिपामि क्षणात्किम्?
किं वा त्वन्मांसपूरैर्दहनपटुतरो जाठरः पूरणीयो
मद्भ्राता शङ्खपालः कथमिव दलितः कालिकामन्दिरान्तः?।16।।

(सर्वे सत्रासमाकर्णयन्ति)

काम०–कस्यायं विकटो व्याहारः।

राजा–(तूष्णीं तिष्ठति)

कल०–(कथयति)

कामरू०–महाननर्थोद्भेदः।

मृगां०–(सत्रासं वेपते)

विलासवती–(भयं नाटयति)

विदू०–रक्खदु 2 पिअ[1]वअस्सो।

राजा–भगवतीं नमस्कृत्य तिष्ठन्तु भवन्तः। यावदहमेतमास्कन्द्य सम्भावयामि।

(इत्युद्धतं परिक्रम्य निष्क्रान्तः)

विदू०–(कलकण्ठं प्रति) अज्ज! पेक्ख 2 कोदूह[2]लं जं एसो गईदो वावादेदि दाणवं।

कल०–(विलोक्य सहर्षम्) सखे! सम्यगुपलक्षितम्। पश्य,

यावत्कोदण्डकाण्डं विशति हृदि दलत्पञ्जरोद्यन्निनादं
तावन्मातङ्गराजः प्रकटयति रदैरत्र मालान्तरालम्।
यावत्स्वर्गाङ्गनानां करकमलतलात्पुष्पवृष्टिर्जजृम्भे
तावत्प्राणैर्वियुक्तः पतति भुवि महादानवो व्यात्तवक्त्रः।। 17।।

---

1. रक्षतु 2 प्रियवयस्यः।
2. आर्य! प्रेक्षस्व 2 कौतूहलम्। यदेष गजेन्द्रो व्यापादयति दानवम्।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण राजा, भगवतीमभिवाद्य सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

विला०–कहं एत्थ[1] रअणचूडो न दीसदि।

(प्रविश्य)

रत्नचूडः–अहो बलवती पराधीनता। तथा हि–

सर्वोर्वीरमणं विधातुमधुना देवं मया निर्मिता
माया काऽपि यया नवीनतरुणीलाभः प्रभोः स्यादयम्।
देवी स्वाऽवरजामनेकसुकृतैरासाद्य सन्तोषिता
यत्सत्यं च तथाऽपि किं नु हृदयं साशङ्कमास्ते मम।। 18।।

(परिक्रम्याऽवलोक्य) एष महाराजः सपरिवारः सानन्दमास्ते। तद्यावदुपसृत्य निवेदयामि दिग्विजयप्रेषितमागतं विचित्रपराक्रमं तिग्मप्रतापम्। (उपसृत्य) विजयतां महाराजः।

राजा–(सस्मितम्) अभिवादये।

रत्न०–महाराज! विचित्रपराक्रमस्तिग्मप्रतापो द्वारदेशमध्यास्ते।

राजा–अविलम्बितं प्रवेश्यताम्।

अमा०–(निष्क्रम्य तिग्मप्रतापेन सह प्रविशति)

सेनाप०–(उपसृत्य) विजयतां महाराजः।

राजा–वत्स चिरायुर्भूयाः।

विदू०–एदं आसणं एत्थ उववि[2]सदु अमच्चो।

राजा–अमात्य! अत्रोपविश्यताम्। सेनापते! त्वमप्यासनमङ्गीकुरु।

(इति यथोचितमुपविशन्ति)

राजा–सेनापते! कथय स्वायत्तमुर्वीमण्डलम्।

सेना–(विहस्य) महाराज!

प्रालेयाचलचारुचन्दनवनीचन्द्रप्रभाविभ्रम–
क्षीरोदक्षयकारिणां प्रविलसत्कर्पूरशोभाजुषाम्।

---

1. कथमत्र रत्नचूडो न दृश्यते।
2. इदमासनम्। अत्रोपविशत्वमात्यः।

क्षोणीकान्तनितान्तकान्तकुमुदव्याधूननप्रेयसां
नित्यं ते यशसामिदं त्रिभुवनं स्वाधीनभावं गतम्।। 19।।

सम्प्रति हि,

अतिघनतिमिरेऽपि श्वेतभूषाः प्रयातुं
प्रियतमवसतिं तामुत्सुकाः स्वर्गकन्याः।
सपदि कलितवीणं चारु गायन्ति गौरी–
गुरुगजपतिगंगागौरमुच्चैर्यशस्ते ।। 20।।

तथाऽप्याकर्णय,

वङ्गः प्रोन्मूलिताङ्गः कलयति सहसा सङ्गमाशानुबन्धं
तैलङ्गो रङ्गभूमौ सुरपतितरुणीसङ्गमङ्गीचकार।
अङ्गः साङ्गोऽयमास्ते कलितनिजवधूकङ्कणः कुण्डिनेशो
वैदर्भो दर्भचूडाकथितनिजबलो भाति युष्मत्प्रतापात्।। 21।।

राजा–(सर्वानवलोक्य) कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य दौवारिकः)

आज्ञापयतु देवः।

राजा–सर्वानेतान्पूजय यथोचितैरुपचारैः।

दौवा०–यथाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रामति)

रत्न०–महाराज! क्षम्यतां यदनिवेद्य विहितम्।

राजा–किमनिवेद्य विहितम्?

रत्न०–येयं मृगाङ्कलेखा कामरूपेश्वरतनया तां सिद्धकथितसार्व-भौमपतिकामाकलय्य यावत्त्वदर्थं प्रार्थयामि तावद्भगवत्या सिद्धियोगिन्या समाकृष्टैवान्तःपुरम्।

राजा–(स्वगतम्) कथममात्यबुद्धिरपि वागुरायते। (प्रकाशं) को दोषः।

काम०–(विलासवतीं प्रति) एषा ते भगिनी, इदानीं यदुचितं तद्विधेहि।

विला०–भअवदि तुमं अज्ज[1]उत्तस्स हत्थे इमं पडिवादेसु।

सिद्धि०–(मृगाङ्कलेखां हस्ते गृहीत्वा) राजन्! एषा यथा

1. भगवति! त्वं आर्यपुत्रस्य हस्ते इमां प्रतिपादयस्व।

बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा विधेहि।

राजा–(तथेति हस्तौ प्रसार्य मृगाङ्कलेखां गृह्णाति)

(नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनिः।)

रत्न०–(ऊर्ध्वमवलोक्य) आश्चर्यमाश्चर्यम्।

नृत्यन्तीनाममरसुदृशां किङ्किणीमञ्जुनादैः
पुष्पश्रेणीपतनविलसद्भृङ्गवाचा लताभिः।
गीर्वाणानां मुदितमनसां साधुवाचां प्रचारैः
पूर्णीभूतः सकलभुवने दुन्दुभिध्वान एषः।। 22।।

सिद्धि०–महाराज! तत्कथय किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

राजा–(सानन्दम्) अतः परमपि प्रियमस्ति।

क्षोणीराज्यं सपदि विहितं कान्तया सार्द्धमुच्चै-
र्देवी तुष्टाऽप्यजनि भगिनीलाभमासाद्य सद्यः।
स्फीता कीर्तिः सपदि रचिता चन्द्रवंशस्य तस्मात्
कस्मिन्निष्टे भगवति! पुनः कर्तुमीहा तवाऽऽस्ते।। 23।।

तथापीदमस्तु भरतवाक्यम्।

यावद्ब्रह्माण्डभाण्डे स्फुरति स भगवान् पद्मिनीजीवितेशो
यावत्क्षोणीं फणीन्द्रः कलयति शिरसा यावदास्ते शशाङ्कः।
यावत् कल्पान्तवातो न चलति भुवने सन्तु तावत् समस्ता
विस्फूर्जत्सीरधाराद्रवमधुरतराः सत्कवीनां प्रबन्धाः।। 24।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

चतुर्थोऽङ्कः।। 4।।

समाप्तेयं मृगाङ्कलेखाभिधाना नाटिका कृतिरियं विश्वनाथदेवकवेः।।

मृगाङ्कलेखायामुदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

अञ्चलान्तरित	1, 6
अतिघन	4, 20
अतिपरि	1, 13
अन्तः स्मित	1, 38
अपकारं	2, 27
अमृतकि	2, 40
अम्भोजि	4, 2
अयं शि	3, 2
अहिलासो	2, 28
आकृष्यो	3, 18
आनीयन्तां	3, 30
आपूर्यन्तां	3, 24
आलोकिता	2, 17
इदं किस	2, 45
इन्दुं नि	1, 22
इयं दै	2, 36
इह किस	1, 26
इह नलि	2, 22
ईदृशी	4, 7
उत्कण्ठि	2, 8
उद्यत्	2, 9
उन्निद्रा	1, 28
उन्माद	3, 11
एकस्तत्र	4, 8
एकालये	2, 29
एतां ल	1, 3
एतः प्रि	1, 8
एते क	2, 2
एते बङ्ग	1, 4
एते स्व	1, 33
एतै र्व्या	3, 15
एष क्षुम्नाति	4, 10
एष सि	1, 29
एषा कुन्त	1, 7
कर्पूरो	2, 5
कावेरी	1, 27
काश्मीरा	2, 30
किं प्राणे	2, 23
किं व्यापाद्य	4, 16
किञ्चिद्	2, 7
कुम्भा	1, 9
कुर्वन्	2, 33
कृत्वा	3, 9
केनापि	1, 19
केयं	1, 10
क्रीडत्	3, 17
क्रीडा	1, 18
क्रोध	4, 2
क्षणं	3, 16
क्षोणी	4, 23

गङ्गा 3, 12
गर्जन् 4, 15
चक्रीकृत्य 3, 4
चञ्चत् 4, 11
चटुल 2, 38
चन्दो 2, 26
जीमूत 3, 1
जीवितो 3, 8
तन्नेत्रा 2, 12
तस्या: पद्म 2, 44
तस्या: प्रसन्न 4, 4
तारुण्यो 2, 13
तालो 3, 21
तूर्णा 3, 27
त्वं धन्यो 3, 3
त्वं सर्वस्वं 1, 41
त्वत्कण्ठ 3, 28
दत्वा 1, 4
दूती 2, 31
दूराद 1, 1
दृष्ट्या 1, 23
नमद्ग्री 2, 39
नवमृ 2, 14
नाकारि 2, 43
नाङ्गं 1, 14
निद्रा 1, 17
निर्मि 3, 7
नि: शङ्कं 2, 3
नि: श्वासे 1, 39
नीलेन्दी 1, 21
नृत्यन्ती 4, 22
नृत्यन्त्ये 3, 22
नोत्तुङ्गौ 2, 15
पक्व 3, 19
पञ्चा 2, 19
परिक्षा 2, 25
पाटी 4, 5
पाण्डु 1, 39
पान्थ 2, 23
पीयूष 2, 11
पुनरपि 2, 18
प्राचीनी 2, 1
प्रायो 2, 6
प्रालेय 4, 16
प्रेरितो 3, 13
फुल्ला 1, 16
बाणान् 1, 35
भञ्जन् 4, 14
भानोरु 1, 43
भअ 1, 12
भदमु 2, 16
मृदुल 2, 41
मधु 1, 31
मन्दान्दो 2, 21
मन्दार 3, 26
मम तनु 2, 20
मम प्रि 3, 5
मानं 2, 37
मूले 1, 44
मौलौ 1, 36

यच्छीत 4, 3
यत् कीर्त्या 4, 9
यदि 2, 42
यद्दो 4, 13
यद्रामो 3, 29
यस्या: 3, 10
याव च् 2, 4
यावत्को 4, 17
यावद् ब्रह्मा 4, 24
रम्यै: 1, 24
शेषा 1, 3
वङ्ग: 4, 21
वामां 1, 2
वारं 1, 15
वियोग 3, 6
विषम 2, 24
वेताल 3, 25
व्यादायो 3, 20
शोकात् 2, 32
सङ्कोचि 2, 10
सपदि मु 1, 25
सर्वो 4, 18
सा ब 1, 20
सारङ्ग 3, 14
सिंहली 1, 33
सुरभि 1, 11
सूची 2, 35
सौधं 4, 6
सौन्द 4, 12
स्मेरा 1, 37

परिशिष्ट-1

मृगाङ्कलेखा के श्लोकों से सम्बन्धित काव्यशास्त्रीय टिप्पणियाँ

श्लोक सं०

प्रथम अङ्क

1. शिवदेवताविषयकभावध्वनि (भक्ति रस) भयानक रस, वृत्त्यनुप्रास, परिकर और काव्यलिङ्ग अलङ्कार
2. अर्धनारीश्वरशिवविषयकभावध्वनि (भक्तिरस), भयानक एवं बीभत्सरस, वृत्त्यनुप्रास, यमक एवं विरोधाभास
3. मानविप्रलम्भ शृङ्गार एवं काव्यलिङ्ग
4. अद्‌भुतरस एवं वृत्त्यनुप्रास
5. शृङ्गार रस के उद्दीपनविभावों का वर्णन, काव्यलिङ्ग (विदग्धजनं - अथवा कृतं प्रार्थनया यतः - प्रार्थनामाश्रयन्ते)
6. शृङ्गार एवं अद्‌भुत रस, उपमा, रूपक एवं रूपक
7. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभावों का वर्णन
8. शृङ्गाररस की उद्दीपनसामग्री एवं त्रिलुप्ता उपमा चित्तचकोरे-चमत्कारम् रूपक (8 वृत्ति)
9. अथवा किमेतत् - काव्यलिङ्ग, अर्थापत्ति एवं उपमापरिकल्पकनिदर्शना
10. काव्यलिङ्ग, अर्थापत्ति, एवं प्रतीप
11. विप्रलम्भशृङ्गार एवं उसके उद्दीपनविभाव और वृत्त्यनुप्रास
12. तिर्यग्विषया रति होने से भावाभास एवं वृत्त्यनुप्रास
13. शृङ्गाररस एवं उपमा
14. विप्रलम्भशृङ्गार तथा उसके अनुभाव, विषयानासक्ति एवं उन्माद नामक काम की दशायें तथा विरोधाभास

15. विप्रलम्भशृङ्गार, विषयानासक्ति और उन्माद नामक कामदशायें तथा भ्रान्तिमान्
16. सम्भोगशृङ्गार रस के उद्दीपनविभाव, स्वभावोक्ति एवं समासोक्ति
17. शृङ्गाररस तथा उसके आलम्बनविभावों एवं उद्दीपनविभावों का प्रस्तुतीकरण
18. रूपक, उपमा एवं उत्प्रेक्षा
19. शृङ्गाररस, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थापत्ति, विरोधाभास एवं अत्यन्तातिशयोक्ति
20. शृङ्गाररस, सा आदि पदों से व्यञ्जित अनुभवैकगोचरपदगतध्वनियाँ एवं अनेक उपमायें
21. शृङ्गाररस, एव पद निश्चयात्मकता एवं सादृश्य का बोधक, रूपक, अनेक उपमायें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा तथा अर्थापत्ति
22. शृङ्गाररस, अनेक प्रतीप, अनेक रूपक एवं उपमा
23. शृङ्गाररस, अक्रमातिशयोक्ति, सन्देह एवं त्रिलुप्ता लुप्तोपमा
24. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अनेक उत्प्रेक्षायें तथा समासोक्ति
25. शृङ्गाररस के अनेक उद्दीपनविभाव, वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास
26. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
27. शृङ्गाररस का उद्दीपनविभाव, वृत्त्यनुप्रास, रूपक एवं समासोक्ति
28. शृङ्गाररस का उद्दीपनविभाव, अनेक छेकानुप्रास एवं अनेक वृत्त्यनुप्रास
29. शृङ्गाररस तथा उसका उद्दीपनविभाव, अनेक रूपक, रूपकानुप्राणित उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव रूप सङ्कर एवं समासोक्ति
30. शृङ्गाररस एवं उसके उद्दीपनविभाव समासोक्तियां तथा वृत्त्यनुप्रास
31. शृङ्गाररस तथा उसके उद्दीपनविभाव, वृत्त्यनुप्रास, उपमा तथा काव्यलिङ्ग
32. तिर्यग्रतिविषयकभावाभास एवं वृत्त्यनुप्रास
33. शृङ्गाररस का उद्दीपनविभाव एवं वृत्त्यनुप्रास
34. शृङ्गारस के उद्दीपनविभाव, छेकानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, उपमा एवं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा
35. विप्रलम्भशृङ्गाररस, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एवं उपमा
36. शृङ्गाररस, उल्लेख एवं उपमा
37. शृङ्गाररस, लुप्तोपमायें तथा पूर्णोपमा एवं उत्प्रेक्षा

38. शृङ्गाररस, वृत्त्यनुप्रास, श्लेष, उपमा एवं रूपक
39. विप्रलम्भशृङ्गार, वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास एवं चिन्ता व्यभिचारिभाव
40. विप्रलम्भशृङ्गार, उपमा, काव्यलिङ्ग एवं वृत्त्यनुप्रास
41. सम्भोगशृङ्गार, रूपक एवं उल्लेख
42. सम्भोगशृङ्गार वृत्त्यनुप्रास, स्वभावोक्ति एवं प्रकृतिचित्रण
43. सम्भोगशृङ्गाररस एवं स्वभावोक्ति तथा प्रकृतिचित्रण
44. स्वभावोक्ति एवं प्रकृतिचित्रण

द्वितीय अङ्क

1. रूपक, समासोक्ति एवं उपमा
2. उपमायें तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा
3. शृङ्गाररस, श्लेषानुप्राणितरूपक एवं स्वभावोक्ति
4. विप्रलम्भशृङ्गार, उपमा एवं रूपकातिशयोक्ति
5. विप्रलम्भशृङ्गार, क्यच् और क्यङ् स्वरूपिणी लुप्तोपमायें
6. विप्रलम्भशृङ्गार, उपमा, श्लेष एवं दृष्यन्त
7. विप्रलम्भशृङ्गार, उन्माद नामक पञ्चमी कामावस्था, कारकदीपक तथा काव्यलिङ्ग
8. विप्रलम्भशृङ्गार, धर्मवाचकलुप्तोपमा एवं सम
9. शृङ्गाररस का उद्दीपनविभाव एवं रूपक
10. तिर्यग्विषयकरतिरूप रसाभास, विशेषोक्ति एवं समासोक्ति
11. शृङ्गाररस, अतिशयोक्ति, परिकर, रूपक एवं समासोक्ति
12. शृङ्गाररस, स्मृतिव्यभिचारिभाव, अतिशयोक्ति, रूपक एवं समुच्चय
13. शृङ्गाररस, वृत्त्यनुप्रास एवं मालारूपक
14. विप्रलम्भशृङ्गार, वृत्त्यनुप्रास एवं अर्थापत्ति
15. अभिलाषविप्रलम्भशृङ्गार एवं काव्यलिङ्ग
16. अभिलाषविप्रलम्भशृङ्गार, उपमा, काव्यलिङ्ग एवं परिकर
17. विप्रलम्भशृङ्गार, धर्मवाचकलुप्तोपमा एवं क्यच् में लुप्तोपमा
18. अभिलाषविप्रलम्भशृङ्गार एवं धर्मलुप्तोपमा
19. अभिलाषविप्रलम्भशृङ्गार एवं क्यचि लुप्तोपमा

20. विप्रलम्भशृङ्गार एवं अनेक उपमायें
21. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव, अनेक छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एवं बाह्यप्रकृतिचित्रण
22. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव, उपमा एवं वृत्त्यनुप्रास
23. उत्प्रेक्षानुप्राणितसमासोक्ति एवं यमक
24. विप्रलम्भशृङ्गार, विरोध एवं यमक
25. विप्रलम्भशृङ्गार, लुप्तोपमायें एवं वृत्त्यनुप्रास
26. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव, रूपक एवं विषम
27. शृङ्गाररस एवं विषम
28. शृङ्गाररस एवं काव्यलिङ्ग
29. शृङ्गाररस, यमक एवं रूपक
30. वाचकलुप्तोपामायें तथा वृत्त्यनुप्रास
31. उल्लेख एवं बाह्यप्रकृतिचित्रण
32. विप्रलम्भशृङ्गार, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एवं वाचकलुप्तोपमा
33. कारकदीपक, छेकानुप्रास एवं समुच्चय
34. शृङ्गाररस, हेतु, वाचकलुप्तोपमा एवं विषमालङ्कारध्वनि
35. उत्प्रेक्षा एवं वृत्त्यनुप्रास
36. वाचकोपमानलुप्तोपमा एवं समाधि
37. शृङ्गार के उद्दीपनविभाव, कारकदीपक, छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
38. तिर्यग्विषयकरतिजन्यरसाभास, रूपक एवं वृत्त्यनुप्रास
39. शृङ्गाररस, धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, वाचकलुप्तोपमा एवं रूपक
40. विरोधानुप्राणित अर्थान्तरन्यास एवं छेकानुप्रास
41. शृङ्गाररस, लुप्तोपमा, अनेक रूपक, लुप्तोपमा, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एवं काव्यलिङ्ग
42. शृङ्गाररस एवं पर्यायोक्त
43. अभिलाषविप्रलम्भ शृङ्गार एवं धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा
44. स्मृतिव्यभिचारिभावध्वनि एवं रूपक
45. स्मृतिव्यभिचारिभावध्वनि

तृतीय अङ्क

1. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव, अभिलाषविप्रलम्भशृङ्गार एवं वाचकलुप्तोपमायें
2. तिर्यग्विषयारति से युक्त शृङ्गाररसाभास, एवं वृत्त्यनुप्रास
3. तिर्यग्विषयारतिरूप शृङ्गाररसाभास, व्यतिरेकालङ्कारध्वनि एवं काव्यलिङ्ग
4. स्वभावोक्ति एवं बाह्यप्रकृतिचित्रण
5. प्रतीप
6. विरहविप्रलम्भशृङ्गार, छेकानुप्रास एवं समुच्चय
7. करुणरस एवं काव्यलिङ्ग
8. सम्भोगशृङ्गार एवं हेतूत्प्रेक्षा
9. पशुविषयारतिजन्यशृङ्गाररसाभास एवं स्वभावोक्ति
10. उन्माद नामक काम की पञ्चमी दशा, उपमा, उत्प्रेक्षा एवं उपमाध्वनि
11. उन्माद नामक काम की पञ्चमी अवस्था, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, काव्यलिङ्ग, एवं वाचकोपमानलुप्ता उपमा
12. वाचकलुप्ता मालोपमायें एवं शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव
13. शृङ्गाररसाभास एवं भ्रान्तिमान्
14. उन्माद नामक कामदशा, धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा, धर्मवाचकलुप्तोपमा एवं छेकानुप्रास
15. शृङ्गाररस के उद्दीपनविभाव एवं बाह्यप्रकृतिचित्रण
16. अभिलाषविप्रलम्भशृङ्गार, धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा, रूपक एवं स्मृतिव्यभिचारिभाव
17. बीभत्सरस एवं वृत्त्यनुप्रास
18. बीभत्सरस, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
19. बीभत्सरस एवं वृत्त्यनुप्रास
20. बीभत्सरस एवं रूपक
21. बीभत्सरस, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
22. बीभत्सरस, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
23. अनौचित्यप्रवर्तितरतिजन्यरसाभास एवं वाचकलुप्ता उपमा।

24. भयानक एवं बीभत्स रस का सङ्कर तथा अन्त्यानुप्रास
25. अद्‌भुत एवं भयानक रस, छेकानुप्रास एवं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा
26. शृङ्गाररसाभास, रूपक एवं धर्मलुप्तोपमा
27. बीभत्स एवं भयानक रस, रूपक एवं वृत्त्यनुप्रास
28. भयानक एवं बीभत्स रस, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
29. वीर एवं रौद्र रस तथा वृत्त्यनुप्रास
30. वीर एवं शृङ्गार रस तथा छेकानुप्रास

चतुर्थ अङ्क

1. भक्तिवीररौद्रबीभत्सानुप्राणित प्रेयान् रस, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
2. सम्भोगशृङ्गार, वाचकलुप्तोपमा, रूपक, एवं उत्प्रेक्षा
3. सम्भोगशृङ्गार, वाचकलुप्तोपमायें, अन्त्यानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
4. शृङ्गाररस, धर्मवाचकलुप्तोपमायें एवं वाचकलुप्तोपमा
5. शृङ्गाररस, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
6. काव्यलिङ्ग, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
7. शृङ्गाररस, वृत्त्यनुप्रास एवं दृष्टान्त
8. उदात्त, धर्मोपमानलुप्तोपमा तथा छेकानुप्रास
9. अद्‌भुतरस, भ्रान्तिमान्, भयानक रस, कारकदीपक एवं अनेक छेकानुप्रास
10. वृत्त्यनुप्रास एवं स्वभावोक्ति
11. अद्‌भुतरस, स्वभावोक्ति, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
12. अद्‌भुत एवं भयानक रस, उल्लेख, वाचकोपमानलुप्तोपमा, रूपक, एवं मालोपमा
13. वीररस, रूपकातिशयोक्ति एवं रूपक
14. अद्‌भुत, रौद्र एवं भयानक रस, स्वभावोक्ति एवं वृत्त्यनुप्रास
15. रौद्र, अद्‌भुत एवं भयानक रस, छेकानुप्रास, स्वभावोक्ति एवं वृत्त्यनुप्रास
16. बीभत्स तथा भयानक रस, रूपक, एवं काव्यलिङ्ग
17. वीररस, अक्रमातिशयोक्ति एवं धर्मवाचकलुप्तोपमा
18. चिन्ता एवं शङ्का व्यभिचारिभाव एवं वृत्त्यनुप्रास

19. पर्यायोक्त, छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास
20. राजविषयकरतिजन्यभक्तिभावध्वनि, वाचकलुप्तोपमायें एवं वृत्त्यनुप्रास
21. राजविषयकरतिजन्यभक्तिभावध्वनि, काव्यलिङ्ग एवं छेकानुप्रास
22. अद्भुतरस एवं समुच्चय
23. राजविषयकभावध्वनि एवं धृतिनामक व्यभिचारिभाव
24. देवविषयकरतिभावध्वनि एवं वाचकलुप्तोपमा

परिशिष्ट-2

मृगाङ्कलेखा की नाटिका की दृष्टि से समालोचना

नाटक और प्रकरण के सम्मिश्रण से नाटिका की उत्पत्ति होती है। इसमें नाटकवत् नायक तो प्रख्यातवंश का होता है किन्तु प्रकरण की तरह कथावस्तु कविकल्पित होती है। आचार्य विश्वनाथ ने नाटिकालक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।।

स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा।
नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा।।

सम्प्रवर्तेत नेताऽस्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत् पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।।

पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात् कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः[1]।।

नाटिका कविकल्पित नायक के चरित्र वाली हो और वह प्रचुर सङ्ख्या में स्त्रियों से युक्त और चार अङ्कों वाली हो। उसमें प्रसिद्ध वंश वाला राजा धीरललित नायक हो। उसमें अन्तः पुर से सम्बन्ध रखने वाली, सङ्गीत में अनुरक्त नया नया प्रेम करने वाली और राजवंश में उत्पन्न होने वाली कन्या नायिका बने। पटरानी के भय से शङ्कित होता हुआ नायक उस कन्या में (अनुरक्तिपूर्ण व्यवहार) करे और फिर वह महारानी (नायिका से) अधिक आयु वाली नृपवंश में उत्पन्न और अभिमानिनी हो। पग पग पर प्रणयमान करने वाली हो और उन दोनों (राजा तथा कन्या) का प्रेम उस राजमहिषी के अधीन (प्रदर्शित) हो। कैशिकी वृत्ति हो और फिर थोड़ी मात्रा में विमर्श नामक सन्धि हो किन्तु मुखादि सन्धियाँ (पूर्णमात्रा में) हों।

1. साहित्यदर्पण 6, 269- 272

नाटिका होने के लिए आवश्यक उपर्युक्त यह लक्षण मृगाङ्कलेखा पर पूर्णतया चरितार्थ होता है। इसमें चार अङ्क हैं। कलिङ्गाधिप कर्पूरतिलक प्रधान नायक है। यह नायक धीरललित है। विलासवती पटरानी है। रत्नचूड प्रधान अमात्य है। वही मृगाङ्कलेखा का कर्पूरतिलक के साथ मेल कराता है। दानवाधिप शङ्खपाल से कालिकायतन में कैद की गई मृगाङ्कलेखा को मुक्त करके कर्पूरतिलक उसके साथ अपना विवाह करता है। रसगर्भित एवं लोकोत्तरवर्णनायुक्त यह नाटिका उत्तम दृश्यकाव्य है।[1]

—•—

1. काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भं स्वभावजम्।
अभिराजराजेन्द्रमिश्रकृत अभिराजयशोभूषण 1, 34 काव्यलक्षण

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

EASTERN BOOK LINKERS

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
HO.: 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007 Ph.: 23850287, 09811232913
Showroom: 4806/24, Bharat Ram Road,
Ansari Road, Darya Ganj, Delhi-110002
Phone: 23285413
e-mail: eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
website: www.eblindology.com

ISBN: 978-81-7854-345-1

9 788178 543451